हिन्दी : मूल और शाखा

[हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास का आद्यतन अध्ययन
हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों एवं उच्च कक्षा के छात्रों के निमित्त]

लेखक

श्यामबिहारी विरागी

प्राचार्य

हरिजन आश्रम कालेज, प्रयाग

तथा

अविनाशचन्द्र

सम्पादक आश्रम-सन्देश, हरिजन आश्रम, प्रयाग

प्रकाशक

भारती भण्डार, लीडर प्रेस

प्रयाग

मुद्रक : रामआसरे कक्कड़
हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

मूल्य—सजिल्द ५)
अजिल्द ४)

माननीय श्री संपूर्णानंद जी

उत्तरप्रदेश के मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द जी के चरणों में

हृदय में विश्वास,

अधरों पर मुस्कान,

आँखों में आँसू तथा

वर्तमान में भविष्य का सम्बल—

लिये भारतीयता की प्रतीक हिन्दी को हमारे अमर साधकों ने

—अपनी तपस्या एव साधना की गोद में—

ग्रीष्म की भीषण तपन,

वर्षा की झरझर बूँदें तथा

शीत की थरथर कम्पन से—

बचाते हुए राष्ट्रभाषा के सुन्दर सिंहासन पर

आरूढ़ किया है।

उन्हीं अमर साधकों में सेवा के स्वरूप,

विद्या के दिनकर तथा

त्याग के प्रतीक

उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री

डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी

अग्रणी रहे हैं

फिर क्यों न

'हिन्दी : मूल और शाखा' के रूप में

हिन्दी का यह पुष्पहार विनम्र आदर के साथ

लेखकद्वय

उन्हीं के चरणों में भेंट करके अपार आनन्द

का अनुभव करें।

निवेदन

हिन्दी को राष्ट्रभाषा की मान्यता मिल जाने के पश्चात् उसका क्षेत्र भी विस्तृत हुआ है। अब वह धीरे धीरे आँग्ल भाषा का स्थान लेकर तैंतीस कोटि की आशाओं, आकांक्षाओं, विचारों, और अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना का माध्यम बन रही है। यह हमारे देश के अनेक तपस्वियों के त्याग का परिणाम है। हमारी भाषा किन-किन समस्याओं को हल कर चुकी है और किन किन समस्याओं को हल करना अभी शेष है आदि अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिनको जानने की उत्कण्ठा प्रत्येक हिन्दी प्रेमी के मन में होना स्वाभाविक है। हिन्दी भाषा के सामने अब भी समस्याओं के जाल बिछे पड़े हैं। लिपि की समस्या, टंकण और शीघ्रलिपि की समस्यायें व्याकरण, कोष तथा टेलीप्रिन्टर आदि की समस्यायें भी कुछ इसी प्रकार की हैं। उनको हल करने का प्रयत्न हो रहा है। भविष्य में इसकी सफलता का निर्णय होगा।

गत बीस पच्चीस वर्षों में हिन्दी साहित्य ने अनेक करवटें ली हैं। बहुत सी प्रतिभाओं ने अपनी अमूल्य कृतियों से हिन्दी की प्रगतिशील परम्परा को आगे बढ़ाया है। उनके योगदान का उचित मूल्यांकन करने का दायित्व आज के साहित्य-इतिहास लेखकों के ऊपर है। किन्तु इसके लिये उन्हें आलोचना के घिसे पिटे, सड़े गले मापदण्डों को तोड़ना होगा। पूर्वाग्रहों का मोह छोड़ना होगा और गहरे पैठ कर हिन्दी साहित्य की अद्यतन प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक विश्लेषण करना होगा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास की कुछ पुस्तकें प्रकाश में आयीं किन्तु अभी तक एक भी ऐसी पुस्तक देखने को नहीं मिली जो हमें एक स्थल पर आधुनिकतम शोधों से युक्त हिन्दी साहित्य के आज तक के विकास का परिचय देती। हमने इसी कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया है। इसमें हमें कहाँ तक सफलता मिली है इसका उत्तर हम कैसे दे सकते हैं?

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन आज से कुछ वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ कर दिया गया था किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण आज इसे प्रकाश में आने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। इसकी रचना के लिये हमने अनेक ग्रन्थों से सहायता ली है। स्थानाभाव के कारण नाम गिनाना सम्भव नहीं है। हम उन लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। पुस्तक अनेक दृष्टियों से मौलिक है। अनेक पृष्ठभूमियों को दृष्टि में रख कर सरल भाषा एवं अपनी शैली में हमने प्रवृत्तियों का विश्लेषण एवं विभाजन किया है। कुछ स्थलों पर हमें सर्व श्री गनपत वर्मा तथा डा० श्रीमोहन श्रीवास्तव के भी सुझाव मिले हैं। वे हमारे इतने निकट हैं कि केवल धन्यवाद देकर हम उनसे उऋण होना नहीं चाहते। प्रयाग विश्वविद्यालय के सहायक रज़िस्ट्रार श्री कालिकाप्रसाद जी मोहिले ग्रन्थ रचना के समय हमें निरन्तर प्रोत्साहित करते रहे। उनका सहज स्नेह ही हमारा सम्बल था। किन शब्दों में हम उनके प्रति आभार प्रदर्शित करें, समझ में नहीं आता।

यदि इस ग्रन्थ से हिन्दी के सचेत एवं जागरूक पाठकों को थोड़ी बहुत भी सहायता मिली तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

जून १९५५ — श्यामबिहारी विरागी
हरिजनआश्रम प्रयाग — अविनाशचन्द्र

अनुक्रमणिका

प्रथम प्रकरण

भाषा

द्वितीय प्रकरण

हिन्दी भाषा और उसकी लिपि

तृतीय प्रकरण

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्यायें

चतुर्थ प्रकरण

साहित्य

पाँचवाँ प्रकरण

हिन्दी साहित्य

छठाँ प्रकरण

वीरगाथा काल

(सं० १०५०-१३७५ वि०)

सप्तम् प्रकरण

भक्तिकाल

(सं० १३७५-१७०० वि०)

अष्टम् प्रकरण

रीतिकाल

(सं० १७००—१९०० वि०)

दशम प्रकरण

आधुनिक-काल

(सं० १९००-२०१० वि०)

भारतेन्दु-युग

(सं० १९२४-१९६०

द्विवेदी-युग

(सं० १९०६-१९८५)

नवयुग

सं० १९८२- आज तक

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ॥

ऋक् संहिता १०।६१।२

जिस तरह चलनी से सत्तू को शुद्ध करते हैं, उसी तरह जो विद्वान् ज्ञान से वाणी को शुद्ध कर उसका प्रयोग करते हैं; वे लोक में मित्र होते हैं, मित्रता का सुख पाते हैं, उनकी वाणी में कल्याणमयी रमणीयता रहती है ।

.प्रथम प्रकरण

भाषा

भाषा का अर्थ है 'वाणी'—जो बोली उ
मैथ्यू अंग्रेजी में बातें करता है और मार्को वे
जाती है। भाषाओं के सम्बन्ध में जब हम सोच
उसके उद्गम की ओर जाता है। भाषायें कैसे
उठना स्वाभाविक भी है।

अर्थ और उद्गम

कुछ लोगों का कथन है कि मनुष्यों ने
भाषाओं का निर्माण किया। यह मत उपस्थित
वाला नहीं मिला कि भाषाओं के अभाव में
किया होगा ? हिन्दुओं का विश्वास है कि मनु
के साथ ही भगवान की ओर से मिल जाती है
लिये अकबर बादशाह ने दो बच्चों को अलग-
सामने बोलना बिल्कुल मना था। बड़े होने पर
अतः इस मत पर भी विश्वास नहीं जमता। य
अनुसार इब्रानी ही संसार भर की भाषा थी।
चूर मनुष्य जाति ने ईश्वर तक पहुँचने के लि
की मीनार का निर्माण शुरू कर दिया गया।
दीं। जितने आदमी उतनी भाषायें हो गयीं
लाता, गारा माँगने पर कोई मुँह तक
वहीं लटका रह गया। भगवान के साथ गुस्ताख
यह मत भी तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतर
है कि मनुष्य ने प्रकृति की क्रोड़ में भाषा सीखी
हुये झरनों से और चूँ-चूँ स्वर में प्रभात का
ने भाषा सीखी ... कठिन नहीं है लेकिन वैसे

उँगलियों पर गिनने योग्य हैं। इसलिये यह सिद्धान्त भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

भारतीय मनीषियों ने भी इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। बोलने की इच्छा होने पर नाभी के पास स्थित पराचक्र से वायु उठ कर हृदय का स्पर्श करती हुयी ब्रह्मांड से टकराती है। निकलने का मार्ग न पाकर वह नीचे कण्ठ की ओर आती है। फिर कण्ठ के तत्तत्स्थानों का स्पर्श कर शब्द के रूप में विस्फोटित होती है। पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मने युङ्क्ते विवक्षया
मनः कायाग्नि माहन्ति स प्रेरयति मारुतम्".........*आदि*

आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को समझ कर मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करती है। मन शरीर की शक्ति पर जोर डालता है और शक्ति वायु को प्रेरित करती है। इस प्रकार शब्द निकलते हैं।

प्रयोजन और प्रयोग

भाषा चाहे जैसे बनी हो परन्तु उसे हम पूर्वजों से सीखते आये हैं। इसी शक्ति के द्वारा हम अपने विचारों, इच्छाओं और भावनाओं को प्रकट करते हैं। कभी-कभी भाषा शब्द का बड़े व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। लोमड़ी की खालों वाला अपना कोट दिखलाने के अभिप्राय से कमरे में प्रवेश करती हुयी मुन्नी आपको अपनी ओर घूरते देखकर नहीं भाग जाती? आँखों की भी तो भाषा होती है। गूँगे भिखारी को पेट पर हाथ फेरते देख कर आपको उसके भोजन की चिन्ता करनी पड़ती है। किसी प्रकार मन की बातों को समझा देने को भी भाषा कहा जा सकता है, लेकिन इतना व्यापक प्रयोग हमारे लिए अपेक्षित नहीं।

भाषा के अंग

विभिन्न ध्वनि चिह्नों के द्वारा हम अपने विचार प्रकट करते हैं। भाषा के आधार हैं वाक्य, वाक्य शब्दों से बनते हैं। शब्दों की ध्वनियों के द्वारा वक्ता और श्रोता अपने मन से अर्थों का निर्णय करते हैं। इस प्रकार भाषा के चार अंग हुये। शब्द, वाक्य, ध्वनि और अर्थ। हमने सामाजिक क्षेत्र में विचारों, कार्यों और वस्तुओं का सम्बन्ध कुछ शब्दों से जोड़ रखा है।

मेज पर पड़ी गोलाकार टिक्टिकाती हुयी वस्तु के लिये जब हम बार-बार घड़ी शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारे साथ रहने वाला, हमारा अंग्रेज मित्र भी घड़ी शब्द से उसी वस्तु का अर्थ समझने लगता है। शब्दों के अर्थ शाश्वत नहीं होते। यह तो हमारा समझौता मात्र है। यदि आज से ही हम घड़ी के लिये किसी दूसरे शब्द का प्रयोग करना आरम्भ कर दें तो घड़ी का बोध कराने के लिये हमें उसी शब्द के प्रयोग की आवश्यकता पड़ेगी। इसका विश्वास हमें तब हो पाता है जब हम शब्दों के बदलते हुये अर्थ का अध्ययन करते हैं।

भगवान की दया से 'कुशल' पूर्वक रहकर आप हमारी कुशलता चाहते ही रहते हैं। ध्यान चन्द्र को हाकी का 'कुशल' खेलाड़ी मानने में हमारा आपका मतभेद नहीं हो सकता। अब इस 'कुशल' शब्द पर ध्यान दीजिये। एक स्थान पर कुशल शब्द का अर्थ है अच्छा, और दूसरे स्थान पर चतुर, लेकिन सच पूछा जाय तो कुशल शब्द का अर्थ होता है कुश उखाड़ने वाला।

प्राचीन गुरुकुलों के विद्यार्थी विद्याध्ययन से अवकाश पाकर गुरु की सेवा में लग जाते थे। कोई उनकी गउयें चराता था, कोई हवन के लिये लकड़ियाँ काट लाता था और किसी को पूजा में काम आने वाले कुशों को उखाड़ने का काम मिलता था। कुश उखाड़ना हँसी-खेल नहीं है। जरा सी असावधानी हुयी कि हाथ लहू लुहान हो गये। कुश उखाड़ने वाले अधिकांश विद्यार्थी, कुश उखाड़ने की निशानी—हाथों में चोट—लेकर आश्रमों में पहुँचते थे। लेकिन उनमें कुछ ऐसे भी थे जो हाथों को चोट पहुँचाये बिना भी बोझ के बोझ कुश ला पटकते थे। इन चतुर बालकों को गुरुजन कुशल की उपाधि से विभूषित कर दिया करते थे। लेकिन आज कुशल शब्द का प्रयोग हम उस अर्थ में नहीं करते। उसकी आवश्यकता भी हमें नहीं मालूम पड़ती। इसका कारण यह है कि सर्व प्रथम हमें वस्तुओं का बोध होता है फिर गुणों का, और धीरे-धीरे उन गुणों से हम इतने परिचित हो जाते हैं कि उस शब्द का उच्चारण करते ही, वह गुण हमारी आँखों के आगे मूर्त सा हो उठता है।

इसी प्रकार तैल शब्द का अर्थ होता था 'तिल का तेल', लेकिन आज-

कल कडुआ तेल से मालिश की जाती है, मिट्टी का तेल लालटेन में जलाने के काम आता है और चमेली का तेल सर में लगाने के लिये अच्छा समझा जाता है।

वक्ता और श्रोता के सम्बन्ध से भी शब्दों का अर्थ बदल जाता है। माली से कलम माँगने पर वह 'आम या वेला' की कलम काटने के लिये तैयार हो जाता हैं और जब वही शब्द आप विजय के सामने दोहराते हैं, तब वह अपनी जेब से पार्कर फिफ्टीवन निकाल कर आपकी ओर बढ़ा देता है।

शब्दों का विभिन्न रूप से उच्चारण करने पर ध्वनि के अनुसार अर्थों में भी परिवर्तन हो जाता है। किसी की गलत अंग्रेजी सुनकर भी जब हम उसकी काबलियत की दाद दिये बिना नहीं रहते तब क्या वह 'काबिल' शब्द की ध्वनि नहीं पहिचान लेता ? चीनी भाषा में तो ध्वनि के हलके परिवर्तन से ही अर्थ बदल जाता है।

सार्थक और निरर्थक शब्द

शब्दों को सार्थक और निरर्थक मानने का दायित्व भी हमारे ऊपर है। जो शब्द हमारे यहाँ सार्थक समझे जाते हैं, दूसरी भाषाओं में उनका कोई अर्थ नहीं होता। जिन शब्दों को निरर्थक समझ कर हम उपेक्षा से ठुकराते फ़िरते हैं, दूसरी भाषाओं में वे ही उच्च अर्थों के अभिव्यंजक होते हैं। 'श्फ़ाख्ते' शब्द से आप क्या समझियेगा लेकिन जर्मन में इसका अर्थ है भाषा। शब्द तो संकेत मात्र हैं, उनका अर्थ हमारे मस्तिष्क में होता है।

भाषा और लिपि

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपने मन की बातें दूसरों के आगे प्रकट करना चाहता है और दूसरों की बातें सुनने के लिये लालायित रहता है। बातें करने के लिये दो आदमियों का एक समय और एक स्थान पर रहना अति आवश्यक होता था। कभी दूरस्थ पिता के पास अपने संदेश पहुँचाने के लिये कोई पुत्र तड़प उठा होगा। यह समस्या एक बड़े प्रश्न-वाचक चिन्ह का रूप धारण कर उसकी आँखों के आगे नाचती रही होगी। आवश्यकता आविष्कार की जननी है और उसके बाल-मस्तिष्क ने भी उस समस्या का निदान पा लिया होगा। अपनी याद दिलाने के लिये उसने किसी

के द्वारा अपनी प्यारी चीज भेजी होगी, ठीक उसी तरह जैसे आज भी कोई बच्चा अपने परदेशी बाप के पास अपने हाथ की बनायी हुयी कागज की टोपी भेजता है।

आपको भी इसका अनुभव होता होगा, पिता जी की छड़ी देख कर उनकी याद तो आ ही जाती होगी। आज भी तिलकोत्सव के अवसर पर निमंत्रण देने के लिये देहातों में 'इलायची' भेजी जाती है। धीरे-धीरे चित्रों के द्वारा भी मन की बातें प्रकट की जाने लगीं। चीन देश में सुनना शब्द का बोध कराने के लिये दीवाल के पास कान सटाये खड़े हुये एक व्यक्ति का चित्र बना दिया जाता था। स्कूल पहुँचने के लिए आप पूरी सड़क का चक्कर लगाने का कष्ट नहीं करते बल्कि पगडंडी पकड़ कर 'शार्टकट' से जल्दी पाठशाला पहुँच जाते हैं। 'शार्टकट' करने की यह प्रवृत्ति मनुष्य के स्वभाव में आज नयी नहीं आयी है बल्कि पहले से ही विद्यमान थी। इसी प्रवृत्ति के कारण पूरा चित्र बनाने का झंझट न करके कुछ रेखाओं से ही काम चलाया जाने लगा। चित्रों के मिटने से कभी कोई रेखा बच गयी होगी, उसको देखकर पूरे चित्र का स्मरण हो आया होगा, और इस अनुभव ने भी इस दिशा में काफी सहायता पहुँचायी होगी। उदाहरण के लिये मिश्र देश में शेरनी का भाव जिस चित्र से प्रकट होता था वह घिसते-घिसते L के आकार का हो गया था बाद को केवल L से ही शेरनी का बोध होने लगा। धीरे-धीरे इसी तरह मनुष्य ने लिखना सीखा।

भाषा की परिभाषा

लिखने का ढंग ही लिपि है। लिपि के अविष्कार के पूर्व मनुष्य अपने अनुभव अपनी संतानों को कंठस्थ करा देता था। मनोवैज्ञानिकों का कहना हैं कि जीवित रहने के लिये भूलना आवश्यक है। इस प्राकृतिक नियम के कारण मनुष्य को अपनी कुछ महत्वपूर्ण बातें भी विस्मृति हो गयी होंगी और वह सदा इस बाते के लिये प्रयत्नशील रहा होगा कि इस समस्या का कोई निदान निकल आये। स्मृति-रक्षा और अपनी बात को दूरस्थ लोगों तक पहुँचाने के लिये लिपियों का निर्माण हुआ। ध्वनियों को हम अक्षरों द्वारा मूर्त रूप दे देते हैं। इन चिन्हों के लिये भी समाज की स्वीकृति आवश्यक है। जिस ध्वनि को हम 'अ' लिखते हैं उसी को अंग्रेजी A बङ्गाली में कुछ

और तथा उर्दू में कुछ और लिखा जाता है। भाषाओं की तरह अनेक लिपियाँ भी संसार में प्रचलित हैं। लिपि भाषा का एक महत्वपूर्ण अंग है और आज हमें भाषा को वैज्ञानिक रूप में परिभाषित करने के लिये कहना पड़ता है कि भाषा वाक्यों के उस समूह को कहते हैं, जो बोली, सुनी, लिखी और पढ़ी जा सके। बिना भाषा और लिपि के हमारा काम नहीं चल सकता। हम बातें करते हैं, बातें सुनते भी हैं। पढ़ना और लिखना तो हमारा रोज का काम है। हम यह सब इसलिये करते हैं कि हम दूसरों के बारे में जानना चाहते हैं और अपने बारे में दूसरों को बताना।

भाषा का विकास

भाषा के विकास का इतिहास हमारी सभ्यता के विकास का इतिहास है। सभ्यता के साथ ही साथ जीवन की आवश्यकतायें भी बढ़ती हैं। आविष्कार होते रहते हैं। नयी-नयी चीजें मालूम होती रहती हैं और उनको व्यक्त करने के लिये अभिव्यक्ति के सूक्ष्म भेद-प्रभेद भी होने लगते हैं। भाषायें हमारे स्वभाव के ही कारण विकसित होती रहती हैं। हमारे स्वभाव पर परिस्थितियों का कुछ न कुछ प्रभाव तो पड़ता ही है। लोगों के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं, रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, विचारों की विभिन्नता का अनुभव करके ही संस्कृत के कवि को अपनी प्रसिद्ध पंक्ति "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" लिखना पड़ा। भाषाओं के विकास पर इन सभी मनोविकारों का प्रभाव पड़ता है। अपनी छोटी बहन मुन्नी को हम प्यार करते हैं। भाव विभोर होकर जब हम उससे 'चुम्बन, के स्थान पर 'चुम्मी' माँगते हैं तब वह भी गाल का चुम्बन न देकर 'गल्लू' की 'चुम्मी' देती है। मीठे नहीं बल्कि मिट्ठी 'चुम्मी' का अनुभव करके हम उसे काठ का 'घोड़वना' देने लगते हैं। चर्मकार महाशय को जब जूता बनाने में देर लगती है तब हम क्रोध में आकर उन्हें 'चमरा' कहने लगते हैं। आपकी नौकरानी 'यूनिवर्सिटी' को 'अनवरसिटी' कहती है। पाण्डेय जी के पुत्र का तिलक 'चार हजार' नहीं बल्कि 'चार हज्जार' चढ़ा था। कुली ने कभी आपको साहब की जगह साब कहा है? साहु जी ने तो अनेक बार 'जय राम जी की' जगह पर 'जय रम' कहा होगा। इस प्रकार भाषायें नित्य विकसित होती रहती हैं।

जब एक देश या जाति किसी दूसरे देश या जाति के सम्पर्क में आती है

तब एक की भाषा का प्रभाव दूसरे की भाषा पर अवश्य पड़ता है। विजयी जाति की भाषा विजितों की भाषा पर अधिक प्रभाव डालती है। हमारी भाषा पर फारसी, अरबी, तुर्की, इंग्लिश, फ्रेंच आदि कई भाषाओं का प्रभाव पड़ा है।

फुरसत, तरकीब, ग्लास, लैन्टर्न, रेज़र, बख्शीश आदि विदेशी शब्द हैं जो हमारी भाषा के साथ घुल-मिल गये हैं। उन्हें उच्चारण और अर्थ की दृष्टि से भी हमने अपना बना लिया है। 'ग्लास' शब्द से शीशे की ही गिलास हम नहीं समझते बल्कि काँसे, पीतल अथवा किसी भी धातु की बनी हुयी आकार-विशेष की एक वस्तु का बोध हमें हो जाता है।

बोली, राष्ट्र-भाषा और राज्य-भाषा

"चार कोस पर पानी बदलै दूइ कोस पर भाषा' वाली कहावत तो आपने भी सुनी होगी। चार कोस पर पानी बदलने की बात तो हम नहीं जानते लेकिन भाषायें थोड़ी-थोड़ी दूर पर बदल जाती हैं, इसका विश्वास दिलाया जा सकता है। प्रयाग से काशी की यात्रा करने पर "सुन रहा हूँ" वाक्य के लिये प्रयाग में 'सूनी थी', मीरजापुर में 'सुनत अही' और काशी पहुँचते-पहुँचते 'सुनत बाटी' का प्रयोग सुनने में आता है। मातृ-भाषाओं का ही दूसरा नाम बोली भी है। उन्हीं बोलियों में से एक परिस्थितियों के घात-प्रतिघात के कारण अन्य बोलियों को आत्मसात कर लेती है। साहित्यकार उसमें साहित्यिक रचनायें करने लगते हैं; विद्वान गूढ़ विषयों की पुस्तकें लिखने लगते हैं और वह अंतर्देशीय व्यापार का माध्यम बन जाती है। इसे अन्य भाषा-भाषी भी जब समझने लगते हैं तब वह सम्पूर्ण राष्ट्र की भाषा मान ली जाती है। यदि इस भाषा को सरकार प्रोत्साहन दे देती है और सारा सरकारी काम उसी में करने का आदेश निकाल देती है तब वह राज्य-भाषा कही जाने लगती है।

हम जो भाषा बोलते हैं उसका नाम हिन्दी है। इसके अंतर्गत अनेक बोलियाँ हैं जैसे—खड़ी बोली, भोजपुरी, अवधी और ब्रजभाषा आदि। खड़ी बोली दिल्ली और मेरठ की बोली है, अनेक वर्षों से दिल्ली भारतवर्ष की राजधानी रही है अतः सरकारी कर्मचारियों को यही बोली व्यवहार में लानी पड़ती थी। ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण इसने अन्य बोलियों को अपने

अधीन कर लिया। कवियों ने इसमें अमृत उँडेला। लोग इसे आसानी से समझने लगे, इन्हीं सब कारण से खड़ी बोली राष्ट्र-भाषा बन गयी। हमारी राष्ट्रीय सरकार ने इसे राज्य-भाषा की भी मान्यता दे दी है। अब सारा शासन-कार्य इसी भाषा में होगा। बंगाली, मराठी, तैलगू, मलयालम्, कन्नड़ आदि क्षेत्रों में अब यही व्यवहृत होगी। इसी के माध्यम से विश्व-विद्यालयों में उच्च शिक्षायें दी जायेंगी।

व्याकरण और कोष

व्याकरण का अर्थ है किसी वस्तु को टुकड़े-टुकड़े करके दिखाना। बच्चा पहले अपनी माँ को पहिचानता है। इसके बाद परिवार के व्यक्तियों को, फिर दूसरों को। उन व्यक्तियों को पुकारने के लिए उसे सम्बन्ध का भी बोध करा दिया जाता है। किसी को वह मामा कहता है, किसी को चाचा, किसी को भैया और किसी को बाबा। संसार में अनेक वस्तुयें हैं, उन्हें पहिचानने के लिए अपनी सुविधा के लिए उनका नाम रख लिया जाता है। डेढ़ वर्ष का बच्चा केवल नाम का ही उच्चारण करता है। अपने डेढ़-वर्षीय भाई को बेंत मारकर देख लीजिये। चोट का अनुभव होते ही वह 'भैया बेंत' 'भैया बेंत' कह कर चिल्ला पड़ेगा। 'मारा' क्रिया का बोध उसे कुछ महीनों के बाद हो पाता है। भाषा की परिभाषा करते समय यह कहा गया था कि भाषा के आधार हैं वाक्य और एक वाक्य कई शब्दों से मिलकर बनता है। जिस तरह हम अपने जीवन में कुछ मनुष्यों से अपना सम्बन्ध जोड़कर किसी को पिता, किसी को माता और किसी को बहन कहना प्रारम्भ कर देते हैं, उसी तरह वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों का एक दूसरे से सम्बन्ध बतलाने के लिए किसी को संज्ञा, किसी को विशेषण और किसी को सर्वनाम कहा जाता है। इससे भाषा में एक प्रकार का सौन्दर्य आ जाता है।

व्याकरण के ही द्वारा हम वस्तुओं को पहिचानते और उससे अपने सम्बन्ध की जाँच करते हैं। विश्लेषण की शक्ति भी हमें व्याकरण से ही मिलती है। मनुष्य सौन्दर्य की ओर शीघ्र आकर्षित होता है। जिस प्रकार वह अच्छा भोजन करना, अच्छा वस्त्र पहिनना पसन्द करता है, उसी तरह वह शुद्ध तथा सुन्दर भाषण भी करना चाहता है। सौन्दर्य का माप दंड मन है। जब अन्य जाति की भाषा का प्रभाव पड़ने पर अपनी भाषा असुन्दर

लगने लगती है, तब वैयाकरण उसे नियमों में बाँध देते हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी ने भाषा को जो स्टैन्डर्ड रूप दिया वह ढाई हजार वर्ष बाद भी स्टैन्डर्ड मानी जाती है। इतना सफल वैयाकरण संसार में आज तक नहीं हुआ।

भाषा एक प्रवाह है जो अनादि काल से प्रवाहित होती आ रही है और तब तक प्रवाहित होती रहेगी जब तक पृथ्वी पर एक भी जीवन शेष रहेगा। भाषा की स्वाभाविक शक्ति व्याकरण के नियमों को नहीं मानती। उसका प्रचंड प्रवाह व्याकरण के नियमों को उसी तरह तोड़ देता है जैसे पुलों को बरसाती नदी। जो समाज जितना ही उन्नत होगा उसकी भाषा उतनी ही विकसित होगी और व्याकरण को पीछे छोड़ती चलेगी। व्याकरण के नियमों की अधिकता और जटिलता से भाषा का विकास रुक जाता है। जनता उसे छोड़कर स्वाभाविक भाषा अपना लेती है, इसीलिए संस्कृत व्याकरण पर मातृ-वध का दोषारोपण किया जाता है। भाषा को जीवित रखने के लिये व्याकरण की नमनीयता आवश्यक है।

व्याकरण के नियमों से बद्ध भाषा बोलने और सुनने का जब हमें अभ्यास हो जाता है, तब हम बंधन में भी एक प्रकार के सौन्दर्य का अनुभव करने लगते हैं। सौन्दर्य का अनुभव सुख प्रदान करने वाला होता है। जब कोई व्यक्ति जान-बूझकर व्याकरण के उन नियमों पर प्रहार करता है तब हमारी सौन्दर्य की भावनाओं को ठेस पहुँचती है, और हमें उस व्यक्ति पर क्रोध आने लगता है। आधुनिक हिन्दी कवियों ने जब हिन्दी कविता के व्याकरण पर प्रहार करना आरम्भ किया तो बुड्ढे साहित्यिक तिलमिला उठे। सभी लोगों ने चिल्लाकर कहा—"हाँकौ इन ढोरन चरै ना काव्य खेती को।"

जब एक अशिक्षित व्यक्ति व्याकरण के नियमों की अवहेलना अनजान में करता है तब हमें उसके अज्ञान पर हँसी आती है। व्याकरण भाषा का चाहे ऊपर से विभाजन कर दे लेकिन वह शब्दों की अंतरात्मा तक नहीं पहुँच सकता। कुछ शब्दों के स्वाभाविक प्रयोग में जो जान रहती है वह व्याकरण के बन्धन में नहीं। सूरदास ने एक स्थान पर लिखा—'मोरे लाल को आउ निदरिया', इसका शुद्ध रूप नींद है परन्तु निदरिया में जो उद्रेक

और भावनाओं को झकझोर देने की शक्ति है वह नींद में कहाँ आ पाती है ? शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ न समझकर उसका प्रयोग कर देने पर भी अर्थ का अनर्थ हो जाता है। एक पहलवान ने अपनी शक्ति के गर्व में चूर होकर कहा कि उससे लड़ने के लिये हिमाकत चाहिये। हिमाकत शब्द का प्रयोग उन्होंने हिम्मत के अर्थ में किया था लेकिन इस प्रयोग ने क्या अनर्थ कर डाला भाषा के जानकार ही जान सकते हैं। शब्दार्थों का उचित ज्ञान जिसे नहीं होगा उससे इस प्रकार की गलतियाँ होना स्वाभाविक है। भाषा पर अधिकार होने पर ही वाणी में सुन्दरता आ सकती है। पर यह अधिकार कोष और व्याकरण के ज्ञान से नहीं होता। अर्थ की दृष्टि से किसी भाषा के सब शब्दों को एक स्थान पर एकत्र कर उसे पुस्तक का रूप दे देना ही आजकल शब्द-कोष कहलाता है। यों इसका शाब्दिक अर्थ भी शब्दों का खजाना ही हुआ। जिस भाषा में शब्द कम रहते हैं उसमें भद्दापन आने की भी कम सम्भावना रहती है। भूलें कम होती हैं, परन्तु भावों की अभि-व्यक्ति ठीक से नहीं हो पाती। असभ्यों की भाषा में चार पाँच विशेषण और दो चार क्रियायें होती हैं। उनका कार्यक्षेत्र भी छोटा होता है। इसके विप-रीत भाषा बोलने के लिये कुछ और ही चाहिये, इसमें कुछ ऐसे तत्व होते हैं जिसकी सीमा भी कोष और व्याकरण नहीं छू सकते। सम्पूर्ण अष्टाध्यायी और उसके भाष्य चाटकर बैठे हुये पण्डितों को अशुद्ध और कर्कश बोलते हुये सुना गया है! और उस गँवार की भाषा पर भी मन लट्टू हो चुका है जो यह भी नहीं जानता की व्याकरण और कोष किस चिड़िया का नाम है। कुछ लोगों का यह भी विचार है कि गम्भीर बातें सीधी-सादी भाषा में सुन्दरता-पूर्वक नहीं कही जा सकतीं; परन्तु यह बात ठीक नहीं है। इसके लिए भाषा पर अधिकार और पाण्डित्य को पचा सकने की क्षमता होनी चाहिये तभी हमारी बात कलेजे के पार हो सकेगी और श्रोता के कानों में अमृत घोल सकेगी। भाषा को निर्दोष, सुन्दर, ओजस्विनी, प्रसाद गुण युक्त, तथा प्रभाव-शालिनी बनाने के लिए प्रयोग सम्बन्धी छोटी-छोटी भूलों पर भी ध्यान देने की अपेक्षा होती है। इससे बड़ी भूलें अपने-आप ठीक हो जाती हैं।

मशीनी सभ्यता, भाषा और लिपि

औद्योगिक क्रान्ति के बाद मशीनों ने देश एवं काल की सीमाओं को

तोड़ना आरम्भ किया था और आज तो वह जीवन पर भी अधिकार किये बैठी है। बातें करने के लिये अब हमें समकालत्व और समदेशत्व की अपेक्षा नहीं होती। फोन का चोंगा उठाया और काम खतम! आज से १० वर्ष पहले मरे हुये गायक का गायन हम आज भी मशीनों के द्वारा सुन लेते हैं। रेडियो, टेलीफोन, टेलीविजन के आविष्कार ने हमारे जीवन में एक नया रङ्ग भर दिया है।

"पाती आधी मिलन है" जिस रसिक ने कहा होगा, उसके मन को पत्र पाने पर ऐसी अनुभूति हुयी होगी। सुन्दर अक्षर देखकर हम प्रसन्न होते ही हैं। कहा भी जाता है कि अमुक व्यक्ति तो छाप देता है। यंत्रों के द्वारा सुन्दर अक्षरों में छपाई होती है। लाखों किताबें रोज प्रकाशित होती रहती हैं। काम जल्दी हो जाता है, कम खर्च तथा सुन्दर अक्षरों में हमें ज्ञान का भंडार मिल जाता है। हम नित्य संसार की गतिविधि से परिचित होते रहते हैं। चाय पीने बैठे नहीं कि हाकर ने आवाज दी और हम समाचारपत्र देखने की उत्सुकता में दौड़ पड़े। जिन कार्यालयों में ये पत्र छपते हैं वहाँ चौबीस घंटे काम होता रहता है। मशीनें अपने आप कम्पोज करती, छापती और निकालती रहती हैं। एक मशीन के द्वारा संसार भर के समाचार अपने आप छपते रहते हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य की और क्या बात हो सकती है? आप पूछ सकते हैं कि पत्र लिखने के लिए मशीन की क्या आवश्यकता? उसके लिये तो कलम दावात की ही जरूरत होगी; लेकिन यकीन जानिये आजकल टंकण-यंत्र (टाइप राइटर) से भी पत्र लिखा जाने लगा है। थोड़े से अभ्यास की आवश्यकता अवश्य पड़ती है, लेकिन उसके बाद टंकण-यंत्र लिया और खड़खड़ा दिया। सुन्दर अक्षरों में मन की बातें व्यक्त हो गयीं। मन ने संतोष की एक साँस ली और आँखें खिलखिला उठीं।

भाषा की शक्ति

लड़कपन में हमारे गुरू पूछा करते थे—'कलम बड़ी कि तलवार'। हम झट कह उठते थे कलम। आज भी आप किसी बच्चे से पूछ कर देख लीजिये वह यही उत्तर देगा। तर्कों का उत्तर बड़े विश्वास के साथ देते हुये वह बालक कहेगा—कलम तलवार को आज्ञा नहीं देती? कलम की शक्ति ही भाषा की शक्ति है। यह अजेय है, अपरिमित है और है सर्व श्रेष्ठ। जिसका भाषा पर अधिकार रहता है वह समाज को अपने इशारों पर नचाता है।

उसकी गलत बात को भी सही मान कर हम उसके पीछे भेड़ों की तरह दौड़ते हैं चाहे कुएँ में ही क्यों न गिर पड़ें। बाबर ने इसी बल पर अपनी प्रसिद्ध लड़ाई जीती थी। बर्क का यही जादू वारेन हेस्टिंग्ज़ के सर पर चढ़कर बोलने लगा था। पं० मदनमोहन मालवीय और डा० एनी बिसेन्ट ने इसी शक्ति के बल पर इतना बड़ा काम किया था, लेनिन ने इसी मंत्र से रूस की धारा मोड़ दी थी। इतिहास इन तथ्यों का साक्षी है। आजकल तो यह शक्ति मानवता को पथ भ्रष्ट करने में भी खर्च की जाने लगी है। कूटनीति विद्या विशारद अपने स्वार्थ के आगे जनता जनार्दन के स्वार्थ को इसी के द्वारा भट्टी की आग में झोंक रहे हैं। भाषण करेंगे कुछ, मन में रखेंगे कुछ। लेकिन भाषा पारखियों के आगे उनके ये करिश्में भी फेल हो जाते हैं। उनका भाषण पढ़कर ही वे उनका भंडाफोड़ कर देते हैं। इस शक्ति का दुरुपयोग करना मानवता की पीठ में छूरा भोंकना है।

भाषा की महत्ता

भाषा मानव की सबसे बड़ी शक्ति है। भाषा के अभाव में हम कुछ सोच ही नहीं सकते। इसी के माध्यम से मस्तिष्क में विचारों की सृष्टि होती है। दार्शनिकों का कहना है कि विचार ही सृष्टि का कारण है, इसलिए भाषा ब्रह्म है। मनुष्य की सभ्यता के शैशव काल से ही शक्ति की उपासना चली आ रही है। भाषा की शक्ति को ग्रीक पौराणिकों ने गाडेस आफ मूज्येज के रूप में पूजा, हम उसे सरस्वती के रूप में पूजते हैं। सरस्वती का दूसरा नाम वाणी भी है। पाठशाला में कार्य आरम्भ करने के पहले हम लोग एक स्थान पर एकत्र होकर ध्यान करते हैं—"संसार भर में व्याप्त अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने वाली हाथ में स्फटिक की माला लिये हुए, वीणा-पुस्तक धारण करने वाली, ब्रह्म-विचार-सार, जगदम्बा सरस्वती कमल के आसन पर विराजमान हैं।" हम श्रद्धानत होने लगते हैं और अधिक देर तक अपने को रोक सकने में असमर्थ हमारे कण्ठों से—

> *"शुक्लां ब्रह्म विचार सार परमां आद्याम् जगत व्यापिनीम्*
> *वीणा पुस्तक धारिणीं अभयदाम् जाड्ह्याधकारापहाम्।*
> *हस्ते स्फटिक मालिकां विदधतीम् पद्मासने संस्थिताम्*
> *वन्दे ताम् परमेश्वरीम् भगवतीम् बुद्धि प्रदाम् शारदाम्॥*

की स्वर लहरियाँ फूटकर वायुमण्डल को पावन बनाने लगती हैं।

द्वितीय प्रकरण

हिन्दी भाषा और उसकी लिपि

हिन्दी नाम की व्युत्पत्ति

हमारी भाषा का नाम हिन्दी है। "यह नाम भारतीय संस्कृति ही नहीं बल्कि एशिया की सांस्कृतिक एकता की एक झलक का जीता-जागता चित्र है।" इसके नामकरण की कहानी ऐसी पहेली है जिसे अभी तक कोई बूझ नहीं सका। कोई इन्दु शब्द से इसकी व्युत्पत्ति बताता है, तो कोई सिन्ध, हिन्द की तरह हिन्दी को सिन्धी का फारसी उच्चारणमात्र मानता है।

आर्यों के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में सिन्धु शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इतिहासकारों का कहना है कि उस समय भी भारत के लोग ईरान जाते थे और ईरानी यहाँ आया करते थे। अनुमान किया जाता है कि उसी समय यज्ञ करने वाले याजकों के साथ इस शब्द ने भी ईरान की यात्रा की होगी। ईरानी भाषा में स के स्थान पर ह हो जाता है, इसी नियम से सिन्धु के स्थान पर हिन्दु हो गया होगा। शिलालेखों के आधार पर यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि ईरानी लोग 'हिन्दु' शब्द का प्रयोग किसी प्रदेश-विशेष के लिये करते थे जिसका पता अब नहीं चलता।

मध्य ईरानी भाषा में 'ईक्' प्रत्यय लगाकर संज्ञा शब्दों को विशेषण के रूप में बदल देने का नियम मिलता है। इसी नियम से, हिन्द संज्ञा का विशेषण हिन्दीक बना। कुछ समय के बाद क का लोप हो गया और 'हिन्द' संज्ञा के विशेषण के लिये 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया। अरबों को भी यह शब्द ईरानियों से ही मिला।

प्राचीन अरबों की एक शाखा बिलोचिस्तान के मार्ग से हिन्दुस्तान आई थी और उसने अरब सागर के कुछ बन्दरगाहों को व्यापार के लिये इस्तेमाल करना भी आरम्भ कर दिया था। उन्हीं यात्रियों ने काश्मीर की तराई से आधुनिक सिन्ध तक के भूभाग का नाम सिन्ध तथा गुजरात से लेकर भीतरी

प्रदेशों का नाम हिन्द रख दिया था। भारतवर्ष धनधान्य से परिपूर्ण था और यह वह समय था जिसको देखकर विष्णु पुराण की—"गायन्ति देवा किल गीति तानि, धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे" वाली प्रशस्ति की याद आ जाती है। यहाँ की प्रसिद्ध वस्तुओं को ले जाकर अरब के लोग अपने देश में बेचते थे। यहाँ की तलवारें, एशिया में अपनी सानी नहीं रखती थीं। यहां के मसालों की अन्य देशों में भूरि-भूरि प्रशंसा की जाती थी। जैसे फल बेचने वाला संतरों की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए उनके आगे 'नागपुरी' विशेषण जोड़ देता है उसी तरह किसी मसाले की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिये उसके नाम के आगे हिन्दी की मुहर लगा दी जाती थी। अगर को 'अद-हिन्दी', तेज-पत्ता को 'साज-हिन्दी' तथा यहाँ की फौलादी तलवार को 'सैंपुल हिन्दी' कहा जाता था। दास गुप्ता की धोती न कह कर जैसे आज भी आप बजाज से दास गुप्ता माँगने लगते हैं उसी तरह अरब के बाजारों में सैंपुल-हिन्दी की जगह केवल हिन्दी माँगी जाने लगी थी।

अरब और फारस से जब हमारे देश का सांस्कृतिक सम्बन्ध दृढ़ हुआ तो वहाँ के लोग सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के लिये 'हिंन्दी' शब्द का प्रयोग करने लगे। आज के विद्वान तो यहाँ तक मानने लग गये हैं कि ८वीं और ९वीं शताब्दी से ही विदेशी विद्वान भारतीय भाषाओं के लिए 'हिन्दी' का ही प्रयोग करने लगे थे। इसके बाद भारतवर्ष में मुसलमानी शासनकाल आता है। इस समय के फारसी-ग्रन्थों में भी 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' विशेषण के रूप में प्रयोग किया हुआ मिलता है। हाँ! एक स्थान पर अमीर खुसरो ने इसे संज्ञा रूप में अवश्य प्रयोग किया है। "तुर्क हिन्दुस्तानियम मैं हिन्दवी गोयम जबाब" (मैं तुर्क हूँ और हिन्दवी में उत्तर दे सकता हूँ)। लेकिन खुसरो ने अपने समय की भाषाओं का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है उसमें हिन्दी या हिन्दवी शब्द नहीं मिलता। हो सकता है कि यह 'हिन्दवी' जनता की निरी बोली ही रही हो और लोग उसमें साहित्यिक रचनायें न करते रहे हों। भाषा के अर्थ में 'हिन्दवी' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें प्रसिद्ध सूफी कवि जायसी की रचना में देखने को मिलता है—

तुरकी, अरबी, हिन्दवी, भाषा जेती आहि।
जाके मारग प्रेम का, सबै सराहैं ताहि॥

भाषा के आधुनिक आलोचकों का मत है कि जायसी का 'हिन्दवी' से वही तात्पर्य है जो कबीर और तुलसी का भाखा से अर्थात् हिन्दवी या भाखा जनता की बोली थी। यही नहीं उस समय के उर्दू कवियों ने भी प्रान्तीय जन-भाषाओं के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग किया है। इन तथ्यों के आधार पर यह अनुमान तो किया ही जा सकता है कि दिल्ली के आसपास से अवध तक का हिन्दी प्रान्त उस समय निर्माणावस्था में रहा होगा। उत्तरी भारत में अंग्रेजों के प्रवेश से पूर्व सर्व जनप्रिय बोली का नाम हिंन्दी था। आज जिस अर्थ में हम हिन्दी का प्रयोग करते हैं उसका निर्माण १८वीं सदी से ही आरम्भ हो गया था। इसके बाद भी 'हिन्दी' को अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा, कितने पतझार आये और चले गये। आज हिन्दी भारतवर्ष की जनता की प्रिय बोली है। जनता ने अपने राज्य में अपनी प्रिय बोली को राज्य-भाषा के सिंहासन पर बिठला दिया है।

हिन्दी भाषा की सीमा

भाषाओं के सम्बन्ध में अध्ययन करने वाले भाषा-वैज्ञानिकों का कथन है कि हिन्दी आर्य भाषा परिवार के हिन्द-ईरानी शाखा की वह भाषा है जो बिहार, उत्तर प्रदेश, हिमालय के पहाड़ी प्रान्त, पंजाब तथा मध्य प्रदेश के कुछ भागों की १५ करोड़ जनता की उच्चभावनाओं के व्यक्तिकरण का साधन है।

हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास

कुछ लोग अपने नाम के आगे 'आर्य' शब्द जोड़ देते हैं। कुछ लोग ऐसा तो नहीं करते परन्तु पूछने पर वह अपने को आर्य-वंशज ही बताते हैं। इसमें उनको एक प्रकार की प्रतिष्ठा का अनुभव होता है। आर्यों के भारत में आगमन के सम्बन्ध में उठा हुआ वितण्डावाद शान्त हो गया। अब अधिकांश विद्वान इस मत से सहमत हैं कि आर्य यूरोप और एशिया की आधुनिक सीमाओं के आसपास रहने वाले लोग थे जो भोजन की तलाश में भारत आये।

आर्यों ने एक ही साथ भारतवर्ष में पदार्पण नहीं किया। समय-समय पर उनकी टोलियां आती रहीं। लोगों का कहना है कि उनकी पहली टोली हिन्दु-कुश और अफगानिस्तान के मार्ग से आकर पञ्जाब में बस गई थी। दूसरी ने

लद्दाख, गिलगिट और चित्तराल की ओर से भारत में प्रवेश किया। दूसरी टोली के आने के बाद पहली टोली के लोग पश्चिम-दक्षिण की ओर फैलने लगे थे। जैसे भारतीय होकर भी कोई बङ्गला बोलता है, कोई मराठी, कोई गुजराती, उसी तरह उनकी बोलियों में भी अन्तर था। उनकी बोलियों पर ध्यान देने से मालूम होता है कि वे किसी समय में एक ही माता की संतानें रही होंगी।

पेट की भूख शान्त होने पर मन की भूख जाग्रत होती है। उसी समय मनुष्य शान्तिपूर्वक बैठकर अपनी भाषा के करघे पर अनुभवों और कल्पनाओं के ताने-बाने बुनता है। आर्यों ने भी अपनी बोली में सर्व प्रथम जिस ग्रन्थ की रचना की उसका नाम है ऋगुवेद। यह वेद एक ही स्थान पर नहीं रचा गया। इसकी कुछ ऋचायें कन्धार में लिखी गयीं और कुछ मंत्र सिन्धु के तट पर।

वैदिक भाषा

भारतवर्ष में बस जाने पर अनार्यों की संस्कृति ने भी उन्हें प्रभावित किया। उनकी भाषा की छाप आर्य-भाषा पर भी पड़ी। आर्य जब अनार्यों से घुल-मिल गए तो उनके उच्चारण में भी अन्तर पड़ने लगा। भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहने वाले आर्य एक ही शब्द को विभिन्न रूपों में उच्चारण करने लगे। क्षुद्रक शब्द का उच्चारण कहीं-कहीं क्षुल्लक भी सुना जाने लगा। ड का उच्चारण कहीं ल कहीं ढ़ और कहीं ल्ह होता।

संस्कृत

जब आर्यों को अपनी जाति की भाषा समझने में भी कठिनाई होने लगी तब सरदारों की एक सभा बुलाई गयी। बड़े बूढ़ों ने निश्चय किया कि भाषा को एक ऐसा रूप दिया जाय जो सर्व बोध्य हो। भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहने वाले आर्यों की बोलियों से ऐसे शब्द छाँट लिये गए जिसे सभी समझ लेते थे। भाषा का संस्कार कर दिया गया। जब वह सज-सँवर कर सामने आई तब उसका नाम किया गया संस्कृत, वाक्-सभ्यों और शिक्षितों की बोली। कुछ समय के बाद वाक् शब्द लुप्त हो गया और संस्कृत का प्रचार हो गया। जैसे "मैंने आना हूँ" बोलने वाला व्यक्ति भी खड़ी बोली समझ लेता है उसी प्रकार जो लोग इसे शुद्ध बोल नहीं पाते थे वे भी कम से कम समझ तो लेते

ही थे। इसका व्याकरण बना और इसमें साहित्य, दर्शन तथा आयुर्वेद की गम्भीर बातें कही जाने लगीं। एक ओर संस्कार की हुयी यह कृत्रिम भाषा थी जिसे समझने के लिये दिमागी कसरत की अपेक्षा होती थी, दूसरी ओर वैदिक काल से प्रवाहित होती हुई जनता की वह स्वाभाविक बोली थी जिस पर अपने मन का बोझ सफलता से लादा जा सकता था। संस्कृत बोलने वाले भी एक स्थान पर न रह कर फैलने लगे और उनकी बोलियों पर दूसरों का प्रभाव पड़ने लगा। समय बीता, आवश्यकतायें बढ़ीं। नये भावों और विचारों को वहन करने के लिये नये शब्दों की आवश्यकता महसूस हुई। अनार्यों की बोलियों के सम्पर्क में आकर तथा उच्चारण की विभिन्नता के कारण वैदिक काल से प्रवाहमान जन-भाषा नयी-नयी बोलियों के रूप में परिणत हो गई।

इसी समय देश ने करवट ली। महात्मा गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी का आविर्भाव हुआ जिन्होंने धर्म की नयी व्याख्या करना आरम्भ किया। वे लोग संस्कृत का बहिष्कार कर जनता की भाषा में उपदेश करने लगे। प्रान्तीय भाषायें चमक कर संस्कृत से होड़ करने के लिये प्रस्तुत हो उठीं। पंडित लोग दृढ़तापूर्वक संस्कृत की रक्षा में लग गये। संस्कृत में कुछ चुने हुये ही शब्द थे लेकिन प्रान्तीय बोलियों ने स्वच्छन्दतापूर्वक अनार्य-भाषाओं से शब्द लेने में कुछ उठा न रक्खा। जनता की इसी भाषा को भाषा-वैज्ञानिक पहली प्राकृत कहते हैं। बुद्ध के उपदेशों को संस्कृत में लिखने की जब कुछ भिक्षुओं ने आज्ञा चाही तब तथागत् ने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया— भिक्षुओं! बुद्ध-वचन को छंद (वैदिक भाषा = संस्कृत) में कभी परिणत न करना। जो करेगा वह दुष्कृत का अपराधी होगा। हे भिक्षुगण! बुद्ध वचन को अपनी बोली में ही ग्रहण करने की मैं अनुज्ञा करता हूँ।

प्राकृत

प्रथम अध्याय में बताया गया था कि भाषाओं में उच्चारण के कारण भेद आ ही जाता है। यह प्राकृत भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर जब विभिन्न रूपों में बोली जाने लगी तब इसको भी व्याकरण से बाँध दिया गया। इसको एक स्तर पर लाकर इसका नाम रखा गया पाली। इसमें भी साहित्यिक रचनायें

प्राकृत के चार रूप

इसका प्राचीन रूप हमें अशोक के शिला-लेखों में मिलता है। शहबाज गढ़ी और मानसरा के लेख जिस लिपि में लिखे हुये मिलते हैं उसका नाम है खरोष्टी, शेष ब्राह्मी नामक लिपि में मिलते हैं। शिला-लेखों के आधार पर स्थान और उच्चारण भेद से प्राकृत के चार रूप मिलते हैं—(१) महाराष्ट्री (२) शौरसेनी (३) मागधी (४) और अर्द्ध मागधी।

(१) महाराष्ट्री—सम्पूर्ण देश में समझी जा सकने वाली एक प्रकार से राष्ट्र-भाषा थी। इसमें साहित्य भी मिलता है। उस समय के वैयाकरणों ने इसकी चर्चा बड़े विस्तार से की है।

(२) शौरसेनी—आधुनिक ब्रज मण्डल को उस समय शौरसेन कहा जाता था। शौरसेन में अधिक प्रचार होने के कारण इसे शौरसेनी कहा जाता था वैसे यह सम्पूर्ण मध्य देश की भाषा थी। मध्य देश में ही संस्कृत का जन्म हुआ था अतः इस पर संस्कृत का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

(३) मागधी—यह विदेह (उत्तर बिहार), मगध तथा अंग (दक्षिण बिहार) की भाषा थी। इसमें अमिताभ का उपदेश होता था। अपने समय में इसकी काफी प्रतिष्ठा थी। बौद्ध भिक्षु इसे अन्य भाषाओं की जननी मानते थे। इसे आदि-भाषा समझ कर गर्व से कहते थे—

सा मागधी मूल भाषा नरायायादि कप्पिका।
ब्राह्मण चासुताल्लापा, सम्बुद्धाचाऽपि भासरे॥

(४) अर्द्ध मागधी—यह प्राचीन अर्द्ध मागध (कोसल) में बोली जाती थी। गौतम बुद्ध की यही मातृ-भाषा थी। यह राज्य-भाषा भी थी। इसमें बोलने वालों की समाज में वैसी ही प्रतिष्ठा थी जैसे ब्रिटिश-शासन काल में अंग्रेजी बोलने वालों की। भारतीय भाषाओं पर अर्द्ध मागधी की छाप गिरनार, शहबाजगढ़ी तथा मानसरा के लेखों पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। पिपरहवा के पात्र लेख, सोहगौरा के शिलालेख, तथा अशोक की धर्म लिपियों एवं मध्य एशिया में प्राप्त बौद्ध संस्कृत नाटकों के लुप्तावशिष्ट अंशों में इसका प्राचीनतम रूप मिलता है। जैनों की पुस्तक 'समवाभंग' में लिखा है कि अर्द्ध मागधी पशु-पक्षी, देवता, राक्षस, मनुष्य आदि सभी प्राणियों की भाषा थी। आजकल के भ्रमणशील साधु जिस तरह खिचड़ी भाषा बोलते हैं उसी

तरह महावीर स्वामी ने भी प्रचलित भाषाओं के शब्दों को इसमें स्थान देकर अपने प्रवचन को सरल और सबके समझ में आने योग्य बना दिया था।

अपभ्रंश

व्याकरण के नियमों में बाँधे जाने पर अस्वाभाविक भाषा समझ कर जनता ने उसे भी त्याग दिया और अपनी अकृत्रिम भाषा का व्यवहार करती रही। कुछ समय के बाद इसे भी सर्व बोध्य बनाने के लिये एक स्तर पर लाना पड़ा। वैयाकरण ने इसे अपभ्रंश कहा है। संस्कृत भाषा और साहित्य के आचार्य भामह और दण्डी के उल्लेख तथा बलमी के राजा धरसेन के शिला-लेखों से पता चलता है कि ईसा की छठीं शताब्दी में अपभ्रंश में भी साहित्यिक रचनायें की जाने लगी थीं। कवि-कुल-गुरु कालिदास के विक्रमोर्वशीय त्रोटक में, विक्षिप्त पुरुरवा की उक्ति में छन्द और रूप दोनों के विचार से अपभ्रंश की छाया देख पड़ती है। अपभ्रंश का साधारण लक्षण है म के स्थान पर व हो जाना। परन्तु इस लक्षण को याकोबी आदि विद्वान पाठान्तर ही मानते हैं। जो कुछ हो ईसा की दूसरी शताब्दी में ही अपभ्रंश भाषा बनने लगी थी।

इसके पहले निरक्षरों की बोली अपभ्रंश कही जाती थी। पाणिनि के सूत्रों के प्रसिद्ध वार्तिककार पतंजलि ने अपभ्रंश उस भाषा के लिये कहा है जो उस समय संस्कृत के बदले स्थान स्थान पर बोली जाती थी। जैसे गो शब्द के लिये कहीं गावी शब्द का प्रयोग होता था, कहीं गोणी का, कहीं गोता का और कहीं गोपोतलिका आदि का। पतंजलि ने स्पष्ट लिखा है—
भूयां सोह्यपशब्दः। अल्पीयांसः शब्दाः एकैकस्य, शब्दस्य, वहवोऽपभ्रंशाः। तद्‌था गौरित्यस्यगावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्ये वमादयोऽप्रभंशा।

दण्डी ने अपने काव्यादर्श में लिखा है कि दृश्य और शब्द काव्यों में आभीरों की बोली तथा व्याकरण आदि शास्त्रों में संस्कृत से भिन्न भाषा को अपभ्रंश कहते हैं। केवल इसी आधार पर पाश्चात्य विद्वान डा० कीथ ने प्रमाणित करना चाहा कि यह कभी लोक या राष्ट्र-भाषा नहीं थी। डा० श्यामसुन्दर दास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में इस मत का बड़ी योग्यता से खण्डन किया है। बाबू साहब का कहना है कि दसवीं शताब्दी में ब्रज मण्डल में बोली जाने वाली अपभ्रंश भाषा जिसे शौरसेनी अपभ्रंश भी

कहते हैं, समस्त उत्तरापथ की साहित्यिक भाषा थी। मध्य देश तथा गंगा की तराई के प्रतिष्ठित राजपूतों के कारण इसका काफी प्रचार हुआ। गुजराती जैनों ने भी इसे उन्नत बनाने में कुछ उठा न रखा। यह राष्ट्र-भाषा थी, इसमें पूर्वी कवियों ने भी कविता करना आरम्भ कर दिया था। १० वीं शताब्दी से लेकर १३ वीं शताब्दी तक बंगाली कवियों ने इसी में कवितायें लिखीं। मैथिल कवि विद्यापति ने अपनी भाषा के अतिरिक्त अवहट्ट में कविताऽमृतवर्षण किया।

प्रसिद्ध वैयाकरण मार्कण्डेय ने प्राकृत सर्वस्य में तीन प्रकार के अपभ्रंशों का परिचय दिया है (१) नागर या शौरसेनी अपभ्रंश (२) ब्राचड़ (३) उपनागर।

अपभ्रंश के तीन रूप

(१) नागर या शौरसेनी अपभ्रंश गुजराती, राजस्थानी की मूलभूत बोलियों पर आश्रित है। इसमें शौरसेनी का भी मेल है। मध्य देश में इसका बहुत प्रचार था। इसमें साहित्यिक रचनाएँ भी हुई हैं।

(२) ब्राचड़—सिन्ध में बोली जाने वाली अपभ्रंश भाषा का ब्राचड़ नाम था।

(३) उपनागर—नागर और उपनागर का मिश्रण जो पश्चिमी राजपूताने और दक्षिणी पंजाब में बोली जाती थी।

हिन्दी का आविर्भाव

जब अपभ्रंश को भी व्याकरण के नियमों से जकड़ दिया गया तब जनता ने उसे भी ठुकरा दिया और उसने उस बोली को अपनाया जो अबाध गति से प्रवाहित होती हुई एक ऐसे स्तर पर पहुँच गई थी जो कुछ अंशों में आधुनिक हिन्दी और अपभ्रंश से मिलती-जुलती है। मध्य की इसी अवस्था को किसी ने अवहट्ट कहा किसी ने पिंगल। राजपूताने के भाँट डिंगल भाषा में तो लिखते ही थे अब उन्होंने पिंगल में भी कवित्त लिखना आरम्भ कर दिया। यह ठीक-ठीक निर्णय करना मुश्किल है कि अपभ्रंश का कब अन्त हुआ परन्तु १२ वीं शताब्दी का मध्य-भाग अपभ्रंश के अस्त और आधुनिक बोलियों का उदय काल माना जा सकता है। धीरे-धीरे शौर-सेनी या नागर अपभ्रंश से जो भाषा विकसित हुई उसे नागरी या हिन्दी

कहा जाने लगा। इसका विकास भी शेष भाषाओं के साथ उन्हीं के ढंग पर हुआ है। इसने अपनी प्रकृति के अनुकूल देशी और विदेशी शब्दों को अपनाया है। इसी के साथ अर्द्ध मागधी से जो भाषा निकली उसे भी कुछ लोगों ने हिन्दी कहना आरम्भ किया। भाषा-शास्त्री सुविधा के लिये हिन्दी को दो नामों से पुकारने लगे—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। अधिकतर भाषा-वैज्ञानिक पश्चिमी हिन्दी को ही असली हिंन्दी मानते हैं। कुछ लोग भूल से खड़ी बोली को ही हिन्दी समझने लगते हैं। खड़ी बोली हिन्दी की विभाषा मात्र है। शारङ्गधर को हिन्दी का सर्व प्रथम कवि माना जाता है।

पश्चिमी हिन्दी की पाँच विभाषायें हैं—(१) खड़ी बोली (२) बाँगरू (३) ब्रजभाषा (४) कन्नौजी (५) बुन्देली।

खड़ी बोली

(१) खड़ी बोली—शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित यह बोली मेरठ और दिल्ली के आस-पास हिन्दवी कहलाती थी। शाहजहाँ ने दिल्ली को नये ढंग से बसाकर उसका नव नामकरण किया। दिल्ली, शाहजहाँनाबाद या उर्दू-ए-मुअल्ला हो गई। उर्दू-ए-मुअल्ला के कई अर्थ होते हैं—शाही पड़ाव शाही फौजी दरबार आदि। यहाँ पर मुसलिम फौजों की छावनी थी। अरब, फारस और तुर्किस्तान से आये हुये सिपाहियों को यहाँ वालों से बातचीत करने में बड़ी कठिनाई होती थी। न वे यहाँ की हिन्दवी समझ पाते थे और न हिन्दवी वालों ने ही अरबी और फारसी के जिह्वा—तोड़ शब्दों को स्वप्न में भी सुना था।

इस बोली की प्रशंसा में खुसरो ने एक स्थल पर लिखा था 'हिन्दी भाषा फारसी से कम नहीं। अरबी के सिवा जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है.........हिन्दी भाषा भी अरबी के समान हैं क्योंकि उसमें भी मिलावट का स्थान नहीं।'

लेकिन कुछ समय के बाद दोनों के आदान-प्रदान से एक नयी बोली निकल आई। नाम पड़ा रेखता। रेखता माने मिली हुयी या पड़ी हुयी। यह वैसी ही बोली रही होगी जैसे ब्रिटिश काल में पहली बार भारत आया हुआ अंग्रेज अफसर अपने क्लर्कों से "यू ब्लाडी हाय" बोलता था।

दोनों के उच्चारण में त्रुटियों का होना स्वाभाविक था। 'हिन्दवी' वाले

ओजबक् के स्थान पर 'उजबक' और तुर्क 'ब्राह्मण' के स्थान पर 'बरहमन' बोलते थे। अकबर को भी इस बात के लिये सदा चिंता रही। उसने कृष्णदास मिश्र के ऊपर इस समस्या को हल करने का भार डाला परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

हिन्दवी की नींव पर खड़ी रेखता के अतिरिक्त एक और बोली थी। उसका नाम भी उर्दू-ए-मुअल्ला ही था। वह दरबार की बोली थी। अरबी, फ़ारसी और तुर्की शब्दों की इसमें भरमार थी। उर्दू-ए-मुअल्ला बोलने वाले सरकारी नौकर, गँवारों की भाषा हिन्दवी में बोलना अपमान समझते थे। कुछ लोगों का विचार है कि इसी रेखता—पड़ी हुई बोली—का विरोध करने के लिये जनता ने अपनी बोली का नाम खड़ी बोली रखा। वैसे यह शब्द सर्वप्रथम लल्लू लाल जी और पं० सदल मिश्र के लेखों में ही मिलता है। कुछ लोग इसे खरी (टकसाली) का बिगड़ा हुआ रूप मानते हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास का मत था कि इसका नाम 'अन्तर्वेदी' अधिक उपयुक्त होता।

कुछ लोग खड़ी बोली को ब्रज-भाषा से निकला हुआ मानते हैं। 'घोड़ो गयो' आदि ओकारान्त रूप शौरसेनी प्राकृत से ब्रज-भाषा को मिले हैं। इसका रूप खड़ी बोली में 'घोड़ा गया' हो जाता है। स्मरण रखना चाहिये कि खड़ी बोली का प्रचार भी अवधी या ब्रज-भाषा के ही समय से है। खड़ी बोली का प्राचीनतम नमूना नामदेव की कविताओं में मिलता है। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में ही खुसरो ने लिखा था—

टट्टी तोड़ के घर में आया, अरतन-बरतन सब सरकाया।
खा गया, पी गया, दे गया बुत्ता, ए सखि साजन? ना सखि कुत्ता॥

आजकल खड़ी बोली रामपुर रियासत, मुरादाबाद, मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फर नगर, सहारनपुर, अम्बाला तथा कलसिया और पटियाला रियासतों के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें फारसी, अरबी, तथा संस्कृत के तत्सम और अर्द्ध-तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है। कहीं-कहीं पर पंजाबी का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसके बोलने वालों की संख्या ५३ लाख है।

साहित्यिक-हिन्दी—जब खड़ी बोली में संस्कृत के तत्सम और अर्द्ध-तत्सम शब्दों का प्रयोग समुचित मात्रा में होने लगता है तब यह साहित्य

की भाषा हो जाती है। आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय इसी को नागर कहते हैं। प्रसिद्ध नाट्यकार सेठ गोविंददास इसी का नाम 'भारती' रखना चाहते हैं, हिन्दी का वर्तमान साहित्य इसी में निर्मित हो रहा है। पढ़े-लिखे हिंदू इसी का व्यवहार करते हैं। यही आज-कल राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन है।

उर्दू—रेखता के अतिरिक्त शाही फौजी दरबार की भाषा का नाम उर्दू-ए-मुअल्ला था। खड़ी बोली में ही अरबी, फारसी, और तुर्की शब्दों की भर-मार कर दी गयी थी। इसका प्रयोग शाही दरबार में होता था। सरकारी नौकर इससे नीचे बात ही करना नहीं चाहते थे। हिंदवी और इसमें आकाश-पाताल का अंतर था। एक जनता की स्वाभाविक भाषा थी, दूसरी कृत्रिमता की पराकाष्ठा पर पहुँची हुयी यह उर्दू-ए-मुअल्ला। कुछ समय के बाद 'उर्दू-ए-मुअल्ला' में से 'ए-मुअल्ला' झड़ गया और बच रहा उर्दू। उर्दू के दो रूप पाये जाते हैं। दिल्ली और लखनऊ की अरबी-फारसी गर्भिता उर्दू तथा हैदराबाद की सरल उर्दू। उर्दू साहित्य कविता की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न है। कवियों की उज्ज्वल परम्परा में उस्ताद गालिब, मीर, सौदा, और दाग के नाम लिये जा सकते हैं जिनके शेर आज भी जनता की जबान पर सूक्तियों के रूप में उछलते रहते हैं। भाषा की सरलता और भावों की गम्भीरता के लिये गालिब के इस शेर की बानगी देखिये—

आगे आती थी हाले दिल पै हँसी।
अब किसी बात पर नहीं आती॥
मौत का एक दिन भी तो मुअैय्यन है।
नींद क्यों रात भर नहीं आती॥

उर्दू कविताओं की लोक-प्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि लोगों को ऐसे हजारों शेर याद हैं जिनके रचयिताओं का पता तक नहीं। आज के उर्दू साहित्य ने एक नयी दिशा में करवट ली है। जोश, फिराक, अली सर-दार जाफरी इस समय के प्रतिनिधि कवि हैं। कृष्ण चन्द्र, राजेन्द्र सिंह बेदी, ख्वाजा अहमद अब्बास, मिंटो, प्रमुख गद्यकार। आज की उर्दू हिंदी के अत्यन्त निकट आती जा रही है। उर्दू ने हिंदी को कई लेखक भेंट किये हैं।

प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक मुन्शी प्रेमचन्द उर्दू से ही हिंदी के क्षेत्र में आये थे। आज-कल यह पाकिस्तान की राष्ट्र-भाषा है।

हिन्दुस्तानी—भाषा के अर्थ में हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग हमें बादशाहनामा और तारीख फरिश्ता में भी मिलता हैं। उर्दू साहित्यिकों ने पहले इसका प्रयोग किया था परन्तु बाद को इसे लम्बा और गतिहीन समझ कर छोड़ दिया। भारतवर्ष में अंग्रेजों का शासन होने पर सं० १८५७ विक्रमी में कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुयी। अंग्रेजों को भारतीय भाषाओं से परिचित कराना और उनके लिये भारतीय क्लर्क तैयार करना इसका उद्देश्य था। भारतीय भाषाओं के विभागीय प्रिंसिपल जानगिल क्राइस्ट साहब को इससे बड़ा प्रेम था। इसको ऊपर उछालने का श्रेय उन्हीं महाशय को है। इस प्रचार में अंग्रेजों की जो कूटनीति छिपी थी वह सभी को ज्ञात है। हिंदुस्तानी खड़ी बोली का ही एक रूप है, न ठेठ बोल-चाल न शुद्ध साहित्यिक। इसे विशाल हिंदी प्रान्त की खिचड़ी बोली कहा जा सकता है। इसमें तत्सम शब्दों का व्यवहार कम होता है। नित्य व्यवहार के विदेशी शब्द भी बोले जाते हैं। हिन्दुस्तानी में अरबी के शब्द भी मिले हुये हैं और फारसी के भी, इंग्लिश के भी और फ्रेन्च के भी। न तो इसका अपना व्याकरण है न प्रामाणिक कोश। साहित्य के नाम पर बाजारों में बिकने वाली 'छबीली भठिहारिन' 'किस्सए चार यार' या चन्द गजलों की किताबें इसकी निधि थी परन्तु जब से इस पर बापू की दयादृष्टि हुयी तब से इसमें कुछ अच्छी चीजें भी आने लगीं। पं० सुन्दरलाल इसी भाषा में 'नया हिंद' नामक एक मासिक पत्र भी निकाल रहें हैं। यह देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों में लिखी जाती है। राष्ट्र-भाषा के प्रश्न को लेकर जब भारतवर्ष में विवाद छिड़ा हुआ था, उस समय हिन्दी की प्रतिद्वन्द्विनी यही थी। इसके सम्बन्ध में डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा था—"हिन्दुस्तानी का साहित्य के आसन पर विराजने की चेष्टा करना हिंदी और उर्दू दोनों के लिये अनिष्टकर सिद्ध हो सकता है। इसके प्रचार और विकास तथा साहित्योपयोगी होने से हिंदी, उर्दू दोनों अपने गौरव और परम्परा से पृथक् हो जायेंगी और दोनों पथभ्रष्ट होकर एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करेंगी जो भारतीय भाषाओं के इतिहास की परम्परा में उथल-पुथल कर देगी।" अनेक भाषाओं के

पंडित तथा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इसी का विरोध करते हुये हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्ट पार्टी से त्यागपत्र दे दिया था। इसके गद्य का एक उदाहरण लीजिये —

"आसान बा महावरा भाशा रायल अठ पेजी बड़ा साइज लगभग चार सौ पन्ने कपड़े की सुन्दर जिल्द कीमत केवल साढ़े सात रूपये।"

बाँगरू—पंजाब का दक्षिणी-पूर्वी भाग बाँगरू कहलाता है। वहाँ की बोली बाँगरू है। पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी बोली से मिलकर बनी हुई यह भाषा दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा, झींद आदि के ग्रामीण क्षेत्रों में बोली जाती है। पानीपत और कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध ऐतिहासिक रणस्थल इसकी सीमा के ही अन्तर्गत पड़ते हैं।

ब्रज-भाषा– शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश से निकली हुई यह भाषा मुख्यतः ब्रजमण्डल में बोली जाती है। मथुरा इसका केन्द्र है और शुद्ध ब्रज-भाषा तो वहीं सुनने को मिलती है। दक्षिण की ओर यह आगरा, भरतपुर, धोलपुर, करोली, तथा ग्वालियर के पश्चिमी भाग और जयपुर के पूर्वी भाग तक बोली जाती है। उत्तर में गुड़गाँव जिले के पूर्वी भाग तक। उत्तर-पूर्व की ओर बुलन्दशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली तथा नैनीताल के तराई परगनों तक व्याप्त है। इसका व्याकरण खड़ी बोली और अवधी से थोड़ा सा भिन्न है। खड़ी बोली में कर्मकारक का चिह्न को है, अवधी में के, कँह या का; परन्तु इसमें कौ हो जाता है। खड़ी बोली में करण का चिह्न से है, अवधी में सन परन्तु इसमें सों या ते हो जाता है। खड़ी बोली के पहले कविता की भाषा यही थी। इसकी कोमलता से लोग बहुत प्रभावित हो उठे थे। उनको विश्वास ही नहीं होता था कि खड़ी बोली में भी कभी कविता होगी। निस्सन्देह ब्रज-भाषा में बड़ी ललित कवितायें होती हैं। इसकी कविताओं में कोमल भावों की बड़ी सफल अभिव्यक्ति हुई है। सरल और सुबोध होने के अतिरिक्त इस भाषा की कविताओं में नाद-व्यंजना की अनूठी मर्मस्पर्शिनी कला मिलती है। घनानन्द की एक रचना का उदाहरण लीजिये—

कारी कूर कोकिल कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबही करेजो किनकोरि लै।

पैंड परे पापी ये कलापी निसिद्योस ज्यों ही
चातक रे घातक है तू हू कान फोरि लै ॥
आनँद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना।
जानि कै अकेली, सब घेरो-दल जोरि लै ॥
जौ लौं करैं आवन विनोद बरसावन वे।
तौ लौं रे डरारे बनमारे घनघोरि लै ॥

ब्रज-भाषा के श्रेष्ठ कवियों में सूर का सर्वोच्च स्थान है। आधुनिक काल में भी इसमें कवितायें होती हैं। पण्डित रमाशंकर शुक्ल 'रसाज्ञ' और श्री वियोगी हरि आज भी इसी के माध्यम से रस-वर्द्धण करते हैं। खड़ी बोली के पहले इसका गद्य भी प्रचलित था। इसमें अनेक वार्ताएं लिखी गईं। सम्वत् १६६० के आसपास नाभादास जी ने 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक ब्रज-भाषा गद्य में लिखी जिसमें भगवान राम की दिन-चर्य्या का वर्णन है—"तत्र श्री महाराजकुमार प्रथम बसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर बृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री श्री राजाधिराजजू को जोहार करि कै श्री महेंन्द्रनाथ दसरथजू के निकट बैठते भए।" आज भी इसके बोलने वालों की संख्या ७६ लाख है।

कन्नौजी—गंगा के मध्य दोआब की बोली है। इसमें भी अच्छा साहित्य है परन्तु एक तरह से यह ब्रज-भाषा का दूसरा रूप है।

बुन्देलखण्डी—यह भी ब्रज-भाषा से मिलती-जुलती उसकी एक शाखा ही है। बुन्देलखण्ड की प्रधान भाषा होने से इसका नाम बुन्देलखण्डी पड़ा। झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, सागर, नरसिंह पुर, सिंवनी, होशंगाबाद स्थानों में बोली जाती है। इसका मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, बालघाट आदि स्थानों में सुनाई पड़ता है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि आचार्य केशवदास इसी प्रदेश के कवि थे। उनकी रचनाओं पर इसकी स्पष्ट छाप देख पड़ती है। व्याकरण में इसका कारक हिन्दी के ही समान है। जगनिक का आल्हा इसी भाषा में है परन्तु उसकी कोई लिखित प्रति न मिलने के कारण विभिन्न स्थानों में आल्हा भी भिन्न-भिन्न तरह से गाया जाता है। इसके बोलने वाले ६६ लाख हैं।

पूर्वी हिन्दी की मुख्य दो बोलियाँ हैं—(१) अवधी और (२) छत्तीस गढ़ी।

अवधी—अवध, आगरा, बघेलखंड, छोटा नागपुर, और मध्यप्रदेश के कुछ भागों में बोली जाने वाली भाषा का नाम अवधी है। वैसे इसका क्षेत्र तो अयोध्या और गोंडा है। इसकी प्रचार सीमा के उत्तर में नैपाल की पहाड़ी भाषायें, पश्चिम में पश्चिमी हिन्दी, पूर्व में बिहारी तथा उड़िया और दक्षिण में मराठी बोली जाती है। अवधी के दो रूप मिलते हैं— पूर्वी अवधी और पश्चिमी अवधी। पूर्वी अवधी अयोध्या और गोंडा जिले में बोली जाती है। इसी को शुद्ध अवधी भाषी प्रदेश भी कहते हैं। यह ब प्रत्यान्त भाषा है आइब, जाब, करब, खाब। साधारण क्रिया पदों में कारक-चिह्न या दूसरी क्रिया लगने पर इसमें आवैकाँ, जायमाँ, आवैलाग, सुनै चाहौ, हो जाता है। पश्चिमी अवधी लखनऊ से कन्नौज तक बोली जाती है। इस पर ब्रज-भाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक भी है। ब्रज-भाषा के ही समान इसमें साधारण क्रिया का नान्त रूप मिलता है। आवन, जान, करन, आदि कारक चिह्न वा दूसरी क्रिया लगने पर आवनकाँ, करनकाँ, आवन लाग हो जाता है। जायसी और तुलसी ने इसमें कवितायें रचकर इसे अमर कर दिया है। इसका ठेठ रूप जायसी की रचनाओं में और साहित्यिक रूप तुलसी की कविताओं में मिलता है। पद्मावती के रूप-वर्णन में जायसी की भाषा देखिये—

बरु नीका बरनौं इमि बनी—साधे बान जानु दुइ अनी
उन बानन्ह असको जोन मारा—बेधि रहा सगरौ संसारा (पद्मावत)

३५ वर्षों के बाद तुलसी ने इसे साहित्यिक रूप दिया—

कारन कौन नाथ नहिं आये
जानि कुटिल प्रभु मोहिं बिसराये
अहह धन्य लछ्मण बड़ भागी
राम पदार बिन्द अनुरागी

(रामचरित मानस)

उसके बाद वर्षों तक इसकी धारा-गति रुद्ध हो गई थी परन्तु इसमें फिर से कवितायें होने लगी हैं।

छत्तीसगढ़ी—(२) छत्तीसगढ़ी—पर मराठी और उड़िया का प्रभाव

अधिक हैं अतः यह अवधी से भिन्न लगती है। इसमें कोई उत्कृष्ट साहित्य नहीं मिलता।

भोजपुरी—इसके अतिरिक्त एक बोली और है जिसका नाम है भोजपुरी। यह हिन्दी की ही एक उपभाषा है। यह बिहार प्रान्त के आरा, चम्पारन और सारन जिलों तथा उत्तर प्रदेश के गोरखपुर, बनारस कमिश्नरी में बोली जाती है। संज्ञा और सर्वनाम के कारक रूपों में तो भोजपुरी अवधी से बहुत मिलती-जुलती है। अवधी की विभक्तियों की तरह इसकी भी विभक्तियाँ हैं। कहीं-कहीं व्याकरण में थोड़ी सी विभिन्नता दिखाई पड़ जाती है। यह शौरसेनी से सहायता लेकर विकसित भी हुई है। इसमें हास्य और व्यंग्य के साहित्य का निर्माण भी हो रहा है। बनारस की भोजपुरी में जीवन की मस्ती को वहन करने की अजीब क्षमता है जो 'भैया जी बनारसी' और 'कौतुक बनारसी' की रचनाओं में स्पष्ट देख पड़ती है। बनारसी बोली के प्रतिनिधि कवि हैं 'गुरु बनारसी'। उनकी रचना का उदाहरण लीजिए—

बूट पर पालिस ज्यों 'सूट' पर नालिस ज्यों
ऊँट पर कूबड़ जस प्रबल लखात हौ।
मार जस गारी पर, धार जस आरी पर
घोर रात कारी पर उज्जर परभात हौ।
जंट पर कलट्टर जस, ठेला पर टट्टर जस
चेला पर कट्टर जस 'गुरु' कऽ जमात हौ।
स्टालिन ज्यों रूस पर, पुलिस जुलूस पर
तइसैं मनहूस पर बेढब कऽ बात हौ।

इस बोली का भविष्य उज्जल है।

नागरी लिपि के मूल स्रोत और उसका विकास

ऋगुवेद में अष्टकर्णी गायों के दान का उल्लेख, ब्राह्मण और उपनिषद काल में ध्वनियों और उच्चारण की चर्चा, पाणिनि की अष्टाध्यायी में लिपि लिवि आदि शब्दों के प्रयोग तथा ब्रह्मजाल सुत्त में बच्चों के खेल अक्खरिका के उल्लेख से इस बात का पता चलता है कि भारतवर्ष के लोग लिखने की कला बहुत पहले से जानते थे। हमारे मनीषियों ने भाषा के व्याकरण तथा छन्दों का जिस स्तर पर विश्लेषण किया है उस स्तर का

विवेचन लिपि के बिना सम्भव ही नहीं हो सकता। पाश्चात्य विद्वानों का मत था कि भारतीयों को ईसा की आठवीं और दसवीं शताब्दी में लिखने का ज्ञान पाश्चात्यों के ही द्वारा हुआ परन्तु डा० हीराचन्द्र ओझा ने इस मत का खण्डन किया और कहा कि हमारे यहाँ तो ईसा की छठी शताब्दी में ही लिपियों का प्रचार हो गया था।

उस समय दो प्रकार की लिपियाँ प्रचलित थीं, एक का नाम था ब्राह्मी, दूसरे का खरोष्टी। ब्राह्मी राष्ट्रीय लिपि थी। वह दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। पश्चिमोत्तर को छोड़कर सम्पूर्ण भारतवर्ष में उसका प्रचार था। पश्चिमोत्तर भारत की लिपि खरोष्टी थी। वह उर्दू की तरह बायें से दाहिनी ओर लिखी जाती थी। तीसरी शताब्दी के बाद यहाँ भी ब्राह्मी के विकसित रूप का प्रयोग होने लगा। ब्राह्मी किस लिपि की शाखा है, यह शंका मन में उठना स्वाभाविक ही है। बूहलर तथा बेवर आदि विदेशी विद्वानों का कहना है कि इसकी जननी पश्चिम एशिया की कोई न कोई प्राचीन लिपि है। बूहलर का मत है कि इस लिपि ने २२ अक्षर सेमटिक लिपि से ले रखे हैं और शेष उसी के आधार पर बना लिया गया है। कनिंघम और ओझा इसे नहीं मानते। ओझा जी का कहना है कि ब्राह्मी लिपि आर्यों का मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता या सर्वाङ्ग सुन्दरता से चाहे इसके कर्त्ता ब्रह्मा मान लिये गये हों या साक्षर ब्राह्मणों की लिपि होने के कारण यह ब्राह्मी कही जाने लगी हो। फिनिशियन आदि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मौर्य काल में यह लिपि सभी जगह प्रचलित थी। ईसा से ५ वीं शताब्दी पूर्व तक के शिला-लेख इसी में मिले हैं। अशोक के अतिरिक्त अन्य कई प्राचीन शिला-लेखों की लिपि यही है। ३५० ई० तक इसका प्रचार भारत-वर्ष में रहा।

लिखावट की भिन्नता के कारण लिपियों में अन्तर आ जाता है। कुछ समय के बाद उत्तरी और दक्षिणी ब्राह्मी लिपियों में भी अन्तर आ गया जो धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। तामिल, तैलगू, तथा ग्रन्थ आदि लिपियाँ दक्षिणी ब्राह्मी से ही निकली हैं। उत्तरी भारत की ब्राह्मी लिपि का प्रचार गुप्तों ने दक्षिण में किया। गुप्त कालीन शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों में इसका उदाहरण मिलता है। इसलिये इसका नाम भी गुप्त लिपि रख दिया गया। गुप्तों के समय में

उत्तरी भारत की ब्राह्मी लिपि में प्रयुक्त सिरों के छोटे चिन्ह लम्बे होने लगे थे तथा स्वरों की मात्राओं के प्राचीन चिह्न लुप्त होकर नये रूपों में परिणत होने लग गये थे। वह धीरे-धीरे नागरी के रूप में बदलने लगी थी। गुप्त-काल की इस विकसित लिपि का नाम रखा गया कुटिल लिपि। कुटिलाक्षर नाम का प्रयोग तो प्राचीन है परन्तु अनुमान किया जाता है कि अक्षरों की कुटिलता के कारण ही इसका नाम कुटिल लिपि पड़ गया होगा। छठीं से नवीं शताब्दी तक इसका प्रचार सम्पूर्ण उत्तर भारत में था। इसी लिपि से काश्मीर की प्राचीन लिपि शारदा तथा हम लोगों की नागरी लिपि विकसित हुई है। शारदा से काश्मीर की वर्तमान लिपि टाकरी तथा गुरुमुखी लिपियाँ विकसित हुई हैं। दसवीं शताब्दी के लगभग प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से बँगला लिपि निकली। वही बदल कर आधुनिक बंगाली, मैथिल, उड़िया, तथा नेपाली हो गई है। गुजराती, कैथी तथा महाजनी आदि उत्तर भारत की लिपियाँ भी प्राचीन नागरी से ही निकली हैं। नागरी लिपि का प्रयोग उत्तर भारत में १० वीं शताब्दी के लगभग मिलता है। वैसे तो आठवीं शताब्दी के भी कुछ लेख दक्षिण भारत में मिले हैं। दक्षिणी नागरी लिपि का नाम आज भी नन्दि नागरी है। दक्षिण में संस्कृत की पुस्तकें इसी लिपि में छपती हैं। राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य भारत, तथा मध्य प्रदेश में प्राप्त उस समय के सभी शिला-लेखों तथा ताम्र-पत्रों में इसी लिपि का प्रयोग हुआ है। १० वीं शताब्दी में उत्तर भारत की नागरी लिपि में कुटिल की भाँति अ आ घ प य ष और स के सिर दो अंशों में विभक्त मिलते हैं। ११ वीं सदी तक इन दोनों अंशों के मिल जाने से सिर की एक लम्बी लकीर बन जाती है। प्रत्येक अक्षर का सिर उतना ही लम्बा रहता है, जितनी कि अक्षर की चौड़ाई। उस समय की नागरी आजकल की देवनागरी से थोड़ी-थोड़ी मिलने लगी थी। १२ वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते वह बिल्कुल नागरी बन गई। उस समय से लेकर आज तक बहुधा वह उसी प्रकार चली आ रही है। यह कहा जा सकता है कि आधुनिक देवनागरी १० वीं शताब्दी की नागरी लिपि का ही विकसित रूप है। देवनागरी के नामकरण के सम्बन्ध में भी अभी निश्चित मत नहीं है। किसी का कहना है कि नागर ब्राह्मणों में प्रचलित होने के कारण इसका नाम नागरी पड़ा। कोई नगर

शब्द से इसका सम्बन्ध जोड़कर नागरी बना लेता है और कहता है कि नगर में प्रचलित होने के कारण इसका नाम नागरी पड़ा। किसी का कहना है कि तांत्रिक मंत्रों में कुछ चिह्न बनते थे जो देवनगर कहलाते थे, इन अक्षरों से मिलते-जुलते रहने के कारण इस लिपि का नाम देवनागरी पड़ा लेकिन तांत्रिक समय में नागर-लिपि स्वयं प्रचलित थी इसलिये यह नाम नहीं माना जा सकता। अभी तक इसका नाम खोज का विषय बना हुआ है।

वैज्ञानिकता—किसी लिपि की वैज्ञानिकता प्रमाणित करने के लिये निम्नांकित बातों की आवश्यकता होती है—(१) जिस प्रकार बोली जाय उसी तरह लिखी जाय। (२) जिस तरह लिखी जाय उसी प्रकार पढ़ी जाय। (३) उसमें प्रयुक्त अक्षर अनुच्चरित न रहें जैसे Psychology का P अथवा Island का S. (४) एक ध्वनि के लिये एक से अधिक चिन्ह न हों। (५) देखने में सुन्दर तथा चित्ताकर्षक हो। (६) उसमें मुद्रण सुलभता हो।

ये सारे गुण हमें देवनागरी लिपि में मिलते हैं, इसलिये यह एक पूर्ण-तम वैज्ञानिक लिपि है।

नागरी अंक—जिस प्रकार नागरी लिपि ब्राह्मी लिपि से विकसित हुयी है उसी प्रकार नागरी अंक भी ब्राह्मी अंकों के ही विकसित रूप हैं। प्राचीन और अर्वाचीन अंकों की आकृति में ही अन्तर नहीं है बल्कि लिखने की रीति में भी उसका दर्शन होता है। आजकल तो १ से ९ तक अंक और शून्य अंक से विज्ञान का सारा काम चलता है। प्राचीन काल में शून्य का व्यवहार नहीं था। दहाई, सैकड़ा, हजार आदि के लिये अलग-अलग चिन्ह थे। सर्व प्रथम अंकों के कुछ चिन्ह अशोक के शिला-लेखों में मिल जाते हैं। प्राचीन शैली के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। पं० भगवान लाल ने आर्य भट्ट और मंत्र शास्त्र के अक्षरों के द्वारा अंक सूचित करने की रीति को जाँचा पर असफल रहे। प्राकृत का व्यवहार करने वाले बौद्धों और वणिजाओं के द्वारा इसका कभी निर्माण न हुआ होगा, क्योंकि इन अंकों में अनुनासिक, जिह्वा मूलीय तथा उपहमानीय का होना ही सिद्ध करता है कि ये ब्राह्मण निर्मित हैं। कुछ विद्वानों ने कहा कि इन अंकों के मूल विदेशी अंकों से प्रभावित हैं लेकिन ओझा जैसे विद्वान इसे नहीं

मानते। उनका कहना है कि ये अंक भी आर्यों ने स्वयं ही रचे हैं। नवीन शैली के अंक ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक प्रचलित हो गये थे। शून्य का निर्माण करके गणित की सारी आवश्यकता किस मनीषी ने पूरी कर दी कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि अरबों ने इसका प्रयोग यहाँ से ही सीखा और फिर उन्हीं के द्वारा इसका प्रचार सम्पूर्ण यूरोप में हो गया।

—०—

तृतीय प्रकरण

राष्ट्र-भाषा हिन्दी और उसकी समस्यायें

इतिहास

जब-जब हमारे देश पर एक छत्र सम्राटों का शासन रहा है, तब-तब कोई न कोई भाषा, राष्ट्र-भाषा के रूप में मानी जाती रही है। राष्ट्र-भाषा से देश की एकता तो अक्षुण्ण रहती ही है, पारस्परिक व्यवहार में भी आसानी हो जाती है। प्राचीन काल में संस्कृत ही राष्ट्र-भाषा थी और लिपि देवनागरी। कुछ समय के बाद राजनैतिक फूट के कारण, जब देश कई राज्यों में बँट गया, तब अपने-अपने स्थान की प्राकृतों ने राज-भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया। एकता का लोप हो गया। मुसलमानों को मौका मिला। देश पर उनका अधिकार हो गया। फारसी राज्य-भाषा के सिंहासन पर बैठ गयी। उसके सम्मिलन से देश में एक नयी भाषा बन गई, उर्दू। शासकों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति शासितों में तो होती ही है। बेचारे भारतवासी इसके अपवाद क्यों होने लगे? उर्दू हमारे जीवन पर छा गयी। उसी के माध्यम से लोगों ने शिक्षा दिलवाना शुरू किया। घर-घर मौलवी आकर बच्चों को पढ़ाने लगे। फारसी के गुलिस्ताँ बोस्ताँ कंठस्थ कराये जाने लगे। हिन्दी में भाषण करना 'गँवारों' की क्रिया समझी जाने लगी। व्यावहारिक हिसाब-किताब में भी गेहूँ को गंदुम, चने को नखुद, घी को रोगनजर्द, मिठाई को शीरनी, धोबी को गाजुरे, नाई को हज्जाम, आने जाने को आमदरफ्त तथा नहाने को गुसल कहा जाने लगा। हिन्दी को इस समय यदि किसी ने जीवित रखा तो देहात के पंडितों ने। एक ओर मसजिद में मदरसे लगते जिसे राजकीय सहायता मिलती, दूसरी ओर जन-पालित पाठशालायें जो मंदिरों में लगा करती थीं। यह सब कुछ तो था, परन्तु भाषा के सम्बन्ध में इतना वाद-विवाद कभी नहीं मचता था जितना आज। जन साधारण की समझ के बाहर की ये सब चीजें समझी जाती

थीं। भाषा और साहित्य की चर्चा तो पढ़े-लिखे लोगों में होती थी। जिस भाषा में कोई प्रतिभाशाली लेखक निकलता था, लोग उसकी रचनाओं को पढ़ने का प्रयत्न करते थे। हिन्दी-उर्दू का कभी झगड़ा होगा लोगों को स्वप्न में भी विश्वास नहीं होता था। हिन्दू उर्दू की कविताओं पर झूम-झूम उठते थे। मुसलमान ब्रज भाषा की मिठास की दाद देते थे। 'लकुटी' और कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारने वाला रसखान मुसलमान ही तो था। ब्रज-भाषा के सवैयों में बन्द उसकी तड़पती हुयी कसक सुन कर कौन नहीं दिल थाम लेता ? भाषा का तो झगड़ा अंग्रेजों का खड़ा किया हुआ है। उधर १८५७ ई० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना होती है, इधर भाषा का झगड़ा उठ खड़ा होता है। प्रिन्सिपल जान गिलक्राइस्ट ने कहा हिन्दी, उर्दू, बिल्कुल भिन्न भाषायें हैं। फिर क्या था मुसलमानों ने उर्दू को फारसी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी न समझ कर एक अलग ही भाषा मान लिया और लगे उसमें अरबी, फारसी के तत्सम शब्द ठूँसने। हिन्दी उत्तरोत्तर विकसित होती रही। सं० १८४६ ई० में हिन्दी का सबसे पहला समाचार पत्र 'उदंतमार्तण्ड' कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। १८४६ ई० में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने काशी से 'बनारस-समाचार' निकाला। जब यह शिक्षा विभाग में इन्सपेक्टर हुए तब हिन्दुस्तानी (उर्दू) को देवनागरी लिपि में सरकार से मान्यता दिलाने का प्रयत्न करने लगे। साहित्यिकों में मतभेद हो गया। राजा लक्ष्मण सिंह ने 'सितारे हिन्द' का विरोध किया और कहा कि सरकार को शुद्ध हिन्दी और देवनागरी लिपि को ही मान्यता देनी चाहिये। बहुमत राजासाहब के साथ था परन्तु राजा शिवप्रसाद को अंग्रेज मानते थे। यह झगड़ा भारतेन्दु के समय तक चलता रहा।

भारतेन्दु-उदय

भारतेन्दु के उदय के साथ ही नागरी के उत्थान का सूर्य उदय होता है। १८७३ ई० में उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' निकाला। अब नागरी का धुआंधार प्रचार होने लगा। हरिश्चन्द्र जी केवल साहित्य-रचना ही नहीं करते थे, नागरी के प्रचार के लिये उसके सम्बन्ध में घूम-घूम कर भाषण भी करते थे। पैम्फलेट लिखते थे और उसे वितरित कराते थे। अपने नाटक की भूमिका में वे अभिनेता के रूप में रङ्ग-मंच पर उतरते थे। हिन्दी, उर्दू

का झगड़ा बढ़ता ही गया। हिन्दी-भक्त उसके प्रचार में जी-जान से लग गये। भारतेन्दु की टोली के पं० रविदत्त शुक्ल लिखित 'देवाक्षर-चरित्र' नाटक खेला जाता था, जिसमें उर्दू लिपि की गड़बड़ी के बड़े विनोद पूर्ण दृश्य दिखलाये जाते थे। भारतेन्दु का दोहा—"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति कै मूल, बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल" बच्चे-बच्चे की जिह्वा से छलकने लगा था। भारतेन्दु के व्यक्तित्व से तो कुछ लोग इतने प्रभावित हो उठे थे कि उन्होंने नागरी के लिये अपने तक को न्योछावर कर दिया था। ऐसे लोगों की परम्परा में मेरठ के पंडित गौरीदत्त को कभी भुलाया नहीं जा सकता। वे पहले एक पाठशाला में अध्यापक थे। ४० वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति नागरी-प्रचार के लिये रजिस्ट्री कर दी और स्वयं सन्यासी हो नागरी का झंडा लेकर प्रचार कार्य में निकल पड़े। इनके व्यक्तित्व के प्रभाव से आसपास हिन्दी की अनेक पाठशालायें खुलगयीं। पंडित जी ने बच्चों के लिये नागरी-कोष, नागरी-ताश, नागरी चौसर का निर्माण करके उसका प्रचार किया। मेले तमाशे में गौरीदत्त जी अपने शिष्यों के साथ नागरी का झंडा उठाये दीख पड़ते। यह लोग प्रशस्ति में प्रणाम के स्थान पर 'जय-नागरी' कहा करते थे, और इसका काफी प्रचार भी हो गया था। सन् १८८४ में प्रयाग में भी 'हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधि सभा' की स्थापना हो गयी।

अंग्रेजी के अध्ययन-अध्यापन से लोगों के मन में राष्ट्रीयता की भावना फिर जोर मारने लगी। लोग अपने पूर्वजों की भूल पर पश्चाताप करने लगे। देश में सामाजिक और राजनैतिक चेतना विकसित होने लगी। सन् १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय सभा (Indian National Congress) की स्थापना हुयी। भाषा के लिये केवल साहित्यिकों में ही होड़ मची हुई थी। अभी तक इसका प्रवेश भारतीय राजनीति में नहीं हुआ था। काँग्रेस की कार्यवाही अंग्रेजी में ही होती थी।

प्रचार में प्रगति

हिन्दी भक्त चुप नहीं बैठे थे। जगह-जगह हिन्दी प्रचार के लिये सभा सोसाइटियाँ खुल रही थीं, अखबार निकल रहे थे, किताबें लिखी जा रहीं थीं। सन् १८६४ ई० में काशी के कुछ उत्साही लड़कों ने 'काशी नागरी

प्रचारिणी सभा' की स्थापना की। संस्थापकों में बाबू श्यामसुन्दरदास और पं० रामनारायण मिश्र का नाम स्मरणीय है। अभी तक कचहरियों की भाषा फारसी ही थी, जिसके कारण जनता की परेशानियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थीं। सन् १८९५ ई० में दफ्तरों में नागरी लिपि जारी करने के लिये पं० गौरीदत्त ने गवर्नमेण्ट को एक आवेदन पत्र भेजा परन्तु उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया गया। सन् १८९६ ई० में छोटे लाट सर ऐंटनी मैकडानल काशी आये। सभा की ओर से कचहरियों में देवनागरी लिपि को जगह देने की प्रार्थना की गयी। आवेदन पत्र दे दिया गया। लाट साहब आश्वासन देकर चले गये। जनता कष्ट भोगती रही। सन् १८९९ ई० में एक बड़ा प्रभावशाली डेपुटेशन—जिसमें अयोध्या नरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह, मांडा के राजा रामप्रसाद सिंह, आवागढ़ के राजा बलवंत सिंह, डाक्टर सुन्दरलाल और पं० मदनमोहन मालवीय ऐसे प्रतिष्ठित और मान्य लोग थे—लाट साहब से मिला और नागरी का मेमोरियल अर्पित किया। सभा की ओर से अनेक कर्मचारी जनता का हस्ताक्षर लेने के लिये भेजे गये। इसी समय पं० मालवीय ने अंग्रेजी में एक पुस्तक लिखी 'अदालती लिपि और प्राइमरी शिक्षा' जिसमें नागरी को शिक्षा से दूर रखने के दुष्परिणामों की बड़ी ही विस्तृत और खोज पूर्ण विवेचना की गयी थी। कुछ समय के बाद सन् १९०१ में जनसंख्या की रिपोर्ट प्रकाशित हुयी जिसमें लिखा था, 'हिन्दी की वाक्य रचना और विचार प्रकट करने की शक्ति अंग्रेजी से किसी भी प्रकार कम नहीं है।' इसी वर्ष नागरी को अदालतों में जगह भी मिल गयी। १९०३ में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती के सम्पादन का भार अपने ऊपर लिया। देश के नेता ज्यों-ज्यों सचेत होने लगे त्यों-त्यों भाषा का प्रश्न भी उनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगा। हिन्दी भाषा की सरलता और देव नागरी लिपि की वैज्ञानिकता पर लोग मुग्ध थे। अहिन्दी भाषी क्षेत्रों से आवाज आने लगी कि देश को एक राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता है और देश की कोई भाषा यदि इस योग्य है तो वह 'हिन्दी' है। मराठी के एक पत्र में पंडित भास्कर विष्णु फड़के का एक लेख प्रकाशित हुआ "हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा" मराठी भाषी होते हुये भी इस सज्जन ने हिन्दी की महत्ता बताई थी और इसे सभी प्रान्तीय भाषाओं से श्रेष्ठ कहा था। सन् १९१०

से प्रारम्भिक शिक्षा मातृ-भाषा में ही दी जाने लगी। इसी वर्ष हिन्दी की प्रसिद्ध संस्था, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुयी। १९१४ ई० से इसने अपनी परीक्षायें चलायीं, पाठ्यक्रम निर्धारित किया और पुस्तकें बनवायीं। हिन्दी का प्रचार एक बार फिर जोर-शोर से होने लगा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सुन्दर ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना बनायी, अच्छे लेखकों को पुरस्कृत करने का निश्चय किया और दक्षिण भारत में भी अपनी शाखायें खोल डालीं।

बापू का निश्चय

सन् १९२१ में महात्मा गांधी भारतीय राष्ट्रीय सभा (Indian National Congress) के सर्वेसर्वा बने। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि सभा का काम अब अंग्रेजी में न होकर हिन्दी में ही होगा। भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा अंग्रेजी हो ही नहीं सकती। बापू ने कहा—"भाई मेरे लिए हिंन्दी का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है।" केवल बापू ने ही नहीं देश के अहिन्दी भाषी कर्णधारों—तिलक, रविन्द्र नाथ ठाकुर, बंकिम चन्द्र, अरविन्द घोष ने भी हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा बनाने का समर्थन किया था। श्री रमेश चन्द्र दत्त ने कहा—'यदि कोई भी भाषा भारतवर्ष के अधिक भाग की भाषा है तो वह हिन्दी ही है। डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र ने कहा—'हिन्दी भाषा भारतवर्ष की सबसे प्रधान और विज्ञजनों की भाषा है।' हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिये बराबर प्रयत्न होता रहा।

२६ मार्च सन् १९२७ ई० को राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में राज्य परिषद् (स्टेट काउन्सिल) में विवाद हुआ। सेठ गोविन्द दास ने हिन्दी भाषा और साहित्य की उज्ज्वल परम्परा पर प्रकाश डालते हुये उसे राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार कर लेने का प्रस्ताव उपस्थित किया। प्रस्ताव का समर्थन मद्रास की ओर से रामदास पन्तलू, बंगाल से लोकनाथ मुकर्जी, गुजरात से मन मोहन दास रामजी, पञ्जाब तथा सीमा प्रान्त से मेजर नवाब मुहम्मद अकबर खां तथा बिहार से शाह जुबैर आदि लोगों ने किया। गवर्नमेंट की ओर से आर० एस० दास ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। मत लिये गये। पक्ष में १२ और विपक्ष में २२ मत आये। गवर्नमेंट की ओर से नामज़द होने के कारण रावराजा पंडित श्याम बिहारी मिश्र को विपक्ष में मत देना पड़ा।

हिन्दुस्तानी का प्रश्न

कांग्रेस ने इसे राष्ट्र-भाषा के रूप में मान लिया। महात्मा गांधी दो बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति चुने गये। १६३५ तक वह राष्ट्र-भाषा के रूप में मान्य रही। इस बीच उर्दू-भक्त भी चुप नहीं बैठे थे। नागरी के विरोध में अनेक सभायें होती रहीं। साम्प्रदायिकता बढ़ती ही गई। बापू के विचारों में भी परिवर्तन हो गया। अबकी बार उन्होंने राष्ट्र-भाषा की नयी परिभाषा की। बापू ने कहा—'राष्ट्र-भाषा से मेरा तात्पर्य ऐसी हिन्दी से है जिसे मुसलमान और हिन्दू दोनों लिख-पढ़ सकें।' इस भाषा में फ़ारसी-भाषा के शब्द निहित होंगे। उनका कहना था कि यह भाषा फारसी और संस्कृत दोनों लिपियों में लिखी जा सकेगी। इस नयी भाषा का नाम रखा गया 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी'। इसके प्रचार के लिये उन्होंने 'भारतीय परिषद्' नामक एक नयी संस्था खोली। सर्वश्री वियोगी हरि, हरिभाऊ उपाध्याय, और काका कालेलकर ने इसमें विशेष योग दिया। बापू के अखबार 'हरिजन-सेवक' में एक नयी भाषा का प्रयोग किया जाने लगा। उसके समर्थकों ने उसे ही आदर्श भाषा मान लिया। इसमें जब अरबी और फारसी के अप्रचलित शब्द ठूँसे जाने लगे तब लोगों ने इसका विरोध किया। हिन्दू-उर्दू का झगड़ा तो था ही, अब हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का झगड़ा भी खड़ा हो गया। सन् १६४२ ई० में महात्मा जी ने सम्मेलन से इस्तीफा दे दिया। उन्होंने हिन्दी-हिन्दुस्तानी में से भी 'हिन्दी' शब्द निकाल दिया और अखबारों में वक्तव्य दे दिया कि मैंने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के लिए एक नयी भाषा ढूँढ़ निकाली है, उसका नाम है हिन्दुस्तानी। प्रत्येक भारतवासी का कर्त्तव्य है कि वह फारसी तथी देव नागरी लिपियों में लिखना सीख ले। गांधी जी अपनी बात पर दृढ़ रहे।

नया इतिहास

भारत के इतिहास ने करवट ली। १५ अगस्त सन् १६४७ तो आया लेकिन खून की होलियां खेलता हुआ। भारतीय क्षितिज पर स्वतन्त्रता के सूर्य की आभा दीख तो पड़ी लेकिन आंखों से आंसुओं की अविरल धारा बहते रहने के कारण लाखों आँखें उसके दर्शन से वंचित रह गयीं। भारतीयों को आजादी का सुख तो मिला नहीं, मिली छुरे के घाव की भीषण विभीषिका,

बच्चों की चीख, और स्त्रियों का क्रन्दन। छुरेबाजी, लूट, आगजनी को छोड़कर मङ्गल सूचक शब्दों का जैसे भाषा से लोप ही हो गया। लाखों आदमी वे घर-बार के हो गये। इस भयङ्कर कृत्य के पीछे, हिन्दी-उर्दू के वैमनस्य का कम हाथ नहीं था। उर्दू भाषी क्षेत्र के लोग हिन्दी के साम्राज्य में आये। जहां उनको शरण मिली, कबीर और जायसी और सूर और तुलसी, की रचनाओं ने उनके आंसू पोंछे। पाकिस्तान बन गया। उर्दू पाकिस्तान की राष्ट्र-भाषा घोषित कर दी गयी। जब तनिक सांस मिली तब राष्ट्र-भाषा का प्रश्न फिर उठा। उर्दू ने प्रत्यक्ष रूप से तो रास्ता छोड़ दिया था परन्तु हिन्दुस्तानी की खाल ओढ़ कर वह हिन्दी की प्रतिद्वन्द्विता करने के लिये मैदान में फिर कूद पड़ी। यह सब प्रश्न सामने थे ही कि बीच में एक पागल ने बापू की हत्या कर दी। कुछ समय के बाद राष्ट्र-भाषा की बात फिर उठी। देश के अधिकांश नेताओं—डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद आदि लोगों ने हिन्दी का समर्थन किया। लेकिन पंडित जवाहर लाल नेहरू विरोध पर डटे रहे। वह हिन्दुस्तानी को ही राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते थे। जिस किसी नेता ने हिन्दी के विरुद्ध अपनी आवाज उठाने की हिम्मत की, जनता ने स्पष्ट शब्दों में उसका विरोध किया। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी भी हिन्दुस्तानी का समर्थन कर रही थी। सन् १९४९ ई० में महापंडित राहुल सांकृत्यायन सम्मेलन के सभापति हुये, इसी प्रश्न पर उन्होंने कम्यूनिस्ट पार्टी से त्याग-पत्र दे दिया। बहुत से पत्र-पत्रिकाओं ने राष्ट्र-भाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि देवनागरी के समर्थन में अपने विशेषांक निकाले। हिन्दी के हितैषियों ने विरोधियों के तर्कों का उत्तर देते हुये कहा कि हम हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के पद पर इसलिए आसीन करना चाहते हैं कि :—

(१) यह भारतीय भाषा है, विदेशी नहीं।

(२) यह केवल भारतवर्ष के अधिकांश स्थानों की ही भाषा नहीं है बल्कि इसके बोलने वाले दक्षिणी अमेरिका के गायना, ट्रिनिडाड से लेकर मोरिसस, अफ्रीका होते हुये प्रशान्त महासागर के फिजी द्वीप तक फैले हुये हैं।

(३) इस भाषा का व्याकरण जटिल नहीं है। इसे अहिन्दी भाषी भी आसानी से समझ सकते हैं।

(४) इसका विकास संस्कृत से ही अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साथ हुआ

कक्षाओं के प्रश्न पत्र अंग्रेजी और हिन्दी दोनों में आयेंगे। अपनी रुचि के अनुसार परीक्षार्थी किसी में अपना उत्तर लिख सकते हैं। १९५४ से इन्टर की परीक्षा अनिवार्य रूप से हिन्दी-माध्यम से होगी। उसके कारण जुलाई १९५४ से विश्वविद्यालयों की पढ़ाई अनिवार्य रूप से हिन्दी में होगी। १९५६ से हिन्दी में परीक्षायें होने लगेंगी।

प्रशासकीय परीक्षाओं में—लगभग सभी सरकारी नौकरियों में हिन्दी वैकल्पिक विषय के रूप में है। कुछ में हिन्दी माध्यम भी है। अब तो उत्तर प्रदेश की पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षा हिन्दी माध्यम से ही होनी चाहिए। भारत की राज्य-भाषा हिन्दी है लेकिन उसे यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षा में एक वैकल्पिक विषय के रूप में भी नहीं रखा गया है। अंग्रेजों के समय में हिन्दी को वैकल्पिक विषय के रूप में रखा गया था। इसके लिये जगह-जगह से आवाजें उठ रही हैं। आशा है हमारी जनप्रिय सरकार इस ओर शीघ्र ध्यान देगी।

रेडियो में—आधुनिक युग में शिक्षा-प्रसार का सबसे बड़ा साधन रेडियो है। इसके अतिरिक्त इसकी जो उपयोगितायें हैं उसे बताने की आवश्यकता नहीं। आज से चार पांच वर्ष पूर्व हिन्दी के नाम पर रेडियो ने एक बड़ी विचित्र भाषा का प्रचार करना आरम्भ किया था। उसे न तो उर्दू कहा जा सकता था न कायदे की हिन्दुस्तानी ही। हिन्दी तो वह बिल्कुल ही नहीं थी। उसकी इस घातक नीति से हिन्दी-भक्तों के कान खड़े हो गये। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की एक बैठक में रेडियो से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने के लिये पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने एक प्रस्ताव रखा। सर्व श्री वियोगी हरि और मौलिचन्द शर्मा ने क्रमशः प्रस्ताव का अनुमोदन और समर्थन किया। सभी हिन्दी के साहित्यकारों ने रेडियो से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। कुछ महीनों के बाद समझौता हो गया। सरकार ने कुछ प्रतिष्ठित साहित्यकारों की नियुक्ति रेडियो-विभाग में कर दी। अब उन्हीं की सलाह से रेडियो में हिन्दी के कार्य-क्रम प्रसारित होते हैं। इस विभाग में काम करने वाले साहित्यकारों में सर्वश्री सुमित्रानन्दन पंत, भगवती चरण वर्मा, विश्वम्भर मानव, गोपेश, नरेश कुमार मेहता तथा गिरजा कुमार माथुर मुख्य हैं। समय-समय पर अच्छे साहित्यकारों की रचनायें प्रसारित की जाती हैं। भाषा

भी अब पहले से बहुत कुछ सुधर गयी है। रेडियो का प्रचार गाँवों में भी हो रहा है और ग्रामवासियों के मनोरंजन के लिये भी उनके कार्य क्रम की व्यवस्था की गयी है। इसी प्रकार हिन्दी का प्रचार हो रहा है।

विभिन्न राजकीय विभागों में हिन्दी—प्लेटफार्मों पर लगे हुये साइन बोर्ड हिन्दी में लिख दिये गये हैं। जनता अपनी शिकायतें स्टेशन मास्टर के पास रखी हुयी शिकायत पुस्तिका में हिन्दी में लिख सकती है। डाक में भी धीरे-धीरे हिन्दी में ही काम करने की व्यवस्था की जा रही है। पोस्ट कार्ड, अन्तर्देशीय पत्र सभी हिन्दी में छपे हैं। हमारे प्रमुख हिन्दी कवियों जैसे कबीर, सूर, तुलसी और मीराँ के टिकट छप गये हैं। कुछ स्थानों से हिन्दी में भी तार देने की व्यवस्था हो गयी है। पुलिस में रिपोर्ट लिखाने के लिये अब उर्दू की आवश्यकता नहीं है। कोई भी व्यक्ति हिन्दी में अपनी रिपोर्ट लिख सकता है।

फिल्मों की भाषा—नाटकों की जगह अब फ़िल्में जन प्रिय हो उठी हैं। शहर में इनका प्रचार तो है ही धीरे-धीरे गांवों की ओर भी हो रहा है। अधिकांश फिल्मों की भाषा बड़ी दोष पूर्ण होती है। उनके दृश्य कुरुचिपूर्ण होते हैं। स्मरणीय है कि इसी नीति के कारण स्वर्गीय प्रेमचन्द्र वापस चले आये थे। फ़िल्मों में भी हमारे साहित्यकार भरे पड़े हैं। सर्व श्री नरेंद्र शर्मा, मोती बी० ए०, अमृतलाल नागर आदि प्रमुख हैं। पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, श्रीभगवती चरण वर्मा तथा श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी भी इस क्षेत्र में काम कर चुके हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री गोपाल सिंह नैपाली ने तो अपनी फ़िल्म कम्पनी ही बना ली है। इन फिल्मों से कुछ कलात्मक चित्र भी मिले हैं। चण्डीदास, बड़ी बहू, स्वयं सिद्धा आदि अनेक अच्छे चित्र बन चुके हैं। भगवती चरण वर्मा के प्रसिद्ध उपन्यास चित्रलेखा की भी फ़िल्म बन चुकी है। इस ओर भाषा, कथानक और अन्य कलाओं की दृष्टि से श्री उदयशंकर भट्ट की 'कल्पना' का सर्वोच्च स्थान है। इसके गीत लिखे थे श्री सुमित्रानन्दन पंत ने, संवाद श्री अमृत लाल नागर ने और निर्देशन था स्वयं उदयशंकर जी का। इस प्रकार का चित्र देखने को अभी तक नहीं मिला। हिन्दी को इस चित्र पर गर्व है। शुद्ध हिन्दी में जगह-जगह से फिल्म-निर्माण की मांग आ रही है।

समाचार पत्रों की हिन्दी—हिन्दी में टेली प्रिन्टर का अभाव है, इस-

लिये हिन्दी पत्रकारों को अंग्रेजी से अनुवाद करना पड़ता है। हिन्दी में अनुवाद की निश्चित पद्धति न होने से अक्सर बड़ी भूलें हो जाती हैं। श्रीराम चन्द्र वर्मा ने अपनी 'अच्छी हिन्दी' में पत्रों की दोषपूर्ण भाषा का वर्णन बड़े विस्तृत रूप से किया है। पंडित जवाहर लाल नेहरू के प्रसिद्ध वाक्य (We have enough of you, get out) का अनुवाद पचासों पत्रों ने पचासों तरह से किये थे। वयोवृद्ध पत्रकार श्री वर्मा ने बड़े दुःख के साथ लिखा है कि पंडित जी का अंग्रेजी वाक्य तो अमर हो गया परन्तु हिन्दी वाक्य अपने अखबारों में ही पड़े रह गये। इसका सबसे बड़ा कारण तो यह है कि अखबारों के मालिक कम रूपयों पर अयोग्य व्यक्तियों को रख लेते हैं जो इस क्षेत्र में मन मानी करते रहते हैं। इन लोगों के द्वारा हिन्दी का बड़ा अहित हो रहा है। एक पत्र उठा लीजिए आपको लाख गल्तियाँ नजर आयेंगी। इस दिशा में सुधार तभी हो सकता है जब हिन्दीटेलीप्रिन्टर का प्रबन्ध हो जाय और अच्छे-अच्छे लोगों को अच्छी तनख्वाहों पर रखा जाय। दैनिक पत्रों के अतिरिक्त अनेक मासिक पत्र—पत्रिकायें निकल रही हैं। जिसमें से कुछ की तो साठ-साठ हजार प्रतियाँ निकलती हैं। हमारी भाषा के प्रचार, विकास और उत्थान के लिये यह शुभ लक्षण है।

राष्ट्र-लिपि देव नागरी और उसकी समस्यायें

लिपि भाषा का मुख्य अंग है। ज्ञान के सम्पादन, संरक्षण और वितरण का काम इसी के द्वारा होता है। देव नागरी हमारी राष्ट्र-लिपि तो है ही अब राज्य-लिपि भी हो गयी है। इसमें मानवनाद मात्र की अधिकतम और स्पष्टतम ध्वनियों का समावेश है। इसमें एक ध्वनि के लिये एक ही चिन्ह है। इसमें ध्वनियों का वर्गीकरण सुव्यवस्थित रूप से किया गया है। प्रत्येक ध्वनि का नाम और काम एक है। इस वर्णमाला को भलिभाँति समझ लेने पर उच्चारण और लिखने में अधिक कठिनाई नहीं पड़ती। इस वर्णमाला को जानकर वर्णानुपूर्वी (हिज्जे या स्पेलिंग) याद करने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। इसकी वर्णमाला में अन्य भाषाओं की ध्वनियों को स्पष्टतः व्यक्त करने की क्षमता अन्य वर्णमालाओं की अपेक्षा अधिक है। अपने इन्हीं गुणों के कारण हमारी यह लिपि संसार की सबसे वैज्ञानिक और सरल

लिपियों में गिनी जाती है। इसमें कुल ५२ वर्ण हैं, १६ स्वर, २५ वर्ग-वर्ण, ४ अंतस्थ, ४ ऊष्म और ३ संयुक्त।

स्वरों में अकार पूर्णतः वैज्ञानिक है। श्रीमद् शङ्कराचार्य के शब्दों में यह 'अकार वै सर्वा वाक्' है। इसे उच्चारण के प्रत्येक स्थान से बोला जा सकता है। वर्णमाला के प्रत्येक व्यञ्जन के साथ इसे मिलाया गया है। बिना इसके व्यंजनों का उच्चारण हो ही नहीं सकता। उच्चारण करने में भी यह बड़ा सरल है। किसी भी जाति का बच्चा पहले इसी का उच्चारण करता है। यह अकार ओंकार की पहली मात्रा परमात्मा का वैश्वानर रूप माना गया है। देव नागरी लिपि में सम्पूर्ण शब्द ब्रह्म निहित है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में स्वरों और व्यञ्जनों का सूक्ष्मतम वर्गीकरण उपस्थित किया है। उन्होंने दिखलाया है कि स्थान और प्रयत्नादि भेद से किस प्रकार व्यञ्जना का क्रम बदल जाता है।

जहां तक ज्ञान के सम्पादन और संरक्षण का प्रश्न है, हमारी लिपि बड़ी ही सफल सिद्ध हुई है। हमारे पूर्वजों के सहस्रों वर्षों का ज्ञान संचय, इसी में सुरक्षित है। हमारा मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि इसने ज्ञान का वितरण नहीं किया है; किया है, लेकिन जिस स्तर पर इसने भारतीय संस्कृति और सभ्यता के ज्ञान का प्रचार किया है, वह संतोष प्रद नहीं। अर्वाचीन वैज्ञानिक आविष्कारों ने देश तथा काल की सीमाओं को तोड़ दिया है। दुनिया एक मेज पर भोजन कर रही है। ऐसे समय में ज्ञान के वितरण के क्षेत्र में हमारी लिपि को संसार की अन्य लिपियों से होड़ करनी होगी, उनसे आगे बढ़ना होगा और यह तभी सम्भव हो सकता है जब देव नागरी लिपि में भी छापने के अच्छे टाइप बनने लगें, इसमें भी टेली प्रिन्टर, लीनों टाइप, तथा टाइप राइटर की व्यवस्था हो जाय। शीघ्रलिपि की सुबोध प्रणाली निकल जाय। यह सब करने के लिये हमें अपनी लिपि में थोड़ा परिवर्तन करना पड़ेगा।

सरलता की ओर झुकने की प्रवृत्ति मानव मात्र में सदा से रही है। तिस पर आज का मनुष्य जो बेकार की परेशानियों से दस कोस दूर रहना चाहता है। अब तो देवनागरी लिपि में भी वर्ण बाहुल्य का दोषारोपण होने लगा है। इसमें कुल ५२ वर्ण तो है ही, कुछ के कई रूप भी प्रचलित हैं जैसे अ, ख, झ, ण, श, और क्ष के। स्वरों के साथ उनकी मात्राओं को भी

सीखना पड़ता है। संयुक्ताक्षर लिखते समय भी कई विचित्रतायें उत्पन्न हो जाती हैं। र के कई रूप हो जाते हैं यथा सर्, प्र, और ट्र में क्त और क्त, आदि। कोई मात्रा वर्णों के पहले लगती हैं कोई बाद में, कोई ऊपर तो कोई नीचे। कुछ वर्णों में तो इतनी समानता हो जाती है कि पहिचानना मुश्किल हो जाता है। ख को रव भी पढ़ा जा सकता है। घ में ध का भ्रम होता है। भ में म का। बीच में लकीर खींचा नहीं कि प का प और व का ब हुआ। छपाई के भी अनेक दोष हैं। १२ पाइन्ट के टाइप लगाने पर भी मात्रायें टूट जाती हैं। कम्पोजिंग करने के लिये आसमान के तारे तोड़ने पड़ते हैं। इन कठिनाइयों को हल करने का उपाय बहुत पहले से सोचा जा रहा था, मराठी की लिपि भी देवनागरी ही है। उन लोगों ने तो बहुत कुछ सुधार कर लिया है। हिन्दी में यह काम धीरे-धीरे हो रहा है।

देव नागरी लिपि सुधार का इतिहास

देव नागरी लिपि सुधार के आदि स्रष्टा थे स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक। उनका विचार था—"लोगों की आंखों में भी न खटके ऐसा धीरे-धीरे सुधार होना चाहिये। इस सम्बन्ध में मुझे अत्यन्त नर्म दिली वे कह सकते हैं। पूर्ण सुधार का ठीका हम कभी भी न लें। आज थोड़ा सुधार किया जाय, उसके हजम होने पर कल फिर थोड़ा सुधार किया जाय। इस प्रकार धीरे-धीरे लोगों के क्षोभ का पात्र न हो ऐसा कार्य करना चाहिये। कभी-कभी सुधार करने में अगली पीढ़ी पर भी कुछ काम बाकी छोड़ा जाय जिससे अपने ऊपर एवं लोगों पर अनावश्यक भार भी न पड़े और सब काम शान्ति के साथ हो जाय। हम एकदम आगे भी न दौड़ें, न पीछे ही हटें। मैंने इसी दृष्टिकोण से टाइप सुधार किया है।"

तिलक जी मराठी में निकलने वाले केसरी साप्ताहिक का सम्पादन करते थे। कुछ समय के बाद जब उसकी मांग बढ़ने लगी तब उन्होंने उसे 'अर्द्ध साप्ताहिक' कर देने का निश्चय किया। इस रास्ते में सबसे पहले रोड़ा अटकाया देवनागरी कम्पोजिंग ने। एक तो बम्बइया टाइप जिसमें एक लाइन की कम्पोजिंग करने के लिये तीन पंक्तियों की कम्पोजिंग और करनी पड़ती है दूसरे अक्षरों के ऊपर नीचे मात्रा लगाना। सस्ती, सुन्दर और शीघ्र छपाई की बात तो दूर रही, मानसिक परेशानी बढ़ गयी ऊपर से। इन बाधाओं को

दूर करने के लिये लोकमान्य ने टाइपों में परिवर्तन करने का निश्चय कर लिया। आर्य भूषण टाइप फाउन्ड्री के हेड स्व० सहदेव दाजी पिपंल्डे को टाइप के पंच बनाने का काम सौंपा गया। जो कठिनाई आती, दोनों सज्जन मिलकर उसका हल सोचते। इस प्रकार २१३ अखन्ड अक्षरों का फौन्ड तैयार हुआ। इसमें अर्द्ध अक्षरों के साथ ही साथ मात्रायें भी अखन्ड थीं। सर्व प्रथम ६ दिसम्बर १९०४ के 'केसरी' में इस सुधरे हुये टाइप का नमूना छपा। टाइप के अक्षर सुन्दर नहीं थे। तिलक जी ने निर्णय सागर प्रेस के मालिकों से इसके सम्बन्ध में विचार विमर्श किया। देव नागरी टाइप के आदर्श निर्माणकर्त्ता स्वर्गीय रागो जी को पंच बनाने का काम दे दिया गया। २ वर्ष लगे। इसी बीच तिलक जी पर राजनैतिक मुकदमा चला। उन्हें गिरफ्तार करके मान्डले जेल में भेज दिया गया, काम अधूरा रह गया।

१९१४ में छूटे। काम फिर से शुरू किया गया। पूरा हो गया। २१३ टाइपों की जगह पर सुधरे हुये टाइपों की संख्या १८१ हो गयी। बाद को इंगलैंड के मोनो टाइप कम्पनी से भी टाइप ढलाये गये। देव नागरी के टाइपों पर उन लोगों ने स्वयं तो ध्यान दिया नहीं, यह कह कर टाल दिया कि अमेरिका की यांत्रिक कम्पनियों से ढलाओ। ६ वर्षों बाद सन् १९२० में तिलक जी चल बसे। देव नागरी टाइप-सुधार-योजना की जो रूप-रेखा उन्होंने बना रखी थी उसी के आधार पर केसरी तथा मराठा के ट्रस्टियों ने सन् १९२६ में केसरी टाइप फौन्ड्री से १९० टाइपों का 'तिलक टाइप' नाम से १ फौंड तैयार किया। कुछ समय तक तो केसरी, और मराठा के एक आध कालमों में नमूने के तौर पर उसे छापा गया परन्तु बाद को बन्द कर दिया गया। इसके बाद उनकी योजना श्री गणेश पान्डुरंग बिजापुरे ने पूरी की, और अब तो किरलोस्कर बाड़ी के बिजापुरे टाइप ने देव नागरी कम्पोजिंग को बहुत हद तक सरल कर दिया है।

'बापू' का कार्य

लोकमान्य तिलक के बाद नागरी लिपि सुधारकों में बापू का नाम लिया जाता है। श्री काका कालेलकर के संयोजकत्व में एक कमेटी बनाई गयी थी। उस कमेटी ने अपने सुधार की जो रूप-रेखा उपस्थित की थी उसका प्रयोग 'हरिजन-सेवक' में होने लगा। वर्धा से इसका प्रचार शुरू हुआ।

इसमें इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ इन सात स्वरों को निकाल दिया गया था और उनके स्थान पर 'अ' में ही इन स्वरों का काम लिया जाने लगा। अब स्वरों के रूप हो गये अ आ, अि अी, अु, अू, अे, अै, ओ, औ, अं, अः। अब भी उद्यम मासिक जैसी पत्रिकाओं में इसका प्रयोग होता है। लिपि सुधार की ओर राजनीतिज्ञों ने ही ध्यान नहीं दिया, साहित्यिकों ने भी इसमें सहायता दी। स्वर्गीय राय बहादुर डा० श्याम सुन्दर दास ने व्यंजनों में से ङ और ञ को निकाल बाहर किया। इनका काम वर्णों के ऊपर अनुस्वार लगा कर लिया। अपने सभी ग्रन्थों में बाबू साहब ने गङ्गा के स्थान पर गंगा और पञ्जा के स्थान पर पंजा ही लिखा है।

लिपि परिवर्तन की समस्या

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब इस लिपि को राष्ट्र-लिपि की मान्यता दिलाने वाले आन्दोलन ने जोर पकड़ा तब इस ओर कुछ विद्वानों की भी दृष्टि पड़ी। प्रयत्न चलते रहे। राहुल जी आदि विद्वानों ने इसके अनेक दोषों की ओर इंगित किया और दूर करने की सलाह भी दी। आन्दोलन सफल रहा। कई प्रान्तीय सरकारों की ओर से इसे मान्यता मिल गयी। उत्तर प्रदेश की सरकार ने आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में लिपि व सुधार की एक योजना बनाई। नरेन्द्र देव कमेटी की ओर से कोई रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुयी इसी बीच काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने सात विद्वानों की एक कमेटी इसके सुधार के लिये बैठा दी। सभा के एक सदस्य श्रीनिवास जी की 'प्रति संस्कृत देव नागरी लिपि' को स्वीकार कर लिया गया। इस लिपि में स्वर, स्वरों की मात्रायें व्यंजन तथा उनके अर्द्धकों को मिलाकर १०८ चिन्ह हैं। इसमें ३७ तो पुराने हैं, ७१ नये बनाये गये हैं। सभा की ओर से एक मंतव्य छाप कर वितरित कराया गया। नाम था "भारत में साक्षरता का माध्यम प्रति संस्कृत देव-नागरी लिपि।" ३१ वैशाख सं० २००४ के निर्णय में सभा ने टाइप व्यवस्था की योजना भी बना दी। समाचार पत्रों से अनुरोध किया गया कि सब लोग इस लिपि का व्यवहार करें।

श्री श्रीनिवास जी ने सम्पूर्ण लिपि का भाग ही बदल दिया है। लिपि में सुधार क्या हुआ, एक नयी लिपि का आविष्कार हो गया। जिस सुविधा के लिये यह सब किया जा रहा था उसपर पानी फिर गया। लिपि का हिन्दी

संसार में घोर विरोध हुआ। जगह-जगह से आवाज उठने लगी। लोगों ने कहना शुरू किया कि प्रति संस्कृत लिपि के प्रचलन के लिये—

(१) प्राचीन साहित्य से हाथ धोना पड़ेगा।

(२) समय, धन और परिश्रम का कल्पनातीत अपव्यय होगा।

(३) नवीन सृजन ठप्प हो जायेगा, क्यों कि पुराना और नया दोनों काम साथ करने की अवस्था में हम इस समय नहीं हैं।

यह विरोध केवल विरोध के लिये नहीं किया गया। लोगों ने अपने अपने सुझाव भी पेश किये। बापू के प्रयोगों का समर्थन होने लगा। कुछ लोगों ने कहा—

(१) अक्षरों के ऊपर नीचे लगने वाली मात्रायें बगल में लगायी जांय। यथा इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ की जगह अि अी अ ु अ ू अ े अ ै अ ो अ ौ लिखने का अभ्यास किया जाय।

(२) क्ष त्र ज्ञ के स्थान पर क्रमशः क्श त्र् तथा ग्य लिखा जाय।

(३) ष और श के लिये केवल श लिखा जाय यथा वर्शा, हर्श, भाशा इत्यादि।

(४) क ख ग घ च ज झ ण त थ ध न प फ ब भ म य र ल व श और स अक्षरों के अर्द्धकों का भी प्रयोग होता है। संयुक्ताक्षर लिखते समय कुछ में आधे रूपों का व्यवहार हो कुछ में हल लगा दिये जांय। हल के चिन्ह अक्षरों के नीचे न लगाकर बीच में लगाये जाँय। वाह्य के स्थान पर 'वाह्‍य' लट्ठा की जगह पर 'लट ् ठा'।

(५) संयुक्ताक्षरों में र अक्षरवर्ण के ऊपर तथा नीचे लगता है यथा धर्म और राष्ट्र में। इसे वर्ण से जरा पहले हटा कर लगाया जाय। व्यंजनों का प्रयोग जहाँ तक हो सके किया जाय इससे धर्म का रूप हो जायेगा धर्म्‍म तथा राष्ट्र का राश्टत्र।

इन संशोधनों को स्वीकार कर लेने पर जो सहूलियतें मिलेंगी उसकी ओर भी विद्वानों ने संकेत किया। इस संशोधित लिपि को मान लेने पर—

(१) स्मरण शक्ति पर व्यर्थ का बोझ नहीं पड़ेगा।

(२) कम्पोजिंग में सरलता हो जायेगी। चार चार केस सामने रख कर कम्पोज करने की जगह पर एक केस सामने रखने से ही काम चल जायेगा।

(३) कम्पोजिंग की गति बढ़ जायेगी।

(४) खर्च कम पड़ेगा ।
(५) समय की बचत होगी ।
(६) स्थान कम घिरेगा ।

(७) संयुक्ताक्षरों के कारण होने वाली अशुद्धियां कम हो जायेंगी । प्रूफ देखने में आसानी होगी ।

(८) टाइप राइटर्स के टाइपों में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है ।

(९) उसमें भरे टाइपों की संख्या कम हो जायेगी । फान्ड ढालने में सुविधा होगी ।

टंकण की समस्या

जब से हिन्दी की महत्ता बढ़ी है तब से विभिन्न कम्पनियों की टंकण मशीने बाजार में दिखलाई पड़ने लगी हैं इनमें अलवेत्ति, रेमिंगटन, अन्डर-उड, रायल, एल० सी० स्मिथ करोना, ओलम्पिक, हल्दा, तथा अजन्ता आदि मुख्य हैं । आजकल इनका फान्ड ४००–५०० टाइपों का होता है । इनके टाइप भी बड़े भद्दे आ रहे हैं । टाइपों की अधिकता के कारण सीखने में परिश्रम भी करना पड़ता है । राहुल जी ने हिन्दी टाइप का जो नकशा बनाया है उसमें टाइपों की कुल संख्या १०४ हैं ।

अ	ा	ि	ी	ँ	्	े	े	ो	ौ	ं	ः	ँ
ुं	ूं	ुँ	ूँ	ें	र्ं	ाँ	ां	िं	ीं	ों	ौं	!
‐	=	≡	ʃ	∫	ऽ	–	—	(	)	[	]	!
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	,	‘	,
ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	-	।	;
प	फ	ब	भ	म	य	र	ल	व	श	स	...	क्त
०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	ह	ँ
ऋ	ॠ	ऌ	ष	क़	ख़	ग़	ज़	फ़	?	ढ़	{	}

इसके अतिरिक्त प्रोफेसर भोलानाथ शर्मा एम० ए० तथा श्री सूरज प्रसाद गोयल एम० ए० ने स्वयं संशोधित लिपि के आधार पर जो सुझाव रखे हैं उसमें सब चिन्ह ६६ ही आते हैं। इससे अन्त में टंकण की समस्या सुलझाने में काफी सहायता मिलेगी। प्रोफेसर शर्मा तथा गोयल द्वारा प्रस्तावित निम्नांकित चिन्ह हैं।

ा, ि ी, ु, ू, ृ, े, ै, ो ौ, ं, ः, ँ, ाँ, -, =,

अ, क, क्, ख, ख्, ग, ग्, घ, घ्, च, च्, छ, ज, ज्, झ, झ्, ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ़, ण, ण्, त, त्, थ, थ्, द, ध, ध्, न, न्, प, प्, फ, फ्, ब, ब्, भ, भ्, य, य्, र, न, स, ल, ल्, व, व्, श, श्, स, स्, ह

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०

।, ,, ;, !, ?, ॥, [,], =, -, —, ऽ,

शीघ्र लिपि की समस्या

आज के युग में शीघ्र लिपि की आवश्यकता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। हमारी भाषा की प्रमुख समस्याओं में से यह भी एक है। सन् १९१० में सर्व प्रथम हिन्दी शीघ्र लिपि की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी परन्तु प्रोत्साहन के अभाव में वह विकसित न हो सकी। सन् १९२१ में काँग्रेस के मंच से किये गये भाषणों की रिपोर्ट हिन्दी शीघ्र लिपि में ही ली गई। उसकी सफलता देखकर लोगों का ध्यान उस ओर जाने लगा और आज शीघ्र लिपि की चार प्रणालियाँ हिन्दी संसार में प्रचलित हैं। काशी से मिश्र और निष्काम प्रणालियाँ निकलीं, जोधपुर से टंडन और प्रयाग से ऋषि प्रणाली। मिश्र और निष्काम प्रणालियाँ अपनी क्लिष्टता के कारण जन प्रिय नहीं हो पाईं। टंडन की संशोधित प्रणाली पुनः प्रकाशित हुई है हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा मान्य प्रयाग की ऋषि प्रणाली सर्व प्रचलित और जन-प्रिय है। अपनी वैज्ञानिकता के कारण यह अच्छी तरह पढ़ी और लिखी जा सकती है। टंडन प्रणाली के मूल व्यञ्जनों की तालिका का एक उदाहरण लीजिए—

क	_	ग	|	च	c	ज	\
ट	◡	ड,ढ	⌒	ण	ↄ	त	_
द	|	न	/	प	\	ब	∪
म	c	य	ↄ	र	/	ल	◡
व	⌒	स	∩	ह	∩		

हिन्दी शीघ्र लिपि अधिक से अधिक दो महीने में सीखी जा सकती है। जब कि अंग्रेजी शार्ट हैण्ड कम से कम चार माह में। यदि उपर्युक्त समस्या अच्छी तरह हल की जा सकी तो हिन्दी-भाषा और देवनागरी लिपि अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर लेगी, इसमें अब रंच-मात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

वही भाषा राष्ट्र-भाषा का पद ग्रहण कर सकती है जो हिमालय से कन्या कुमारी तक सर्वत्र अत्यधिक परिमाण में बोली या समझी जाती और अल्प अभ्यास में सीखी जा सकती हो। वह भाषा हिन्दी ही है और हिन्दी ही हो सकती है।

—सम्पादकाचार्य पं० बाबू राव विष्णु पराड़कर

साहित्य

धर्मार्थ काम मोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च
करोति प्रीतिं कीर्तिं च साधु काव्य निबन्धनम्

=आचार्य भामह

—चतुर्थ प्रकरण—

साहित्य

काव्य

अपने भावों, विचारों और आकांक्षाओं को दूसरों पर प्रकट करने और दूसरों की 'आप बीती' सुनने की मानवीय मूल प्रवृत्ति से ही काव्य का जन्म होता है। बहेलिये द्वारा काम मोहित क्रौञ्च पक्षी का वध देखकर कवि मनीषी वाल्मीकि के शोकार्त्त हृदय से—

मां निषाद प्रतिष्ठां त्वम गमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौञ्च मिथुना दे कमवधीः काम मोहितम्

—की जो पूतवाणी फूटी उससे मुनि शिष्यों को एक अद्भुत आनन्द की अनुभूति हुयी। संस्कृत में काव्य के उदय की यही कहानी है। काव्य की परिभाषा करने में सभी आचार्य एक मत नहीं हैं। विश्वनाथ महापात्र अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्य दर्पण में लिखते हैं—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'—रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहते हैं। पन्डितराज जगन्नाथ का मत इससे थोड़ा भिन्न है। उनके अनुसार 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'—रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्दों को ही काव्य कहना चाहिये। अन्य बातों में असहमत होते हुये भी सभी विद्वान काव्य में 'रमणीयता' और 'अलौकिक आनन्द प्रदायकता' के गुणों का होना आवश्यक मानते हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस भाव पूर्ण और रमणीय रचना में एक अद्भुत एवं लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने की क्षमता हो उसे काव्य कहते हैं। कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, संवाद, शब्द चित्र, रिपोंताज आदि सभी काव्य के अन्तर्गत आते हैं।

हिन्दी में साहित्य का प्रयोग और उसकी परिभाषा

काव्य के लक्षण, गुण, दोष, अलंकार, पिंगल आदि शास्त्र की विवेचना करने वाले ग्रन्थों को संस्कृत के आचार्यों ने साहित्य कहा है। यद्यपि संस्कृत से ही हमारी हिन्दी विकसित हुयी है फिर भी साहित्य शब्द का प्रयोग हमारे यहाँ भिन्न अर्थों में होता है। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण संस्कृत के काव्य' और 'साहित्य' दोनों के अर्थ बोध के लिये हिन्दी में केवल 'साहित्य' शब्द का ही प्रयोग होता है। इसका प्रयोग कभी संकुचित अर्थ में होता है कभी विस्तृत अर्थ में। संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होने पर यह समस्त 'काव्य' और 'साहित्य' के समुदाय का द्योतक होता है और इसके अन्तर्गत कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना, पिंगल अलंकार आदि साहित्य के सभी अंग-उपाङ्ग आ जाते हैं। जब इसका प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया जाता है तब यह सभी विषयों के ग्रन्थों का बोधक होता है यथा भूगोल साहित्य, इतिहास साहित्य, वैद्यक साहित्य इत्यादि

यहाँ पर हमें संकुचित अर्थ से ही मतलब है। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण अनेक लोगों ने इसे अनेक प्रकार से परिभाषित किया है। कोई उसे विश्व में दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुओं की अभिव्यक्ति और भव्य विचारों का लेखा मानता है। कोई प्रवीण नर-नारियों के विचारों और मनोवेगों का मनोरंजक लेख। कोई ज्ञानराशि के संचित कोष को ही साहित्य कहता है और कोई चारित्रिक सत्य तथा मनुष्यों के मनोवेगों पर व्यापक गम्भीरता तथा सुचारुरूप से आघात करने वाली रचनाओं को।

साहित्यकार जब भाषा के माध्यम से अपनी सच्ची अनुभूतियों में सुन्दर कल्पनाओं तथा कल्याणकारी विचारों के रंग भरता है, तब उसमें एक नयी जिन्दगी मुस्कुरा उठती है। वह मोहिनी शक्ति हमारे मनोभावों को गुदगुदाती है, विचारों को झकझोरती है और आत्मा को एक उच्च स्तर पर पहुँचाकर उसका वाह्य जगत से रागात्मक साहचर्य्य सम्बन्ध स्थापित करा देती है। साहचर्य्य का पर्य्याय भाव वाचक संज्ञा शब्द साहित्य है। साहित्य हमारी आत्मा को रस से अभिसंचित करता है, सुख देता है, शान्ति और संतोष देता और देता है लोकोत्तर आनन्द का मधुमय उपहार।

हमें जो कुछ अनुभव होता है और उसके कारण हमारे हृदय में जो भावनायें उठ खड़ी होती हैं वही आगे चलकर साहित्य का रूप ले लेती हैं। दूसरे शब्दों में साहित्य मानवीय अनुभूतियों और मनोभावों का कल्पनामय रूप है।

साहित्य और विज्ञान

विज्ञान का रूप इससे बिल्कुल भिन्न है। वह जिस वस्तु को जिस रूप में देखता है, उसे ज्यों का त्यों बतला देता है। उसका सम्बन्ध निरे सत्य से होता है। पानी कैसे बना? ओषजन और उद्जन के सम्मिश्रण से। पोटाइशियम साइनाइट खाने से क्या होता है? तत्काल मृत्यु। कोई विष खाये या न खाये, विज्ञान से मतलब नहीं। सुन्दर और असुन्दर क्या है? विज्ञान मौन है।

साहित्य भी सत्य की नींव पर ही खड़ा है किन्तु जीवन के सत्य और साहित्य के सत्य में महान अन्तर होता है। जीवन में हमें प्रेम और स्नेह का, दया और सहानुभूति का, ईर्षा द्वेष और घृणा का तथा आशा और निराशा का अनुभव होता ही रहता हैं किन्तु साहित्य में उसकी अभिव्यंजना ज्यों की त्यों नहीं होती। कुछ सीमा तक उन पर विचारों का नियन्त्रण और कल्पनाओं की छाया रहती है। यदि ऐसा न हो तो हमारे उत्कट मनोवेग क्रोध, मात्सर्य तथा इसी प्रकार के अन्य उग्र रूपों में परिवर्तित हो जाँय। फिर तो निरी भावुकता, चिड़चिड़ापन और साहित्य में कुछ अन्तर ही न मालूम पड़े। हमारे मनीषियों ने कहा,

सत्यस्य वचनः श्रेयं सत्यादपि हितं वदेत
तद् भूत हितमत्यन्त मेतत सत्य' मतं मम्

मेरे मत से सत्य वह है जो भूत मात्र के आत्यन्तिक कल्याण के लिये हो। जीवन को नंगे रूप में चित्रित करने की जो यथार्थवादी परिपाटी चल पड़ी है उससे मानव मात्र का अमंगल ही होगा, कुछ कल्याण नहीं। साहित्य शिवंम् और सुन्दरंम् को देखकर ही जीवन के 'सत्यम्' का चित्रण करता है। वह केवल कल्पना के ही परों पर नहीं उड़ता, उसके पांव ठोस जमीन पर भी होते हैं। उसकी महत्ता और उपयोगिता को वह पूर्णतः स्वी-

कार करता है।

साहित्यकार—साहित्य-सर्जन करने वालों को साहित्यकार कहते हैं चाहे वह कवि के रूप में हो चाहे उपन्यासकार या नाट्यकार के रूप में। साधारण व्यक्ति, वैज्ञानिक और साहित्यकार में बड़ा भारी अन्तर होता है। साधारण आदमी एक फूल को देखता और चला जाता है। वैज्ञानिक उसी को देखकर सोचने लगता है कि इसमें इतनी पंखुरियाँ होती हैं, इतने तन्तु होते हैं, यह कार्बन और उद्‌जन से बना होता है। यह पौदा अमुक प्रकार की मिट्टी और जलवायु में पैदा होता है। उस सुन्दर फूल को देखकर उसे विह्वल बना देने वाली प्रसन्नता या अप्रसन्नता का अनुभव नहीं होता। वह प्रकृति को प्रधान मानता है, मनुष्य को उसका एक अंग। उसके अनुसार मनुष्य के सारे काम बहुत हद तक प्रकृति से ही संचालित होते रहते हैं। हवा के झोंको से खड़खड़ाते हुये बेंत के बन उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते। लेकिन साहित्यकार की देखने, सुनने, सोचने, समझने, और अनुभव करने की शक्तियाँ सब से भिन्न होती हैं। कवि एक फूल को देखता है और उसके द्वारा अपने हृदय पर पड़े हये प्रभाव का वर्णन करता है। वह उसमें अपने को आरोपित करके अपनी सहानुभूति के क्षेत्र को विस्तृत कर लेता है। तभी वह अपने दुःख में पुष्प को भी दुखी देखता है और सुख में सुखी। साहित्यकार मनुष्य और प्रकृति को एक दूसरे से अत्यन्त सम्बन्धित मानता है। वह दोनों को एक अज्ञात शक्ति की सृष्टि मानता है। इसका अपवाद भी हो सकता है, बहुत से लोग नहीं भी मानते लेकिन अधिकांश लोगों की बात यहाँ पर कही जा रही है। हिन्दी की प्रसिद्ध कवियित्री महादेवी जी को कांपते हुये वानीरों के बन एक विहाग सुनाते हैं। जिसके दुःख से तादात्म का अनुभव कर उनका उर पुलकायमान हो उठता है, तन सिहर जाता है और आंखें भर आती हैं। कल्पनाओं और विचारों में सनी हुई उनकी अनुभूतियां दर्दीले स्वरों में फूट पड़ती हैं—

आँसू बन-बन तारक आते
सुमन हृदय में सेज बिछाते।
कम्पित वानीरों के बन भी
रह-रह कलित विहाग सनाते॥

निद्रा उन्मन कर-कर विचरण लौट रही सपने संचित कर।
पुलक-पुलक उर, सिहर सिहर तन आज नयन आते क्यों भरभर ॥

साहित्यकार जब जीवन को ईमानदारी से साहित्य में उभारता है तब सीधी-सादी भाषा में कही हुई बात भी हृदय पर कितना चोट करती है, उर्दू के महाकवि मीर की इस रचना से प्रकट है।

शाम के ही बुझा सा रहता है।
दिल हुआ है चिराग मुफलिस का ॥

उस्ताद के जीवन की सारी विह्वलता, सारी बेबसी इस शेर में जैसे मूर्त सी हो उठी है।

साहित्य और समाज

इन उदाहरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि कवि या लेखक स्वयं ही में केन्द्रित रहते हैं और उन्हें दूसरों की चिन्ता नहीं रहती। सच बात तो यह है कि वे सहृदय होते हैं इसलिये उनकी अनुभव शक्ति जन साधारण से बढ़ी-चढ़ी होती है। वे भी सामाजिक व्यक्ति होते हैं और उन पर भी समाज की रीति-नीति का आचार-व्यवहार आदि का प्रभाव पड़ता है। उनकी रचनाओं पर सामाजिक वातावरण भी अपना असर रखता है। समाज की परिस्थितियों तक का पता साहित्य से चल जाता है। इसीलिये तो साहित्य को समाज का दर्पण कहते हैं। प्रेमचन्द की 'निर्मला' गरीबी के कारण हिंदू समाज में प्रचलित वृद्ध-विवाह की भयङ्करता पर अट्टहास करती है। शेक्स-पियर का प्रसिद्ध नाटक 'जूलियस सीजर' उस समय के रोमन समाज की रीति-नीति तथा राजनैतिक व्यवस्था का अच्छा परिचायक है। वर्षों बाद जब कोई बच्चन जी की इन पंक्तियों को पढ़ेगा—

मेरे पैसे या दो पैसे
किस मसरिफ के तुमको होते।
इसीलिये मैं अपनी वाणी
तुम्हें भेजता हूँ चन्दे में
सम्भव है तुमको कुछ बल दे
और कालिका करे प्रेरणा
निकल पड़ो तुम सहसा कह कर

अपनी रोटी अपना राज
इन्कलाब जिन्दाबाद

तब बंगाल के अकाल की घटना के साथ ही साथ उसकी उत्तरदायिनी पूँजीवादी और साम्राज्यवादी व्यवस्था की कम से कम एक झलक तो उसे मिल ही जायगी।

युग-प्रतिनिधि

साहित्यकार समाज के अनुभवों को वाणी देता है। समाज के भाव उसकी रचना में आकर सजीव और शक्तिशाली हो जाते हैं। उनके विचार ही संगृहीत होकर साहित्य का रूप धारण कर लेते हैं। इन विचारों में कुछ नवीनता हुयी नहीं कि इनके पर लग जाते हैं और जंगल की आग की तरह वे सारे समाज में फैल जाते हैं। लेखक की अभिव्यञ्जना-शक्ति ससार की सारी शक्तियों से बड़ी होती है। उसके आगे एटम बम मात और हाइड्रोजन बम व्यर्थ सिद्ध हो सकते हैं। रूसो और बोलतेर के साहित्य ने ही फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति की। नीत्से के विचारों ने जर्मनों को शक्ति का उपासक बनाकर विश्व को युद्ध की आग में झोंक दिया। गोर्की की 'मदर' ने रूस के नक्शे पर लाली फेर दी। प्रेमचन्द्र की 'कर्म भूमि' पर भारतीय सत्याग्रहियों ने अहिंसा का प्रयोग किया। उन्हें सफलता मिली और श्वेतकाय भारत छोड़ देने के लिये बाध्य हो गये। मैथिली शरण गुप्त और सोहनलाल द्विवेदी और सुभद्रा कुमारी चौहान की रचनाओं ने मुर्दों में भी जान फूंक दी। दिनकर ने जनतन्त्र का आवाहन करते हुये घोषणा की—

सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।
दो राह, समय के रथ का घर्घरनाद सुनो॥

सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।
सदियों से ठंडी बुझी आग सुगबुगा उठी॥

मिट्टी सोने की ताज पहन इठलाती है।
दो राह, समय के रथ का घर्घरनाद सुनो॥
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

और लोगों ने देखा कि अपने देश में अपना राज है। कवि वह बात कहता है जिसका सब लोग अनुभव तो करते रहते हैं पर कह नहीं पाते। 'वह अपने समय के वायु मण्डल में घूमते हुये विचारों को पकड़ कर मुखरित कर देता है।' इसीलिये साहित्यकार को युग-प्रतिनिधि भी कहते हैं।

युग-निर्माता

वह केवल युग का प्रतिनिधित्व ही नहीं करता, युग का निर्माण भी करता है। साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर साहित्यिकों ने ही भावी के पट पर नव निर्माण के चित्र खींचे हैं। "धूलि की ढेरी में अनजान....." के मधुर गायक पन्तजी एक नव संस्कृति-निर्माण के लिये चिन्तित हैं। उदाहरण लीजिये,

'जहाँ दैन्य जर्जर अभाव ज्वर पीड़ित
जीवन यापन हो न मनुज को गर्हित
युग-युग के छाया भावों से त्रासित
मानव प्रति मानव मन हो न सशंकित
मुक्त जहाँ मन की गति जीवन में रति
भव मानवता में जन जीवन परिणति
संस्कृत वाणी भाव कर्म संस्कृत मन
सुन्दर हो जनवास वसन सुन्दर तन'

इससे भी ऊंचे स्तर की भावना देखनी हो तो इन पंक्तियों में देखिये।

क्षुद्र क्षणिक भव भेद जनित
जो, उसे मिटा, भवसंघ भाव भर।
देश काल औ स्थिति के ऊपर
मानवता को करो प्रतिष्ठित ॥

शाश्वत साहित्य

साहित्य हमारे मनोवेगों का अभिनन्दन करता है। 'दशरथ विलाप' पढ़ कर आज भी हमारी आखें गीली हो जाती हैं। मनुष्य अपनी मूल प्रवृतियों की समिष्ट है। उसके सारे कार्य कलाप उसीसे प्रभावित होते रहते हैं। आज से लाख वर्ष पहले पुत्र की मृत्यु से पिता को जितना कष्ट होता था उससे कम आज नहीं होता। प्रियजन के मिलन से लोगों को जितनी प्रसन्नता तब होती थी

उतनी आज भी होती है। विकास की प्रक्रिया हमारे विचारों का तो परिष्का करती है, पर मनोवेगों पर समय का प्रभाव नहीं पड़ता। जो साहित्य मान मनोवेगों को जिस अंश तक उद्भासित कर सकता है, जिसमें विश्वजनीनत के जितने ही उपकरण सन्निहित होते हैं वह उतना ही टिकाऊ होता है। उच्च कोटि के साहित्य में वसुधैव कुटुम्बकम की वाणी ध्वनित होती रहती है ऐसे साहित्य सदा जीवित रहते हैं और उनके रचयिताओं पर मानव मा का अधिकार रहता है। कालिदास और तुलसी, सूर, टैगोर, प्रसाद, पन्त महादेवी, प्रेमचन्द्र, शरद, गालिब, मीर और सौदा केवल हमारे ही नहीं हैं शेक्सपियर और मिल्टन रोम्याँ रोला और टालस्टाय, गाल्स वर्दी औ वर्डसवर्थ, शेली और कीटस पर केवल पाश्चात्यों का ही अधिकार नहीं है इन मनीषियों की रचनायें तब तक जीवित रहेंगी जब तक धरती पर एव भी जीवन शेष रहेगा।

जातीय साहित्य

यद्यपि मानव हृदय एक सा ही है फिर भी विभिन्न जाति के साहित्य की अपनी-अपनी विशेषता होती है। कर्म की महत्ता प्रतिपादित करना और आवागमन पर विश्वास करना हिन्दू जाति की ही विशेषता है। अधिकांश हिन्दू कवियों को इसकी थोड़ी बहुत चिन्ता रही ही है। फारसी के कवियों के लिये बुलबुल और चमन, साकी, मय और मयखाना ही सब कुछ है। वरजिल की रचनाओं में 'कुंज कुटीरे यमुना तीरे' का वर्णन हो ही नहीं सकता। मिल्टन का शेटन भगवान के प्रति विद्रोह करता है किन्तु मीरां के भक्त हृदय की लालसा है,

> *म्हाने चाकर राखो जी गिरधारी लला चाकर राखो जी*
> *चाकर रहसूँ बाग लगा सूँ नित उठ दरसन पासूँ।*
> *बिन्द्राबन की कुंज गलिन में गोविन्द लीला गासूँ*
> *चाकरी में दरसन पासूँ सुमिरन पाऊँ खरची॥*

इतना ही नहीं जाति के विकास के साथ ही साथ साहित्य में भी अन्तर पड़ता जाता है। सभी जातियों के प्राचीन साहित्य में 'नारी' की बड़ी दुर्दशा की गयी है। वह अवगुण की खान है, नर्क का द्वार है और जाने क्या-क्या है। हमारे यहाँ के मनु जैसे उदार भावना वाले महर्षि तक ने लिख दिया—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति

किन्तु आज यह विचार बदल गया है। नारी अब केवल श्रद्धा है और है पुरुष के जीवन की प्रेरणा। वह क्या-क्या नहीं है? बंगला के प्रसिद्ध कवि काजी नज़रुल इस्लाम के शब्दों में सुनिये,

ताज महलेर पाथर देखेछे, देखियाछे तार प्रान
अन्तरे तार मोमताज नारी बाहिरे ते शाह जाहाँन
ज्ञानेर लक्ष्मी, गानेर लक्ष्मी, शस्य लक्ष्मी नारी
सुषमा लक्ष्मी नारीय फिरेछे, रूपे-रूपे संचारी

इसी प्रकार विचारों की धारा बहती रहती है। इन विचारों को सुरक्षित रखने का साधन साहित्य ही है। यदि साहित्य न होता तो हमारे विचार क्षणिक और अस्थायी ही रह जाते।

साहित्य का प्रयोजन और जीवन में उसकी उपयोगिता

साहित्य का उद्देश्य है आनन्द की प्राप्ति। जब हम अपने जीवन में किसी भी प्रकार का संघर्ष पाते हैं, तब साहित्य ही हमारे जीवन में साम्य उपस्थित करता है। इससे हमारा जीवन भार हलका हो जाता है और हम स्वार्थ की संकीर्ण सीमाओं से बाहर आकर 'आत्मवत सर्व भूतेषु' का अनुभव करने लगते हैं। हमारे जीवन में इसकी बड़ी उपयोगिता है। जीवन यात्रा में, परिस्थितियों की आँधी पानी में जब हम थक कर प्रगति से सम्बन्ध विच्छेद करने की सोचने लगते हैं तब साहित्य ललकार उठता है,

एकला चलो रे
यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे
तबे एकला चलो रे।
एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे॥
यदि केओ कथा ना कय
(ओ रे ओ रे ओ अभागा)
सबाय करे भय—
तबे पराण खुले,

ओ तुइ मुख फुटे तोर मनेर कथा
एकला बलो रे ।
यदि सबाइ फ़िरे याय
(ओ रे ओ रे ओ अभागा)
यदि गहन पथे यावार काले
केउ फिरे नचाय
तबे पथेर काँटा ।
ओ तुइ-रक्त माखा चरण तले
एकला दलो रे ॥
यदि आलोना धरे—
(ओ रे ओ रे ओ अभागा)
यदि झड़ बादले आंधार राते
दुयार देय घरे—
तबे वज्रानले
आपन बुकेर पाँजर ज्वलिय निये एकला ज्वलो रे
एकला चलो रे ।
(टैगोर)

'यदि तेरी पुकार सुनकर कोई न आये तो तू अकेला ही चल पड़ । अरे ओ अभागा, यदि तुझसे कोई बात न करे, यदि सभी मुँह फिरा लें, यदि तेरी पुकार से सब डर जाँये तो तू प्राण खोलकर अपने मन की वाणी अकेला ही बोल । अरे अभागे । यदि सभी लौट जाँय, यदि कठिन मार्ग पर चलते समय तेरी ओर कोई फिर कर भी न देखे तो तू अपने रास्ते के कांटों को अपने खून से लथपथ चरणों द्वारा अकेला ही रौंदते हुये आगे बढ़ । अरे ओ अभागा । यदि तेरी मशाल न जले और आंधी तथा तूफान से भरी अंधेरी रात में तुझे देख कर सब लोग दरवाजा वन्द कर लें तो फिर अपने को जला कर तू अकेला ही हृदय पंजर जला ।'

इस प्रकार साहित्य हमारे जीवन में 'उत्साह' और 'आत्म गौरव' की प्रवृत्ति की वृद्धि करता रहता है। यह हमारी भावना शक्ति का 'चारा' है। इससे हमारे मनोवेग शुद्ध होते हैं, परिपुष्ट और परिमार्जित होते हैं । हम अपने

जीवन में सभी भावों का अनुभव नहीं कर सकते किन्तु साहित्य के अध्ययन के द्वारा अपनी कल्पना शक्ति को बढ़ा कर, उसी की सहायता से अपने को नाना परिस्थितियों में रख कर सभी भावों का अनुभव कर सकते हैं। साहित्य के अध्ययन के साथ मानव मनोविज्ञान का भी अनुभव होता चलता है। हम पढ़ते हैं कि क्रोध की अवस्था में आदमी का मुंह लाल हो जाता है, शरीर कांपने लगता है, नथुने फूलने लगते हैं, और आकृति कुछ विकृत-सी हो जाती है। इससे मनुष्य की आन्तरिक बातों को समझने में आसानी हो होती है। साहित्य के अध्ययन से हम व्यवहार-कुशल हो सकते हैं और हमें शब्दों के उचित प्रयोग का परिज्ञान हो सकता है। संस्कृत से प्रसिद्ध आचार्य भामह इसे धर्म अर्थ काम मोक्ष का विधायक मानते हैं। वह कहते हैं—

धर्मार्थ काम मोक्षापां वैचक्षरायं कलासुच
करोति प्रीति कीर्ति च साधु काव्य निबन्धनम्

और शेष ही क्या रह गया ? इसीलिये हमारे नीति शास्त्रों ने इसे उच्च-कोटि का व्यसन माना है।

काव्यशास्त्र-विनोदेन कालोगच्छति धीयताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेनवा ॥

हमारे जीवन को सुधारने, सँवारने, और उन्नत बनाने में साहित्य का बड़ा हाथ होता है।

साहित्य के दो पक्ष

रचनाओं में प्रयुक्त भावों, विचारों और कल्पनाओं को ही साहित्य का भाव पक्ष कहते हैं। यह साहित्य की आत्मा है। इसकी अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होती है। भाषा को प्रभावशालिनी, शिष्ट तथा चमत्कार पूर्ण बनाने के लिये ही व्याकरण, अलङ्कार तथा पिंगल के नियमों की योजना की जाती है। इसे साहित्य का कला पक्ष कहते हैं। यह साहित्य का शरीर है, ढांचा है।

शैली की दृष्टि से साहित्य के भेद

साहित्यकार अपनी बातों को तीन ढंग से कहता है। या तो वह गद्य के माध्यम से कहता है या पद्य के। कभी-कभी वह अपना आशय 'मिश्र' शैली में भी प्रकट करता है। संस्कृत में इसे 'चम्पू' कहते हैं। इन्हीं तीन शैलियों के अन्तर्गत सारे साहित्य की रचना होती है। हिन्दी साहित्यकारों ने भी

[illegible] दिया है।

पाँचवाँ प्रकरण

हिन्दी साहित्य

हिन्दी साहित्य का आविर्भाव

हिन्दी साहित्य के आविर्भाव की निश्चित तिथि-निर्धारण के प्रश्न पर इतिहास वेत्ताओं और भाषा शास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद है। इसलिये उसके उद्गम के सम्बन्ध पर जितने विचार प्रस्तुत किये गये हैं वे भी अनुमान पर ही आधारित है। विद्वानों का विचार है कि जब से अपभ्रंश भाषा साहित्यिक रचनाओं के लिये रूढ़ हुयी तभी से हिन्दी साहित्य का सूत्रपात हुआ। जब अपभ्रंश का व्यवहार साहित्य में होता था तब पुरानी हिन्दी बोल चाल की भाषा थी। साहित्यिक भाषा के रूढ़ि ग्रस्त और जन साधारण की पहुँच से दूर हो जाने पर, बोल-चाल की ही भाषा उसका स्थान ग्रहण करती है और जो साहित्यकार अपनी रचनाओं को अधिक लोक-प्रिय बनाना चाहते हैं वे साहित्य की भाषा को छोड़कर जन-साधारण की भाषा का व्यवहार करने लगते हैं। धीरे-धीरे उनकी रचनाओं की गणना शिष्ट साहित्य में होने लगती है और उसी समय से एक नये साहित्य का प्रारम्भ मान लिया जाता है यद्यपि उसका आरम्भ कुछ काल पहले ही हो चुका होता है। इन्हीं कठिनाइयों के कारण हिन्दी साहित्य के आदिकाल की निश्चित तिथि भ्रम से रहित नहीं है।

इन बाधाओं के होते हुये भी हिन्दी साहित्य के कुछ इतिहास लेखकों ने विक्रम की सातवीं शताब्दी को इसका आरंभ काल मान लिया है। शिवसिंह सेंगर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिव सिंह सरोज' में भोज के पूर्वज राजा मान के सभासद 'पुष्प' नामक कवि-प्रणीत रीति तथा अलंकार के ग्रन्थों का उल्लेख किया है। सेंगर साहब ने केवल जन श्रुति के आधार पर ही उसके सम्बन्ध में कुछ कहने का साहस किया है। उनके पास उस ग्रन्थ के कुछ अंशों का उद्धरण तक नहीं है, इसलिये उसे प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

इस सम्बन्ध में महापंडित राहुल सांकृत्यायन का कार्य भी प्रशंसनीय है। उनके खोजों के आधार पर ही डाक्टर काशी प्रसाद जायसवाल ने सिद्ध सरहा या सरहया को हिन्दी का प्रथम् लेखक माना था। महापंडित के अनुसार सरहा का समय ८१७ विक्रमी है। सांकृत्यायन जी के विरुद्ध डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य ने उनका समय सं० ६६० माना है।

कुछ लोग विक्रम की ११वीं शताब्दी को हिन्दी साहित्य का उत्पत्ति काल मानते हैं। डाक्टर श्याम सुन्दरदास ने अपने 'हिन्दी साहित्य' में इसी मत का समर्थन किया है। उनके अनुसार प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचंद्र सूरि ने अपने व्याकरण में अपभ्रंशों के जो उदाहरण दिये हैं उनमें से कुछ में हमें हिन्दी के आदि रूप का पता चलता है। उन्होंने अपने 'हेमचन्द्र शब्दानुशासन' में एक स्थल पर यह उदाहरण दिया है—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि हमारा कंतु।
लज्जे जंतु वयंसिअह जइ भग्गा घरु एंतु॥

उपर्युक्त दोहे में हमें हिन्दी के प्रारम्भिक रूप के दर्शन होते हैं। उदाहरण अपने से पूर्व की रचनाओं के ही दिये जाते हैं। 'हेमचंद्र शब्दानुशासन' का काल १२ वीं शताब्दी के लगभग माना जाता है इसलिये हिन्दी का आविर्भाव काल भी ११ वीं शताब्दी के लगभग माना जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में संम्वत् १०५० को हिन्दी साहित्य का आदि काल माना है। उनका कहना है कि हिन्दी साहित्य का बनना तब प्रारम्भ हुआ जब राजा भोज के समय में अप-भ्रंश भाषा काव्य की भाषा के लिये रूढ़ हो चली थी, जैसा कि तत्कालीन रचनाओं की भाषा से स्पष्ट है। आजकल के सभी इतिहासकार शुक्ल जी के ही मत को प्रामाणिक मानते हैं।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल का विशेष सम्बन्ध राजपूताने से है। परंतु खेद की बात है कि वहाँ के लोगों का ध्यान अभी तक इसकी ओर नहीं जा सका। वहाँ के राजकीय पुस्तकालयों में अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिनकी सहायता से हमारे साहित्य के इस अंधकार युग पर उचित प्रकाश डाला जा सकता है। कुछ दिन हुये राजस्थान के कतिपय साहित्य प्रेमियों ने इस दिशा की

ओर पैर उठाया था परन्तु उचित सहयोग एवं सहूलियत के अभाव में उन्हें अपना प्रयत्न छोड़ देना पड़ा।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का शुक्ल जी द्वारा समय-विभाजन

शुक्ल जी ने १०५० से लेकर १९८४ तक के इतिहास को चार भागों में बांटा है—

१—आदिकाल—सं० १०५०—१३७५ तक
२—पूर्व मध्य काल—सं० १३७५—१७०० तक
३—उत्तर मध्य काल—सं० १७००—१९०० तक
४—आधुनिक काल—सं० १९००—१९८४, आज तक

उपर्युक्त कालों को उन्होंने क्रमशः वीरगाथा काल—भक्ति काल—रीतिकाल और गद्य काल की भी संज्ञा दी है। जिस काल में जिस प्रवृत्ति विशेष की रचनाओं का आधिक्य रहा है अथवा जिस प्रवृत्ति की रचना सर्वाधिक लोक प्रिय रही है उसी प्रवृत्ति के आधार पर उस काल का नामकरण किया गया है।

आदिकाल की खोज में कुल बारह ग्रंथ मिले हैं जिनमें प्रथम चार पुस्तकों की भाषा अपभ्रंश है और शेष देश भाषा में रची गयी हैं।

अपभ्रंश के ग्रन्थों में—

१—विजय पाल रासो (नल्ल सिंह सं० १३५५)
२—हम्मीर रासो (शार्ङ्गधर सं० १३५७)
३—कीर्ति लता } (विद्यापति १४६०)
४—कीर्ति पताका }

और देश भाषा की पुस्तकों में—

५—खुमान रासो (दलपति विजय सं० ११८०—१२०५)
६—बीसल देव रासो (नरपति नाल्ह सं० १२१२)
७—पृथ्वीराज रासो (चंद बरदाई सं० १२२५—१२४९)
८—जयचंद प्रकाश (भट्ट केदार सं० १२२५—)
९—परमाल रासो (जगनिक—१२३०)
१०—जय मयङ्क जस चन्द्रिका (मधुकर सं० १२४०)

११—खुसरो की पहेलियाँ (अमीर खुसरो १३५०)

१२—विद्यापति की पदावली (विद्यापति १४६०)

हिन्दी साहित्य के चार काल

खुसरो की पहेलियों विद्यापति की पदावली तथा नरपति नाल्ह कृत बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सभी वीरगाथात्मक ग्रन्थ हैं। कुछ ग्रन्थों में वीर गाथाओं के बीच शृंगार रस का प्रभाव भी दीख पड़ता है। सच पूछा जाय तो शुद्ध वीर रस के काव्य हिन्दी में उंगलियों पर गिनने योग्य हैं। यूरोप की तरह यहाँ के वीर गीतों के प्रसंग भी युद्ध और प्रेम के घेरे में बन्द हैं।

यद्यपि विद्यापति का समय सं० १४६० विक्रमी माना जाता है और वीरगाथा काल सं० १३७५ के बाद समाप्त हो जाता है फिर भी शुक्ल जी ने उनका उल्लेख आदि काल के फुटकर कवियों के साथ इसलिये कर दिया है कि वे अपभ्रंश की कविता को उसी काल में समाप्त कर देना चाहते थे। विद्यापति एक प्रकार से अपभ्रंश और देश भाषा की कविताओं के बीच की कड़ी को जोड़ने का काम करते हैं। वे अपभ्रंश के अन्तिम प्रौढ़ कवि थे। उन्होंने अपभ्रंश काल से प्रवाहित होती रहने वाली शृंगार की धारा का प्रतिनिधित्व किया और भावी हिन्दी की शृंगारिक कविताओं के लिये अनुपम पृष्ठ भूमि समुपस्थित की।

वीर गाथा काल में एक ओर वीर गीतों, शृंगार तथा नीतिमूलक कविताओं की सृष्टि हो रही थी, दूसरी ओर हठयोगियों, नाथ सम्प्रदायियों तथा इस्लामी वीरों की परम्परा कबीर के लिये निर्गुणवाद का उपकरण उपस्थित कर रही थी जिसकी कुँजी से उन्होंने कुछ समय के बाद ही हिन्दी काव्य में निर्गुण भक्ति का दरवाजा खोला। अन्य परिस्थितियों के कारण भक्ति की यह धारा सं० १७०० तक चार विभिन्न स्रोतों में बहती रही। इसके पश्चात् वह अपने सूक्ष्म धरातल को छोड़ कर स्थूल भाव-भूमि पर उतरने लगी। सीता और राम और राधा तथा कृष्ण के चरित्रों में मिट्टी के रंग भरे जाने लगे। लौकिक शृंगार की रचनायें जनमत को आकर्षित करने लगीं। अस्ताचल गामी मुगल साम्राज्य के भभकते हुये वैभव के साथ कवि कर्म का शौक बढा। घर-घर में कवियों की बाढ़ आने लगी। दादा केशव

ने इस क्षेत्र में पदार्पण करने वालों के लिये संस्कृत के रीति ग्रन्थों की हिन्दी में अवतारणा की और हिन्दी में रीति-चर्चा के लिये रास्ता साफ हो गया।

रीति काल ने लगभग दो सौ वर्षों तक हिन्दी पर शासन किया। इस बीच शृंगार रस की अत्यन्त सरस कवितायें लिखी गयीं और रस, रीति, अलंकार, नायिका-भेद आदि के ऊपर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। रीति कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भारतवर्ष के इतिहास में राजनैतिक उलट फेर तथा सामाजिक अव्यवस्थाओं के लिये प्रसिद्ध हैं। इसके अन्तिम दिनों में मुगल साम्राज्य का पतन और ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना होती है।

१६ वीं शताब्दी के पश्चात् और बीसवीं शती के प्रथम चतुर्थांश तक आंग्ल शिक्षा एवं संस्कृति के प्रभाव तथा रेल, तार, डाक आदि की सुव्यवस्था के कारण हिन्दी काव्य को वीर, भक्ति तथा शृंगार के अतिरिक्त जीवन के अन्य विषय मिलते हैं। गद्य का आविर्भाव होता है और उसका विकास अपनी सीमायें छूने लगता है। आज हमारी हिन्दी स्वच्छन्द वायु मण्डल में साँस ले रही है। वह एक स्वतन्त्र देश की राष्ट्र-भाषा है। जिस हिन्दी साहित्य का साहित्य अगणित साहित्य मनीषियों द्वारा सेवित हो रहा है, आज वह भाषा, भाव, विचार शैली तथा अन्य कला रूपों की दृष्टि से संवर निखर कर संसार की अन्य भाषाओं के सम्मुनत साहित्यों के साथ खड़ी हो उठी है।

प्रवृत्तियों की अटूट शृंखलायें

जनता की चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के साथ ही साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है। इन चित्तवृत्तियों के निर्माण में विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का ही हाथ होता है। परिस्थिति विशेष के दबाव के कारण साहित्य में उससे सामञ्जस्य रखने वाली प्रवृत्ति ही सबसे अधिक उभार पर रहती है। इसके अतिरिक्त उसी समय प्रवृत्तियों की अनेक क्षीण धारायें भी प्रवाहित होती रहती हैं। हमारे साहित्य के वीर गाथा काल में वीर गाथाओं की प्रवृत्ति का बोलबाला था किन्तु उसके साथ ही साथ शृंगार रस की बूंदा-बूंदी में मियाँ खुसरो नीति के दोहे भी कह रहे थे। आगे चल कर भक्ति काल में भक्ति मूलक रचनायें तो लिखी ही गयीं परन्तु साथ ही साथ वीर, शृंगार, और नीति से सम्बन्ध रखने वाले काव्यों का भी प्रणयन

होता रहा। चंद बरदाई के पृथ्वीराज रासो की वीरत्व भावना, अपभ्रंश की द्वित्व वर्ण वाली शैली तथा उनका छप्पय हमें अत्यन्त विकसित रूप में रामोपासक शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास की कतिपय रचनाओं में देखने को मिलता है। इसी काल में अकबर के दरबारी कवि गंग ने वीर रस के वाग्वैदग्ध पूर्ण कवित्त रचे। रहीम और सेनापति के हाथों पूर्ण प्रचलित शृंगार और नीति की भावनायें कला की खराद पर चढ़ कर बड़े मोहक और उत्कृष्ट रूप में सामने आईं।

रीति काल में घोर शृंगारी रचनाओं के बीच भूषण और लाल, सुजान चन्द्रशेखर और जोधराज जैसे कवि वीरत्व की साहित्यिक दृष्टि से उच्च और व्यापक भावनाओं की शख ध्वनि करते रहे। वृन्द, गिरधर, घाघ और बैताल ने-नीति की सूक्तियों को आगे बढ़ाया। विद्यापति के शृंगार को इस काल में जवानी का उपहार मिला। निर्गुणोपासना और सगुणोपासना के अंतर्गत आने वाली क्रमशः ज्ञानाश्रयी, प्रेममार्गी, रामोपासक और कृष्णोपासक कवियों की प्रवृत्तियाँ भी मंथर गति से बहती रहीं। महाराज विश्वनाथ सिंह (सं० १८७०–१९११) की 'रमैनी', 'ककहारा' 'शब्द' आदि कृतियों को देखकर भक्त पुंगव कबीर की याद ताजी हो जाती है। भक्त कवि नागरीदास (१७८०–१८१६) की अनेक कृतियों में फारसी काव्य का आशिकी और सूफियाना रंग-ढंग है।

सूफी कवि भी इस समय चुप नहीं बैठे थे। कासिम शाह (सम्वत् १७८८) और नूर मुहम्मद ने एक ओर 'हंस जवाहिर' तथा इन्द्रावती (सम्वत् १८०१) जैसे प्रेमाख्यानक काव्य ग्रन्थों की रचना करके जायसी की परम्परा को गतिशीलता दी, दूसरी ओर स्वयं नूर मुहम्मद ने 'अनुराग बांसुरी' (सम्वत १८२१) के द्वारा सूफी वाद को भाषा और विचार की दृष्टियों से प्रौढ़ बनाया।

यह सत्य है कि तुलसी दास ने भगवान राम के शील, शक्ति और सौंदर्य की जो मर्यादित रेखायें खींची उनका आगे निर्वाह न हो सका। फिर भी इस काल में अनेक राम काव्य लिखे गये। जनक राज किशोरी शरण कृत जानकी सरणाभरण, सीता राम सिद्धान्त मुक्तावली, रामरस तरंगिणी, तथा रघुवर कर्णाभरण में राम सीता के शृङ्गार और ऋतु-विहार आदि का वर्णन मिलता है। नवल सिंह कायस्थ ने भी सीता स्वयम्बर, राम विवाह खण्ड,

रामायण सुमिरिनी आदि अनेक पुस्तकों की रचना करके इस परम्परा में अपना योग दिया। सूर के कृष्ण को इस काल के कवियों ने अपनी लम्पट वृत्तियों के कारण लौकिक नायक-नायिकाओं के रूप में ला खड़ा किया! वैसे बिहारी ने कहीं-कहीं पर 'मो सम्पति यदुपति सदा विपति विदारन हार' जैसी पंक्तियां लिखकर अपने को कृष्ण-भक्त सिद्ध करने का प्रयत्न अवश्य किया परन्तु उनकी इस प्रकार की रचनाओं में भक्त कवियों की हार्दिक सत्यता और भाव प्रवणता का नितान्त अभाव है।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना, भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम और गणतन्त्र का शिलान्यास, आधुनिक काल की युगान्तरकारी ऐतिहासिक घटनायें हैं। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से हमारे साहित्य में क्रान्ति हो गई। परिस्थितियों के साथ जीवन को देखने का दृष्टि कोण भी बदल गया। साहित्य का केन्द्र राज महलों से उठकर शिक्षित जनता में चला आया। जनता के लोग कवि के रूप में अवतरित होने लगे। साहित्यिक रूढ़ियों और परम्पराओं पर कुठाराघात किया जाने लगा। सदियों से चली आती हुई काव्य की ब्रज-भाषा के विरुद्ध खड़ी बोली के समर्थकों ने विद्रोह का झंडा उठा लिया। कविता के लिये अनेक नये विषय मिले परंतु वीरता, भक्ति और शृङ्गार के प्रवृत्तियों की शृङ्खलायें न टूटीं। हां! बुद्धिवादी प्रभाव से उनका रूप अवश्य बदल गया।

ब्रज-भाषा में आज भी कवितायें लिखी जाती हैं परन्तु अनेक सामयिक विषयों के साथ उपर्युक्त धाराओं का निर्मल स्रोत अब भी बह रहा है। आधुनिक ब्रज-भाषा के कवियों में श्री वियोगी हरि की 'वीर सतसई' सरस का 'अभिमन्यु वध' हरिश्चन्द्र के भक्ति सम्बन्धी पद, तथा रत्नाकर की 'शृङ्गार लहरी' और उद्धव-शतक प्राचीन परम्पराओं के सुविकसित और नवीनतम संस्करण हैं।

आधुनिक काल की नई और सर्व मान्य भाषा खड़ी बोली है जिसके माध्यम से वर्तमान साहित्य की सृष्टि हो रही है। इस भाषा के अनेक कवियों ने भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम में डट कर भाग लिया था और बड़े उत्साह के साथ वीरता के गीत गाये थे। एक भारतीय आत्मा की 'राष्ट्रीय-वीणा' पर वीरता के स्वर झंकृत होने लगे थे—

आने दे दुख के मेघों को घोर घटा घिर आने दे।
जल ही नहीं उपल भी उसको लगातार बरसाने दे॥
करकर के गम्भीर गर्जना भारी शोर मचाने दे।
किन्तु कहे देता हूँ, तुझसे सब जाऊँगा भूल॥
तेरे ही चरणों पर अर्पित होगा जीवन-फूल॥

(राष्ट्रीय-वीणा)

इसी प्रकार सर्वश्री श्याम नारायण पांडेय, रामधारी सिंह दिनकर श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की रचनाओं में वीरत्व की भावना वीरगाथा कालीन वीरगीतों से अनेक बातों में बढ़ कर भी हैं।

स्वतन्त्रता संग्राम में अनेक बार असफलतायें भी मिलीं और हमारे अर्न्तमुखी कवियों की आंखें अनन्त की ओर उठ गईं। कविवर प्रसाद के हृदय से भक्ति का 'झरना' फूट पड़ा—

जीवन जगत के, विकास विश्व वेद के हो,
परम प्रकाश हो स्वयं ही पूर्ण काम हो।
विधि के विरोध हो, निषेध की व्यवस्था तुम
खेद भय रहित, अभेद अभिराम हो॥
कारण तुम्हीं थे, अब कर्म हो रहे हो तुम्हीं
धर्म कृषि मर्म के नवीन घनश्याम हो
रमणीय आप महामोद मय धाम तो भी
रोम-रोम रम रहे कैसे तुम राम हो॥

(झरना)

इस समय भक्ति की जितनी कवितायें लिखी गईं उनमें से अधिकांश कला और व्यंजना की दृष्टियों से भक्ति कालीन पदों की समानता कर सकती हैं किन्तु उनमें वैसी भाव-प्रवणता का अभाव है। इसका कारण यह है कि आज की भक्ति हार्दिक से कहीं अधिक मानसिक है। इसी समय कबीर का रहस्यवाद, सूफियों का विरहवाद आधुनिक बौद्धिकता के साथ राम कुमार वर्मा और महादेवी वर्मा के प्रगीतों में प्रस्फुटित हुआ। अपने साकेत और प्रिय प्रवास में गुप्त जी और हरि औध महोदय ने राम और कृष्ण के चरित्रों की नये ढंग से अवतारणा की। इस युग में अलंकार और पिंगल

की बेड़ियों को तोड़कर शृङ्गार की भावनायें उद्दाम यौवन के शिखर पर चढ़ गईं। पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी 'ग्रन्थि' में उसी की जवानी का चित्र खींचा है। उदाहरण लीजिए—

प्रथम भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में, तरल
उर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी
कमल पर जो चारु दो खंजन प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को

प्रस्तुत रचना में भी बुद्धिवाद का प्रभाव स्पष्ट है। इसी आधार पर डाक्टर श्रीकृष्ण लाल नें हिन्दी के प्राचीन और अर्वाचीन कविताओं का अन्तर स्पष्ट करते हुये लिखा है—"प्राचीन और आधुनिक साहित्य में यह अन्तर है कि प्राचीन साहित्य की वर्णित वस्तुयें अपने मूल रूप में अनुरंजक है। आधुनिक साहित्य में वर्णित वस्तुओं का महत्व बुद्धि पर प्रभाव डालने के लिये है। प्राचीन कवि वस्तुओं के वाह्य प्रभाव को अधिक महत्व देते थे, आधुनिक कवि वस्तुओं के प्रभाव से चित्त में उत्पन्न होने वाले भावों तथा उनके आधार पर कल्पना प्रसूत रूपों को प्रधानता देते हैं। आधुनिक कवि को वस्तु के प्रस्तुत उपादानों के वर्णन मात्र से सन्तोष नहीं होता, वह वस्तु के सम्पर्क से जाग्रत होने वाली सभी भावनाओं तथा उनके आधार पर मनः कल्पित सभी दृश्यों की व्यंजना करना चाहता है।

(आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास)
(१९००-१९२५)

हिन्दी साहित्य का इतिहास

मानवीय चित्त-वृत्तियों के परम्परा की जांच करते हुये, साहित्यिक परम्पराओं के साथ उनका सामंजस्य दिखलाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। इस तथ्य की कसौटी पर अपने साहित्य के इतिहास को कसने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि हमारे साहित्य का इतिहास प्रेम

का इतिहास है। आदि काल से लेकर आज तक के हिन्दी काव्य का विषय प्रेम ही रहा है। प्रेम की यही प्रेरणा अपने लौकिक रूप में वीर गीतों के सृष्टि का कारण हुयी। वीर रस के काव्यों में दीख पड़ने वाली क्रोध, ईर्षा, द्वेष तथा युयुत्सा की प्रवृत्तियों के पीछे किसी न किसी प्रेम-कथा का ही योग मिलता है। प्रेम की अलौकिकता के कारण भक्ति के पद लिखे गये और जब उसने भी अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर दिया तब प्रतिक्रिया स्वरूप शृंगारिक कविताओं की बाढ़ आ गयी। आज का हिन्दी कवि धरती का कवि है। धरती; जहां प्रेम का बीज पलता है, प्रेम; जिस पर मानवता की भित्ति आधारित है। इस प्रकार हमारे साहित्य का अध्ययन मानवता का अध्ययन है। यह अध्ययन अपने मूल रूप में अत्यन्त अनुरंजक और कल्याण कारी है।

———

हिसाब लगाया जाय तो हम देखेंगे कि किसी बड़े शब्द कोश में कितने शब्द इकट्ठे किये गये हैं, उनमें से अधिकांश शब्दों का व्यवहार कभी कदा ही होता है। फिर भी उनका संग्रह किया जाना जरूरी है। लेकिन साहित्य में व्यवहृत शब्द सजीव होते हैं, हर एक शब्द अपरिहार्य है। उसके बिना काम ही नहीं चल सकता। यह बात माननी पड़ेगी कि कोश के शब्दों की अपेक्षा साहित्य क शब्दों की कीमत कहीं ज्यादा है।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

—छठाँ प्रकरण—

वीर गाथा काल

(१०५०—१३७५)

नाम कारण—

शत्रु के उत्कर्ष और उसकी ललकार की जड़ काटने के लिये हृदय में जो उत्साह उत्पन्न होता है उसी से वीर रस की उत्पत्ति होती है। रस-शास्त्रियों ने इसके चार प्रकार बतलाये हैं जिनमें सर्व प्रथम 'युद्ध-वीर-रस' का नाम लिया जाता है। जहाँ युद्ध सम्बन्धी उत्साह व्यंजित होता है वहीं युद्ध वीर रस की अवस्थिति होती है। हमारे साहित्य के आदि काल का इतिहास युद्ध वीरों की गाथाओं का इतिहास है इसीलिये इस काल को वीर गाथा काल कहते हैं।

चारण-काल

हमारे देश में उस समय आजकल की तरह शिक्षा का प्रचार न था। जन-साधारण अपनी बैठकों में मौखिक कथा कहानियों से मनोरंजन कर लेता था। राज दरबारों में 'चारण' रहा करते थे जो अपने आश्रय दाताओं की कीर्ति, उनके शौर्य तथा उनके उत्साह की प्रभावोत्पादक कवितायें रचते थे। इस प्रकार के चारणों का एक वर्ग ही राज दरबारों में फैला हुआ था जो कवि कर्म द्वारा अपनी रोजी कमाता था। उन्हीं चारणों की रचनाओं से हमारे साहित्य का आदि काल आरम्भ होता है, इसीलिये कुछ इतिहास-कार वीर गाथा काल को 'चारण काल' भी कहते हैं।

तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियाँ

विक्रम की दसवीं शब्दी का उत्तरार्द्ध भारतवर्ष के इतिहास में अशान्ति और राष्ट्रीय पतन का काल माना जाता है। हर्ष वर्धन की मृत्यु के पश्चात देश कई राज्य खण्डों में बँट गया था केन्द्रीय-शासन की भावना लुप्त हो चुकी थी। देश का पश्चिमी भाग भारतीय सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र माने

जाने लगे थे। दिल्ली, कन्नौज, अजमेर आदि राजधानियाँ पश्चिम में ही थीं। शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के अभाव में एक राज्य दूसरे राज्य से लड़ा करता था। इन झगड़ों का कोई खास कारण हो तो कहने को, कभी-कभी तो केवल शौर्य प्रदर्शन के लिये ही लड़ाई मोल ले ली जाती थी। आत्म गौरव आत्माभिमान के रूप में बदल गया था। जरा-जरा सी बातों को भी नृप गण भयंकर अपमान समझ बैठते थे। इसीलिये आये दिन आपस में युद्ध हुआ करते थे। इसी समय पश्चिम की ओर से देश पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। प्रजा विदेशियों द्वारा लूटी जाती थी। देश में त्राहि-त्राहि मची थी लेकिन बहादुर राजाओं को अपने ही झगड़ों से फुर्सत नहीं मिलती थी। मुसलमानों से अवरोधात्मक युद्ध करने के लिये प्रायः दिल्ली नरेश को ही अग्रसर होना पड़ता था। इस युद्ध में भी मातृ-भूमि की मर्यादा की रक्षा से कहीं अधिक धर्म का ही ध्यान रहता था। राष्ट्र की विराट भावना न थी। लोग अपने छोटे-छोटे राज्यों को ही मातृ-भूमि समझ बैठे थे।

इस समय अपभ्रंश की साहित्यिक मृत्यु हो रही थी। पश्चिमी प्रान्तों की बोलियाँ उसका स्थान ग्रहण कर रही थीं। तलवारों की खपाखप कवियों को प्रेरणा दे रही थी। युद्ध में सैनिकों का उत्साह बढ़ाने के लिये चारण गण वीर रस की ओजस्विनी कविताओं का पाठ करते हुए चलते थे और कभी-कभी तो उन्हें भी तलवारों के करिश्में दिखाने का अवसर मिला करता था।

वीर गाथा कालीन साहित्य और प्रमुख कवि

इस काल में रासो लिखने की प्रवृत्ति अधिक दीख पड़ती है। 'रासो' का सम्बन्ध कुछ लोग रहस्य से जोड़ते हैं परन्तु 'बीसल देव रासो' में काव्य के लिये कई स्थानों पर 'रसायण' शब्द का प्रयोग हुआ है। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल का विचार है कि 'रासो' इसी 'रसायण' शब्द का विकसित-रूप है। ये 'रासो' भी दो रूपों में मिलते हैं। कुछ तो मुक्तक के रूप में और कुछ प्रबन्ध के रूप में। वीर रस के मुक्तकों की परम्परा तो अपभ्रंश काल से ही चली आ रही थी। इस समय अनेक प्रबन्ध काव्य लिखे गये किन्तु आगे चलकर उनमें अनेक प्रक्षिप्त अंश मिल गये। आजकल उनकी जितनी

प्रतियाँ प्राप्त हैं उनमें शुद्ध रूप का पता लगाना अत्यन्त कठिन कार्य है।

वीर गाथा की रचना करने वाले कवियों में सर्व प्रथम दलपति विजय (सं० ११८०–१२०५) का नाम लिया जाता है। उन्होंने खुमान द्वितीय (सं० ८७०–६००) के ऊपर 'खुमान रांसो' की रचना की। इस समय 'खुमान रासो' की जो प्रति उपलब्ध है वह अपूर्ण है और उसमें महाराणा प्रताप सिंह तक का ही वर्णन मिलता है। विद्वत् वर्ग इसकी तिथि की निश्चितता के सम्बन्ध में एक मत नहीं है।

इसकी शृंखला की दूसरी कड़ी का नाम है 'बीसल देव रासो' जिसके रचयिता नरपति नाल्ह (सं० १२१२) कहे जाते हैं। अजमेर के चौहान राजा विग्रह राज चतुर्थ का उपनाम था 'बीसलदेव'। नाल्ह उनका राजकवि था। ज्येष्ठ बदी नवमी बुधवार सं० १२१२ विक्रमी को 'बीसल देव रासो' की रचना आरम्भ की गयी थी। यह लगभग १०० पृष्टों का छोटा सा ग्रन्थ है जिसमें राजा बीसल देव की कथा चार भागों में वर्णित है। पहले खण्ड में बीसलदेव का विवाह मालवा के राजा भोज परमार की कन्या राजमती से होता है। दूसरे खंड में बीसलदेव किसी कारण वश अपनी रानी से रूठकर उड़ीसा की ओर चले जाते हैं। तीसरे खंड में राजमती का विरह वर्णन और बीसलदेव का लौटकर वापस आना तथा चौथे खंड में भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लौटा लाने की कथा वर्णित है।

इस काव्य ग्रन्थ की ऐतिहासिकता पर लोगों को विश्वास नहीं होता। इसके अनेक कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि बीसलदेव से १०० वर्ष पहले ही भोज परमार का देहावसान हो गया था इसलिये उनकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह असम्भव है। परम्परा से प्रसिद्ध था कि बीसलदेव की रानियों में एक रानी परमार वंश की भी थी। कदाचित् कवि कल्पना का आधार यही किंवदन्ती हो। लेकिन किंवदन्ती विश्वास का आधार नहीं हो सकती। दूसरा कारण यह है कि बीसलदेव जी बड़े पराक्रमी राजा थे। उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध अनेक लड़ाइयां लड़ी थीं और कई प्रान्तों से मुसलमानों को मार भगाया था। उनकी ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन न कर के इसमें शृङ्गार का मनमाना वर्णन किया गया है। इससे मालूम पड़ता है कि यह वीरवर विग्रह राज का रासो नहीं है। इसमें वीररस

की तो कोई बात ही नहीं आई इसलिये इसे शृंगार काव्य कहना ही उचित है। भाषा भी इसकी बेठिकाने है और उस पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है। उदाहरण स्वरूप निम्नांकित पंक्तियां पेश की जा सकती हैं।

परणवा चाल्यो बीसल राय। चउरास्या सहु लिया बुलाइ
जान तणी साजति करउ। जीरह रंगावली पहर ज्यों येप

अथवा

गरबिन बोली हो साँभरया राव। तो सरीखा घृणा और भुवाल
एक उड़ीसा को धणी। वचन हमारह तू मानि जु भानि
ज्यूं थारइ साँभर उग्गाहई। राजा उणिधरि उग्गहइ हीरा खान

इसी ग्रन्थ के अध्ययन से पता चलता है कि शिष्ट साहित्य की भाषा प्राचीन हिन्दी थी जिसे पिंगल कहा जाता था। इस काव्य में पिंगल भाषा के शब्दों को मिलाने का प्रयत्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसकी भाषा में अरबी फारसी के शब्द भी मिले हुये हैं। पं० गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना माना है।

तीसरा ग्रन्थ है चंदबरदाई (सं० १२२५–१२४६) कृत 'पृथ्वीराज रासो'। चंद बरदाई दिल्ली के अंतिम राजा पृथ्वीराज चौहान के सामन्त और राज-कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। लाहौर में उनका जन्म हुआ था। वह भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। पृथ्वीराज उन्हें बहुत मानते थे। उनकी विद्वत्ता के सम्बन्ध में अनेक बातें प्रचलित हैं। चन्दबरदाई हिन्दी के प्रथम महाकवि हैं और उनका ग्रन्थ है हिन्दी का प्रथम महाकाव्य।

पृथ्वीराज रासो लगभग ढाई हजार पृष्ठों का एक विशाल ग्रन्थ है। इस महाकाव्य में कुल ६६ सर्ग हैं जिसे 'समय' कहा गया है। इसमें आबू के यज्ञ-कुण्ड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति तथा चौहानों के अजमेर में राज संस्थापन से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक के समय का सविस्तार वर्णन किया गया है। कहा जाता है कि जब शहाबुद्दीन पृथ्वीराज को पकड़ कर गजनी ले गया तब कुछ समय के बाद चन्द ने भी वहीं जाने का निश्चय कर लिया। उस समय तक पृथ्वीराज रासो का थोड़ा सा भाग लिखने को शेष रह गया था परन्तु कवि ने इसकी चिन्ता न की। वह अपने पुत्र जल्हण के कंधे पर यह भार डाल कर स्वयं प्रिय सखा पृथ्वीराज के पास चला गया।

इस काव्य में कवित्त, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, और आर्या छन्दों का प्रयोग किया गया है। व्याकरण की अव्यवस्था पुस्तक भर में दिखाई पड़ती है। दूहा और कवित्तों की भाषा तो कुछ ठिकाने की मिल भी जाती है परन्तु त्रोटक आदि छन्दों में अनुस्वरांत शब्दों की ऐसी भरमार है जैसे वह संस्कृत या प्राकृत की नकल मात्र हो। प्राचीन शब्दों का प्रयोग तो मिलना ही चाहिये लेकिन आश्चर्य तो तब होता है जब जगह जगह पर आधुनिक शब्दों के प्रयोग भी दिखलाई पड़ने लगते हैं। पृथ्वीराज रासो के 'पद्मावती समय' का एक उदाहरण लीजिये—

बज्जिय घोर निसान रान चौहान चहौं दिस
सकल सूर सामंत समरिबल जंत्र मंत्र तिस।
उट्ठिराज प्रिथिराज बाग मनो लगा बीर नट
कढ़त तेग मन बेग लगत मनो बीजु झट्टघट
थकि रहे सूर कौतिग गगन, रंगन मगन भइ शोन घर
हृदि हरषि वीर जग्गे हुलसि हुरेउ रंग नव रत्त वर॥

इस महाकाव्य के अध्ययन से मालूम होता है जैसे परवर्ती कवियों ने इसमें कुछ अपनी ओर से भी मिला दिया है। इन सब बातों की ओर सर्व प्रथम राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार विद्वान कविराज श्यामल दास जी का ध्यान गया और उन्होंने ही सर्व प्रथम रासो' की अप्रामाणिकता की बात उठाई। उनके प्रश्नों का उत्तर श्री मोहन लाल विष्णुलाल पण्ड्या देने का प्रयत्न कर ही रहे थे तब तक पं० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने अनेक पुष्कल प्रमाणों के आधार पर उसे जाली ठहरा दिया।

कुछ वर्षों के बाद मुनि जिन विजय को "जैन प्रबन्धों" में अपभ्रंश भाषा में लिखित चन्द के चार पद मिले। इस सामग्री के आधार पर उन्होंने यह अनुमान लगाया कि पृथ्वीराज रासो बिल्कुल अप्रामाणिक नहीं है, वरन उसमें कुछ तथ्य भी है। यह विवाद अभी तक शान्त नहीं हुआ। आजकल इसके सम्बन्ध में विद्वानों के चार दल हो गये हैं जो विभिन्न मतों के समर्थक हैं।

(१) रासो के समर्थकों में पहला दल है राय बहादुर श्याम सुन्दरदास, मथुरा प्रसाद दीक्षित, मोहन लाल विष्णु लाल पण्ड्या तथा मिश्र बन्धु आदि

महानुभावों का। बाबू श्याम सुन्दर दास इसे पृथ्वीराज की समकालिक रचना मानते हैं परन्तु साथ ही साथ यह भी मानते हैं कि इसका एक बहुत बड़ा भाग प्रक्षिप्त है।

(२) रासो के विरोधियों में कविराज श्यामल दास, महामहोपाध्याय पं० गौरी शंकर हीराचन्द्र ओझा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० बूलर तथा अमृत और शील आदि विद्वान हैं जो न तो चन्द्र को पृथ्वीराज का दरबारी कवि ही मानते हैं और न रासो को उस काल की रचना ही। इन लोगों का कहना है कि शिलालेखों तथा कुछ पुस्तकों के अनुसार पृथ्वीराज का कवि पृथ्वी भट्ट नामक व्यक्ति था। रासो में दिये गये अधिकांश नाम तथा बहुत सी घटनायें इतिहास से मिलती ही नहीं। तिथियाँ तक अशुद्ध मिलती हैं। इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म सं० १२२० और मृत्यु सं० १२४८ है परन्तु रासो के अनुसार उनका जन्म हुआ था सं० १११५ विक्रमी में और मृत्यु हुयी थी सं० ११५८ में जो नितान्त असम्भव है। रासो में अरबी फारसी के जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है वे चन्द के समय किसी हालत में भी व्यवहृत नहीं थे। उसकी भाषा तो १६ वीं शताब्दी के आस पास की मालूम पड़ती है। भाषा अनुस्वरांत शब्दों से भरी पड़ी है। प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों का मनमाना प्रयोग हुआ है, जिसमें नयी और पुरानी विभक्तियों की खिचड़ी पक गयी है।

(३) श्री नरोत्तम स्वामी तथा उनके समर्थकों का एक तीसरा दल भी है जिसका कहना है कि चन्द पृथ्वीराज का दरबारी कवि तो था लेकिन उस व्यक्ति ने 'पृथ्वीराज रासो' नामक किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की।

(४) चौथा मत है डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, श्री मुनि जिन विजय, अगर चन्द नाहटा और डाक्टर दशरथ शर्मा का जो रासो को चन्द की रचना तो मानते हैं लेकिन उसका मूल रूप में पाया जाना नहीं मानते। यह वर्ग चन्द को पृथ्वीराज का कवि भी बतलाता है। डा० दशरथ शर्मा का कहना है कि रासो का प्रचलित बृहद संस्करण अशुद्ध है। बीकानेर के फोर्ट पुस्तकालय में रासो की जो लघुतम प्रतियाँ मिली हैं, उन पर ओझा जी का मत लागू नहीं होता। ओझा जी ने संयोगिता स्वयंम्बर को जाली ठहराया है लेकिन इसका प्रमाण तो सभी जगह मिलता है। रासो के सभी रूपान्तरों में

बीकानेर वाली प्रति के सप्तम खण्ड में कैमास बध का वर्णन है। 'पृथ्वीराज-प्रबन्ध' के अनुसार वह पृथ्वीराज का प्रधान था। 'खरतर पट्टावली' में उसे मण्डलेश्वर कहा गया है। 'पृथ्वीराज-विजय' में भी उसकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। यह मूल रासो की कथा है।

ओझा जी ने पृथ्वीराज और अनंगपाल के सम्बन्ध में जो आक्षेप किया था वह अशुद्धि लघुतम प्रति में भी मिल जाती है। डाक्टर शर्मा संयोगिता स्वयंवर तथा चौहानों की उत्पत्ति की घटना को ही पुष्कल प्रमाणों और पुष्ट तर्कों के आधार पर सिद्ध कर सके हैं। पृथ्वीराज का अनंगपाल तोमर के नाती होने और इन्छिनी के साथ उनके विवाह का प्रमाण शर्मा जी के पास नहीं है। इसलिए रासो की प्रामाणिकता पूर्णतः सिद्ध नहीं होती। यह अभी तक खोज का ही विषय बना हुआ है।

इसी परम्परा में भट्ट केदार और मधुकर (सं० १२२४—१२४३) नामक कवियोंने क्रमशः, 'जयचन्द प्रकाश' और जय मयंक–जस–चन्द्रिका नाम के महाकाव्यों का प्रणयन किया था। 'जयचन्द प्रकाश' में महाराज के प्रताप और पराक्रम का वर्णन था। परन्तु यह कृति अब उपलब्ध नहीं है। जय मयंक–जस–चन्द्रिका' की भी वही दशा है। उसका उल्लेख केवल सिंघायच-दयाल कृत "राठोडाँरी ख्यात" में मिलता है, जो बीकानेर के राज-पुस्तक भण्डार में सुरक्षित है।

इस शृंखला की सर्वप्रिय कड़ी है 'परमार रासो'। कालिंजर के राजा परमाल के यहां एक भाँट रहा करता था जिसका नाम था जगनिक। उसका समय १२३० विक्रमी माना जाता है। उसने महोबे देश के प्रसिद्ध वीरों आल्हा और ऊदल के ऊपर जिस वीर गीति की रचना की वह इतना प्रचलित हुआ कि उसके मूल रूप का पता ही नहीं चलता। बरसात के दिनों में मेघ गर्जन के साथ अपने ढोलकों पर ताल देने वाले अल्हैतों को आपने सुना है?

बारह बरिस लै कूकर जीएँ, औ तेरह लै जियें सियार।
बरिस अठारह छत्री जीएँ, आगे जीवन को धिक्कार॥

इन गीतों के भाव और तर्ज जनता के हृदय और कण्ठ में घुल मिल गये। जितने प्रकार के लोग, उतने प्रकार का आल्हा हो गया। जगनिक के मूल

ग्रन्थ का पता नहीं चलता। बुन्देलखण्ड में महोबे के आसपास इसका प्रचार है। लेकिन भारतवर्ष में बैसवाड़ा अल्हैतों का केन्द्र माना जाता है। लगभग १०० वर्ष पूर्व फरुखाबाद के तत्कालीन कलेक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने सर्व प्रथम इन गीतों का एक संग्रह 'आल्हा खण्ड' के नाम से प्रकाशित कराया था। अनुमान किया जाता है कि यह खण्ड उस सम्पूर्ण ग्रन्थ का एक भाग ही होगा जिसमें जगनिक ने चंदेलों की वीरता के सम्बन्ध में लिखा होगा और जनता की जबान पर रहने के कारण काल क्रम से परिवर्तित होता गया होगा।

इन कवियों ने जिन भाषाओं में अपनी लेखनी का चमत्कार दिखलाया है उनके नाम हैं 'डिंगल' और पिंगल'। नागर अपभ्रंश से राजस्थानी बोलचाल की जो भाषा विकसित हुयी उसके साहित्यिक रूप का नाम डिंगल है। प्रादेशिक बोलियों के साथ ब्रज या मध्य देश का आश्रय लेकर जो सामान्य भाषा साहित्य के लिये स्वीकृत हो चुकी थी उसी को चारण गण 'पिंगल' कहा करते थे।

भाषा डिंगल और पिंगल

डिंगल और पिंगल शब्दों की व्युत्पत्ति तथा उनके नामकरण के सम्बन्ध में जो वितंडावाद उठा वह आज तक शान्त नहीं हुआ। डा० एल० पी० टैसीटरी ने डिंगल शब्द का अर्थ लगाया गँवार। उन्होंने कहा कि ब्रज-भाषा परिमार्जित थी और साहित्य शास्त्र के नियमों का अनुकरण किया करती थी परन्तु डिंगल पूर्णतः स्वतन्त्र भाषा थी जिसे विद्वत् वर्ग नीची दृष्टि से देखता था इसीलिये उसका नाम डिंगल पड़ गया।

अन्य विद्वानों ने डाक्टर साहब के मत का खण्डन करते हुये कहा कि डिंगल का भी अपना व्याकरण है और वह भी अपने छंद शास्त्र का अनुसरण करती है। राज दरबारों में, शिष्ट समुदाय में, उसका उसी तरह आदर था जिस प्रकार ब्रज-भाषा का। अतः यह मत बिल्कुल भ्रामक और अशुद्ध है।

इसके पश्चात् वाद-विवाद के इस क्षेत्र में महामहोपाध्याय पं० हर प्रसाद शास्त्री उतरे। उन्होंने कहा है कि प्रारम्भ में इस भाषा का नाम डगल था परन्तु पिंगल से तुक मिलाने के लिए चारणों ने इसका नाम डिंगल रख

दिया। गवाही में उन्होंने एक दोहा भी पेश किया जो उन्हें कविराज मुरारि दान जी से प्राप्त हुआ था—

दो से जंगल डगल जेय जल बगल चाटे।
अनुहुँतागल दिये गलाहुँता गल काटे॥

शास्त्री जी केवल इतना ही कहकर चुप रह गये कि—"इससे स्पष्ट है कि जंगल देश अर्थात् मरु देश की भाषा डिंगल कहलाती थी। वैसे यह दोहा भाषा की दृष्टि से १६ वीं शताब्दी का मालूम पड़ता है परन्तु यदि इसे १४वीं शताब्दी का मान कर भी 'डगल' पर विचार किया जाय तो कुछ दूसरी ही बात मालूम पड़ेगी। राजस्थानी में 'डगल' शब्द का अर्थ होता है 'ढला' या अनगढ़ पत्थर। पिंगल भी उस समय तक इतनी परिमार्जित भाषा नहीं थी जिसकी बराबरी करने के लिये अपरिमार्जित भाषा डगल का नाम डिंगल रखा जाता। दूसरे जिस भाषा में कविता करने पर चारणों को यश और धन का लाभ होता था, उसे ही वे इतना हीन नाम देंगे, कुछ ठीक नहीं मालूम पड़ता।

इसके बाद सर्व श्री गजराज ओझा, पुरुषोत्तम स्वामी, तथा पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी आदि विद्वानों ने भी इस विवाद में भाग लिया परन्तु किसी के मत से शंका का समाधान न हो सका। इस विवाद में सर्वमान्य मत है श्री मोती लाल मेनारिया का। उनका कहना है कि जिस भाषा में चारण लोग अपने आश्रयदाताओं के यश की डींग हांका करते थे उसी भाषा का नाम लोगों ने 'डींगल' रख दिया। 'डींगल' शब्द का बराबर प्रयोग होता रहा परन्तु जब हमारे देश में अंग्रेज विद्वान् आये तो उनके अज्ञानवश वह डींगल से डिंगल हो गया। डाक्टर ग्रियर्सन आदि विद्वान् पिंगल (Pingala) की तरह (Dingala) की भी वर्णानुरूपी लिखा करते थे। हिन्दी वाले अनजान में पिंगल की ध्वनि के आधार पर डींगल का उच्चारण डिंगल करने लगे। तब से इसका उच्चारण इसी तरह किया जाता है।

वीर गाथा कालीन कवियों ने दोनों भाषाओं में रचनायें की हैं। कहीं-कहीं पर तो एक ही स्थान पर डिंगल और पिंगल भाषाओं के शब्दों का इस प्रकार प्रयोग किया गया है कि उन्हें अलग-अलग रूप में पहचानना

मुश्किल हो जाता है। डिंगल और पिंगल भाषा में क्या अंतर है, इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर अभी तक किसी विद्वान ने नहीं दिया।

मुंशी देवी प्रसाद का कहना है कि मारवाड़ी भाषा में 'गल्ल' का अर्थ है बोली या भाषा। डींगा लम्बे और ऊँचे को और पांगला पंगे या लूले को कहते हैं।

चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और ब्रज भाषा की कविता धीरे-धीरे मन्द स्वरों में पढ़ी जाती है। इसलिए डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गयी--जिसको दूसरे शब्दों में ऊँची बोली और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।

मुन्शी जी ने केवल ऊँचे और नीचें स्वरों में पढ़ने के आधार पर इन भाषाओं में अंतर की जो रेखा खींची है वह टेढ़ी है। किसी भी भाषा की कविता ऊँचे और नीचे स्वरों में पढ़ी जा सकती है। यह भी कोई मत है?

डा० श्यामसुन्दर दास ने भी अपने हिन्दी साहित्य में इस प्रश्न पर विचार किया है। उन्हीं के शब्दों में, (१) पिंगल एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी जब कि डिंगल केवल राजपूताने और उसके आसपास की भाषा थी।

(२) पिंगल भाषा संयत और व्याकरण सम्मत भाषा थी जब कि डिंगल में यह बात न थी।

(३) पिंगल भाषा में साहित्यिकता अधिक थी तथा वह नियमों से जकड़ी हुयी थी जब कि डिंगल अपेक्षाकृत कम साहित्यिक थी और उसमें नियमों की जटिलता न थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी बाबू साहब के मत का समर्थन करते हैं परन्तु पिंगल भाषा के संयत और व्याकरण सम्मत होने तथा डिंगल के न होने के प्रश्न पर मौन हैं।

डा० रामकुमार वर्मा किसी न किसी रूप में मुन्शी देवी प्रसाद का ही समर्थन करते हैं। अभी तक इसकी गुत्थी नहीं सुलझाई जा सकी।

छन्द

डिंगल भाषा के अपने छन्द हैं। वीर गाथा कालीन चारणों ने दूहा, पावड़ी, तथा कवित्त आदि छन्दों में अपनी रचनायें लिखी हैं। ये छन्द वीर

रस के लिये अत्यन्त सफल सिद्ध हुये हैं। छन्द में प्रवाह है और है अपने ढंग का सौन्दर्य।

रस

यों तो इस काल की रचनाओं में वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है और सम्पूर्ण रचनाओं में इसी की प्रधानता है परन्तु हास्य तथा शान्त रस को छोड़कर लगभग सभी रसों का भी आभास मिल जाता है। युद्ध का सजीव वर्णन करने में ये कवि सिद्ध हस्त ही हैं। वीर रस के आश्रय और आलम्बन के रूप में उन्होंने राजस्थान की वीरांगनाओं को ग्रहण किया है। उनके जौहर के वर्णन में तथा युद्ध स्थल के चित्रण में वीर रस की आवश्यकता थी ही साथ ही साथ अपनी कविताओं में उन्होंने शृङ्गार रस का भी अच्छा वर्णन किया है। शान्ति के समय वीरों के विलास के चित्रण में, संयोग शृंगार का वर्णन तो मिलता ही है कहीं कहीं विप्रलंभ शृंगार के भी दर्शन हो जाते हैं। सेना की अद्भुत वीरता और नायक के रण कौशल के वर्णन में अद्भुत रस दीख पड़ता है। पतियों के कटे मुण्डों और तड़पती हुयी लाशों के ऊपर गिरगिर कर विलाप करती हुयी नारियों के वर्णन में करुण रस फूट पड़ा है। युद्ध के वर्णन में वीभत्स और रौद्र रस का भी आभास मिलता है।

वीर गाथा कालीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ

वीर गाथा कालीन कविताओं की चार प्रमुख प्रवृत्तियां हैं।

(१) आश्रय दाताओं का कीर्ति गान और राष्ट्रीयता का अभाव—चारणों के भोजन-छाजन पालन-पोषण आदि की व्यवस्था राज्य की ओर से होती थी, इसलिए वे आँखें मूँद कर अपने नायकों की वीरता, युद्ध कौशल तथा प्रताप का वर्णन किया करते थे। वास्तव में उन राजाओं की नीति देश के लिए घातक थी, उनके मिथ्याभिमान का पारा सौ डिग्री तक पहुँच गया था, उन्होंने प्रजा पालन के पावन कर्त्तव्य को ताक पर रख दिया था परन्तु उन कवियों के लिये वे आदर्श नृप थे। सच बात तो यह कि चारणों ने अपनी वाणी का उपयोग देश कल्याण के लिए न करके राष्ट्र-विनाश के लिये किया। बेचारे राजे यदि गढ़े में गिर रहे थे, तो कविराजों ने उन्हें खाई में ढकेल दिया। जिसका खाओ उसका गाओ, नीति के पृष्ठ-पोषक वे स्वार्थी कवि

भट्ट अपने पूर्वजों के "कवि मनीषी परिभु: स्वयंभू" वाले आदर्श को पूर्णतः भूल बैठे थे।

(२) कल्पनाओं का प्राचुर्य और ऐतिहासिकता का अभाव—इन कवियों ने कल्पनाओं की खूब उड़ानें भरी हैं। जहाँ पर कवियों का ध्येय केवल चाटुकारिता करना ही होता है वहां पर उन्हें ऐतिहासिक तत्वों की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। वे उसके मूल्य को भी भूल जाते हैं। वे इतिहास को बनाते नहीं उसे बिगाड़ते हैं और यही काम उन भलेमानुषों ने भी किया। राजाओं के द्वारा पुरस्कृत होने के लोभ में वे अपने पूर्ववर्ती कवियों की अच्छी रचनाओं का अंग-भंग करके उन्हें अपने नाम से सुना देते थे। इससे कवि-कर्म तो कलंकित होता ही था, इतिहास के विवरणों का भी लोप हो गया।

(३) युद्धों के सजीव वर्णन—युद्ध कला से भली-भाँति परिचित होने के कारण उन कवियों ने युद्ध का बड़ा सजीव और सुन्दर वर्णन किया है। दोनों ओर की सेनाओं की मुठभेड़ सिरकटों का शस्त्र संचालन, शस्त्रों की झंकार तथा भागते हुये कायरों और बिलखते हुये घायलों के शब्द चित्रों से उनकी रचनायें भरी पड़ी हैं। युद्ध वर्णन का एक उदाहरण लीजिये—

तुम लेहु लेहु मुष जंपि जोध हन्नाह सूर सब पहिरि क्रोध।
पहुँचे सुजाभ तत्ते तुरङ्ग मुअभिरन भूप जुरि जोध अंग॥
कम्माँन बाँन छुइहिं अपार लागत लोह इमिसार-भार।
घमसान घरन सब बीर खेत धन स्रोत बहत अस रक्त रेत॥

सेनाओं और योद्धाओं का यह वर्णन आंखों के आगे चित्र सा खींच देता है।

खुरासान सुलतान खंधार भीरं बलखस्यों बल तेग अचूक तीरं।
मजारी चबी मुष जंबुक्क लारी, हजारी हजारी हुँकैं जोध भारी॥
तिनं पष्षरं पीठा हम जीन सालं फिरंगी कती पास सुकलात नालं।
एरा की अरब्बी पटी तेज ताजी तुरक्की महावानं कम्माँन बाजी॥

युद्ध का इतना सजीव वर्णन हिन्दी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

(४) वीर और शृंगार रसों का सम्मिश्रण—वीर गाथा कालीन अधिकांश कवियों को जब कविता लिखने की सूझती तब तब वे ऐसी रमणी की कल्पना

कर लेते थे जो युद्ध का कारण होती थी। उस रमणी के रूप का वर्णन किया जाता था। वीर लोग उसकी प्राप्ति के लिये अपना रणकौशल दिखाया करते थे। शान्ति काल में वीरों के विलास वर्णन के समय भी शृंगार रस का वर्णन किया जाता था। बेचारे नायकों को कभी कभी वियोग की वेदना भी सहनी पड़ती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि वीर रस के साथ साथ शृङ्गार अपने दोनों संयोग और विप्रयोग रूपों में मिलता है।

वीरता मूलक कविताओं का विकास

वीर गाथा काल समाप्त होते-होते मुसलमानों की जड़ जम गयी। उनकी धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिन्दू आत्म विश्वास खोने लगे। चारणों के वीर गीत लुप्त हो गये और उनके स्थान पर सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के परिवर्तन से उत्पन्न भक्ति की धारायें बहने लगीं। साहित्य का केन्द्र राज दरबारों से खिसक कर जनता के बीच चला आया। भक्ति काल में वीर रस का कोई ग्रन्थ विशेष नहीं लिखा गया। कतिपय भक्त कवियों की रचनाओं में ही हमें विभिन्न स्थलों पर वीर रस के दर्शन होते हैं। सुन्दरदास, और तुलसीदास की कुछ कविताओं में वीरत्व की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुयी है। वीर गाथा काल के वीर गीतों से भक्ति युगीन वीर रस की कवितायें कुछ कुछ बातों में भिन्न हैं। आदि काल के कवियों ने अपने आश्रय दाताओं की युद्ध वीरता का वर्णन अपभ्रंश की द्वित्व वर्ण वाली छप्पय पद्धति पर किया है। इस समय निर्गुणवादी सुन्दरदास ने वीरत्व की भावना को सर्व प्रथम कवित्त में बन्द किया। तुलसीदास के राम में वीरता की सम्पूर्णता सन्निहित है। वे धर्म वीर और दान वीर होने के साथ ही साथ युद्ध वीर और दया वीर भी हैं। उनके सेवक हनुमान भी अलौकिक वीरता सम्पन्न हैं। इसीलिये तुलसी की इन कतिवाओं में भी मानवेतर वीरता दिखलाई पड़ती है। जो कुछ हो, उनकी इस प्रकार की रचनाओं ने हिन्दुओं को बल और साहस प्रदान किया और उनको ऊपर उठाने में बड़ी सहायता पहुँचाई। मुगल साम्राज्य में विलासिता के घुन लग चुके थे और धीरे-धीरे वह पतन के गर्त में भी गिर रहा था। १७ वीं १८ वीं शती में पंजाब में सिक्खों, भरतपुर में जाटों, बुन्देलखण्ड में बुन्देलों, और महाराष्ट्र में मराठों आदि ने औरंगजेब के उत्तराधिकारियों से अपनी राजनैतिक स्वतन्त्रता और अधि-

कारों के लिये युद्ध छेड़ा और उसमें सफल भी हुये। जगह-जगह हिन्दुओं ने अपने शक्तिशाली राज्य कायम कर लिये। मराठों की शक्ति तो ऐसी बढ़ी कि मालूम होने लगा जैसे मुगल बादशाही समाप्त हुई और अब समाप्त हुई। इस काल में कवियों को फिर राजाश्रय मिलने लगा। मुगलों के दास हिन्दू राजाओं के यहाँ शृंगार रस की वर्षा होती थी परन्तु महाराज शिवा जी, छत्र-साल और सूरजमल जाट के दरबारों में उनकी वीरता के गीत गाये जाते थे। उपर्युक्त तीनों वीर हिन्दुओं को मुगलों के अत्याचार से उबारने के लिये कटिबद्ध थे। जनता उन्हें जी जान से प्यार करती थी। जनता की इन भावनाओं को भूषण, लाल और सूदन ने वाणी दी। इन तीनों की कवितायें आज तक इसीलिये जीवित हैं कि उन्हें जनता जनार्दन की स्वीकृति प्राप्त थी। भूषण की अधिकांश कविताओं में भाषा सम्बन्धी भूलें अवश्य पाई जाती हैं परन्तु उनमें अभिव्यक्त वीर रस का पहाड़ी झरना पाठकों के रक्त की गति को तीव्र कर देने की क्षमता रखता है। प्राचीन काल के चारणों ने अपने आश्रय दाताओं की प्रशंसा और उनके सजातीय शत्रु राजाओं की निन्दा की है। तुलसी ने भगवान की वीरता का अलौकिक रूप दिखाया और भूषण, लाल तथा सूदन ने मुसलमानों की निन्दा की तथा हिन्दू वीरों के शौर्य, दान, दया तथा धर्म वीरता की प्रशंसा की है। इस समय तक भी राष्ट्र की व्यापक कल्पना नहीं की जा सकी थी। उपर्युक्त कवियों की कवितायें अपने मूल रूप में उत्तेजक हैं। उन्हें पढ़कर नायक की वीरता का चित्र आँखों के आगे खिंच सा उठता है।

आधुनिक काल में अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से हमने राष्ट्र की व्यापकता का अनुभव किया। अंग्रेजी राज्य में अपनी ही आँखों के आगे जब अपने देश की दुर्दशा दीख पड़ने लगी तब हमारे कवियों को सुधि आने लगी जिन्होंने देश की स्वतन्त्रता के हेतु अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी। धीरे-धीरे उनके मान गौरव को लेकर हिन्दी में वीर रस की छिट फुट रचनायें होने लगीं। इस बीच वैज्ञानिक आविष्कारों की धूम मच गई। हमारा भी देश समाचार पत्रों के माध्यम से विश्व का एक अंग बन गया और देश में राजनैतिक चेतना का विकास होने लगा। कुछ समय के बाद कांग्रेस के नेतृत्व में भारतीय जनता ने अपने अधिकारों के लिये अंग्रेजों के विरुद्ध

युद्ध छेड़ दिया। यह लड़ाई बड़ी विचित्र थी। वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित ब्रिटेन की फौज और पुलिस के विरुद्ध देश प्रेम की मदिरा से मत्त निहत्थों का सत्याग्रह! इस प्रकार की परिस्थितियों में वीर रस की दो प्रकार की रचनायें हुईं। पहले प्रकार की रचनायें प्रबन्ध काव्य की कोटि में आती हैं, दूसरे प्रकार की रचनायें मुक्तकों के अंतर्गत। प्रबन्ध काव्यों में श्याम नारायण पाण्डेय की 'हल्दी घाटी' और 'जौहर' नामक कृतियाँ रखी जा सकती हैं। यह मुक्तकों का युग है इसलिये सर्व श्री माखन लाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, रामधारी सिंह दिनकर, सोहन लाल द्विवेदी ने तथा वियोगी हरि ने उत्कृष्ट वीर गीतों की ही रचना की है। इन वीर गीतों में वीरत्व के भावनाओं की सुन्दर-व्यंजना हुई है जो पूर्ववर्ती रचनाओं को बहुत पीछे छोड़ देती है।

वीर गाथा कालीन सिद्धों और नाथपंथियों की साम्प्रदायिक प्रवृत्तियाँ तथा हिन्दी साहित्य में उनका स्थान

इस समय तक बौद्ध धर्म की बज्रयान शाखा का प्रचार पूर्वी भारतवर्ष में हो गया था। बौद्ध तान्त्रिकों के भ्रष्टाचार की सीमा नहीं थी। वे अपने को सिद्ध कहा करते और बिहार से लेकर आसाम तक फैले हुये थे। उनके चौरासी सिद्ध अपने अलौकिक चमत्कारों के लिये प्रसिद्ध हैं। चमत्कारों से जनता को प्रभावित करके वे 'सिद्ध' अपने मत का प्रचार किया करते थे। वि० सं० ६९० में हमें हिन्दी काव्य भाषा के जिस पुराने रूप का पता चलता है वह सबसे पुराने सिद्ध 'सरह' की रचना के ही आधार पर। प्रसिद्ध विद्वान राहुल जी ने अनेक सिद्धों की रचनायें खोज निकाली हैं। बौद्ध गान और दूहा के नाम से महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने भी उनकी कुछ रचनायें प्रकाशित की हैं। इन ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये योगी संस्कृत में तो लिखते ही थे अपभ्रंश में भी लिखना शुरू कर दिये थे। उनकी रचनाओं में डोमिनी, धोबिन आदि नारियों के अबाध सेवन के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। उन्होंने पंडितों को फटकारा है, और रहस्य वादियों की तरह अपनी वाणियों का सांकेतिक अर्थ भी बताया है। उनके कारण देश में जब भ्रष्टाचार और अनाचार फैलने लगा तब उसकी प्रतिक्रिया हुई। गोरखनाथ ने हठयोग का प्रवर्तन किया। उनके सम्प्रदाय वाले अपने को योगी कहा करते थे। इसे नाथ पंथ भी कहते हैं।

इसी समय सूफियों ने देश में इस्लाम का प्रचार भी शुरू कर दिया था। सूफी गण भी अपने करिश्मों के द्वारा भोली भाली जनता पर रोब जमाने में लगे हुये थे। वे योगियों को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानते थे। जगह-जगह प्रचार करते फिरते थे कि आज अमुक योगी को अमुक पीर ने करामात में हरा दिया। इस नाथ सम्प्रदाय ने समन्वय करने के लिये कुछ सिद्धान्त बनाये जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों के लिये ईश्वर का एक सामान्य रूप रखा गया। मुसलमान मूर्ति पूजा और बहुदेवोपासना से दूर भागते थे, इस सम्प्रदाय में भी ईश्वरोपासना के वाह्य विधानों को व्यर्थ बतलाया गया। सिद्धों ने वेद शास्त्र के अध्ययन को व्यर्थ बता कर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की है। तीर्थाटन को बेकार बताया है। अंतर्मुखी साधना पर जोर दिया है और बताया है कि जगत की उत्पत्ति नाद और विन्दु से होती है। नाथ सम्प्रदाय ने इसे ज्यों का त्यों मान लिया है और इन्हें भी मिलाने की कोशिश की है। उनमें और सिद्धों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ पर हठयोगी वाम मार्गी साधना पर जोर देते हैं, मदिरा पान और नीच स्त्रियों के सहवास सुख को निर्वाण का महासुख मानते हैं, वहाँ पर योगी इसका घोर विरोध करते हैं और अपने को वामाचार से अलग रखते हैं।

शिव-भक्ति की भावना के कारण कहीं-कहीं पर शृंगार मयी वाणी का इनके कुछ ग्रन्थों में समावेश हो गया हो, यह दूसरी बात है।

यद्यपि इन सिद्धों और योगियों का जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों से कोई सम्बन्ध नहीं है और उन्होंने केवल तांत्रिक विधानों तथा योगसाधना पर ही रचनायें की हैं जिनका साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी उनके मतों और विधानों का हमारे साहित्य के इतिहास में बड़ा भारी महत्व है। उनकी रचनाओं में हमें प्राचीन हिन्दी काव्य-भाषा के रूप मिलते हैं। उन्होंने गुजरात, राजपुताना, और व्रज मण्डल से लेकर बिहार तक फैली हुई लिखने पढ़ने की शिष्ट भाषा में भी कवितायें रची हैं।

सिद्धों ने वाह्य पूजा, तीर्थाटन, जाति-पांति के भेद भाव को व्यर्थ बताया है। पण्डितों के वेद-शास्त्रों की उपेक्षा की है; तिरस्कार किया है और स्वयं रहस्यवादी बनकर अटपटी वाणी में पहेलियाँ बुझायी हैं। घट के भीतर चक्र नाड़ियाँ, शून्य देश आदि को मान कर अंतर्मुखी साधना करने पर जोर

दिया है। नाद, विन्दु, सुरति, निरति, आदि शब्दों का प्रयोग करना सिखाया है। उनकी साधना को बहुत अंशों तक नाथ-सम्प्रदाय वालों ने भी माना। उन सिद्धों और योगियों के कारण जिन साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों और संस्कार परम्पराओं का आविर्भाव हुआ उससे बाद के कवि प्रभावित हुये। कबीर की रचनायें उन्हीं लोगों के सिद्धान्तों से प्रभावित दीख पड़ती हैं।

"किसी जाति का साहित्य उसके शताब्दियों के चिंतन का फल होता है। साहित्य पर भिन्न-भिन्न कालों की संस्कृति का प्रभाव अनिवार्य है। इस प्रकार किसी भी जाति के साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसकी संस्कृति के इतिहास का अध्ययन परमावश्यक है।"

—डा० धीरेन्द्र वर्मा

भक्ति-काल

(१३७५–१७००)
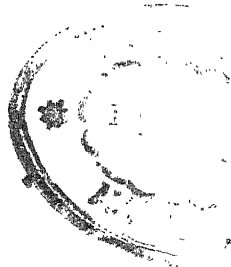
नामकरण

ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेम को भक्ति कहते हैं। शान्डिल्य सूत्रकार ने भ 'सा (भक्ति) परानुरक्तिरीश्वरे" कह कर इसी का समर्थन किया है। मोटे तौर से भक्ति के दो प्रकार होते हैं। निर्गुण और सगुण भक्ति। निर्गुण भगवान के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की भावना को निर्गुण भक्ति कहते हैं और सगुण भगवान के प्रति प्रेम के दृढ़ सम्बन्ध को सगुण भक्ति। इस काल के अधिकांश कवियों ने किसी न किसी भावना से भगवान की भक्ति की है और उनके चरणों में भक्ति के पद चढ़ाये हैं। इसीलिये इस काल को भक्ति काल कहते हैं।

पूर्व-पीठिका

हिन्दू राजे शौर्य-प्रदर्शन का खेल अधिक दिनों तक नहीं खेल सके। उनके पारस्परिक वैमनस्य और लड़ाई झगड़ों के कारण मुसलमानों को उत्तरोत्तर मौका मिलता गया और वे एक के बाद एक सबको पराजित करके सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अधिकार कर बैठे। महाराज हम्मीर की मृत्यु के बाद हिन्दुओं का रहा सहा सहारा भी छिन गया। तैमूरलंग का भयंकर अत्याचार अभी भूला नहीं था कि धर्मोन्मत्त यवनों द्वारा मन्दिरों को धराशायी करने, मूर्तियों को तोड़ने, हिन्दुओं के महापुरुषों का अपमान करने तथा विधर्मियों को बलात् सहधर्मी बनाने का भयानक एवं लोमहर्षक दृश्य पुनः दृष्टिगोचर होने लगा। लोग भयभीत थे और जीवन से निराश हो चुके थे। उनमें न बल था न साहस, न आशा थी न उत्साह। मुसलमानों के विरुद्ध कोई भी मुँह नहीं खोल सकता था। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी।

यह था हिन्दू समाज का वाह्य परिस्थितियों से संघर्ष। अन्तः संघर्ष इससे भी भयानक था। छूआछूत, ऊँच-नीच जाति-पाति का भेद भाव तो था ही परस्पर अविश्वास की आग भी सुलग रही थी। हिन्दू धर्म रसातल की ओर जा रहा था।

धर्म के तीन अंग होते हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। इन तीनों के समन्वय से ही उसमें पूर्णता आ पाती है। ज्ञान के अधिकारी सभी तो होते नहीं, समाज के कुछ अत्यन्त विकसित बुद्धि वाले विशिष्ट विद्वान व्यक्ति ही उसे अपना पाते हैं। साधारण जनता कर्म और भक्ति की ओर झुकती है। ज्ञान के नाम पर उस समय विद्वन्मंडलियों में वेदांत की विशेष चर्चा थी। उपनिषद, गीता और ब्राह्म सूत्रों के भाष्य लिखने की परम्परा पूर्ववत् चल रही थी। दार्शनिक खण्डन-मण्डन के ग्रन्थ भी लिखे जा रहे थे। साधारण जनता अर्थ शून्य विधानों, तीर्थाटनों तथा पर्व स्नानों को ही धर्म का मुख्य अंग मान बैठी थी। उसकी दृष्टि में यही धार्मिक कर्म था। एक ओर देश के पूर्वी भागों में फैले हुये वाम मार्गी सिद्ध, तथा पश्चिम प्रदेशों में रमते हुये कापालिक एवं कन फटे योगी सनातन धर्म की नींव खोदने पर लगे हुये थे, दूसरी ओर सूफी फकीरों का भी प्रचार चल रहा था जो एकेश्वर वाद का पोषक और मूर्ति पूजा का विरोधी है। कापालिकों, कनफटे योगियों तथा सिद्धों के दल में नीच जाति के ही लोग अधिक थे जो जगह-जगह घूम-घूमकर छूआछूत और ऊँच-नीच के भेद भाव की निस्सारिता सिद्ध कर रहे थे। वे विद्वानों की निन्दा कर रहे थे और कह रहे थे कि वेद शास्त्र पढ़ने से क्या होता है, ईश्वर तो घट-घट में विराजमान है। इड़ा, पिंगला नाड़ियों तथा विभिन्न चक्रों को हठ योग से साध कर अन्तर्मुखी साधना करने पर ही ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है। विद्वानों पर इनकी आलोचना का कोई असर नहीं था मगर भोली-भाली जनता इनके चमत्कारों की ओर आकर्षित होकर यंत्र मंत्र और तांत्रिक विधानों की ओर झुकने लगी थी। सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्त मस्तिष्क को चमत्कृत अवश्य कर देते थे लेकिन उनमें मानव हृदय को स्पर्श करने की शक्ति नहीं थी। इसी बीच दक्षिण से भक्ति का एक सरस स्रोत उमड़ पड़ा जिसके अमृत छींटे उत्तर की ओर भी पड़ने लगे। ये छींटे थे रामानुजाचार्य द्वारा शास्त्रप्रतिपादित सगुण भक्ति के। लोगों के

हृदय को थोड़ी सान्त्वना मिली कि कृष्ण भक्ति का रस वर्षण होने लगा वर्षा करने वाले थे स्वामी मध्वाचार्य जी, जिन्होंने गुजरात में द्वैतवादी वैष्ण सम्प्रदाय की स्थापना कर दी थी। थोड़े ही समय में भक्ति के क्षेत्र में बसन्त आगया। जयदेव के कृष्ण-प्रेम की मधुर वंशी ध्वनि शतशत हृदयों से टकरा उठी। मैथिल-कोकिल (विद्यापति) भी उसी स्वर में कूक उठा—

सरस बसंत समय भल पावलि दछिन पवन बहु धीरे
सपनहु रूप बचन इक भाषिय, मुख से दूरि करु चीरे।
तोहर बदन सम चाँद हो अथि नाहिं, कै योजतन बिह केला
कै बेरि काटि वनावल नव कै, तैयो तुलित नहिं मेला॥
लोचन तुअ कमल नहीं मैं सक से जग के नहिं जानै।
से फिरि जाय लुके लन्ह जल भएँ पंक जनिज अपमाने॥

सुनने वालों ने दिल थाम लिया। लोग सगुण भक्ति की ओर झुके लेकिन शंकित मन से। उनके सामने जब मुसलमानों ने मूर्तियां तोड़ी थीं, मन्दिरों की सम्पत्तियां लूटी थीं, तब क्या किया था भगवान ने? नृसिंह का रूप धारण कर भक्त प्रह्लाद को कष्ट देने वाले हिरण्यकश्यप की जिस भगवान ने अँतड़ियां खींच ली थीं वह भगवान उस समय क्या कर रहे थे? मस्तिष्क में अनेक तर्क-वितर्क उठते थे और मन बार-बार चिल्ला उठता, ये पत्थर की मूर्तियां हैं, निष्प्राण, शक्ति हीन। इनके बहकावे में न आना। जनता को सगुण भक्ति पर विश्वास ही नहीं होता था। "धर्म की यह रसात्मक अनुभूति भक्ति जिसका सूत्रपात महाभारत काल में और विस्तृत विवेचन पुराण काल में हो चुका था, इस समय कभी दबती और कभी उभरती हुयी चली आ रही थी।" इस प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति के पारस्परिक असमन्वित होने के कारण धर्म विकलांग हो उठा था।

कुछ समय बाद ईसा की १५ वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में स्वामी रामानन्द हुये, जिन्होंने सगुण भक्ति का पुनः प्रचार किया। उन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया। ~~स्वामी जी को हवा का रुख पहिचानते देर न लगी~~। उन्होंने सभी जातियों के लिये अपने सम्प्रदाय का दरवाजा खोल दिया। नामदेव दर्जी, रैदास चमार, दादू धुनिया, और कबीर जुलाहा जैसे लोग जिन्होंने आगे चलकर समाज

की काया पलट दी, स्वामी जी की ही कृपा से अपने सद्प्रयत्नों में सफल हो सके। दूसरी ओर बल्लभाचार्य ने कृष्णोपासना का महत्व प्रतिपादित कर लोगों को रस मग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक कवियों की परम्परायें चलीं, जिनमें आगे चल कर सूर और तुलसी जैसे महाकवि हुये जिन्होंने अपने अमूल्य काव्य ग्रन्थों का प्रणयन करके हिन्दी साहित्य में अनेक स्वर्ण-पृष्ठ जोड़े। प्राचीन सगुणोपासना का क्षेत्र पुनः तैयार हुआ लेकिन अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में सगुण भक्ति की खेती लहलहा न सकी।

इन्सान तो इन्सान! मुसलमान भी अधिक दिनों तक मार काट पर न टिक सके। अपने राज्य की नींव दृढ़ करने के लिये उन्होंने हिन्दुओं से सम्पर्क बढ़ाने की आवश्कता का अनुभव किया। मार-काट से हाथ जोड़ने वाली हिन्दू जनता यह तो चाहती ही थी। उधर सूफ़ी कवि भी प्रेम की पीर जगा-जगाकर इस्लाम का प्रचार कर रहे थे। बहुत से हिन्दुओं ने धर्म-परिवर्तन भी कर लिया था लेकिन सबके लिये यह काम असम्भव था। अपनी जाति और धर्म के प्रति उनके हृदय में कुछ तो मोह था ही। मुसलमानों की आबादी फैलने लगी थी। हिन्दू जनता मुसलमानों के निकट भी आना चाहती थी लेकिन दोनों के धर्म भिन्न-भिन्न थे, संस्कृतियाँ अलग अलग थीं और दोनों की सभ्यता में आकाश-पाताल का अंतर था। इस समय आवश्यकता थी एक सामान्य भक्ति-मार्ग की जिस पर बिना धर्म-परिवर्तन किये हिन्दू भी चल सकें और मुसलमान भी। यह सम्भव भी था। इसके लिये सिद्धों और नाथ पंथियों ने पहले से ही रास्ता साफ कर दिया था।

बज्रयान में अधिकतर नीच लोग ही थे। नाथ पंथ विद्वानों को आकर्षित नहीं कर पाता था। इस समुदाय के लोग पहले से ही वेदाध्ययन, पूजा और अर्चा की वाह्य विधियों तथा जाति-पाँति के भेद-भाव का विरोध करते आ रहे थे। इनके पंथ में कुछ मुसलमान भी आ गये थे जो बता रहे थे कि हिन्दू-मुसलमान दोनों एक हैं।

नाथ पन्थियों ने सर्वप्रथम एक सामान्य अंतःसाधना का मार्ग निकाला था लेकिन वह हृदय ग्राह्य नहीं था। रागात्मक तत्व से रहित उनकी साधना लोगों की आत्मा को तृप्त न कर सकी। भक्ति की जो लहर दक्षिण से उत्तर

की ओर बह रही थी, उसकी ओर अब हिन्दू तथा मुसलमान दोनों आकर्षित होने लगे थे।

हिन्दी कविता का दरबार-निष्कासन हो ही चुका था। चापलूस चारणों के गीत भी हवा हो चुके थे। हाँ! कभी-कभी राजपूताने की उपत्यकाओं से टकरा कर वीर गीतों की प्रतिध्वनि अवश्य गूँज उठती थी लेकिन कवित्त सुनने की किसे फुर्सत थी? यहाँ तो अपनी-अपनी पड़ी थी। हिन्दी में इस समय कुछ ऐसे कवि हुए जिन्होंने सीकरी से नाता तोड़ कर काव्य की साधना की। वे पूर्ण मानव थे। मानवता उन्हें प्यारी थी। उन्होंने स्वान्तः सुखाय भी लिखा है और लोक हिताय भी। उनके हृदय से फूटे हुये अमृत के सोते जब समय की शिला से टकराये तब 'बहुजन सुखाय बहुजन हिताय' सिद्ध हुये।

जनता की चित्त-वृत्तियों का अनुभव करने वाले भक्त कवियों ने युग की आवश्यकताओं को पहचाना। महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त कवि नामदेव की समझ में सबसे पहिले यह बात आयी और उन्होंने हिन्दुओं तथा मुसलमान दोनों के लिये एक सामान्य भक्ति-मार्ग का आभास दिया। इसके बाद स्वामी रामानन्द के कबीर नामक शिष्य ने नामदेव की निर्गुण भक्ति का अपने ढंग से विकास किया। उन्होंने मुसलमानों के एकेश्वरवाद, वैष्णवों की अहिंसा और उनके प्रपत्तिवाद, सूफियों के प्रेमात्मक रहस्यवाद, नाथ पन्थियों के हठयोग तथा लगभग सभी आचार्यों के महत्वपूर्ण मतों का समन्वय करके निर्गुण उपासना का एक नये रूप में प्रचार किया। हिन्दी साहित्य में कबीर दास को संत मत का प्रवर्तक और निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। विक्रम की १५वीं शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक हमारे देश में सगुण और निर्गुण के नाम से भक्ति की काव्य धारायें समानान्तर रूप में प्रवाहित होती रही हैं।

कबीर और उनका संत मत

कबीर की जीवनी विवाद-ग्रस्त है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में उनका जन्म काल जेष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार विक्रम संवत् १४५६ माना

जाता है। डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार उनकी जन्म तिथि जेष्ठ अमावस्या सं० १४५५ मानी जाती है। मगहर के एक योगी परिवार में उनका जन्म हुआ था। कबीर लड़कपन से ही अत्यन्त भावुक थे। जोगी परिवार में जन्म लेने के कारण साधु सन्तों के सम्पर्क में आने का उन्हें अक्सर मौका मिला करता था। लोई उनकी स्त्री थी और कमाल पुत्र। सिकन्दर लोदी के समय में कपड़ा बुन-बेंच कर, अपनी तथा अपने परिवार की जीविका चलाते थे। हिन्दू धर्म की ओर आकर्षित होकर उन्होंने स्वामी रामानन्द की शिष्यता स्वीकार की लेकिन आगे चलकर उन्होंने अपना एक स्वतंत्र सम्प्रदाय चलाया जिसे संत मत या कबीर पन्थ कहते हैं।

कबीर सर्वप्रथम एक सुधारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने अपने को कभी कवि घोषित नहीं किया। अपने मत का प्रचार करने के लिये ही वे कवितायें लिखा करते थे। अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर उनके सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ और वे शीघ्र ही देश के एक बड़े महात्मा मान लिये गये। सं० १५७५ में उनकी मृत्यु मगहर में हो गयी। इस समय उनके मृत्यु-स्थान पर एक समाधि और एक मकबरा बना हुआ है। उनकी मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने उनकी रचनाओं का संकलन किया। ग्रन्थ का नाम बीजक है। बीजक के तीन भाग हैं। साखी, सबद और रमैनी। इसमें संकलित सभी कवितायें कबीर-कृत नहीं हैं। मालूम होता है उनकी मृत्यु के बाद उनके कुछ शिष्यों ने कबीर के नाम से जिन पदों की रचना की थी वे भी मूल पदों के साथ संकलित कर दिये गये हैं।

कबीर का जीवन दर्शन

आत्मा परमात्मा का अंश है। वह उससे बिछुड़ गयी है, उसी तरह जैसे कोई पत्नी अपने जीवन सहचर से बिछुड़ जाती है। वह उससे मिलने के लिये आकुल है प्रयत्नशील है, लेकिन माया उसे पथ-भ्रष्ट करती है और मिलने से रोकती है। यह परमात्मा कबीर का ईश्वर है। जिसका न रूप है न आकार। निर्गुण और सगुण से परे ईश्वर की प्राप्ति के लिये उन्होंने भक्ति को स्थान दिया है। निराकार ईश्वर की उपासना तो की जा सकती है परन्तु उससे प्रेम पूर्वक भक्ति नहीं की जा सकती। इसीलिये कबीर द्वारा प्रतिपादित भक्ति का ठीक-ठीक रूप हमारी समझ में नहीं आता।

उनका ईश्वर घट-घट व्यापी, अलख निरंजन और ज्योति स्वरूप है। वह हिन्दुओं का भी है और मुसलमानों का भी। ब्राह्मणों का भी और चमारों का भी। ऐसे ईश्वर की भक्ति बिना गुरू की कृपा के सम्भव नहीं है। गुरू ईश्वर के बराबर ही नहीं उससे बढ़कर भी है*। ईश्वर से माया की सृष्टि होती है और माया से सृष्टि की। माया भी दो तरह की होती है। एक तो सत्य माया है दूसरी मिथ्या[२]। इसी मिथ्या माया से लोग भ्रमित होते हैं। मिथ्या माया ही ईश्वर से नहीं मिलने देती। वह ठगिनी है, नैना भटकाती है। पथ-भ्रष्ट करती है। उसको जीतने का केवल एक साधन है। वह है हठयोग। हठयोग की साधना करने के लिये शरीर के अंगों तथा श्वास पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित संचालन करते हुये चित्त को एकाग्र करके आत्मा को समाधिस्थ करना पड़ता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं मत्सर का त्याग कर पूर्ण आत्म संयमी बन जाय। ये वासनायें जल्दी साथ छोड़ने वाली नहीं होतीं। इन पर विजय प्राप्त करने के लिये अपरिग्रह करना अर्थात कंचनादि को त्यागना पड़ता है। आशा, तृष्णा, निन्दा, स्तुति, लोभ इत्यादि विकारों को जीतने के लिये मन को वश में करना पड़ता है। मन की चंचलता दूर करने के लिये निद्रा, स्वादिष्ट भोजन, मांसाहार, मादक वस्तु सेवन तथा कामिनी संसर्ग को भी त्याग देने की अपेक्षा होती है। इस प्रकार कुसंग त्याग कर तीर्थ व्रत की आस्था को पांव तले कुचलकर और देव देवियों की पूजा-पाठ से नाता तोड़कर, आडम्बर रहित होकर साधना करते रहने पर एक ऐसी अवस्था आती है जब साधक को लाल की लाली दिखलाई पड़ने लगती है और उस लाली में वह भी लाल हो जाता है[३]। साधक द्वारा लाल की ललाई तक पहुँचने के प्रयत्न से ही कबीर का रहस्यवाद शुरू हो जाता है।

---

*गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागू पांय।
बलिहारी वा गुरू की जिन गोविन्द दिया मिलाय॥

२ माया के दो रूप हैं सत्य मिथ्या संसार।

३ लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं चली मैं भी हो गयी लाल॥

कबीर की कविता

कबीर का काव्य उनकी अनुभूतियों, धार्मिक चिन्तन तथा उनके दृढ़ आत्म विश्वास का प्रतिबिम्ब है। शास्त्र का ज्ञान तो उन्हें नहीं था किन्तु सत्संग और पर्यटनों के कारण उनका अनुभव क्षेत्र यथेष्ट विस्तृत हो चुका था। उन्हें वेद के ज्ञाता न होने की चिन्ता भी नहीं थी। वे तो डंके की चोट पर कहा करते थे।

"मैं कहता हूँ आखिन देखी, तू कागज की लेखी"

अब इसके आगे क्या जवाब हो सकता है? उनकी वाणी में, उनके तर्कों में, उनके कथन में स्पष्टता है। समाज में फैले हुये अत्याचार और पापाचार के वे दुश्मन थे। उन्होंने धर्म की आड़ में शिकार खेलने वाले पाखंडियों की अपनी कविताओं के द्वारा खूब भर्त्सना की है। उनके साहस पर आश्चर्य होता है। उन्हीं जैसा व्यक्ति था जो ब्राह्मणों के क्षेत्र काशी में चिल्ला चिल्ला कर पूछता था—

'जो तुम ब्राह्मण बहननि आये और राह तुम काहे न आये'

कबीर के पहले हिन्दी में कविता की कोई निश्चित भाषा शैली नहीं थी। उन्होंने धर्म जैसे गम्भीर विषय को पहली बार कविता का विषय बनाया था। इस क्षेत्र में वे भविष्य के स्रष्टा थे।

वर्ण्य विषय

उनकी कविता में तीन विषय हैं। प्रताड़न, उपदेश और स्वानुभूति। समाज में फैले हुये भ्रष्टाचार, और अधार्मिकता को दूर करने के लिये उन्होंने प्रताड़ना की है। हिन्दुओं तथा मुसलमानों के दैनिक धार्मिक-जीवन में पाखन्ड की धज्जियां उड़ायीं है। परमात्मा की भक्ति में ऊँच-नीच, छुआ-छूत का भेद-भाव, रूढ़िगत परम्पराओं का अंधानुकरण, मूर्ति पूजन, तिलक छाप, रोजा नमाज, योग क्रियायें सबके लिए बस फटकार।

अरे इन दोनों राह न पाई।
हिन्दू अपनी करे बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेश्या के पायन तर सौवें यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर औलिया मुरगी मुरगा खाई।
खाला के री बेटी ब्याहैं, घरहि में करैं सगाई।

और राह भी कैसे मिले जब धर्म का सार न हिन्दुओं को मालूम है न मुसलमानों को--*कह हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरुक कहैं रहमाना।*

आपस में दोउ लरि लरि मूये मर्म न काहू जाना॥

उन्होंने--सिद्ध और योगियों की भी अच्छी खबर ली है। उनके आडम्बरों के प्रति कबीर दादा की मीठी चुटकियों की एक बानगी लीजिये--

कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौलैं
दाढी बढ़ाय जोगी होय गैलें बकरा
जंगल जाय जाय जोगी धुनिया रमौलैं
काम जराय जोगी बन गैलैं हिजरा

यह सब आडम्बर व्यर्थ है। सफेद और काली गाय के दूध में तो कोई अन्तर नहीं होता फिर परमात्मा की सृष्टि के जीवों में कैसा अन्तर!

"एक ही रक्त से सभी बने हैं को ब्राह्मण को सूद्रा"

अथवा

"कोई हिन्दू कोई तुरुक कहावै, एक जमीं पर रहिये" आदि

यह सब होते हुये भी उनकी भर्त्सना में न चिढ़ है न खींझ। परोक्ष रूप से उपदेश का ही भाव झलकता है देखिये न--

दुनिया कैसी बावरी पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजे जेहि कर पीसा खाय॥

उनके उपदेशों में जग कल्याण की दृष्टि से अनुभूत उनका जीवन-दर्शन भरा पड़ा है। गुरु महिमा, प्रेम महिमा, सत्संग महिमा, माया के फेर आदि का उन्होंने सजीव वर्णन किया है। उनके उपदेशों में कल्याण मार्ग की ओर संकेत है, चरित्र निर्माण की शिक्षा है और जीवन की कमजोरियों के गड्ढों में गिरने वालों के लिये कड़ी चेतावनी। महादेव और मुहम्मद में कोई अन्तर नहीं। राम और रहीम एक ही हैं। हिन्दू और मुसलमान सब उस परम पिता परमेश्वर की संतान हैं--

हिन्दू तुरक की एक राह है, सत गुरु यहै बताई।
कहत कबीर सुनो हो सन्तो, राम न कहेउ खोदाई॥

इस प्रकार कबीर ने अपने समय की धार्मिक कुरीतियों को दूर करके पारस्परिक विरोध को मिटाने और जीवन में सरलता, सत्य एवं स्पष्ट व्यवहार

आदि गुणों को अपनाने का उपदेश किया। अपने उपदेशों के द्वारा उन्होंने ही सर्व प्रथम हिन्दू मुसलमानों में भ्रातृ भाव के बीज वपन करने का प्रयास किया। इसमें उन्हें काफी सहायता भी मिली।

उनका सर्व प्रिय विषय है स्वानुभूति वर्णन। इसमें उस मनीषी की सभी धार्मिक साधनाओं और आध्यात्मचिंतन के दर्शन होते हैं। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को बताने के लिए वह परमात्मा को बना देते हैं राम और स्वयं बन जाते हैं उनकी बहुरिया। कभी वह बहुरिया बालम को रिझाने के लिए शृंगार करती है और कभी गवने जाने की तैयारी। इतना ही नहीं कहीं उन्होंने ब्रह्म को खसम मान कर अन्योक्तियां बांधी हैं उदाहरण लीजिये-

साईं के संग सासुर आई, संग न सूती, स्वाद न जानी
गा जीवन सपने की नाईं।
जना चार मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माड़ो छायो
भयो विवाह चली बिनु दूलह, बाट जात समझी समुझाई
गा जीवन सपने की नाईं।

और कहीं स्वयं मालिक बन बैठे हैं—

"मुझको क्या तू ढूढ़ै बन्दे मैं तो तेरे पास में।"

गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति जब सरलता से नहीं होती तब पग पग पर रूपकों का सहारा लेना पड़ता है। उससे भी जब कार्य सिद्धि नहीं दीख पड़ती तब वह उलट वाँसियों पर उतर आते हैं—

"बरसै कम्बल भींगै पानी, ओरिया कै पनिया बड़ेरिये जाय।"

उनकी कविताओं में यह विरोधाभास देख कर लोग चमत्कृत हो जाते हैं—

है कोई गुरु ज्ञानी जगत महँ उलटि वेद बूझै
पानी मँह पावक बरै, अंधहिं आंखिन्ह सूझै
गाय तो नाहर धरि खायो, हरिना खायो चीता

अथवा

नैया बिच नदिया डूबति जाय।

इस प्रकार अनेक तरह के रूपकों, अन्योक्तियों तथा उलट वाँसियों के द्वारा उन्होंने स्वानुभूत बातें बताई हैं। उनकी रचनाओं को पढ़ने से जितनी तृप्ति महामहोपाध्यायों को होती है, उससे कम निरक्षर-भट्टाचार्यों को नहीं।

भाषा और शैली

कबीर की भाषा का नाम है सधुक्कड़ी। वह जगह जगह घूम घूमकर अपने मत का प्रचार किया करते थे। उनकी मंडली में अन्तर्प्रान्तीय साधुओं की भीड़ लगी रहती थी। सभी उनसे सत्संग करने को इच्छुक थे। उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जिसको आम जनता समझती थी। उन्होंने भाषा को साहित्यिक बनाने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया। कविता तो उनके मत-प्रचार का एक साधन है। इन सब कारणों से न तो उनकी भाषा संयत ही है और न व्याकरण सम्मत ही। अनेक स्थलों पर व्याकरण की अशुद्धियाँ मिलती हैं। अपने भावों के अनुसार उन्होंने भाषा भी गढ़ ली है। जिसमें अवधी, ब्रज भाषा, खड़ी बोली, संस्कृत, फारसी, अरबी, राजस्थानी, पंजाबी और पूर्वी हिन्दी के शब्दों की भरमार है। पूर्वी हिन्दी का प्रयोग अधिक हुआ है। कबीर भाषा का प्रयोग लय और छन्दों के अनुसार ही करते हैं। सबद और साखी की भाषा तो सधुक्कड़ी है ही परन्तु रमैनी के पदों की भाषा में काव्य की ब्रज भाषा और कहीं कहीं पूर्वी बोली के रूप देखने को मिलते हैं। भावोन्माद में लिखी गयी कविताओं में शब्दों के टूटे-फूटे रूप मिलते हैं जिसके कारण भाषा के वास्तविक रूप का पता नहीं चलता। उनकी भाषा ने हिन्दी के भावी कवियों का पथ प्रशस्त किया, इसमें कोई शक नहीं।

अपनी सरल सुबोध और स्पष्ट शैली के कारण कबीर हजारों के बीच में आसानी से पहचाने जा सकते हैं। उनकी शैली व्यक्तित्व प्रधान है, विषय वर्णन का अपना ढंग है। उन्हें न तो अलंकार शास्त्र का ज्ञान था और न पिंगल का, विषय के अनुसार जिन छन्दों का चुनाव किया है वे भी अशुद्ध हैं। खण्डन मण्डन में दोहों का प्रयोग किया गया है। उसमें भी कहीं-कहीं मात्राओं की अशुद्धियां मिलती हैं। स्वानुभूतियों के वर्णन में गीतों का प्रयोग है। जिसमें शास्त्रीय नियम लागू ही नहीं होते। उन्होंने कुछ अतुकान्त छन्द भी लिखे हैं और कुछ लोक गीतों की तरह। अधिकांश पदों में शिथिलता मिलती है। मात्रा की न्यूनता और पुनरुक्ति आदि दोषों से उनकी रचना खाली नहीं है। उनकी शैली में अन्योक्तियों और उलट बाँसियों का महत्वपूर्ण स्थान है। उलट बाँसियों का अर्थ समझने के लिए माथा पच्ची करनी

पड़ती है। लोग अपने ढंग से उनकी व्याख्या भी करते हैं। अन्योक्तियां सरल और भाव पूर्ण हैं। उनको समझने के लिए दिमागी कसरत नहीं करनी पड़ती। उनकी तर्क शैली भी अपनी है। शास्त्र से उसका सम्बन्ध नहीं। उन्होंने अपनी इसी शैली से ऊँच-नीच पढ़-अपढ़, सभी लोगों का संस्कार किया था। उनकी यह ग्रामीण तर्क शैली 'नाविक के तीर' से कम चुटीली नहीं है। वह यथेष्ट प्रभाव शालिनी भी है। अपने ब्रह्म साक्षात्कार प्रदर्शन तथा श्रोताओं पर प्रभाव डालने के हेतु उन्होंने गर्वोक्तियां भी कही हैं—

एहि चादर को नर मुनि ओढ़े, ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़े, ज्यों की त्यों रख दीन्हीं चदरिया॥

उनकी सीधी सादी शैली से संत मत के प्रचार में काफी सहायता मिली यह निर्विवाद सत्य है। कबीर के बाद उनकी परम्परा के अनेक संतों ने दोहों और पदों का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया। उलट बासियां लिखने की शैली, लगभग बंद सी हो गयी है। उनके पद गेय हैं और आज भी लोग उसे शास्त्रीय ढंग से गाते हैं।

कबीर की परम्परा के अन्य संत कवि

कबीर के बाद निर्गुण कहने वाले संतों में रैदास का नाम लिया जाता है। रैदास रामानन्द जी के चमार शिष्य थे। उनके थोड़े से पद ग्रन्थ साहब में मिलते हैं। इधर प्रचलित पुस्तकों में रविदास की वाणी और रविदास के पद प्रसिद्ध हैं। कविता साधारण और सरल है।

कुछ गीत बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। "प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी" वाला प्रसिद्ध भजन उन्हीं का है। अपने समय की प्रचलित भाषा में उन्होंने कवितायें लिखी हैं जिनमें फारसी और अरबी के शब्द भी खूब मिलते हैं जो स्वाभाविक था। कबीर के बाद संत मत की परम्परा को आगे बढ़ाया धर्म दास ने। उनकी रचनाओं का महत्व साहित्यिक नहीं ऐतिहासिक है। विषय वही है। इनकी भाषा कबीर की भाषा की तरह विचित्र तो नहीं है परन्तु उसमें पूर्वी हिन्दी के शब्दों की भरमार है। धर्मदास के बाद सिक्खों के गुरु नानक ने निर्गुण संत मत को विकसित किया। रचनाओं में हिन्दू मुसलिम भिन्नता, मूर्ति पूजा का विरोध, मिलता है। नानक ने एकेश्वरवाद पर बड़ा जोर दिया परन्तु कबीर जैसी

कट्टरता उनमें नहीं है। शेख़र इब्राहीम के भी थोड़े से निर्गुण पद 'फरीद सानी' के नाम से ग्रन्थ साहब में संग्रहीत हैं।

कुछ समय के बाद संत मत पर सगुण धारा का प्रभाव पड़ने लगा। कबीर की उच्च भाव भूमि तक पहुँचना सबके बस की बात नहीं थी। निर्गुण राम का रूप अब धीरे-धीरे सगुण होने लगा था। इसी समय मलूकदास जी का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने लिखा है—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम॥

मलूकदास जी ने भी रामावतार लीला (रामायण) का प्रणयन किया है। इनके बाद दादू दयाल ने संत साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। विद्वानों के अनुसार संत काव्य धारा में कबीर के बाद दूसरे महान कवि ये ही हैं। इनके काव्य का विषय भी वही है। कबीर की पूरी छाप इनकी रचनाओं पर पड़ी है। सूफी मत से भी प्रभावित दीख पड़ते हैं। काव्य की दृष्टि से भी संत मत के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। भगवान के प्रति व्यक्तिगत भक्ति, प्रेम, मिलन और विरह की भावनाओं की बड़ी मार्मिक व्यंजना इनकी कविताओं में मिलती है। इनकी रचनाओं में सगुण भक्त कवियों की उसी तन्मयता, उसी सरलता और उसी तीव्रासक्ति की बाँकी झाँकी मिलती है। मारवाड़ी और गुजराती मिश्रित पच्छिमी हिन्दी में लिखे गये इनके अधिकांश भजन ही मिलते हैं।

यद्यपि आज संत मत का वह जोर नहीं रहा किन्तु आज से लगभग साढ़े पाँच सौ वर्ष पूर्व, कबीर के हृदय से जिन प्रवृत्तियों की काव्य धारा फूट पड़ी थी वह आज तक किसी न किसी रूप में प्रवाहित है। दादू के अतिरिक्त संत कवियों में बीरभानु, लालदास, हरिदास, शिवरानी, हरिराय पुरी, जदू, प्रतापमल, आजाद तथा मिहिरचक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

संत मत पर विभिन्न मतों का प्रभाव

संत मत का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब देश को समन्वय की महती आवश्यकता थी। कबीर ने अपने समय के लगभग सभी प्रतिष्ठित आचार्यों के सिद्धान्तों तथा प्रचलित सम्प्रदायों के मतवादों का सुन्दर तथा

सफल समन्वय किया। और इस प्रकार संत मत की नींव पड़ी। संत मत पर निम्नांकित मतों का प्रभाव स्पष्ट है।

१—सिद्ध तथा नाथ पंथ का प्रभाव—देश में रमते हुये सिद्ध और योगी, जाति-पाति के भेद-भाव, पूजा-पाठ की वाह्य विधियों, तीर्थाटन तथा पर्व स्थान की प्रचलित रीतियों की निस्सारिता प्रमाणित कर रहे थे। वे वेद पाठियों तथा शास्त्रज्ञों की निन्दा किया करते थे और कहते थे कि घट घट व्यापी ईश्वर से मिलने के लिये अन्तः साधना की आवश्यकता होती है। मानव शरीर में इड़ा पिंगला नाड़ियों, विभिन्न चक्रों, तथा शून्य देश की स्थिति है जिनको योग से सिद्ध करने के पश्चात् ही अन्तः साधना की जा सकती है। अपनी साधना में वे लोग सुरति, निरति, नाद, विन्दु आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते थे और रहस्यवादी बनकर मनमाने रूपकों तथा अटपटी वाणी में पहेलियाँ बुझाया करते थे। संत मत भी वेदाध्ययन, मूर्ति पूजा, तथा वाह्याडम्बर का विरोध करता है। उसके कवियों ने भी इड़ा पिंगला, नाद न्दिु, सुरति निरति शून्य देश, सहस्त्र दल कमल आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। यहाँ भी रहस्यवादी बनकर पहेलियाँ बुझायी गयी हैं और अपनी रचनाओं में मनमाने रूपकों का प्रयोग किया गया है। संत मत पर सिद्धों का प्रभाव कम है, हठयोगियों का अधिक।

२—इस्लाम का प्रभाव—उस समय इस्लाम के बन्दों के हाथ में भारत के शासन की बागडोर थी। इस्लाम का प्रचार भी खूब हो रहा था। मुसलमान एकेश्वरवाद के पृष्ठ पोषक होते हैं अतः मन्दिरों की मूर्तियों पर प्रहार करने में उन्हें जरा भी हिचक नहीं होती थी। हिन्दुओं को इससे कष्ट होता था। संत मत के जनक कबीर इसे निरी भावुकता समझते थे। उन्होंने एकेश्वरवाद को अपनाया और मूर्ति पूजा का विरोध किया।

३—शंकर अद्वैतवाद का प्रभाव—ईशा की ८वीं शताब्दी में शंकराचार्य ने बताया कि आत्मा और परमात्मा की एक ही सत्ता है। माया के कारण परमात्मा में नाम और रूप का अस्तित्व है। ज्ञान हो जाने पर माया का परदा फट जाता है और दोनों सत्तायें एक में मिल जाती हैं। शंकराचार्य के इस मत वाद को अद्वैतवाद कहते हैं। संत मत शंकर अद्वैतवाद से भी प्रभावित है। उदाहरण स्वरूप कबीर का यह पद ले लीजिये—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यहु तत कथौंगियानी ॥

४—स्वामी रामानन्द का प्रभाव—स्वामी जी ने राम सीता की सगुण भक्ति का प्रचार किया था। उनके सम्प्रदाय में वैष्णवी दया आदि सदाचारों पर जोर दिया जाता था और मांस भक्षण का निषेध किया जाता था। कबीर ने राम को तो ग्रहण किया लेकिन निर्गुण रूप में। मांस खाने वालों को कबीर भी फटकारते हैं और दया, सहानुभूति आदि सदाचारों पर जोर देते हैं।

५—सूफियों का प्रभाव—कबीर के समय में सूफियों का भी प्रचार कार्य हो रहा था। जनता उनके प्रेमात्मक रहस्यवाद की ओर झुक रही थी। कबीर ने भी प्रेमवाद का समावेश कर लिया जिससे संत मत में कुछ रमणीयता आ गई। यदि वह ऐसा न करते तो उनका मत भी नाथ पंथ की तरह शुष्क होकर काल के गाल में चला जाता। इसी तत्व के कारण उनके मत का इतनी जल्दी प्रचार हो गया।

६—वैष्णव मत का प्रभाव—संत मत पर वैष्णव मत का प्रभाव सबसे अधिक है। वैष्णव भावना की विशेषता है व्यक्तिगत ईश्वर की कल्पना और उसके प्रति प्रगाढ़ भक्ति। निर्गुणोपासक होते हुये भी संत कवियों ने उस सत्ता से व्यक्तिगत सम्बन्ध जोड़ा है और उसके प्रति भक्ति की आकुलता उनकी वाणी में फूट पड़ी है। कबीर के ही शब्दों में "जरि जाव ऐसा जीवना राम सूँ प्रीति न होई।" कबीर कभी राम की बहुरिया बनते हैं और कभी हरि को जननी कहते हैं। यह वैष्णव मत का प्रभाव नहीं तो और क्या है?

वैष्णव लोग दो तरह की माया मानते हैं, कबीर इसका समर्थन करते हैं—

माया है दुई भाँति की, देखी ठोक बजाय।
एक मिलावै राम सों, एक नरक ले जाय ॥

वैष्णवों के अनुसार भगवान की भक्ति करने के लिये गुरु की भी भक्ति करनी पड़ती है और उनकी कृपा का सहारा लेकर नाम कीर्तन किया जाता है। संत मत में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान है और यहां भी किसी न किसी रूप में नाम कीर्तन की महत्ता प्रतिपादित की जाती है।

इष्ट देव के प्रति वैष्णवों की रति भावना संतों के रहस्यवाद में दिखलाई पड़ती है। वैष्णवों के लोकवाद का विकास संतों की परोपकारी प्रवृत्तियों

विस्तृत व्यंजना नहीं है जो जनसाधारण को अपनी ओर आकर्षित कर ले। आज भी कबीर का सम्प्रदाय जीवित है परन्तु उन अज्ञात संतों की रचनायें अपने सम्प्रदाय की चहारदीवारियों में ही बँध कर रह जाती हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य पर उनका कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता।

सगुण मत; उद्भव और विकास

ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व सनातन धर्म को सुधारने की भावना के साथ ही साथ वैष्णव धर्म का आविर्भाव हुआ। इसी के परिवर्द्धित रूप का नाम भागवत धर्म है। नारायण की भावना के मिश्रण के साथ इसका विस्तार हुआ। आठवीं शताब्दी में इस पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रभाव पड़ा। उसके बाद रामानुजाचार्य ने उसमें कुछ सुधार किये। रामानुजाचार्य ने कहा कि चिद्चिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंश संसार के सारे प्राणी हैं जो उसी से उत्पन्न होते हैं, और उसी में लीन हो जाते हैं। स्वामी जी के इस मत-वाद-का नाम विशिष्टाद्वैतवाद है। उन्होंने श्री सम्प्रदाय की स्थापना की और विष्णु-लक्ष्मी की सगुणोपासना का प्रचार किया। इसके बाद निम्बार्क ने विष्णु रूप के स्थान पर कृष्ण रूप की भावना का प्रतिष्ठापन किया और साथ ही साथ राधा की उपासना पर भी जोर दिया। १३वीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने इसे और भी विस्तृत किया। उन्होंने द्वैतवाद की स्थापना करते हुये कहा कि ब्रह्म से ही जीव की स्थिति है परन्तु ब्रह्म स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र। इसलिये दोनों की अलग-अलग सत्तायें हो जाती हैं।

राम-काव्य

रामानुजाचाय की शिष्य परम्परा में जब रामानन्द जी आये तब उन्होंने विष्णु के रामावतार की भक्ति की महत्ता बतलाई और वह उसके प्रचार कार्य में जुट गये।

सोलहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य ने कृष्ण और राधा की भक्ति पर जोर देकर उनके सौन्दर्य की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। एक ओर बंगाल के चैतन्य महाप्रभु ने बालकृष्ण की उपासना करने को कहा और दूसरी ओर नामदेव तथा तुकाराम जैसे सन्तों ने निम्बार्क के कृष्ण को न मानकर विष्णु के विठ्ठल या विठोबा की भक्ति का शास्त्रीय निरूपण किया। विठोबा जी की उपासना का प्रचार भी किया जाने लगा।

दक्षिण की ओर से उठी हुयी वैष्णवता की यह लहर धीरे-धीरे उत्तर की ओर भी बहने लगी। आचार्य गण अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिये दिन-रात एक करने लगे। जगह-जगह भागवत की कथायें होने लगीं और अपने-अपने मतों की पुष्टि के लिये उक्त महापुराण के वचन उद्धृत किये जाने लगे। ये आचार्य बतलाते थे कि जीवन का अंतिम लक्ष्य है मुक्ति की प्राप्ति जो भगवत्-भक्ति से ही सम्भव है। भक्ति एक साधना है। जब यह साधना पूरी हो जाती है तब भक्त को भगवान के दर्शन होते हैं। दयालु भगवान अपने प्रिय भक्तों के सारे अपराधों को क्षमा करके उसे बैकुण्ठ धाम देते हैं। भगवान भी बैकुण्ठादि धामों में, स्वयं, तदेकात्म तथा आवेश रूपों में निवास करते हैं। कृष्ण और राम स्वयं रूप हैं, मत्स्य और वाराह तदेकात्म रूप हैं, तथा नारद, शेष और सनकादिक आवेश रूप।

उपर्युक्त मतों के प्रचारकों में रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क, विष्णु स्वामी, रामानन्द, चैतन्य, तथा वल्लभाचार्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ईश्वर के अवतार की एक कल्पना पर इन आचार्यों में मतैक्य नहीं है। गुरु को सभी ब्रह्म का प्रतिनिधि रूप मानते हैं। गुरु ही सच्चा मार्ग-प्रदर्शक है। वह अज्ञान को दूर करता है। ज्ञान की ज्योति जगाता है। उसका महत्व संसार की सभी वस्तुओं से बढ़कर है। इन्हीं लोगों की परम्परा में होने के कारण सूर और तुलसी ने भी अपनी कविताओं में अपने गुरुओं को श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।

रामानुजाचार्य ने विष्णु या नारायण की उपासना का प्रचार किया था, किन्तु उन्हीं की परम्परा के रामानन्द जी ने विष्णु के रामावतार की भक्ति पर जोर दिया। निम्बार्क, मध्वाचार्य और विष्णु ने कृष्ण-भक्ति की प्रतिष्ठा की थी। बाद को उसका विस्तृत प्रचार किया था चैतन्य महाप्रभु और बल्लभाचार्य ने। रामानुजाचार्य की भक्ति में ज्ञान और चिन्तन का विशेष स्थान है। रामानन्द जी के मन में रागात्मक वृत्ति कुछ अधिक है। मध्वाचार्य, निम्बार्क तथा विष्णु ने ज्ञान के स्थान पर प्रेमतत्व की महत्ता प्रतिपादित की है। रामानुज की भक्ति ज्ञान समन्वित है। अन्य आचार्यों की भक्ति में आत्म-समर्पण की भावना अधिक है।

सगुण मत के सिद्धान्त

आवागमन के बन्धन से मुक्त होने के लिये ही भगवान की उपासना विभिन्न प्रकारों से की जाती है। ईश्वर में नाम और गुण को आरोपित करके भक्ति करने वालों का विश्वास है कि भगवान अपने क्षमावान रूप, शरणागत भक्त-वत्सल रूप, एवं करुणायतन स्वरूपों के द्वारा भक्त के करोड़ों पातकों को क्षमा करके उसे गोलोकवास या बैकुण्ठ प्रदान कर देता है। ईश्वर समय-समय पर मनुष्य रूप में पृथ्वी पर अवतरित होता रहता है। श्रीकृष्ण अर्जुन से गीता में कहते हैं—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनाम विनाशाय च दुष्कृताम,
धर्म-संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

अवतार लेने का एक प्रयोजन और है, और वह है लीला विस्तार का। भगवान भक्तों के लिये लीलायें भी करता है। इस लीला के दो प्रकार होते हैं। प्रकट और अप्रकट। सगुणोपासक भक्त इसी प्रकट लीला का ही मान करता है। भगवान की माधुरियों के ही द्वारा भक्त उनकी ओर आकर्षित होता है। ये माधुरियाँ चार प्रकार की हैं। ऐश्वर्य माधुरी, क्रीड़ा माधुरी, वेणु माधुरी, विग्रह या रूप माधुरी। वेणु माधुरी का वर्णन भागवत पुराण में सविस्तार हुआ है। उनकी वेणु लीला अचिन्त्य है। कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने भी कृष्ण के वंशी-वादन का बड़ा मनोहारी वर्णन किया है। क्रीड़ा माधुरी में गोपी लीला सर्वश्रेष्ठ है। भगवान की रूप माधुरी पर तो सभी मुग्ध हैं इसका वर्णन भी प्रचुर मात्रा में हुआ है। ऐश्वर्य माधुरी में ईश्वर का ईश्वरत्व उभार पर रहता है। सगुण भगवान की इस महिमा का भागवत पुराण ने बड़ा मार्मिक वर्णन किया है "हे विभो, यद्यपि निर्गुण और सगुण दोनों ही तुम्हीं हो, तो भी विशुद्ध चित्त द्वारा तुम्हारे निर्विकार, रूपहीन विज्ञान वस्तु के रूप में अगुण ब्रह्म की महिमा कदाचित् समझ में आ भी जाय तो भी इस विश्व के लिये अवतीर्ण तुम्हारे इस सगुण रूप की गुणावली गिनने में कौन समर्थ होगा? जो अति निपुण हैं वे भी यदि दीर्घकाल तक गिनें तो पृथ्वी के परमाणु, आकाश के हिमकण, और सूर्यादि की किरणें गिन

सकते हैं, पर वे भी तुम्हारे सगुण रूप के गुणों की गणना नहीं कर सकते।"

परम पिता के इसी अगम चरित्र को सुन-सुनकर लोग उनमें अनुरक्त होते हैं और भक्ति की ओर प्रेरित होते हैं। ईश्वरोन्मुख प्रेम की रसात्मक अनुभूति को ही भक्ति कहते हैं। यों तो नारद ने अपने भक्ति सूत्र में, ॐ महात्मासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, और परम-विरहासक्ति नामक ग्यारह प्रकार की भक्तियों के नाम गिनाये हैं परन्तु सगुणोपासक भक्त भक्ति के दो ही मुख्य रूप मानते हैं। वे हैं रागानुगा और वैधी।

भगवान अखण्ड ज्ञान स्वरूप है और जीव माया वश अज्ञान। भगवान स्ववश है और जीव माया वश। भगवान के प्रति रागात्मक भक्ति को ही रागानुगा भक्ति कहते हैं। यह भक्ति इष्टदेव के सिवा अन्य किसी कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य की ओर नहीं देखती। यह एकान्तिक भक्ति है और तन्मयता इसकी आत्मा है। तन्मयता तक पहुँचने के लिये हरि विमुखों का संग तजना पड़ता है। इसके अतिरिक्त शिष्य, संगी, भृत्य आदि द्वारा किये हुए अनुबन्ध, महारम्भ के उद्यम, नानाग्रन्थ, कलाओं और वादों के अभ्यास, कृपणता, शोकादि के वशीभूत होना, अन्य देवताओं के प्रति अवज्ञा, जीवों को उद्विग्न करना, सेवापराध अर्थात प्रयत्न का अभाव, अवज्ञा, निष्ठा का अभाव, नामापराध अर्थात साधु निन्दा, शिव और विष्णु के पृथकत्व का चिन्तन, गुरु अवज्ञा, देवादि निन्दा, नाम महात्म्य के प्रति अनास्था, हरि नाम की नाना विधि अर्थ-कल्पना, नाम जप और अन्य शुभ कर्मों की तुलना करना, अश्रद्धालुओं को नामोपदेश, तथा नाम के प्रति अप्रतीति करने से बचना पड़ता है। रागानुगा भक्ति की साधना में उपर्युक्त कर्मों का निषेध है।

वैध भक्त की भी तीन अवस्थायें होती हैं। श्रद्धावान, नैष्ठिक, और रुचि युक्त। इस भक्ति के दो मूल तत्व हैं। पहला है भगवान का आनन्द स्मरण। भगवान ही जीवों का एक मात्र स्मर्तव्य है। भगवान के स्मरण में सहायक कर्म वैध हैं। दूसरा है, भगवन्नाम विस्मरण में सहायक कर्मों का अमंगल है। इसमें सहायक सभी कर्म त्याज्य

हैं। वैधी भक्ति के पाँच अंग हैं। भगवान की मूर्तियों की सेवा, कथा सत्संग, साधु संग, नाम कीर्तन, और ब्रजवास।

भगवत-प्रेम की पाँच पूर्ण अवस्थायें हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य, शांत और मधुर। प्रेम का उदय पहले ही नहीं हो जाता। क्रम से होता है। भक्त के हृदय में सर्व प्रथम जब भगवान के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने लगे तब साधु संग करने की आवश्यकता होती है। उसके बाद भजन की क्रिया करनी पड़ती है। इससे अनर्थ की निवृत्ति होती है। फिर क्रमशः निष्ठा और रुचि जाग्रत होती हैं। तदन्तर आसक्ति जाग्रत होती है और अन्त में प्रेम का उदय होता है, जिससे जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

राम कथा का उद्भव और विकास

विद्वानों का कथन है कि राम कथा आर्यों के दक्षिणावर्त विजय तथा उनकी सभ्यता और संस्कृति के इतिहास की कथा है। इस कथा ने समय-समय पर भारतीय धर्माचार्यों, दार्शनिकों तथा कवियों को प्रभावित किया है। आदि कवि वाल्मिकि ने अपने रामायण में इस कथा का बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है। राम साकेत पति दशरथ के पुत्र थे। महाराज दशरथ राम की विमाता कैकेयी पर अत्यन्त आसक्त थे। विवाह के समय कैकेयी को उन्होंने वचन दे दिया था कि उसका पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होगा। भाग्यवश उनकी अन्य रानियों से भी राम, लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक पुत्र हुये। कैकेयी के पुत्र का नाम भरत था। राम ज्येष्ठ पुत्र थे। वह बड़े आज्ञाकारी, मृदुभाषी और वीर थे। महाराज उन्हें बहुत प्यार करते थे। उनसा आदर्श पुत्र पाकर वह फूले न समाते थे। महाराज उन्हीं को गद्दी देने की बात सोचने लगे। कैकेयी की दासी मन्थरा के कुचक्र से दशरथ को अपनी छाती पर वज्र रख कर राम को १४ वर्षों का बनवास देना पड़ा। उनका प्राणान्त हो गया। भरत ने गद्दी पर बैठने से इन्कार कर दिया। उन्होंने बड़े भाई को वापस लाने का असफल प्रयत्न किया और उन्हीं की चरण-पादुका राज-सिंहासन पर रखकर वे राज्य का प्रबंध करने लगे। बनवास के अन्तिम दिनों में अनार्य राजा रावण ने राम की पत्नी सीता का हरण कर लिया। राम और लक्ष्मण ने ऋक्ष-वानरों की सेना इकट्ठी की और रावण के विरुद्ध संग्राम

किया। रावण मार डाला गया और सीता राम के पास आ गयीं। वर्ष पूरा हो जाने पर वह लोग पुनः अपने राज्य में लौट गये।

इसी कथा को उस आदि कवि ने रस-सिक्त करके इतने प्रभाव शाली ढंग से लोगों के सामने रक्खा कि काव्य-नायक राम को विष्णु का रूप मान लिया गया। विष्णु के रूप में राम की उपासना बहुत दिनों तक चलती रही और समय-समय पर राम कथा पर अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये। उन ग्रन्थों में राम की सगुण उपासना की महत्ता प्रतिपादित की जाती थी। ये ग्रन्थ संस्कृत में थे इसलिए इससे जनता का कुछ लाभ नहीं होता था। १२ वीं और १३ वीं शताब्दी में धार्मिक पुनरुत्थान हुआ और अवतारवाद की प्रतिष्ठा की गई। राम अब विष्णु के ही रूप नहीं रहे, उन्हें ब्रह्म का अवतार भी मान लिया गया। धीरे-धीरे राम-भक्ति को जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार कर लिया गया। वैष्णव मन्दिरों में उनकी मूर्तियों की स्थापना की जाने लगी। १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भूपति नामक कवि ने देशभाषा के दोहे और चौपाइयों में राम कथा लिखी। उसमें काव्य के गुण नहीं थे इसलिए वह काल-कवलित हो गया।

१५ वीं शताब्दी में रामानन्द जी ने जब रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित वैष्णव सम्प्रदाय की गद्दी सम्हाली, उस समय परिस्थिति कुछ दूसरी ही थी। लोग कृष्ण के अलौकिक चरित्र की उपासना कर रहे थे। उनकी लीलाओं को भगवान की लीला समझा जाता था। समाज में अनाचार का बोलबाला था। रामानन्द जी ने वैष्णव धर्म में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। उन्होंने संस्कृत में उपदेश करना छोड़ दिया और उस समय की प्रचलित जन भाषा में उन्होंने राम की सगुण भक्ति का प्रचार किया। मानव मात्र के लिए राम भक्ति का दरवाजा खुल गया। मुसलमान और चमार भी वैष्णव धर्म में दीक्षित किये जाने लगे और उन्हें भी राम नाम का मन्त्र दिया जाने लगा। स्वामी जी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम थे। उनमें ब्रह्म का भी अंश था, इसलिए उनकी भक्ति करने के लिए सदाचार पर जोर दिया गया। इसी समय उत्तर भारत में सबद तथा बैनी ने और महाराष्ट्र में त्रिलोचन ने राम भक्ति का प्रचार किया। स्वामी रामानन्द बड़े ही सरल और स्वच्छन्द प्रकृति के व्यक्ति थे इसलिए उन्होंने राम-भक्ति को नियमों में नहीं जकड़ा। इसका यह

फल हुआ कि लोग मनमाने ढंग से राम की उपासना करने लगे। इसी समय मुनिलाल नामक कवि ने रीति शास्त्रानुसार राम-काव्य लिखा किन्तु उसका प्रचार न हो सका।

रामानन्द के शिष्य कबीर ने ही अवतारवाद पर प्रहार किया। उन्होंने अपने गुरु द्वारा प्रतिपादित 'राम' शब्द को ग्रहण तो किया किन्तु उनका राम निर्गुण ब्रह्म का पर्याय हो गया। अनुकूल परिस्थितियों को पाकर कबीर साहब का मत चमका। समाज के निम्न वर्ग में उनकी धाक जम गयी। अन्त्यजों के घर-घर में निर्गुण राम की उपासना की जाने लगी।

राम के विष्णु अवतार की पूजा उच्चवर्गीय लोगों में प्रचलित रही। १६वीं शताब्दी में रामानन्द की परम्परा में गोस्वामी तुलसी दास हुये जिन्होंने अपने राम चरित मानस के द्वारा राम की सगुण भक्ति का महत्व प्रतिपादित किया। उनके महाकाव्य में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र के आधार पर मानव मनोविज्ञान की इतनी मार्मिक और सूक्ष्म व्याख्या हुयी कि उनका महाकाव्य जनगण-मन में घुल मिल गया। राम की उस कथा पर लेखनी उठाने की फिर किसी ने हिम्मत नहीं की। आज अपनी उसी कृति के कारण तुलसी दास संसार के श्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं।

तुलसी दास

तुलसी की जीवनी पर अब काफी खोज हो चुकी है। सभी विद्वान उनका जन्म सं० १५८६ का मानते हैं। वह बाँदा जिलान्तर्गत राजापुर ग्राम के सरयूपारी ब्राह्मण थे। बाप का नाम आत्मा राम दुबे था, माँ का हुलसी। कुछ कारणों वश वह माता-पिता के प्यार से वंचित रह गये। बालक तुलसी को पेट के लिये दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। किसी प्रकार उनका प्रवेश साधुओं की टोली में हो गया और बहुत दिनों तक उसी टोली के साथ खाते पीते तथा कुछ अध्ययन भी करते रहे। कुछ समय के बाद वह काशी चले गये और वहीं गुरु के चरणों में बैठ कर उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। उनके गुरु कौन थे, ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। १५ वर्षों तक काशी में रह कर अध्ययन करने के पश्चात् वह पुनः अपने गाँव चले गये। वहीं रत्नावली नामक एक अत्यन्त रूपवती बाला के साथ उनका पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न हुआ। एक बार रत्नावली मैके गयीं। रूपवती

पत्नी की असह्य विछोह वेदना से पीड़ित होकर तरुण तुलसी ने ससुराल की यात्रा की। ऐसी आसक्ति के लिये पत्नी धिक्कारती न तो क्या करती? वह उलटे पाँव लौट आये। विषयासक्ति, भगवान की आसक्ति के रूप में परिणत हो गयी। काशी जाकर उन्होंने फिर अध्ययन प्रारम्भ किया। प्रौढ़ता प्राप्त कर वह सं० १६३१ में काशी से अयोध्या चले गये और वहीं अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरित मानस का प्रणयन करने लगे। कुछ अंश रचने के बाद वह पुनः बनारस चले आये और वहीं पर ग्रन्थ की रचना समाप्त की।

अकबर बादशाह की मृत्यु के बाद सं० १६६२ के लगभग शंकर की नगरी काशी में एक न एक उत्पात मचने लगा। तुलसी ने इसे रुद्रबीसी समझ अपनी कवितावली और दोहावली में इस उत्पात को शान्त करने के लिये भगवान शंकर से प्रार्थना की। सं० १६६६ और १६७१ के बीच वह उत्पात एक बार फिर उभड़ा परन्तु बाद को स्वयं ही शान्त हो गया। इसके बाद महामारी का प्रकोप हुआ। काशीपुरी में सैंकड़ों आदमी रोज मरने लगे। उसको दूर करने के लिये उन्होंने कवितावली में माता पार्वती की वन्दना की। महामारी तो शान्त हो गयी लेकिन उनकी दाहिनी भुजा में भयङ्कर शूल प्रारम्भ हो गया। धीरे-धीरे वह शूल शरीर भर में व्याप्त हो गया। इसकी शान्ति के लिये कवि ने हनुमान, शिव और राम से विलख-विलख कर प्रार्थनायें की परन्तु किसी ने ध्यान नहीं दिया। श्रावण शुक्ला तीज शनि सं० १६०० को इस महाकवि की पीड़ा सदा के लिये दूर हो गई।

महाकवि की कृतियाँ

तुलसी दास की प्राप्त रचनाओं में रामचरित मानस, दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञा प्रश्न, बरवै रामायण, राम लला नहछू, कृष्ण गीतावली, वैराग्य संदीपिनी, पार्वती मङ्गल और जानकी मंगल मुख्य हैं। दोहा, सोरठा आदि छन्दों में राम के सम्पूर्ण जीवन का वर्णन किया गया है। विनय पत्रिका में विभिन्न देवी देवताओं के विनय सम्बन्धी पद हैं जिन्हें राग, रागनियों में बाँध दिया गया है। गोस्वामी जी ने ज्ञान-विज्ञान

संसार की नश्वरता, मोह माया आदि पर दृष्टि पात करते हुये अपने सम्बन्ध में भी निवेदन किया है। दोहावली में कुल ५७३ दोहे हैं।

कवित:—

रचनाओं के दो प्रकार मिलते हैं। प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। रामचरित मानस उनका सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य ग्रन्थ है। कवितावली, गीतावली आदि में मुक्तक काव्य के दर्शन होते हैं। यों तो उनकी सम्पूर्ण रचनाओं में उनके आराध्य देव राम की बाँकी-झाँकी मिलती है परन्तु रामचरित मानस महाकाव्य में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के सम्पूर्ण जीवन पर प्रकाश डाला गया है। गोस्वामी जी का रामचरित मानस बाल्मिकि के रामायण पर ही आधारित है, परन्तु अपनी कल्पना शक्ति द्वारा उन्होंने कहीं-कहीं पर महान परिवर्तन कर दिये हैं। रामचरित मानस में प्रमुख और गौण दोनों प्रकार की कथायें चलती हैं। राम के जीवन की प्रमुख घटनाओं को दिखलाने के लिये पौराणिक कथाओं से भी सहायता ली गयी है। तुलसी राम के भक्त थे। उनकी काव्य साधना भक्ति साधना का प्रमुख अंग है। उनकी साधना व्यक्ति निष्ठ और आभ्यान्तरिक होते हुये भी समाज को दृष्टि में रखकर हुयी है। वह अपने को राम का दास कहते हैं। यह स्वस्थ्य हृदय की शरणागत भावना है, निर्बल भक्तों का आत्म समर्पण नहीं। इस महाकवि ने अपने प्रबन्ध पात्रों की अंतस वृत्तियों तथा अंग सौष्ठव को बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। उन्होंने राम के जीवन के मार्मिक स्थानों को जिस खूबी से अपनी कला में उभारा है, वह अद्वितीय है। इसके द्वारा वह हमारे समक्ष एक महाकवि के ही रूप में नहीं आते बल्कि मानव मनोविज्ञान के गहरे अध्येता के रूप में भी आते हैं। उन्होंने संसार में रहने वाले अस्थि मज्जा, रक्त और मांस से निर्मित मानव हृदय के कोमलतम गीत गाये हैं, इसीलिये हम उसे बार-बार पढ़ते है लेकिन तृप्ति नहीं होती। उनकी रचनाओं में आत्मसमर्पण, दैन्य, विनय, शील, आत्मग्लानि, क्रोध, उत्साह, घृणा आदि मनोभावों की अनूठी व्यंजना हुयी है। प्रकृति का यथार्थ किन्तु मनोहारी चित्र खींचने में तुलसी एक ही हैं। एक उदाहरण लीजिए,

झरना झरहि सुधा सम बारी। त्रिविध ताप हर त्रिविध बयारी।
विटप बेलि तृण अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती॥

प्रसाद और माधुर्य गुण से युक्त स्वाभाविक कविता की ओर कौन आकर्षित नहीं होगा? तुलसी दास ने नैतिक, सामाजिक और वैयक्तिक आदर्शों से गुंफित कहानी कही है। गोस्वामी जी को भावों का राजा कहा जाता है। थोड़े से शब्दों में बहुत से भावों को भर देना, उनकी विशेषता है। तुलसी की सब से बड़ी विशेषता है समन्वय। अपने इसी गुण के कारण वह संसार के प्रथम कोटि के कवियों में गिने जाते हैं। जिस समय वह राम-चरित मानस की रचना कर रहे थे, उस समय समाज की दशा अच्छी नहीं थी। जनता का घोर नैतिक पतन हो रहा था। काशी के शैवों, शाक्तों तथा वैष्णवों में कभी-कभी बड़ी भयङ्कर लड़ाइयाँ होती थीं। रक्त पात हो जाता था और वह भी केवल धर्म के नाम पर। लोग लक्ष्य भ्रष्ट थे। अपनी-अपनी डफली थी, अपना-अपना राग था। गोस्वामी जी ने अपने राम को एक आदर्श पुत्र, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, और आदर्श शासक के रूप में लोगों के सामने खड़ा कर दिया। धार्मिक विरोधों का परिहार करने के लिये उन्होंने विष्णु और शंकर की समान रूप से पूजा करने की शिक्षा दी। उन्होंने समन्वय किया, धर्म के क्षेत्र में, समाज के क्षेत्र में, दर्शन के क्षेत्र में, भाषा के क्षेत्र में और शैली के क्षेत्र में। धर्म के क्षेत्र में उन्होंने कर्म ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया। सामाजिक क्षेत्र में वर्णाश्रम और आश्रम चतुष्ठय का। एक वर्ग दूसरे वर्ग का, एक आश्रम दूसरे आश्रम का विरोधी नहीं बल्कि पूरक है। पुरुष, प्रकृति, जीव, जगत और माया के सम्बन्ध में उनकी मान्यताओं का आधार वेदान्त दर्शन है। दर्शन के क्षेत्र में भी उन्होंने द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का समन्वय कर ब्रह्म की भावना को स्पष्ट किया। उन्होंने संस्कृत, ब्रजभाषा, और अवधी समन्वित बोल-चाल की भाषा में कविता कर के इस क्षेत्र में भी समन्वय करने का प्रयत्न किया है। इस महाकवि ने चन्द के छप्पय, कबीर के दोहे, सूर के पद, जायसी के दोहे और चौपाइयाँ, रहीम के बरवै, रीतिकारों के कवित्त और सवैयों तथा ग्रामीणों के सोहर, लचारी आदि ग्रामीण छन्दों को लेकर पिंगल के क्षेत्र में भी अनूठा समन्वय उपस्थित किया है। उनकी रचनाओं में सभी रसों का

परिपाक हुआ है। मानस में करुण, वीर, वीभत्स, शान्त, रौद्र, भयानक, अद्भुत, हास्य आदि सभी रसों के उदाहरण मिलते हैं। उन्होंने भगवान की लीलाओं में अपनी लम्पट प्रवृत्ति से प्रच्छन्न आनन्द ग्रहण की कभी कोशिश ही नहीं की। शृङ्गार रस के वर्णन में बड़ी सतर्कता रखी गई है। जनक-वाटिका में राम सीता का प्रसंग आया है परन्तु बड़े ही मर्यादित रूप में। स्वर्णिम कल्पनाओं के स्रष्टा और अमर अनुभूतियों के गायक तुलसी दास जी निस्सन्देह महान व्यक्तित्व के कवि हैं, मर्यादा, भाव और पौरुष के कवि हैं।

भाषा और शैली

गोस्वामी जी मुख्यतः अवधी के कवि हैं। उनसे लगभग ३६ वर्ष पूर्व जायसी ने जिस अवधी में अपने पद्मावत की रचना की थी उससे उनकी भाषा परिमार्जित एवं साहित्यिक है। जायसी की अवधी शुद्ध तद्भव मय है किन्तु तुलसी की अवधी में तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों की भरमार है। उनकी भाषा में राजस्थानी, भोजपुरी, संस्कृत, प्राकृत, आदि भाषाओं के शब्द तो मिलते ही हैं, अरबी और फारसी के शब्दों के भी दर्शन होते हैं। सन्देशा, खाना, गरीबनेवाज, गर्दन,, जहाज, आदि इसी प्रकार के शब्द हैं जो हिन्दी के साँचे में ढाले हुये मिलते हैं। उन्होंने अपने समय के प्रचलित विदेशी शब्दों को अपनी रचनाओं में स्थान देकर, अपनी विश्वबन्धुता और सहृदयता के भावों का ही परिचय दिया है। वह अपनी भाषा को ग्रामीण बतलाते हैं यह उनकी महानता है। वैसे वह है वास्तव में परिमार्जित और साहित्यिक अवधी ही जिसमें पूर्वी और पछाहीं दोनों का मिश्रण है। उन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा में भी रचनायें की हैं और बड़े अधिकार के साथ। सूर अवधी से अनभिज्ञ थे, जायसी ब्रजभाषा नहीं जानते थे किन्तु तुलसी का दोनों से घनिष्ट सम्बन्ध है। कवितावली, गीतावली, और विनय पत्रिका आदि ग्रन्थों में ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया गया है। उनकी भाषा साहित्यिक है किन्तु उसमें लोक व्यवहार की भाषा होने की भी क्षमता है। सरलता, बोध गम्यता, प्रसाद, ओज, माधुर्य, आदि गुणों का उसमें समावेश है। वाक्य विन्यास में स्वाभाविकता है, जिसमें लोकोक्तियों और मुहाविरों के प्रयोगों ने चार-चाँद लगा दिये हैं। अवसर के अनुकूल भाषा को कोमल

और ओजपूर्ण बनाया गया है। शब्दों की खींचा-तानी, तोड़-मरोड़ आदि नहीं दिखलायी देती। प्रवाह भाषा की आत्मा है। तुलसी की भाषा भी भावों से होड़ लेने वाली है। उनका उस पर पूरा अधिकार है। भाषा का मार्मिक और सहज सौन्दर्य उनकी रचनाओं में ही दीख पड़ता है। उनकी कृतियों में उनकी प्रतिभा, विद्वता और उनके व्यक्तित्व की छाप लगी हुई है। वह अपने छन्द में बोलते से जान पड़ते हैं। मानस में दोहे, चौपाई सोरठे, कवित्त आदि अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग मिलता है। विनय पत्रिका के फुटकर पद्य, गीत की तरह लिखे गये हैं। मुक्तक काव्य और भजन के पदों में, शैली के महत्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता। कविता-वली सवैया छन्दों में है। नीति तथा उपदेश, दोहे में लिखे गये हैं, जिनका संग्रह दोहावली में किया गया है। इसी तरह, विविध प्रकार के छन्दों का बड़ी कुशलता से प्रयोग करके उन्होंने अपने को पिंगल शास्त्र का विद्वान प्रमाणित कर दिया है।

राम काव्य का विकास और उसकी परम्परा के अन्य कवि

तुलसी के बाद राम-भक्ति-काव्य की परम्परा में स्वामी अग्रदास का नाम लिया जाता है। उन्होंने राम ध्यान मंजरी आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया परन्तु उनकी काव्य-कला आगे विकसित न हो सकी। अग्रदास जी के बाद 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध रचयिता नाभा दास जी ने अवधी भाषा में 'रामकथा' कही। उनकी रचना में उच्चकोटि की काव्य कला के दर्शन होते हैं। राम चरित मानस के आगे इसका भी प्रचार न हो सका। अभी तक प्रबन्ध और मुक्तक शैली में ही राम कथा लिखी गई थी। प्राणचन्द्र और हृदय राम चौहान ने उसे दृश्य काव्य की शैली में भी उपस्थित कर दिया। प्राणचन्द्र चौहान ने रामायण, और हृदय राम ने हनुमन्नाटक की रचना नाटकों की शैली में की। हनुमन्नाटक के संवाद, कवित्त और सवैयों में हैं। प्राणचन्द चौहान की कृति से यह प्रौढ़ है। हनुमान भक्ति भी राम भक्ति का ही एक अंग है। तुलसी ने हनुमान बाहुक लिखा था उसके बाद राममल पाण्डेय ने हनुमान चरित्र लिखा। इनके अतिरिक्त अन्य राम भक्त कवियों में लाल दास, प्रिया दास कलानिधि, जानकी रसिक शरण,

बाबा राम चरण दास, रघुनाथ दास और रीवाँ नरेश महाराज रघुराज सिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

महाकवि तुलसी दास ने रामचरित मानस की रचना करके जिस मर्यादित राम काव्य की नींव डाली थी, उसका विकास आगे न हो सका। उनकी टक्कर का कोई कवि आज तक हिन्दी में हुआ ही नहीं। सच पूछिये तो उनका काव्य कौशल ही राम काव्य के विकास में बाधक सिद्ध हुआ। कोई लिखे भी तो क्या लिखे, तुलसी से कुछ बचा हो तब तो ?

शील, शक्ति और सौन्दर्य का मर्यादित रूप ही राम का चरित्र है इसलिये उसमें गम्भीरता है। परवर्ती कवियों ने मर्यादा को बनाये रखने का प्रयत्न तो किया, किन्तु वे राम के चरित्र की मधुरिमा चित्रित न कर सके। इसीलिये उनकी रचनाओं में मनुष्य की रागात्मक वृत्ति को स्पर्श करने की क्षमता नहीं है।

राम के चरित्र में लोक संग्रह का स्थान मुख्य है और लोक रंजकता का गौण। उनकी उपासना में थोड़ी गम्भीरता चाहिये, जो सब के वश की बात नहीं। मनुष्य विषय की ओर शीघ्रता से झुकता है, तुलसी की तरह सब कामजित नहीं होते। कुछ समय के बाद कृष्ण भक्ति का प्रचार जोर पकड़ने लगा। अब अवधी का स्थान ब्रजभाषा ने ले लिया। कोमल कान्त पदावली में राधाकृष्ण की आँख मिचौनी और गोपियों के साथ उनकी रासलीला के गीत गाये जाने लगे। राम भक्त भी इसके प्रभाव से न बच सके। १६वीं शताब्दी के अन्त में अयोध्या के रामचरण दास ने राम भक्ति शाखा में पति-पत्नी भाव की उपासना चलाई। उन्होंने अपनी शाखा का नाम स्वसुखी शाखा रखा। अपने को लाल साहब (राम) की पत्नी मानकर पूजा करना और उनसे मिलने के लिये सोलह शृंगार करना आदि इस शाखा के लक्षण हुये। रास लीला का सम्बन्ध भी 'लाल साहब' से जोड़ा जाने लगा। रामचरण दास की इस शृङ्गारी भावना में थोड़ा फेर कर के चिरान-छपरा निवासी श्री जीवाराम ने 'सखी भाव' की उपासना चलाई। उन्होंने अपनी शाखा का नाम 'तत्सुखी शाखा' रखा। अयोध्या में इन रसिक भक्तों का बड़ा जोर है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम की 'तिरछी चितवन' और 'बाँकी अदा' के भी भजन गाये जाने लगे। उदाहरण लीजिये—

हमारे पिय ठाढ़े सरजू तीर
छोड़ि लाज मैं जाय मिली जँह खड़े लखन के बीर।
मृदु मुसकाय पकरि कर मेरो खैंचि लियो तब चीर।
झाऊ वृक्ष की झाड़ी भीतर करन लगे रति धीर।

(श्री रामावतार भजन तरंगिणी)

लोक पावन आदर्श का ऐसा वीभत्स विपर्यय देख कर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा कि "गुह्य, 'रहस्य' 'माधुर्य भाव' इत्यादि के समावेश से किसी भक्ति मार्ग की यही दशा होती है।"

बीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक शिक्षा के प्रसार से तार्किक बुद्धि का प्रभाव बढ़ा। अंधविश्वास के बन्धन शिथिल होने लगे। देश में राजनैतिक चेतना की प्रभाती गायी जाने लगी। आर्य समाज ने अवतारवाद के विरुद्ध झंडा उठा लिया। दुनिया बदल गयी। तुलसी के भगवान राम पर भी इसका प्रभाव पड़ा। रामचरित उपाध्याय ने अपने 'रामचरित चिन्तामणि' नामक महाकाव्य में 'राम कथा' को राजनैतिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया। राम, सीता और लक्ष्मण के चरित्र को प्राचीन आदर्शों का जामा नहीं पहिनाया जा सका।

राष्ट्र-कवि गुप्त तो राम को छोड़कर किसी को ईश्वर तक नहीं मानते*। राम का चरित्र ही उनके लिये काव्य है†। राम-भक्त मैथली शरण जी के विश्वास पर शंका नहीं की जा सकती। उन्होंने अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर राम की वंदना भी की है।‡ किन्तु उनके साकेत और पंचवटी में

---

*राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुये, सभी कहीं नहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे।
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे॥

†राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।

‡लोक रक्षा के लिये अवतार था जिसने लिया।
निर्विकार निरीह-होकर, नर सदृश्य कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका सर्व मंगल धाम है।
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा समेत प्रणाम है॥

राम के अलौकिक व्यक्तित्व का दर्शन नहीं मिलता। 'प्रभु' और 'नाथ' ईश्वरत्व बोधक शब्दों का कहीं-कहीं प्रयोग हो गया है, यह दूसरी बात है। इससे स्पष्ट है कि गुप्त जी की भी अंतश्चेतना आधुनिकता से प्रभावित है। राम की यह धारा अब भी किसी न किसी रूप में हिन्दी साहित्य में बह रही है।

प्रेम मार्गी शाखा

सूफी शब्दार्थ और प्रयोग

'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में पांच प्रमुख मतवाद प्रचलित हैं। कुछ लोगों का कहना है कि सूफी, 'सुफ्फा' शब्द से बना है। सुफ्फा चबूतरे को कहते हैं। मदीना में मस्जिद के सामने एक चबूतरा था, उस पर जो फकीर बैठा करते थे, उन्हें सूफी कहा जाने लगा। कुछ लोग इसे 'सफ' शब्द से निर्मित मानते हैं। 'सफ' माने पंक्ति, निर्णय के दिन जो लोग अपने अच्छे आचरण एवं सदव्यवहार के कारण जन साधारण से अलग पंक्ति में खड़े किये जायेंगे वे ही 'सूफी' हैं। तीसरे मत के अनुयायियों की धारणा है कि सूफी शब्द सफा (स्वच्छ) से ही बना होगा और जो मुसलमान साधु सफाई पसन्द रहे होंगे, उन्हें ही 'सूफी' कहा जाता रहा होगा। चौथे मत के अनुसार सूफी 'सोफिया' का रूपान्तर हैं। ज्ञानी फकीरों के एक सम्प्रदाय विशेष के सदस्यों को ही 'सूफी' कहा जाता है। अंतिम मत उन विद्वानों का है जो सूफी शब्द का सम्बन्ध सूफ् (ऊन) से जोड़कर यह कहा करते हैं कि जो फकीर सिद्धान्त वश ऊनी वस्त्र धारण करते हैं, उन्हें ही सूफी कहना चाहिये। आजकल इसी मत को लोग बहुमत से मानते हैं। इसका दूसरा नाम तसव्वुफ भी है। इन शब्दों का चाहे जो अर्थ हो परन्तु इतना तो सभी मानते हैं कि मादन भाव से ईश्वर की आराधना करने वाले अथवा अपनी परम पवित्रा प्रियतमा के विछोह में तड़प तड़प कर प्रेम की पीर जगाने वाले फकीरों को ही सूफी कहा जाता है।

उद्भव-विकास एवं अन्य मतों का प्रभाव

'सूफी' मत के उद्भव के बारे में पर्याप्त मत-भेद हैं। सूफियों का तो कहना है कि इस मत का 'आदम' में बीजवपन, 'नूर' में अंकुर, इब्राहीम में

कली, मूसा में विकास, मसीह में परिपाक, एवं मुहम्मद में मधु का 'फलागम' हुआ। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस मत के जन्म का पता लगाने के लिये हमें विश्व संस्कृति के इतिहास पर दृष्टि पात करते हुये, सामी संस्कृति को विशेष ध्यान में रखना होगा।

मादन भाव से ईश्वर की आराधना करना ही सूफियों का मूल मन्त्र है। इस भाव से परम सत्ता का सम्बन्ध जोड़ने वाले द्रविड़ थे जिनकी दिव्य संस्कृति ईशा से कई हजार वर्ष पूर्व भारत में प्रचलित थी। यद्यपि आर्यों ने अपने युद्ध कौशल और पराक्रम से शान्ति और सौन्दर्य की प्रेमिका उस जाति को हरा दिया परन्तु बहुत हद तक विजयी संस्कृति को भी विजित संस्कृति के सामने माथा टेकना पड़ा। कुछ समय के बाद दोनों संस्कृतियों के मिलाप का पावन स्वर उपनिषदों की वाणी में ध्वनित होने लगा। धीरे-धीरे उसी में से भक्ति की एक नयी धारा भी फूट पड़ी। इतिहास हमें बताता है कि ईशा की पहली शताब्दी से भी पहले अलवारों, शैवों, और बौद्ध महायानियों में यह प्रेम मूलक भक्ति भावना प्रचलित थी। भारत से अरब और फारस का व्यापारिक सम्बन्ध था ही अतः ये पड़ोसी देश भी इससे अपरिचित न रह सके। उपनिषदों के सिद्धान्तों से छन छन कर बहने वाली इस विचार धारा का मिलाप जब सामी मत से हुआ तब वहां का रंग भी बदलने लगा। हमारी देवदासियों के समान सामी जातियों के देवी देवताओं के मन्दिरों में समर्पित प्रथम संतानों का जमघट सा लगा रहता था। उनके द्वारा अतिथियों को दिया हुआ रतिदान पुण्य समझा जाता था। उपर्युक्त कथित भाव धारा के छींटे जब उनमें से कुछ पवित्रात्माओं पर पड़े तब लौकिक सुख को छोड़कर उनका ध्यान अलौकिक आनन्द की ओर जाने लगा। अब यहीं से सूफी मत के बुलबुले उठने शुरू हो गये। सामी सन्तों ने इसका घोर विरोध किया परन्तु उनके हाथ असफलता के सिवा और कुछ भी लगा नहीं।

बहुत से सूफियों का तो यहां तक कहना है कि मुहम्मद साहब भी इससे भली-भांति परिचित थे परन्तु गुह्यता के कारण उन्होंने स्वयं इसका प्रचार नहीं किया। उन्होंने इसकी शिक्षा 'अली' को दी। ६३२ ई० में मुहम्मद साहब की मृत्यु हो गयी थी और ६६० ई० में अली का वध कर दिया गया

था। ६६१ ई० में उम्मैया वंश शासन करना आरम्भ करता है और ६७६ ई० में उसकी अवधि समाप्त हो जाती है। इसके बाद का इतिहास संक्रमण काल का इतिहास है। ६८० ई० में कर्बला की प्रसिद्ध घटना घटित होती है और अली के हसन तथा हुसेन नामक पुत्र तलवार के घाट उतार दिये जाते हैं। इस घटना से मुसलिम जगत में अनेक मतभेद उठ खड़े होते हैं। अनेक पन्थों का जन्म हो जाता है, खलीफाओं की सल्तनत सीरिया से सिन्ध तक फैल जाती है और इस्लाम अनेक प्रौढ़ धर्मों के सम्पर्क में आ जाता है।

इसी बीच बसरा में 'मोतीजिली' नामक एक बुद्धिवादी सम्प्रदाय का जन्म हो गया। यह मतवाद हमारे यहां के संत मत से मिलता जुलता है। हसन (मृ० ७२८ ई०) के नेतृत्व में इस मत ने कुरान की नयी व्याख्या आरम्भ कर दी थी। यद्यपि इस सम्प्रदाय ने कोई नया दर्शन नहीं दिया था फिर भी इससे इस्लाम की नींव थर्रा उठी थी। इसके परिणाम स्वरूप 'मुर्जी' 'खारिजी' 'कादिरी' आदि अनेक दल उठ खड़े हुये थे और 'कुरान हदीस' ईमान, कर्म, भाग्य, न्याय तथा रसूल आदि सभी विषयों पर विवाद चलने लगे थे। उस्मान (६४४-५३ ई०) के समय में ही इस्लाम को एक निश्चित रूप प्राप्त हो गया था और उसमें कुछ भी परिवर्तन करना टेढ़ी खीर हो गयी थी। इस्लाम ने इन नये मतवादियों के प्रति बड़ी असहिष्णुता दिखलायी। कितनों का अंग-भंग किया गया, कितने फाँसी पर लटका दिये गये फिर भी सातवीं आठवीं शताब्दी तक सूफी मत का आविर्भाव हो ही गया। सर्वप्रथम अबू हाशिम (मृ० ७७० ई० के लगभग) को ही सूफी की उपाधि मिली। कालान्तर में 'बाशरा' और 'बेशरा' नामक दो प्रकार के सूफी हुये। पहले प्रकार के सूफी कुरान के साथ सामंजस्य रखकर उपासना किया करते थे परंतु भावुक सूफियों का दूसरा दल निर्भीकता से कुरान की कमियों की ओर इंगित कर दिया करता था। इसके निर्भीक प्रचारकों में राबिया और हल्लाज का नाम कभी भुलाया नहीं जा सकता। राबिया की रचनाओं में अलौकिक प्रेम की आकुलता की मार्मिक अभिव्यक्ति हुयी है। हमारे यहां जिस प्रकार मीराँ और अंडाल कृष्ण को पति रूप में मानती थीं उसी तरह वह भी अपने को अल्लाह की पत्नी समझती थी। एक स्थल पर वह लिखती है—"हे नाथ! तारे चमक रहे हैं लोगों की आंखें मुँद चुकी हैं। सम्राटों ने अपने

द्वार बन्द कर लिये हैं। प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रिया के साथ एकान्त सेवन कर रहा है और मैं अकेली यहां हूँ।"

(राबिया दमिस्टिक पृ० सं० २०)

रसूल में आस्था रखती हुयी भी वह अद्वैत ब्रह्म को ही अपने मादन भाव का अवलम्बन बनाती है। दूसरे स्थल पर वह लिखती है—"हे रसूल! भला ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे आप प्रिय न हों पर मेरी तो कुछ दशा ही और है। मेरे हृदय में परमेश्वर का इतना प्रसार हो गया है कि उसके अतिरिक्त किसी अन्य के लिए स्थान ही नहीं है।"

(अ लिटररी हिस्ट्री ऑवद अरब्स ह० स० १३४)

इस भावना के प्रकाशन के लिये राबिया और उसकी सहेलियों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। बरजा के हाथ पांव काट डाले गये। इन संत महिलाओं ने रसूल की मधुर उपेक्षा की और सारे जीवन को परमेश्वर के प्रेम से प्लावित कर दिया।

हल्लाज (मृ० ६२१ ई०) तो उससे भी एक कदम बढ़ा हुआ था। उसने 'मुक्त कण्ठ' से 'अनल हक' (मैं ही ब्रह्म हूँ) को उद्घोषणा की। उसने चिल्ला कर कहा—"मैं वही हूँ, जिसे प्यार करता हूँ, जिसे प्यार करता हूँ वह मैं ही हूँ। हम एक शरीर में दो प्राण हैं। यदि तू मुझे देखता है तो उसे देखता है और यदि उसे देखता है तो हम दोनों को देखता है।"

धर्म के ठेकेदारों को भला यह कैसे बर्दाश्त होता? अन्त में उसे भी फाँसी का फंदा चूमना पड़ा। महात्माओं का बलिदान कभी बेकार नहीं जाता। सूफी मत धीरे-धीरे अपने खुले रूप में आने लगा। फराबी (मृ० ६५० ई०) अबू सईद (मृ० १०१६ ई०) और इमाम गजाली (मृ० ११११ ई०) ने इसे दृढ़ बनाने का काम किया। फराबी ने कुरान और दर्शन का समन्वय करके सूफी मत का मार्ग स्वच्छ कर दिया। सईद ने समा (समाधि) की व्यवस्था की। उसका कहना था समा (समाधि) विषयवासना के नाश के लिये उपयुक्त साधन है। वह ऊँची श्रेणी का शासक भी था। उसकी साधना और उसके व्यक्तित्व ने सूफी मत को अत्यन्त लोक प्रिय बना दिया। काजी और मुल्ला उसे जिन्दीक कह कर फतवा दे सकते थे परन्तु जनता उस पर लट्टू थी। इस जन-प्रियता का यह परिणाम हुआ कि नबी के साथ सूफी भी

पूजे जाने लगे। इस्लाम और सूफी मत का समन्वय इमाम गजाली ने किया। उनके प्रयत्न से तसव्वुफ इस्लामी दर्शन बन गया। उसमें उन्होंने धर्म, दर्शन, समाज और भक्ति भावना का भी समन्वय किया। उनके काम को अरबी, रूमी और जिली ने आगे बढ़ाया और इस प्रकार 'सामी' मतवाद में प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का समावेश हो गया। इसीलिये बहुत से यूरोपीय विद्वान इसे सामी मत के विरुद्ध आर्य धर्म की प्रतिक्रिया मानते हैं। श्री नीरदकुमार राय तो इस पर उपनिषदों का स्पष्ट प्रभाव देखते हुये भी इसे एक स्वतंत्र सृष्टि मानते हैं।

सूफियों ने सादगी और आडम्बरहीनता को प्रधानता दी। वे विश्वास करने लगे कि प्रेम द्वारा आत्मा और परमात्मा में सान्निध्य उपस्थित किया जा सकता है। यद्यपि यह मत वेदान्त के विशिष्टाद्वैतवाद के अधिक निकट है फिर भी उस पर नास्टिक, मानी, नवअफलातूनी, यहूदी, और मसीही आदि मतों के प्रभावों को भी सिद्ध किया जा सकता है। सूफियों की 'इलहाम' और 'हाल' की दशा का मूल भी सामियों से मिलता जुलता है। सामियों के नबी; रति भाव से घृणा करते थे। कभी-कभी जब उन पर देवता चढ़ आता था तब वे जो कुछ बोलते थे वह देव वाणी समझी जाती थी। यही 'इलहाम' था और इस दशा को 'हाल' की दशा कही जाती थी। सूफियों की पीर परस्ती और समाधि पूजा भी सामियों की है। उनमें मूर्तियों के चुम्बन और आलिङ्गन की जो व्यवस्था थी और जो यहोवा के अनुयायियों द्वारा मूर्तियों के नष्ट कर दिये जाने पर प्रत्यक्ष रूप से समाप्त हो गयी थी—वह परोक्ष रूप से आज तक सूफियों के वस्ल और बोसे के रूप में विद्यमान है। सामी जातियों की वही गुह्य मंडली जिसमें कहीं सुरापान हो रहा है कहीं हाल आ रहा है, कहीं इलहाम हो रहा है और कहीं करामात दिखाई जा रही है—दूसरे रूप में सूफियों में भी पाई जाती है।

सूफी दर्शन

सूफी दर्शन का वेदान्त और इस्लामी दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन करने से वह दोनों का समन्वय सा मालूम होता है। इसकी साधना का आलम्बन है 'अल्लाह'। वेदान्त में यही ब्रह्म है। बौद्ध साधना के 'निर्वाण'

कुरान उसे 'लाइलाहीइलिल्लाह' कहकर स्मरण करता है। सूफियों का 'अल्लाह' शक्ति और शासकत्व का प्रतीक तो है ही साथ ही साथ करुणा-मय भी है। वह सबके हृदय में निवास करता है। शुद्धात्मा अपने हृदय में ही उसका दर्शन कर सकता है। जिली साहब इस अल्लाह के चार गुण बताते हैं। १. जात (एकता, नित्यता, सत्यता और सार्वभौमिकता) २. जमाल (उदारता, माधुर्य और क्षमा) ३. जलाल (शक्ति और शासकत्व) और ४. कमाल (विरोधी गुणों का समाहार और अलौकिक शक्तियों का स्वामित्व,) कुरान में भी चारों गुणों की यत्रतत्र चर्चा है। वह अल्लाह के जमाल और जलाल पर जोर देता है और सूफी: जात और कमाल पर और शेष दोनों गुणों की भी उपेक्षा नहीं करते। अल्लाह क्रमशः अहद, वाहिद, रमजान और रब्ब के रूप में विकसित होता है। 'अहद' के पहले वह 'जात' रूप में रहता है। उस समय की अवस्था को अमा की अवस्था कहते हैं। इसे ठीक-ठीक जाना नहीं जा सकता। जब उसे अपने को व्यक्त करने की इच्छा होती है तब वह 'अहद' के रूप में आ जाता है। अहद को वेदान्त में तद्भाव और अहंभाव का मिश्रण कहा जा सकता है। सूफी इन भावों को हाविय्या और अन्निया का भाव कहते हैं। पहले को अव्यक्त या 'बातिन' कहते हैं, दूसरे को व्यक्त अथवा 'जाहिर'। 'अहं' ने रूप धारण किया और वाहिद अथवा 'एक' के रूप में बदल गया। फिर एक से अनेक हुये। ब्रह्मवाद से मिलते-जुलते रहने के कारण इसमें 'रहस्यवाद' का कुछ न कुछ अंश मिला रहना स्वाभाविक ही है।

'अल्लाह' के बाद सूफी-चिन्तकों ने जीव पर भी विचार किया है। सत्य तो यह है कि वे 'अनलहक' का अनुभव करने वाले होते हैं। वेदान्त उसी को 'अहं ब्रह्मास्मि' कहता है। कुरान में जीव का प्रश्न उठता ही नहीं। उसमें तो सर्वोपरि स्थान है अल्लाह का और उसके नीचे उसके रसूल हैं। मुहम्मद साहब अंतिम रसूल माने जाते हैं। उनके बाद कोई आने का नहीं। सूफी अल्लाह और बन्दे में अन्तर नहीं मानते। इन्सान अल्लाह का प्रति रूप है। उसे अल्लाह ने खास तौर से अपनी 'नूर' से बनाया है। इन्सान एक आइना है जिसमें वह अपना रूप देखता है। अल्लाह और जीव के सम्बन्ध पर कुछ सूफी दार्शनिकों ने विचार करने का प्रयत्न किया है। हल्लाज कहता है

कि जीवपूर्ण रूपेण 'अल्लाह' नहीं बन सकता है। हाँ! वह उस प्रकार घुल-मिल सकता है जैसे पानी में शराब। दोनों की सत्ताओं का लोप नहीं हो पाता। सूफी इस मत की उलटी दिशा में सोचते हैं। उनका कहना है कि प्रेमी और प्रेमिका देखने में तो दो हैं पर वास्तव में दोनों शरीरों में मिथुन रूपेण एक ही आत्मा निवास करती है। जिली भी कहता है कि प्रेमी और प्रिय एक ही आत्मा है जो क्रम से दो शरीरों में रहते हैं। फारिज के शब्दों में प्रिय सदा प्रेमी और प्रेमी सदैव प्रिय है क्योंकि सत्ता ही सत्ता से प्यार करती है। साधना पक्ष में यह मत केवलाद्वैतवाद के सन्निकट है। अन्तर थोड़ा सा है। एक ज्ञानाश्रित है दूसरा भावाश्रित।

प्रत्येक दर्शन ने ईश्वर और जीव के पश्चात् जीव को पथभ्रष्ट करने वाली किसी न किसी शक्ति पर विचार किया है। सूफी चिन्तक इसके अपवाद नहीं। उनके अनुसार रूह के ही कारण सृष्टि का निर्माण होता है। अल्लाह की निरन्तर झलक दिखलाने वाली शक्ति ही का नाम रूह है। इन्सान उससे शून्य नहीं। सृष्टि भी अल्लाह के लिये तड़पती है। इन्सान की रूह का उसके शरीर से जो सम्बन्ध है वही रूह का सृष्टि से भी है। जिली कहता है कि उसने अपनी सत्ता का रूप रूह में दिया। उससे सृष्टि और फरिश्तों की उत्पत्ति हुयी। सृष्टि के सारे उपकरण अल्लाह के अंग प्रत्यंग की झलक है। अल्लाह ही सत्य है, शेष उसकी छाया मात्र है। उसमें अल्लाह का स्वरूप देखा जा सकता है। सूफी सृष्टि में अल्लाह का स्वरूप देखता है, तन्मय होता है और हक की अवस्था तक पहुँच जाता है। जीव अल्लाह का प्रतिबिम्ब ही है इसलिये जीव और सृष्टि का घनिष्ट सम्बन्ध है।

सृष्टि दर्पण है, उसमें अल्लाह अपना मुँह देखता है। उसका प्रतिबिम्ब ही इन्सान है पर इन्सान भूल से सृष्टि में अपना मुँह देखना चाहता है अतः भ्रम से वह अहं में ग्रस्त हो जाता है। अल्लाह में वह तभी मिलता है जब वह सृष्टि के सौन्दर्य को अल्लाह के सौन्दर्य का दर्पण समझ ले।

वेदान्त की 'माया' सूफियों के यहाँ 'शैतान' के रूप में काम करती है। शैतान 'अल्लाह' और इन्सान के बीच में पर्दा डाले रहता है। कुरान में भी शैतान की चर्चा आती है। खुदावन्द करीम ने जब अपने नूर से

अवस्था कहते हैं। यह सौभाग्य बहुत कम लोगों को प्राप्त होता है। यही जीव की अन्तिम परिणति है। साधनावस्था में नफ्स (वासना) बहुत बाधा डालती है। कुछ लोग इसे इबलीस तक कह डालते हैं। इससे लड़ने में 'अक्ल' कोई काम नहीं करती। इल्म भी बुद्धि विलास का ही दूसरा नाम है अतः उससे भी कुछ हो नहीं सकता। उससे लड़ने के लिये तो मुआरिफ (प्रज्ञा) की आवश्यकता होती है। खुदी (अहङ्कार) रूह का सब से बड़ा शत्रु है। साधक इसी खुदी को नष्ट कर के खुदा बन जाना चाहता है।

सूफी साधना

सूफी साधना इस्लामी साधना के नियमों की नूतन व्याख्या है। परिस्थितियों के कारण जब सूफियों को इस्लाम में बाध्य होकर रहना पड़ा तब उन्होंने इस्लाम के संघ वाद की अनेक मान्यताओं को अपनाते हुये भी उसकी नयी विवेचना करनी शुरू की। इस्लाम की व्यवस्था में धर्म का रूप ही प्रधान है। तौहीद (अल्लाह एक हैं) इस्लाम का मूल मन्त्र है। इसकी साधना के चार अंग हैं। सलात, जकात, सौम और हज्ज। आचरण की शुद्धता के लिये दिन में पाँच बार नमाज पढ़ना आवश्यक है। इसे सलात कहते हैं। इसमें ईश्वर की प्रशंसा और मुहम्मद साहब का गुणगान किया जाता है। यह साधना एकान्त में भी की जाती है और समारोह में भी। 'जुमे' की समारोह में जो नेतृत्व करता है, उसे 'इमाम' कहते हैं। 'अल्लाह' शासक है, इसलिये अत्यन्त नम्रता के साथ उसके प्रति दास्य की भावना से स्वयं को अर्पित कर देना चाहिये। दास्य की भावना की स्वीकारोक्ति ही सलात है। सूफियों ने इमाम के स्थान पर गुरू की प्रतिष्ठा की। इसमें केवल नाम स्मरण ही नहीं होता बल्कि आत्मा में बेचैनी भी जगानी पड़ती है। सलात में उपासक का मुँह काबा की ओर होना चाहिये किन्तु सूफियों ने इसे व्यर्थ समझा। खुदा को हाजिर व नाजिर मानने वालों के लिये यह सम्भव भी कहां था? सलात में जिस प्रकार अनेक आसन हैं, उसी प्रकार सूफियों की इस साधना में भी जिक्र की अनेक मुद्रायें हैं। इससे एक प्रकार से इस्लाम में योग की मुद्राओं का समावेश हो गया।

विशेष अवसरों पर दान करने को जकात कहते हैं। मुहम्मद साहब ने

तो इसकी व्यवस्था इसलिये कर दी थी जिससे संघ में निर्धन और धनी नाम के सदस्य ही न रह जांय। साल में एक बार मुक्त हस्त से दान कर देने पर संघ शक्ति दृढ़ ही होती है, कुछ कमजोर नहीं। सूफियों ने इसे दूसरे रूप में ग्रहण किया। उन्होंने कहा कि परोपकार करना चाहिये और प्रत्येक व्यक्ति को प्राणि मात्र पर दया करनी चाहिये। जब इस भावना का और भी अधिक प्रचार हुआ तो उन लोगों ने सर्वस्व त्याग का प्रचार करना और दीनता के गीत गाना आरम्भ कर दिया। यहां पर सभी सूफी एक मत नहीं हैं। कुछ लोग कहते हैं कि खुदा के बन्दों को चाहिये कि वे अपने को अल्लाह ताला को सौंप कर निश्चिन्त हो जाँय। इस मत के प्रचार का यह फल हुआ कि सूफियों की एक अच्छी खासी संख्या अकर्मण्य होकर बैठने लगी। वे सन्तोष को परमसुख मानने लगे। दूसरी कोटि के सूफी सन्तों का कथन है कि लोगों को कर्म भी करना चाहिये। इस प्रकार सूफियों के द्वारा कर्म प्रधान इस्लाम निवृत्ति प्रधान हो गया। सौम का अर्थ होता है तप। वर्ष में एक महीने तक खान, पान, रहन, सहन, निद्रा और योग के नियम से संघ शक्ति बलशालिनी होती है। इसे रोजा रखना भी कहा जाता है। रमजान के महीने में रोजा रखने की व्यवस्था है। इसी महीने में 'कुरान' का अवतरण हुआ था और मुहम्मद साहब ने अपने विरोधियों का गहरी शिकस्त दी थी। सूफी तपस्वी तो थे ही, उन्होंने आहार शुद्धि और उपवास आदि साधनाओं का विस्तार कर दिया। उनमें से कुछ ने तो सीधे ललकारना शुरू किया कि केवल महीने भर उपवास करना ढोंग के सिवा और कुछ नहीं है। बहुत से सूफी तो वर्ष भर इस तप में लगे रहे। ऐसे लोगों को जिन्द (आजाद) कहा जाने लगा था।

जीवन में एक बार मदीने जाकर मसजिद की परिक्रमा करना और संग असवद (काला पत्थर) को चूमना हज्ज कहलाता है। सूफियों ने इसकी रंच मात्र भी चिन्ता नहीं की। उनके लिये तो 'मोहि में तोहि में खड़ग खंभ में' निवास करने वाले को स्थान विशेष में ढूँढ़ना मूर्खता के सिवा और कुछ नहीं था।

सूफियों ने सलात और हज्ज की विशेष चिन्ता नहीं की। उन्होंने ज़कात और सौम पर ही विशेष ध्यान दिया और देते भी क्यों न

जब कि उनकी साधना समाज की न होकर व्यक्ति की थी। यह तो रस्म मात्र था।

उनकी असली साधना की पहली सीढ़ी का नाम है शरीअत। यह भी साधारण इस्लामी कर्मकाण्ड ही है। सूफियों ने इसे इसीलिये अपना लिया है कि उनकी साधना इस्लाम की साधना से बाहर न मालूम पड़ सके। इसके कई मुकामात हैं जिन्हें क्रम से तोबा, जेहद, सब्र, शुक्र, रजाअ, खौफ, तवक्कुल, रेजा, फिक्र और मुहब्बत कहा जाता है। साधना मुहब्बत से आरम्भ होती है। इसके लिये साधक को उन सभी वस्तुओं का त्याग करना पड़ता है जो मुहब्बत के रास्ते में बाधक हों। जो कुछ त्रुटियाँ हुयी हों उसके लिये पश्चाताप करना ही तोबा है। रास्ते में जो बाधायें टपक पड़ती हैं, उनसे लड़ना भी पड़ता है। लड़ने का ही नाम जेहद है। असफलता मिलने पर सब्र करना चाहिये। इसके अतिरिक्त शैतान पग-पग पर बहकाता भी तो रहता है। उससे बचते रहना चाहिये और इसलिये खुदा का शुक्र मानना चाहिये। ईश्वर पर विश्वास और उससे हमेशा अच्छी उम्मीदें रखने को रजाअ कहते हैं। उससे डरते रहने को खौफ कहते हैं। रोजी के लिये कर्म करने और फिर ईश्वर के भरोसे पर हो जाने को तवक्कुल कहते हैं। मौलाना रूम ने इस पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'गुफ्त पैगम्बर ब आवाजे बलन्द, बर तवक्कुल जानुए उश्तुर बबन्द।' पैगम्बर ने बलन्द आवाज में कहा—'ऊँट को बाँध कर तब तवक्कुल करो।' तटस्थ होकर ईश्वर का ध्यान करने को रेजा कहते हैं। चिंतन करते रहने को फिक्र कहते हैं। शरीअत के बाद की सीढ़ी तरीकत है। इस सीढ़ी पर पाँव रखने वाले अधिकांश साधक अकेले साधना नहीं कर सकते अतः उनके लिये एक मुरशिद (भेदिया) की आवश्यकता होती है। वह उसे जान जाता है कि मुरीद (शिष्य) में तीव्र लगन पैदा हो गयी है तब वह जेहाद (चित्त वृत्तियों के विरोध) की शिक्षा देता है। इसमें सफलता प्राप्त कर लेने पर साधक को म्वारिफ (प्रज्ञा) का बोध हो जाता है और वह आरिफ बन जाता है। वह धीरे-धीरे परमात्मा का रूप चिंतन करने लगता है। विरह उसकी साधना बन जाती है और वह तरीकत को पार करके 'हकीकत' में पहुँचता है। इसके बाद वह यह नहीं जानता कि

वह अपनी प्रियतमा से भिन्न है। यही वह दशा है जब सूफी 'अनलहक' चिल्ला पड़ता है।

अष्टछाप में जो पुष्टि मार्ग है वही यहाँ आकर म्वारिफ हो गया है। यह साधनावस्था नहीं अनुभूति की अवस्था होती है। कभी-कभी शरीअत और तरीकत के बिना भी साधक हकीकत में प्रवेश कर सकता है। शरीअत, तरीकत, मारफत और हकीकत, भारतीय उपासना क्षेत्र में क्रमशः कर्म काण्ड, उपासना काण्ड, ज्ञान काण्ड, और भक्ति काण्ड से मिलता जुलता है। सूफी एक प्रकार से भक्त है। 'सिर्र' की अवस्था का पहुँचा हुआ सूफी हिन्दुओं के 'परम हंस' की तरह है। बाशरा सूफी लोकरंजन के लिये ही 'शरीअत' का पालन करता है परन्तु बेशरा सूफी शरीअत और तरीकत का कायल नहीं।

भारत आगमन—भारत और ईरान का व्यापारिक सम्बन्ध होने के कारण दक्षिणी भारत के लोग बहुत पहले से ही सूफियों से परिचित थे। ७वीं ८वीं शताब्दी में जब उन पर मुसलमान शासकों का अमानुषिक अत्याचार होने लगा तब वे भारत की ओर भागने लगे। उनके साथ उनके बहुत से मुसलमान शुभ चिन्तकों को भी भागना पड़ा। वे सूफी ७१३ ई० के लगभग मुल्तान पहुँच गये थे। इनके साथ आने वाले मुसलमान भी गृहस्थ के रूप में बस गये थे। भारतीयों ने इन्हें आश्चर्य और श्रद्धा की दृष्टि से देखा था। उस समय यहां पर महायानीबौद्धों, गोरख पंथियों और हठयोगियों की परम्परा चल रही थी। ये सूफी साधक भारतीय साधना के प्रति सहिष्णु थे। उन्होंने अपने को यहाँ की चाल ढाल, और वेश भूषा में शीघ्र ही ढाल लिया। योगियों, सिद्धों और इनकी वेष भूषा में कोई विशेष अंतर नहीं था। इन लोगों ने यहाँ के लोंगों से कुछ सीखा और कुछ सिखाया। क़रीब-क़रीब तीन शताब्दियों तक सिन्ध और पंजाब के प्रदेश सूफियों की साधना के केन्द्र बने रहे। इनके मुख्य क्षेत्र थे सिन्ध, पञ्जाब, दिल्ली, मुलतान और अजमेर परन्तु धीरे-धीरे और हिन्दी भाषी प्रदेश भी इनसे परिचित होने लगे।

यद्यपि भारत पर मुसलमानों के छिट फुट हमले ८वीं शताब्दी के भी पहले से होते आ रहे थे परन्तु उस समय उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। ९वीं शताब्दी तक तो यहाँ का राजनैतिक संगठन यथेष्ठ दृढ़ था।

उसके बाद सामन्त गण विलासिता में डूब गये; झूठी प्रतिष्ठा के फेर में पड़कर वे आपस में लड़े। मुसलमानों ने इस आन्तरिक कलह से लाभ उठाया। सोमनाथ (१०२७ ई०) और मथुरा (१०२२ ई०) तक मुसलमानों के आक्रमण होते रहे लेकिन प्रचण्ड वीरों को घर में ही वीरता दिखाने से फुरसत मिलती तब तो ! इस शताब्दी में धर्म, दर्शन, पुराण और काव्य की ऊँची उड़ाने भरी गयीं परन्तु सामन्त गण अपने 'कविराजों' के ही कवित्तों पर झूमते रह गये। राष्ट्र का जीवन खोखला होने लगा। मुसलमानों ने एक एक करके तथाकथित पहलवानों को उन्हीं के अखाड़े में दे मारा और उनके होश ठिकाने लगा दिये।

११वीं शताब्दी में पश्चिमी भारतवर्ष में मुसलमानों के उपनिवेश बन गये थे। १०८३ ई० में लाहौर में गजनी राज्य की स्थापना होने के बाद धर्म परिवर्त्तन विशेष रूप से होने लगा। फिर भी २००, ३०० वर्षों तक इस्लाम का प्रचार न हो सका। ११९७ ई० के आस पास बख्तियार खिलजी ने बौद्ध विहारों और नालंदा जैसे विश्वविद्यालयों को भूमिसात किया। आस्तिक मुसलमानों ने नास्तिक बौद्धों की ढूंढ़-ढूंढ़ कर खबर ली, पश्चिमी प्रदेश में यह अत्याचार तो था ही अब पूर्वी प्रदेश के लोग भी बल पूर्वक मुसलमान बनाये जाने लगे। मुसलमानों ने अपने अमानवीय अत्याचारों से हिन्दुओं के हृदय पर जो घाव कर रखे थे उस पर सूफी साधुओं ने प्रेम का मलहम लगाना शुरु किया। वे हिन्दी की भाषा में ही अपनी धारा का प्रकाशन किया करते थे।

हिन्दी के सूफी कवि—

भारत में आने के पश्चात सूफी कवियों ने धर्म प्रचार के लिये हिन्दवी और हिन्दी की अवधी नामक विभाषा में रचनायें कीं। गुप्त काल में उत्तरी भारतवर्ष में शौर सेनी, मागधी, पैशाची, अपभ्रंश, और महाराष्ट्री भाषाओं का प्रचार था। इनके परस्पर व्यवहार के कारण एक नयी भाषा बन रही थी। ७वीं शताब्दी में गुर्जर राजपूत सामन्तों द्वारा यह परस्पर व्यवहार में भी लायी जाती थी। अनुमान किया जाता है कि राजपूत काल में यह सारे उत्तर भारत तथा दक्षिण में सामान्य आदान-प्रदान

की भाषा रही होगी। यह थी प्राचीन हिन्दवी। डा० मोहन सिंह ने हिन्दवी कविता के काल को १५८० ई० और १७३६ ई० के बीच का समय निर्धारित किया है। अभी तक की खोजों के अनुसार मिराजुल आशमीन सन् १३९२ ई० में लिखा हुआ हिन्दवी का सर्व प्राचीन सूफी ग्रन्थ है। सूफी साहित्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी रचना के बाद सूफी भाव धारा से प्रभावित अनेक काव्य ग्रन्थों की सृष्टि हुयी। १३वीं शताब्दी से ही दकन इस्लामी सूफी कवियों का केन्द्र था। चौदहवीं शताब्दी में हिन्दवी भाषा के माध्यम से सूफी साहित्य का यथेष्ट प्रचार हुआ। कबीर भी इस प्रभाव से बच न सके। उस समय की हिन्दवी कविता में अरबी, फारसी शब्दों का बाहुल्य है, छन्द देशी है। उत्प्रेक्षायें और उपमायें भारतीय परम्परा से ली गई हैं। इनमें प्रेम के पीर की अभूतपूर्व व्यञ्जना हुयी है। मसनवी शैली में लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की ओर इंगित किया गया है।

अवधी कवियों में सर्व श्रेष्ठ सूफी कवि हैं मलिक मुहम्मद जायसी। उन्होंने अपनी प्रख्यात कृति पद्मावत में अपने पूर्व लिखे गये 'स्वप्नावती', 'मुग्धावती' 'मृगावती' 'मधुमालती' और 'प्रेमावती' नाम की अनेक रचनाओं का उल्लेख किया है। इनमें से सब तो उपलब्ध नहीं हैं। हां! कुछ की खंडित प्रतियाँ अवश्य मिली हैं। मुल्लादाउद को सूफी परम्परा का सर्व प्राचीन कवि माना जाता है और उनके बाद रज्जब मियाँ सूफी मत और फारसी तथा हिन्दी भाषाओं के अच्छे जानकार थे। उन्होंने 'प्रेम पन जीव निरंजन' नाम की एक कविता पुस्तक का निर्माण किया है। सन् १५५० में कुतुबन ने अवधी में मृगावती नामक एक प्रेमाख्यानक काव्य रचा। अवधी में लिखी गई सूफी कविता पुस्तक की यह प्रथम उपलब्ध पुस्तक है। इसी के द्वारा हिन्दी में सूफी मत का प्रचार हुआ। इसके बाद मंझन की 'मधुमालती' का नाम लिया जाता है। इसमें नायक और नायिका के साथ ही उप नायक और उप नायिका का भी विधान किया गया है। मृगावती की अपेक्षा इसकी कल्पना विशद एवं वर्णन हृदयग्राही है। मंझन के बाद आते हैं सर्वश्रेष्ठ सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी।

जायसी

रायबरेली के जायस नामक ग्राम में सं० १५५६ में उनका जन्म हुआ था। मलिक उनकी पैतृक उपाधि थी, मुहम्मद नाम था और जायस निवासी होने के कारण वह अपने को जायसी लिखा करते थे। उनके पिता एक साधारण किसान थे। सात वर्ष की अवस्था में ही बेचारे जायसी पर शीतला का प्रकोप हुआ और उसी में उनकी बायीं आंख जाती रही। उनका चेहरा कुरूप हो गया और वे एक कान से बहरे भी हो गए। इसके कारण वे अपने जीवन से निराश नहीं हुये बल्कि उन्होंने अपनी पुस्तक में अपनी कुरुपता का बड़े गर्व से वर्णन किया और शुक्राचार्य से अपनी तुलना की। बचपन में ही वह अनाथ हो गये थे अतः उन्होंने साधु फकीरों के साथ रह कर ही जीवन बिताने का निश्चय किया। उन्हें किसी पाठशाला में शिक्षा नहीं मिली थी। संतों के सत्संग में उन्हें हिन्दू-धर्म और दर्शन का पर्याप्त ज्ञान हो गया था। इसी प्रकार उन्होंने हठयोग, वेदान्त, रसायन और ज्योतिष का भी थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त किया। फकीरों के साथ रहने के कारण कुरान में उनका विश्वास दृढ़ हो गया था। फिर भी वे अन्य धर्मों को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखा करते थे। और शेख मुहीउद्दीन के चरणों में बैठकर उन्होंने सूफी मत की साधना भी की थी।

जायसी का नाम उस समय के सिद्ध महापुरुषों में गिना जाता था। उनके शिष्यों की संख्या भी अच्छी खासी ही थी। कहा जाता है कि उनका एक शिष्य अवध के अमेठी राज्य में जाकर पद्मावत के एक अंश नागमती का बारह मासा गा गा कर भीख मांगा करता था। एक बार अमेठी के राजा के कानों में भी वह पूत स्वर लहरी टकरा उठी। भिक्षुक बुलाया गया। राजा ने फिर से उन पंक्तियों को सुना और उससे रचयिता का नाम पूछा। शिष्य ने गुरू का नाम बता दिया, जायसी आदर पूर्वक अमेठी राज्य-दरबार में बुलाये गये। राजा की प्रार्थना को स्वीकार करके वह वहीं पर रहने भी लगे। जन-श्रुति है कि उन्हीं के आशीर्वाद से अमेठी नरेश को पुत्र रत्न की प्राप्ति भी हुयी। इससे उनके सम्मान में चार चाँद लग गये।

मलिक मुहम्मद जायसी अपने जीवन के अंतिम दिनों में राम नगर के पास स्थित अमेठी के मङ्गरा नामक बन में रहते थे। अमेठी के राजा से एक

बार उन्होंने कहा था 'मैं योग बल से वन्य पशुओं का रूप धारण कर लिया करता हूँ।' उनकी बात पर विश्वास करके राजा ने उस जंगल में शिकार खेलने की मनाही कर दी। दैव योग से एक शिकारी कहीं से शिकार खेलता हुआ उस बन में आ पहुँचा, तभी उसके कानों में बाघ की गरज सुनाई पड़ी। प्राणों की रक्षा के लिये उसने गोली चला दी। पास जाकर देखा तो बाघ के स्थान पर जायसी का मुर्दा शरीर मिला। अमेठी के राजा ने वहीं पर उनकी समाधि बनवा दी। इस जन-श्रुति पर विश्वास कर लेने पर उनकी मृत्यु सं० १६०० के आसपास ठहरती है।

रचनायें

वैसे तो जायसी २१ ग्रन्थों के प्रणेता माने जाते हैं परन्तु अभी तक उनके केवल तीन ग्रन्थ ही उपलब्ध हो सके हैं। अखरावट, आखिरी कलाम और पद्मावत। अखरावट में वर्ण माला के एक-एक अक्षर को लेकर सिद्धान्त सम्बन्धी तत्वपूर्ण चौपाइयां लिखी गई हैं। यह एक छोटी सी पुस्तक है जिसमें ईश्वर, सृष्टि और ईश्वर प्रेम आदि विषयों पर विचार प्रकट किये गये हैं। आखिरी कलाम में कयामत का वर्णन किया गया है। इन दोनों पुस्तकों में एक अपरिपक्व विचार धारा वाले मुसलमान नवयुवक-कवि के दर्शन होते हैं। उनकी सर्व श्रेष्ठ रचना है पद्मावत जो उनकी अक्षय कीर्ति का भंडार है। पद्मावत में सिंघल द्वीप के राजा गन्धर्व सेन की कन्या पद्मावती और चित्तौड़ के राजा रत्न सेन की प्रेम कथा है। हीरामन तोते से पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुनकर रत्न सेन के दिल में प्रेम की पीर जाग उठती है। विरह संतप्त राजा अपनी रानी नागमती तथा राज पाट को छोड़ योगी बन कर सिंघल द्वीप के लिये प्रस्थान करता है। अनेक कठिनाइयों के बाद भगवान शंकर की कृपा से उसे पद्मावती मिलती है। चित्तौड़ लौटने पर अपने दरबार के राघव चेतन नामक पंडित से वाद विवाद में झगड़ा होने पर उसे देश निकालने की सजा देता है। राघव चेतन दिल्ली जाता है और वहाँ के यवन सम्राट अलाउद्दीन से उसके रूप की प्रशंसा करता है। लालची अला-उद्दीन उसकी बातों पर विश्वास करके चित्तौड़ पर चढ़ाई कर देता है। विफल कामना होते देख वह संधि का प्रस्ताव करता है और धोखे से राजा को पकड़वा कर राजधानी में भेजवा देता है। अन्त में पद्मावती की चतु-

रता और गोरा बादल की वीरता से रत्न सेन छूट आता है। जिस समय रत्न सेन को अलाउद्दीन ने कैद कर रखा था उसी समय कुम्भलनेर के राजा देव पाल ने कुटनियों को भेज कर पद्मावती को पथ-भ्रष्ट एवं हस्तगत करने की कोशिश की थी। लौटकर आने पर रत्नसेन को इन बातों का पता चला, तब वह आपे में न रहा।

उसने कुम्भलनेर पर चढ़ाई की। देवपाल से द्वन्द्व युद्ध शुरू हुआ। दोनों मारे गये।

रत्नसेन का शव चित्तौड़ ले आया गया। अन्त में नागमती और पद्मावती रत्नसेन के शव के साथ भस्मीभूत हो गयीं। यही है पद्मावत की कथा जो प्रेम गाथा की परम्परा में सब से प्रौढ़ एवं सरस कृति है।

काव्य-कला

पद्मावत का पूर्वार्द्ध काल्पनिक और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है। जायसी ने कल्पना और इतिहास का मिश्रण इस अनुपात से किया है कि उनकी प्रबंध-पटुता पर लोग दांतों तले उँगली दबाते हैं। वह एक उच्चकोटि के साधक और प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। इस भावुक कवि की रचनाओं में प्रेम मार्गी शाखा की मनोवृत्तियों और अनुभूतियों का अनोखा प्रतिनिधित्व हुआ है। उनका हृदय मानव प्रेम की पूत भावनाओं से ओत-प्रोत था इसीलिये उन्होंने अन्य मतों का खण्डन मण्डन न करके केवल उस प्रेम का निरूपण किया है जिसकी अमृतधारा मानव मात्र की शिराओं में प्रवाहित होती रहती है। उनके पद्मावत में भी शृङ्गार के दोनों रूपों संयोग और वियोग का मार्मिक वर्णन मिलता है। प्रेम की पीर जगाने में उन्हें अभूत पूर्व सफलता मिली है। आज तक विरह वर्णन पर कोई माई का लाल लेखनी नहीं उठा सका। नागमती के विरह वर्णन की एक-एक पंक्ति इस बात की गवाही देती है। उन पंक्तियों के प्रवाह की तीव्रता में तन्मय होकर पाठक विरहिणी की भावधारा में वह चलता है। यह विरह वर्णन वेदना से भरे हुये हृदय का अतिद्रावक एवं कारुणिक चित्र उपस्थित करता है। उनके बारह मासे तथा नख शिख वर्णन में प्रकृति भी सम्वेदन शील और सहानुभूति रखने वाली दीख पड़ती है "बरसै मघा झकोरि-झकोरी, मोर दुई नैन चुवैं जस ओरी" जैसी अनेक

पंक्तियों के उदाहरण उद्धृत कर इसे सिद्ध किया जा सकता है कि इस भांति वे एक प्रकार से छायावाद के अत्यन्त निकट पहुँच जाते हैं।

वे बहुश्रुत थे इसीलिये उन्होंने पद्मावत में इस्लामी सूफी धारा का वेदांत, योगनिष्ठ भारतीय रूप उपस्थित किया है और वह भी अपनी अनेक मौलिकताओं के साथ। उस समय वेदान्त, हठ योग तथा भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित थी। पद्मावत में राम, कृष्ण की जिन पौराणिक कथाओं का उन्होंने उल्लेख किया है उससे इस बात का पता चलता है कि वे उन पौराणिक महापुरुषों के चरित्र से भली-भांति परिचित थे। उनकी यह पुस्तक उनके इतिहास, पुराण, ज्योतिष तथा रसायन ज्ञान का दर्पण है। भौगोलिक अज्ञान के कारण पद्मावत में कहीं-कहीं त्रुटियां अवश्य आ गई हैं परन्तु समय को देखते हुये वह भी क्षम्य हैं। अन्य सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं में केवल प्रेम, करुणा, श्रद्धा भक्ति, तथा कोमल भावों की ही अभिव्यञ्जना की है परन्तु पद्मावत के लेखक का भाव पक्ष लोकभावना से समन्वित होकर युद्ध उत्साह क्रोध आदि के वर्णनों से परिपूर्ण है। अन्त में कवि अपने रहस्य का उद्घाटन करता है।

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिङ्घल बुधि पदमिनि चीन्हा
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिन्नु गुरु जगत को अवगुन चीन्हा
नागमती यह दुनिया धन्धा। बाँचा सोहन एहिचित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलादीन सुल्तानू॥

जायसी का दृश्य चित्रण भी अपूर्व है। उनसे सम्बन्धित भाव आदि भी अनूठे हैं। भारतीय हृदय जिन दृश्यों की मधुरता पर युग-युगान्तरों से कुरबान होता आया है उन्हीं को इस चतुर कवि ने अपनी रचना में स्थान भी दिया है। वन उपवन हाट आदि के वर्णन पर फारसी का प्रभाव स्पष्ट है।

कहीं-कहीं पर तो उन्होंने बड़ी मार्मिक सूक्तियां कह दी हैं। समाज द्वारा मान्य साधारण तथ्यों को भी उन्होंने चमत्कार पूर्ण ढंग से ही कहा है। उदाहरण के लिये।

भोर होइ जो लागै, उठहिं रोर के काग।
मसि छूटै सब रैन के, कागहि केर अभाग॥

जैसी अनेक पंक्तियाँ पेश की जा सकती हैं।

भाषा और शैली

जायसी की ठेठ अवधी में उनका पूर्वी रूप ही अधिक देख पड़ता है। परन्तु कहीं-कहीं पश्चिमी अवधी के शब्द-रूप भी मिल जाते हैं। तू या तै के स्थान पर वह तुहँ का प्रयोग करते हैं। प्राचीन और अप्रचलित भाषा के शब्दों का भी कम प्रयोग नहीं मिलता। ढूँढ़ने लगिये तो दिनअर, सस-हर, भुवाल, और बिसहर जैसी अनेक प्राकृत संज्ञायें मिल जायेंगी। अनेक स्थलों पर व्याकरण विरुद्ध प्रयत्न भी दिखलाई पड़ते हैं। वाक्यों में विभ-क्तियाँ, सम्बन्ध-वाचक सर्वनामों और अव्ययों का लोप हो जाने से भाषा असंयत हो उठी है। वाक्यों में न्यून पदत्व दोष है। जो कुछ हो, भाषा बोल चाल की है और शब्दों का तोड़-मरोड़ कम है। समस्त पदों के दर्शन मुश्किल से होते हैं। लोकोक्तियों और मुहाविरों के उचित तथा विवेक पूर्ण प्रयोग के कारण भाषा में स्वाभाविक माधुर्य आ गया है।

यद्यपि फारसी की मसनवी शैली के ही आधार पर उन्होंने अपने प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ की सृष्टि की है, फिर भी बातों को कहने का उनका अपना ढंग है। अलंकारों के प्रयोग में जबरदस्ती नहीं बरती गई है वे अपने स्वाभाविक रूप में आकर रचना को अलंकृत कर गये हैं। छन्द शास्त्र का ज्ञान उन्हें नहीं के ही बराबर है इसी से दोहे और चौपाइयों के लिखने में भी कहीं-कहीं भद्दी भूलें हो गई हैं।

जायसी की परम्परा के अन्य सूफी कवि

जायसी के बाद जमालुद्दीन का नाम आता है। उनकी 'जमाल-पच्चीसी' नाम की हस्तलिखित पुस्तक मिली है। दोहे, कवित्त, और छप्पय में लिखा गया यह एक साधारण कोटि का काव्य ग्रन्थ है। अहमद नाम के एक अन्य सूफी कवि की भी कुछ फुटकर रचनायें मिली हैं जिसके दोहे और सोरठे नाविक के तीर से किसी हालत में भी कम चोट नहीं करते। इसी परम्परा में 'चित्रावली' नामक किताब के लेखक उसमान का नाम भी लिया जाता हैं। जहांगीर के समय में वह वर्तमान थे। सूफी सम्प्रदाय के कवियों की तरह उन्होंने भी ईश वन्दना, पैगम्बर और खलीफाओं की प्रार्थना, तथा जहांगीर—शाह निजामुद्दीन एवं हाजी बाबा के ऊपर चन्द पंक्तियाँ लिख मारी हैं। पद्मावत के ढंग पर इसमें भी दोहों और चौपाइयों का क्रम है

उसी की तरह इसमें भी नगर, सरोवर, यात्रा आदि का वर्णन मिलता है। इसमें एक विलक्षणता भी है और वह यह कि 'जोगी ढूँढ़न खण्ड' में इनके जोगी अंग्रेजों के द्वीप में भी पहुँच गये हैं।

इसके पश्चात् शेखनबी ने 'ज्ञान दीप' नामक एक आख्यानक काव्य लिखा। इसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवयानी का वर्णन है। जटमल ने गोरा बादल और प्रेमलता नामक दो पुस्तकें चौपाइयों में लिखीं। इनकी अन्य फुटकर रचनाओं में पञ्जाबी पन तो है ही, पर काव्य सौष्ठव की भी कमी नहीं। इसके बाद किसी प्रेमी साहब की प्रेम परकास नामक एक हस्त-लिखित पुस्तक प्राप्त हुई है। इसकी भाषा खड़ी बोली मिश्रित अवधी है।

इसमें प्रेम और विरह का अनूठा वर्णन मिलता है। प्रेमी साहब के पश्चात् कासिम शाह ने हंस-जवाहिर की कहानी लिखी है। इसमें राजा हंस और जवाहर की कथा वर्णित है। आरम्भ की प्रार्थना इत्यादि पद्मावत के ही ढङ्ग की है। तत्पश्चात् नूर मोहम्मद ने 'इन्द्रावती' नामक एक सुन्दर आख्यानक काव्य लिखा जिसमें कालिञ्जर के राजकुमार राज और अगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम कहानी है। कवि ने जायसी के पूर्ववर्ती कवियों की तरह पाँच-पाँच चौपाइयों के उपरान्त दोहे का क्रम रखा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार यह सूफी पद्धति का अंतिम ग्रन्थ है। नूर मुहम्मद ने अनुराग बाँसुरी भी टेरी है। शरीर, जीवात्मा, और मनो-वृत्तियों को लेकर एक अध्यवसित रूपक (Allegory) खड़ा करके कहानी बाँधी गयी है। अन्य सूफी कवियों की कहानियों के बीच में दूसरा पक्ष व्यंजित होता है पर यह सारी कहानी और सारे पात्र ही रूपक हैं। इन्होंने चौपाइयों के बीच में दोहे न रख कर बरवै रखे हैं। भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द और ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

सूफी परम्परा में सूरदास नामक एक पंजाबी हिन्दू को छोड़कर शेष सभी मुसलमान थे। सूरदास शाहजहाँ के समय में था। उसने नल दमयन्ती की कहानी लिखी है। रचना निकृष्ट है। प्रेममार्गी शाखा का पाठ समाप्त करते हुये पं० शुक्ल ने लिखा है—"साहित्य की कोई अखण्ड परम्परा समाप्त होने पर भी कुछ दिन तक उस परम्परा की कुछ रचनायें इधर उधर होती रहती हैं। इस ढङ्ग की पिछली रचनाओं में चतुर्मुकुट की कथा और

'युसुफ जुलेखा' उल्लेख योग्य है। आज भी बहुत से लोग उस ढङ्ग की कवितायें लिखते होंगे परन्तु कोई नवीन कृति इधर प्रकाश में नहीं आयी और उधर रुचि न होने के कारण उन्हें कोई ढूँढ़ने का प्रयत्न नहीं करता।

सूफीवाद का परवर्ती कवियों पर प्रभाव

आज का कोई ज्ञात हिन्दी कवि सूफी मत के प्रचार के लिये कवितायें नहीं लिखता, परन्तु हमारे साहित्य के आधुनिक काल में जब द्विवेदी युग की इत्तिवृत्तात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुयी तब अनेक रहस्यवादी कवि प्रकाश में आये। उन कवियों की रचनाओं में सूफी कवियों का भावात्मक रहस्यवाद भी दिखलाई पड़ने लगा। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति चित्रमयी भाषा में प्रेम निवेदन शुरू हो गया। अभिसार, अनंत प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पाँव आना, मद में झूमना आदि के साथ ही साथ साकी, शराब और प्याला भी इकट्ठा हो गया। प्रियतम के वियोग में उसी तरह तड़पना, स्त्री पुरुष सम्बन्ध वाले वही दृष्टान्त कुछ परिवर्तित रूप में सामने आने लगे। प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा के स्थान पर मुक्तकों की रचना की जाने लगी। सर्वश्री मुकुटधर पाण्डेय, रामनाथ सुमन, भगवती चरण वर्मा के प्रारम्भिक प्रगीतों से इसका आभास मिलने लगा। कुछ दिनों के बाद कुछ कवि हमेशा के लिये मौन हो गये, कुछ लोगों ने दूसरा रास्ता अख्तियार कर लिया और कुछ अपनी साधना पर ही रहे। प्रेम की इस भाव धारा की बड़ी सफल व्यंजना विरह की साधिका महादेवी वर्मा की रचनाओं में हुयी। सूफी कवियों की वही टीस, वही सिहरन, वही व्याकुलता और तड़पन उनकी कविताओं में अत्यन्त उत्कृष्ट और परिष्कृत रूप में सामने आयी। अपने इन रूपों में सूफी कवि आधुनिक कविताओं में भी उपस्थित हैं।

प्रेम की पीर जगाने वाले इन सूफी कवियों में कुछ ऐसी बातें पायी जाती हैं जो सभी में समान रूप से मिलती हैं और जिनके कारण इस देश का बड़ा कल्याण हुआ है। उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दू मुसलिम एकता का घोर प्रयत्न किया और असीम की ओर संकेत किया।

प्रेममार्गी कवियों की प्रवृत्तियाँ

१—उन कवियों की प्रेमगाथायें भारतीय प्रबन्ध काव्यों की सर्गबद्ध शैली में न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हैं। इनमें फारसी पद्धति के अनु-

सार कथारम्भ के पूर्व, ईश्वर वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, गुरु वंदना, तथा तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा मिलती है।

२. इस पद्धति से विरह की साधना करने वाले प्रायः सभी मुसलमान थे। फिर भी हिन्दू धर्म की सामान्य भावना से परिचित होने के कारण उन लोगों ने हिन्दू धर्म के आचार-विचारों के ज्ञान का पूर्ण परिचय दिया है। उन्होंने हिन्दू घरों की कथाओं को अपनी कविता का विषय बनाया है और उसमें इतिहास की वहीं तक रक्षा की है जहाँ तक उन्हें उनके साध्य अलौकिक प्रेम की व्यंजना में उसका साथ मिला है।

३. कहानियों के ही आधार पर उन लोगों ने अपने सिद्धान्तों की ओर भी संकेत किये हैं। ये प्रेम कथायें लौकिक प्रेम के बहाने, अलौकिक प्रेम को व्यञ्जना करती हैं।

४. सभी सूफी कवियों ने फारसी और भारतीय पद्धति समन्वित प्रेम का चित्रण किया है। वहाँ आशिक, माशूक की ओर आकर्षित होता है, तड़पता है, आँसू बहाता है और जिगर थाम लेता है। माशूक की प्राप्ति के लिये वह आकाश के तारे तोड़ लाने की हिम्मत रखता हैं। लैला की ओर मजनू ही आकर्षित हुआ था। फरहाद ने शीरीं के लिये क्या-क्या नहीं किया ? भारतीय पद्धति के अनुसार नायिका नायक की ओर आकर्षित होती है। वह लोक लाज खो देने का भी दम रखती है और अपने प्रेमी को प्राप्त करने के लिये एड़ी चोटी का पसीना एक करती हैं। गोपियाँ कृष्ण पर लट्टू नहीं हुयी थीं ? जायसी ने भी पद्मावत में पहले फारसी प्रेम पद्धति का ही चित्रण किया है परन्तु अन्त में पद्मावती और नागमती की रत्नसेन के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति दिखलाकर उन्होंने अपने को भारतीय होने का पक्का सबूत पेश किया है। लगभग सभी सूफियों ने यही प्रणाली स्वीकार की। शैतान भी भारतीय माया का ही पार्ट अदा करता है।

५. उन कवियों ने कबीर आदि संत कवियों की तरह किसी मतवाद या धार्मिक सिद्धान्त का खंडन नहीं किया। नित्य के जीवन में मनुष्य जिस हृदय साम्य का अनुभव करता है उसकी सुन्दर और सुखद अभिव्यञ्जना उनकी रचनाओं में हुयी।

६. सभी सूफी कवियों की रचनाओं पर भारतीय अद्वैतवाद, वैष्णवों की अहिंसा, उपनिषदों का बिम्ब प्रतिबिम्बवाद, पतंजलि द्वारा निरूपित योग आदि का प्रभाव दिखलायी पड़ता है। इसके अतिरिक्त उनकी कृतियों में रहस्यवाद की अनुपम और सरस व्याख्या हुयी है। संत कवियों का रहस्यवाद अत्यन्त नीरस और शुष्क है इसका कारण यह है कि उन्होंने शांकर-अद्वैतवाद को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। "ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या" का पृष्ठ पोषण करने वालों के लिए पर यह स्वाभाविक ही है। जगत के वहिष्कार के कारण रागात्मक अनुभूतियों का अभाव हो ही जाता है। सूफियों के रहस्यवाद में हृदय की मधुरतम भावनाओं की अभिव्यंजना हुयी है। विरह की साधना करने वाले इन फकीरों की कृतियाँ हमारे साहित्य की अनमोल निधियाँ हैं।

कृष्ण-काव्य

भूमिका—

सर्व प्रथय ऋगुवेद संहिता और यजुर्वेद के पृष्ठों पर कृष्ण नाम के दर्शन होते हैं। यजुर्वेद के कृष्ण ने किसी 'कृष्ण केसी' नामक राक्षस का वध भी किया था। छान्दोग्य उपनिषद में देवकी पुत्र श्री कृष्ण का उल्लेख आया है, जिन्होंने ऋषि अंगिरस के चरणों में बैठकर आत्म ज्ञान की पिपासा शान्त की थी। वासुदेव धर्म की उन्नति के साथ ही वासुदेव पुत्र द्वारिकाधीश श्री कृष्ण का परिचय प्राप्त होता है। यही कृष्ण महाभारत के प्रेरक भी कहे जाते हैं। उनकी प्रतिभा में मानवेत्तर शक्ति के दर्शन होते थे। बाद को भागवत महापुराण में उनकी भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की गयी। लोग उन्हें परम भागवत कहने लगे।

आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य जी ने भक्ति को भ्रान्ति बताकर अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की। बाद को रामानुजाचार्य ने उनके मायावाद से जान छुड़ायी। स्वामी जी ने विशिष्टाद्वैत वाद का प्रतिपादन कर अपने श्री सम्प्रदाय का प्रचार किया। उनकी उपासना में ज्ञान का अंश अधिक था। विवेक की आवश्यकता थी इसलिये उनका सिद्धान्त अधिक लोगों को आकर्षित न कर सका। तदनन्तर द्वैतवाद के आधार पर माधव सम्प्रदाय की स्थापना हुयी और कृष्ण की उपासना पर जोर दिया गया। आगे चलकर निम्बार्क ने राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया।

१५वीं और १६वीं शताब्दी में इस आन्दोलन ने जोर पकड़ा। बंगाल में चैतन्य महा प्रभु कृष्ण के बाल रूप की उपासना का उपदेश करने लगे। आन्दोलन के मुख्य प्रवर्तकों में वल्लभाचार्य जी का भी नाम लिया जाता है।

स्वामी वल्लभाचार्य

स्वामी जी की जन्म तिथि वैशाख कृष्ण ११ सं० १५३५ और मृत्यु-तिथि आषाढ़ शुक्ल ३ सं० १५८७ मानी जाती है।

दार्शनिक सिद्धान्त ! शुद्धाद्वैतवाद

शंकराचार्य ने केवल निरुपाधित निर्गुण ब्रह्म ही की सत्ता स्वीकार की थी। उन्होंने भक्ति को भ्रान्ति मान लिया था। वल्लभाचार्य जी ने अद्वैत वाद का खण्डन करते हुये कहा, कि ब्रह्म में दो अचिन्त्य शक्तियाँ होती हैं। आविर्भाव और तिरोभाव। परमेश्वर सच्चिदानन्द (सत्, चित्, और आनन्द) स्वरूप हैं। वह अपनी ही शक्ति से कभी जगत में परिणत हो जाता है, और कभी उससे परे हो जाता है। वह अपनी शक्ति का कहीं आविर्भाव और कहीं तिरोभाव किये हुये है। ब्रह्म का असली और पारमार्थिक रूप तो सगुण ही है। निर्गुण में वह अंशतः तिरोहित रहता है। माया नामक किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। उन्होंने अपने तर्कों के द्वारा शंकर के मायावाद को शुद्ध कर दिया। इस प्रकार उनके मत-वाद-का नाम पड़ा शुद्धाद्वैतवाद।

ब्रह्म

सत्, चित्, आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही का नाम 'कृष्ण' है। वह परब्रह्म परमेश्वर है। वही संसार का पालन पोषण भी करता है और संहार भी। वही सृष्टि का उपादान कारण है। उसी से जीव और प्रकृति की उत्पत्ति होती है।

जीव

जब ब्रह्म में उसके सत् और चित गुणों का आविर्भाव तथा आनन्द का तिरोभाव होता है तब जीव के रूप में उसकी परिणति हो जाती है।

जीव के तीन प्रकार

जीव और प्रकृति ब्रह्म की आंशिक अभिव्यक्ति है। इन्हीं तीनों तत्वों के विभेद से परमात्मा, जीव, और प्रकृति में अन्तर मालूम पड़ता है।

जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है। जीवात्मा के तीन प्रकार होते हैं। मुक्ति योगिन, नित्य संसारिन, और तमोयोगिन। मुक्ति योगिन सर्व श्रेष्ठ आत्मा का नाम है। यही मुक्ति की अधिकारिणी भी है। नित्य संसारिन आत्मायें अनन्त काल तक आवागमन का चक्कर काटती रहती हैं। तमोयोगिन सब से निकृष्ट आत्मा है।

प्रकृति में ब्रह्म का केवल सत् आविर्भूत रहता है शेष तिरोभूत।

जीवन का लक्ष्य

जीवन का लक्ष्य है मोक्ष की प्राप्ति। उसको प्राप्त करना बहुत कठिन नहीं है। लक्ष्य तक पहुँचने के दो मार्ग है। मर्यादा मार्ग और पुष्टि मार्ग।

मोक्ष प्राप्ति का साधन मर्यादा मार्ग

ज्ञान से ब्रह्म को पहिचानना ही मर्यादा मार्ग का अनुसरण करना है। समाज के इने गिने लोग इस पंथ पर अग्रसर होने का साहस करते है। यह सब के वश की बात नहीं होती।

पुष्टि-मार्ग

वल्लभाचार्य ने तो साधारण जनता के लिये भी मुक्ति मार्ग का निर्देश किया। उन्होंने कहा कि भगवान अपने भक्तों के लिये व्यापी बैकुण्ठ में अनेक प्रकार की क्रीड़ायें करता रहता है। व्यापी बैकुण्ठ के एक खंड का नाम गोलोक है। इस गोलोक में यमुना, वृन्दाबन निकुंज आदि सभी कुछ है। श्री कृष्ण जी यहाँ पर अलक्ष्य भाव से गोचारण तथा रास लीला किया करते हैं। जीवन का लक्ष्य है, भगवान की इसी नित्य लीला-सृष्टि में प्रवेश कर जाना। लेकिन इसमें प्रवेश करना लोहे के चने चबाना है। इसके लिये भगवान के अनुग्रह की आवश्यकता होती है। अनुग्रह का ही दूसरा नाम पोषण या पुष्टि है। स्वामी जी इसी को पुष्टि मार्ग कहते हैं। यह मार्ग मुक्ति प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ और सरलतम साधन है।

पुष्टि के चार प्रकार

पुष्टि के चार प्रकार बताये गये हैं। प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि पुष्टि और शुद्ध पुष्टि। प्रवाह पुष्टि, पुष्टि की पहली अवस्था है। जब भक्त संसार में रहते हुए भी कृष्ण की भक्ति करता है। तत्पश्चात् पुष्टि की दूसरी सीढ़ी आती है। इसका नाम मर्यादा पुष्टि है। इसमें भक्त संसार के सुखों को

त्याग कर श्री कृष्ण का गुण गान और कीर्तन करता है। फिर पुष्टि पुष्टि की अवस्था आती है। जिसमें भक्त को कृष्ण-प्रेम का व्यसन हो जाता है। भगवान का अनुग्रह उसे मिल ;जाता है फिर भी वह साधना-रत ही रहता है। शुद्ध पुष्टि, पुष्टि मार्ग का छोर है। भक्त के ऊपर भगवत्-कृपा की छाया रहती है। उसे न दीन की खबर रहती है न दुनिया की। वह अपने नटवर ही के ही कीर्तन में भूला रहता है। वह कन्हैया लाल की लीला से तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

उसे लगता है जैसे उसका हृदय ही गोलोक है, और उसमें दिन ढले, कदम्ब की छाँव में कृष्ण जी मुरली बजा रहे हैं। वंशी ध्वनि सुनकर झुन्ड की झुन्ड गोपियाँ दौड़ती हुयी आ रही हैं। यह लो, गोपिकाओं ने अपने ही हाथों के घेरे में मुरारी को बाँध लिया, वंशी बज रही है। नृत्य चल रहा है।

पास ही हरी हरी घास पर गायें बैठी हुई हैं, कुछ पगुरी कर रही हैं। कुछ बच्चों को चाट रही हैं। बछड़े भी प्यार के बोझ से कभी आंखें मूँद लेते हैं और कभी खोल देते हैं। वंशी बज रही है। नृत्य चल रहा है।

भक्त, भक्ति की सभी अवस्थाओं को पार करके विरहासक्ति में पहुँच जाता है। वह आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है और इस प्रकार उसके लक्ष्य गोलोक की प्राप्ति हो जाती है।

पुष्टि मार्गीय सेवा-विधि

श्री कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये पुष्टि मार्गीय सेवा विधि की व्यवस्था की गयी है। सेवा करने के दो ढंग हैं—क्रियात्मक और भावात्मक। शरीर और द्रव्य से जो सेवा की जाती है उसे क्रियात्मक सेवा कहते हैं। यह सेवा इसलिये की जाती है कि भक्त के मन से अहंकार, ममता, मोह इत्यादि विकार दूर हो जायँ। उसमें कुछ दृढ़ता आ जाय, उसका ध्यान इधर उधर न भटक कर केवल भगवान श्री कृष्ण के चरण-कमलों में ही लगा रहे। क्रियात्मक सेवा भावात्मक सेवा की नींव है। अपने मन मन्दिर में गिरधर गोपाल की मूर्ति बसा कर मन ही मन सेवा करते रहने की भावना को ही भावात्मक सेवा कहते हैं। शरीर और मन को भगवान की सेवा में नियोजित करने के लिये कुछ नैमित्तिक कर्मों का विधान किया गया है। ये कुल आठ हैं (१) मंगलाचरण (२) शृंगार (३) गो चारण (४) राज भोग (५) उत्था-

पन (६) भोग (७) सन्ध्या आरती और (८) शमन। भक्त प्रातः काल से लेकर सायंकाल तक इसी कर्म में लगा रहता है। इसके अतिरिक्त वार्षिकोत्सव के अवसर पर श्री कृष्ण के नित्य और अवतार लीलाओं के उत्सव, षट् ऋतु, लोकाव्यवहार तथा वैदिक पर्वों के उत्सव होते हैं। अवतारों की जयन्तियाँ भी मनाई जाती हैं।

वल्लभ सम्प्रदाय का प्रचार

अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिये स्वामी वल्लभाचार्य ने देश भर का भ्रमण किया। उन्होंने विद्वानों से तर्क किये और अपने शुद्धाद्वैतवाद तथा पुष्टि मार्ग की प्रतिष्ठा की। सब जगहों से घूम फिर कर वह अपने आराध्य श्री कृष्ण की जन्म भूमि में लौट आये। वहीं पर उन्होंने अपनी गद्दी भी स्थापित की। उनके शिष्य श्री पूरनमल खत्री ने गोवर्धन पर्वत पर श्री नाथ जी का एक विशाल मन्दिर बनवा दिया। नियमित रूप से उनकी सेवा की जाने लगी। धीरे-धीरे उनके सम्प्रदाय का प्रचार इतना बढ़ा कि अच्छे अच्छे वैष्णव भी उनसे दीक्षा लेने के लिये लालायित हो उठे। उन वैष्णवों में कुछ उच्चकोटि के कवि और गायक भी थे। सूरदास जी स्वामी वल्लभाचार्य के शिष्यों में थे। उनके ऊपर श्री नाथ जी के कीर्तन की जिम्मेदारी थी, स्वामी जी की आज्ञानुसार श्रीमद्भागवत को ब्रज भाषा के छन्दों में उतारने का भी भार उन्हीं के ऊपर था।

१६वीं शताब्दी में स्वामी जी ने जिस पुष्टि सम्प्रदाय की स्थापना की थी वह समय पा कर खूब फूला फला। इसने विधर्मियों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। स्वामी जी ने अपने प्रमुख चौरासी शिष्यों को जो शिक्षायें दी थीं तथा उनकी शंकाओं का जो समाधान किया था, वह 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में मिलता है। वल्लभाचार्य जी के पश्चात् उनके सुयोग्य आत्मज गोस्वामी बिट्ठल दास जी ने अपने पिता के काम को आगे बढ़ाया। उन्होंने अपने दो सौ बावन सुयोग्य शिष्यों से जो धार्मिक वार्ता की है वह "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" में संगृहित है। स्वामी जी के समय में उनके सम्प्रदाय का इतनी सुन्दरता और सफलता से प्रचार हुआ कि विधर्मी भी श्री स्वामी जी से दीक्षा लेने को लालायित हो उठे। मुहम्मद इब्रा-

हिम जो आगे चल कर 'रसखान' के नाम से प्रसिद्ध हुये, स्वामी जी के ही शिष्य थे।

अष्ट छाप

विक्रम की १७वीं शताब्दी के आरम्भ में गोसाईं बिट्ठल दास जी ने चार अपने पिता जी के और चार अपने प्रमुख शिष्यों की एक मण्डली बनाई। उनके पिता जी के शिष्यों में से कुम्भानदास, सूरदास, परमानन्द दास और कृष्णदास जी थे। उनके शिष्यों में थे नन्ददास, गोविन्ददास, छीत स्वामी और चतुर्भुज दास। इस मंडली के आठों भक्त, अपने समय के उच्चकोटि के कवि, गायक तथा कीर्तनकार थे। सभी लोग बिट्ठल दास जी के साथ एक दूसरे के समकालीन थे। ये लोग गोवर्धन पर्वत पर स्थित श्री नाथ जी के मन्दिर में रहते थे और ब्रज भाषा में उनकी लीला के गीत गाया करते थे। इन्हें अष्ट सखा भी कहा जाता था। पुष्टि सम्प्रदाय के अनेक शिष्यों में से उन आठों के निर्वाचन द्वारा गोस्वामी जी ने अपने आशीर्वाद की छाप लगा दी थी। इस मौखिक तथा प्रशंसात्मक छाप के बाद ही ये महानुभाव अष्ट छाप के कवि कहलाने लगे। इन कवियों ने ब्रज भाषा में जो कवितायें लिखी हैं, वे काव्य कौशल की दृष्टि से उच्चकोटि की कविता के नमूने हैं। इनकी रचनाओं में प्रवाहित वात्सल्य, सख्य, माधुर्य तथा हास्य आदि भावों की स्रोत-वाहिनी लौकिक और पारलौकिक आनन्द प्रदायिनी है। अष्ट छाप के कवियों में सूरदास का नाम अग्रगण्य है।

कृष्ण काव्य की परम्परा और सूर

श्रीमद्भागवत में श्री कृष्ण के चरित्र का जो चित्र खींचा गया उससे अनेक कवि प्रभावित हुये। जय देव ने 'गीत गोविन्द' की रचना की। 'गीत गोविन्द' में शृङ्गार रस के मधुर और सुन्दर मुक्तकों का संग्रह है। इससे प्रभावित होकर तिरहुत के राजा शिव सिंह के राज कवि विद्यापति ने सं० १४६० के लगभग मैथिली भाषा में मीठे गीतों की सृष्टि की। विद्यापति शैव थे। उन्होंने राधा कृष्ण को लौकिक स्त्री-पुरुष मानकर उनके सौन्दर्य का हृदय स्पर्शी वर्णन किया है। उनका काव्य गीति काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। महाकवि सूरदास को ऐसे लोगों की परम्परा में होने का गौरव प्राप्त है।

कृष्ण भक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि सूर और उनकी रचनायें

सूर का जन्म सं० १५३५ माना जाता है। उनके जन्म स्थान के सम्बन्ध में अभी तक विद्वान गण एक मत नहीं हो सके। आधुनिक खोजों के अनुसार यह पता चला है कि वह रुनकुता के समीप गऊघाट पर ही साधु जीवन व्यतीत किया करते थे। संगीत की ओर पहले से ही उनका झुकाव था। मस्ती के क्षणों में उनकी रागिनी, तानपूरा के तारों से खेल लिया करती थी। एक बार वल्लभाचार्य जी से उनकी भेंट हो गई। उन्होंने स्वामी जी को स्वरचित पद सुनाया। इससे वह बहुत प्रभावित हुये और उन्होंने सूर को सम्प्रदाय में दीक्षित कर लिया। श्रीनाथ के मन्दिर में रह कर उनका गुण गान करने का काम इन्हें दिया गया। और तभी से श्रीकृष्ण सेवा में रत वह महाकवि अपने सुललित और गेय पदों के द्वारा रस की वर्षा करता रहा।

किंवदती है कि उन्होंने किसी सुन्दरी को देखकर आँखें फोड़ ली थीं। इसमें जो कुछ तथ्य हो परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि सूर जन्मान्ध नहीं थे। बालक की चेष्टाओं की जैसी जीती जागती तस्वीर उस अंधे ने खींची है, क्या कोई जन्मान्ध खींच सकता है ! सं० १६२० के लगभग पारसोली नामक गांव में गोस्वामी बिट्ठल दास के देखते देखते उस कवि मनीषी के प्राण पखेरू उड़ गये। वह महा गायक, महान कीर्तनकार और भक्त श्रेष्ठ अंतिम समय तक गाता रहा परन्तु मृत्यु उसके गीतों पर हाथ भी नहीं लगा सकी।

वैसे तो सूरदास के सम्बन्ध में यह कथा प्रचलित है कि उन्होंने कई ग्रंथों की रचना की थी परन्तु अभी तक प्राप्त उनके प्रामाणिक और स्वतन्त्र रचनाओं की संख्या केवल सात है। (१) सूर सारावली (२) साहित्य लहरी (३) सूर सागर (४) सूर साठी (५) सूर पच्चीसी (६) सेवा फल (७) सूरदास के विनय के पद।

सूर सागर, सूर सारावली और साहित्य लहरी बड़ी रचनायें हैं, शेष छोटी हैं।

सूर सागर का विशेष महत्व है जब कि अन्य रचनायें उनके ग्रन्थों की संख्या मात्र बढ़ाती हैं। सूर सागर, सूर सारावली और साहित्य लहरी की

अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्तायें भी नहीं है। मालूम होता है जैसे वे एक ही विशाल ग्रन्थ के भाग हों।

वर्ण्य विषय

सूरदास ने अपने आराध्य की उपासना सख्य भाव से की है। उनकी लीला के गान गाये हैं। कवि के सम्पूर्ण पदों को चार भागों में बांटा जा सकता है। (१) विनय और महिमा के पद (२) अवतार की कथायें (३) कृष्ण की लीलायें और (४) दार्शनिक तत्व सम्बन्धी पद। विनय और महिमा के पदों में भगवान की प्रार्थना, और विनय की भक्ति मूलक रचनायें हैं। इसमें सन्त महिमा, गुरु महिमा आदि का वर्णन किया गया है। अवतार की कथाओं में प्रायः सभी अवतारों को स्थान दिया गया है। इसमें उनके कवि हृदय का दर्शन नहीं मिलता बल्कि वे एक कथाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। कृष्ण की लीलाओं में बाल लीला, गोचारण, दान लीला मान लीला और मुरली माधुरी आदि लीलाओं का वर्णन किया गया है। उनकी कुछ कविताओं में उनके दार्शनिक चिन्तन का भी आभास मिलता है। इस प्रकार सूर ने अपने आराध्य कृष्ण की बाल्यावस्था से तरुणा-वस्था तक के चित्र खींचे हैं।

कविता

सूरदास के पूर्व जयदेव ने संस्कृत में और विद्यापति ने मैथिली में श्री कृष्ण को शृंगार का आलम्बन बना कर मधुर गीतों की रचना की थी। सूर दास ने ब्रजभाषा में कवितायें लिखकर और उसमें अपनी मौलिक प्रवृत्तियों का समावेश कर उनकी परम्परा की धारा को दूसरी दिशा में मोड़ दिया। चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य ने भगवान कृष्ण के जिस बाल रूप की उपासना का उपदेश किया था, उसका प्रचार सूर की कविताओं ने ही किया। उन्होंने वात्सल्य रस की उच्चकोटि की कवितायें लिखीं। आज तो सभी लोग मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं कि सूर की तरह वात्सल्य का चित्र खींचने वाला संसार में दूसरा कवि हुआ ही नहीं। बाल जीवन का जितना सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक और रंगीन चित्र सूर की कविताओं में दीख पड़ता है, वह उनकी मौलिकता का द्योतक नहीं तो क्या है?

उनके कृष्ण; आकाश के अलौकिक कृष्ण नहीं हैं वरन् धूलि में घुटुरन चलने वाले कन्हैया हैं। तभी तो उनकी भी छठी होती है, अन्न प्राशन होता है, नकछेदन होता है। छोटी-छोटी 'पैयां' लेकर उनसे भी नहीं चला जाता। बाल सुलभ भावों और चेष्टाओं की इतनी प्रचुरता कहीं देखने को नहीं मिलती। चित्रों की स्वाभाविकता उसकी मोहकता को और भी बढ़ा देती है। उदाहरण लीजिये।

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये।

यशोदा भी हमारी ही माताओं जैसी हैं। उनकी भी परेशानी देखिये।

सिखवत चलत यशोदा मैया।
अरबराय कर पानि गहावति, डगमगाय धरे पैयाँ॥

अथवा

पाहुनि करि दै तनिक मह्यो।
आरि करै मन मोहन मेरो, अंचल आनि गह्यो।
ब्याकुल मथत मथनियाँ रीती, दधि भ्वैं ढरकि रह्यो॥

बालक कृष्ण दही खाने में बड़ा तेज है। माखन चोर तो उसका नाम ही पड़ गया है। दूध कुछ अच्छा नहीं लगता, फिर भी चोटी बढ़ाने के लिये बेचारा उसे भी किसी तरह पीता ही है। दूध पीते-पीते तबियत ऊब गई लेकिन चोटी है कि बढ़ती ही नहीं। दूसरी ओर बलराम की चोटी का क्या पूछना? वह अपनी 'मैया' से पूछने लगता है।

मैया, कबहू बढ़ेगो चोटी।
कितिक बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल को बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी॥

आदि

स्पर्धा की कितनी स्वाभाविक व्यञ्जना उपर्युक्त पंक्तियों में मिलती है।

बालक गोपाल बड़ा शरारती भी है। वह हमेशा गोपियों के पीछे पड़ा रहता है। किसी की दही छीन कर खा जाता है तो किसी का रास्ता रोक लेता है और किसी को दूसरी तरह से तंग करता है। इसमें केवल उसी का दोष हो तो कहा भी जाय? गोपियां भी उस पर लट्टू हैं। रोज-रोज की 'छेड़-

खानी' अच्छी तो होती नहीं। अवस्था के साथ यही आदत प्रेम के रूप में बदल जाती है, जो 'छोड़ाये' नहीं छूटती। गोपियां उसके अनन्य प्रेम की अधिकारिणी हैं। मुरली बजी कि उनके झुण्ड के झुण्ड घरों से निकल पड़े। राधा एक चंचल किशोरी है। कभी वह विलास-चतुरा नायिका और कभी प्रोषित पतिका के रूप में दिखलायी पड़ती है। अन्त में वह अपने पति की भार्या ही प्रमाणित होती है।

कृष्ण उसे भी नहीं छोड़ते। बार-बार तंग करते रहते हैं। देखिये न,

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार प्यारी जँह ठाढ़ी।
मोहन करते धार चलति पय, मोहनि मुख अति ही छबि बाढ़ी।

इस प्रकार सब को रिझा कर अन्त में वह मथुरा चले जाते हैं। गोपियों को विरह के मँझधार में छोड़कर। कुछ अच्छा ही नहीं लगता उन्हें। संध्या भी आती है तो एक याद लेकर—

एहि बेरिया बन ते चलि आवते।
दूरहिं ते वह बेनु अधर धरि बारम्बार बजावते॥

कभी वह प्रकृति से अपनी तुलना करने लगती हैं। असमानता दीख पड़ने पर हरे-भरे पेड़ों को कोसने लगती हैं—

मधुबन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?
तुम हौ निलज लाज नहिं तुमको फिर सिर पहुप धरे।
ससा स्यार औ बन के पखेरू धिकधिक सबन करे।
कौन काज ठाढ़े रहे बन में काहे न उकठि परे।

इसी प्रकार सूर ने वियोग की सभी दशाओं का बड़ा सफल वर्णन किया है।

कृष्ण की मुरली से कुछ आध्यात्मिक संकेत भी मिलते हैं। वह कृष्ण की योग माया है। रासलीला में वंशी-रव द्वारा ही गोपी रूपिणी आत्माओं का आह्वान किया जाता है।

अपने 'भ्रमर-गीत' के द्वारा सूर ने हिन्दी साहित्य को एक अत्यन्त मर्म-स्पर्शी, वाग्वैदग्धपूर्ण तथा अमूल्य उपालम्भ काव्य दिया है। इसमें गोपियों

की मनोहारिणी वचन-वक्रता का वर्णन किया गया है। ऊधो, गोपियों को 'निर्गुण ब्रह्मोपासना' की शिक्षा देकर उन्हें कृष्ण प्रेम से विरत करना चाहते हैं। गोपियां उनके अज्ञान पर हँसती हैं, उन्हें बनाती हैं। पूछती हैं—

निर्गन कौन देस को बासी ?
मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै बूझत सांच न हाँसी।

ऊधो जी फिर भी नहीं समझ पाते और अपनी ही हाँके चलते हैं। वे फिर बनाती हैं लेकिन जब इस पर भी उनकी खोपड़ी में कोई बात नहीं धंसती तब वे साफ़ साफ़ कह देती हैं—बाबा तुम अपना निर्गुण ब्रह्म अपने पास ही रक्खो हमें तो कृष्ण के अवगुणों से ही प्रेम है।

ऊनो कर्म कियो मातुल बधि, मदिरा मत्त प्रमाद।'
सूर श्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद॥'

उनका विषय अलौकिक है फिर भी उसमें सामान्य हृदय को स्पर्श करने की शक्ति है। उनके समस्त चित्र मानवी और सामान्य हैं। ब्रज भाषा काव्य में वह नवीन प्रवृत्तियों के जनक थे। उनकी परम्परा आज तक ज्यों की त्यों विद्यमान है। सूर की कविताओं की चोट खाकर जिस व्यक्ति ने तड़प कर कहा था—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर को पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल शरीर॥

हमारी समझ से उस बेचारे ने अतिशयोक्ति तो नहीं ही की थी। आचार्य शुक्ल भी इसका समर्थन करते हैं—"यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य भूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता नहीं छूटा।

भाषा और शैली

भाषा की दृष्टि से भी सूर अपनी विशेषताओं के कारण प्रसिद्ध हैं। उनके पूर्व 'डिंगल' और 'सधुक्कड़ी' ही कविता की भाषायें थीं। ब्रज प्रदेश की बोली से कविता रचकर उन्होंने इस दिशा में एक नवीन प्रयोग किया। आगे चलकर उन्हें अपने प्रयत्न में इतनी सफलता मिली कि उनकी भाषा काव्य की एक 'स्टैण्डर्ड' भाषा मान ली गयी। उनकी भाषा सानुप्रास,

स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण और सजीव है। माधुर्य और प्रसाद उसकी आत्मा है। स्थान-स्थान पर लोकोक्तियों और मुहाविरों के प्रयोगों ने उसकी शोभा में चार चांद लगा दिये हैं। वह उनके भावों को ग्रहण करने में पूर्ण सक्षम है। उसमें ब्रज भाषा के ठेठ शब्द तो मिलते ही हैं, अवधी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती तथा बुन्देलखन्डी के शब्द भी कम नहीं मिलते। उनकी रचनाओं में प्रयुक्त संस्कृत के तत्सम शब्दों के कारण वे केवल ब्रज प्रदेश के ही न होकर सम्पूर्ण देश के हो गये हैं। फारसी के तद्भव शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है जो उनके हृदय की विशालता का परिचय देते हैं।

उन्होंने मुक्तक लिखे हैं। उनका काव्य गीति काव्य का उत्कृष्ट नमूना है। उनसे पूर्व जयदेव, गोवर्धनाचार्य तथा विद्यापति ने भी गेय पदों की रचना की थी, परन्तु वे पहले पहल संतों से ही प्रभावित हुये।

उनके बहुत से पद संतों के पदों की तरह लगते हैं। बाद को जब वे भी श्रीनाथ के मन्दिर में कीर्तनकार होकर आये तब से कोमलकान्त पदावली में निरन्तर अपने पावनहृदय का मधु घोलते रहे। उनकी रचनाओं को पढ़कर वही आनन्द मिलना है जो जयदेव और विद्यापति की कविताओं से, लेकिन उनकी कविताओं में जो व्यंग, जो सजीवता, स्वाभाविकता और गम्भीरता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी कला आँखों के आगे चित्र खड़ाकर देती है।

सूर को संगीत का भी अच्छा ज्ञान था। उन्होंने अनेक राग-रागिनियों के स्वर साधे हैं। यों तो उनकी रचनाओं में अनेक प्रकार के अलंकार दीख पड़ते हैं किन्तु उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकों की प्रचुरता है। उन्होंने शृंगार, हास्य, तथा शान्त रस पर बड़े अधिकार के साथ लिखा है। सम्पूर्ण विश्व में वात्सल्य रस के तो वह एक ही कवि हैं।

कृष्णोपासक कवियों की परम्परा

अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीहितहरि वंश और उनके शिष्य व्यासजी, चैतन्य महाप्रभु के शिष्य गदाधर भट्ट, टट्टी सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी हरि आदि लोगों ने भी कृष्ण के ऊपर सुन्दर रचनाओं की सृष्टि की। कृष्ण काव्य की रचना केवल वल्लभ सम्प्रदाय में ही नहीं हुयी, वैष्णव धर्म के गोड़िया और निम्बार्क सम्प्रदाय भी इस ओर प्रयत्नशील रहे।

छाँड़ि दई कुल की कानि कहा करिहै कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई॥

प्रियतम की खोज में पागलों की तरह, विरहिणी मीराँ दर दर भटक रही है। अपनी दशा का वर्णन भी करती है लेकिन 'घायल की गति घायल ही तो जानता है।' उसका 'दरद' और जान ही कौन सकता है? उसकी विह्वलता का चित्र नीचे की पंक्तियों में देखिये।

राम मिलण के काज सखी, मेरे आरति उरमे जागी री॥टेक॥
तलफत-तलफत कल न परत है विरह बाण उर लागी री।
निस दिन पंथ निहारू पीव को, पलक न पल भरि लागी री॥
पीव पीव मैं रटूँ रात दिन, दूजी, सुधि बुधि भागी री।
विरह भुवंग मेरो डस्यो है कलेजो, लहरि हलाहल जागी री।
मेरी आरति मेटि गुसाईं आइ मिलौ मोंहि सागी री।
मीराँ व्याकुल अति अकुलानी, पिया की उमंग अति लागी री॥

कृष्ण मीरा के जनम-मरण के साथी हैं। फिर, बिना उन्हें देखे बेचारी को कल कैसे पड़े? पंथ निहारते-निहारते उसकी आँखे थक जाती हैं लेकिन वह निर्मोही है कि आता ही नहीं। लाचार बावरी बहुत ही कारुणिक स्वर में अपने प्रियतम को याद करने लगती है—

म्हारे जनम मरण को साथी, थाने नहिं बिसरूँ दिन राती।
तुम देख्याँ बिन कल न परत है, जानत न मेरी छाती।
ऊँची चढ़ चढ़ पंथ निहारूं रोय रोय अखियाँ राती
यह संसार सकल जग झूँठों, झूठा कुलरा नाती।
दोउ कर जोड्याँ अरज करत हूँ, सुण लीज्यो मेरी बाती।

× × ×

पल पल तेरा रूप निहारूँ निरख-निरख सुख पाती।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर हरि चरनों चित राती॥

यह प्रेम साधारण कोटि का प्रेम नहीं है। यह प्रेम-साधना है जो आगे चलकर जीवन व्यापी चिरन्तन विरह का रूप धारण कर लेता है। वह चातक की तरह-तरह पिया पिया रटने लगती है। जल विहीन मछली की भांति

तड़पने लगती है। विरह की पीर उसके अंग-अंग में समा जाती है, और आंखों में नींद नहीं आती। उन्हीं के शब्दों में सुनिये :—

सखी मेरी नीद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारत सिगरी रैण बिहानी हो॥
सब सखियन मिल सीख दई मन एक न मानी हो।
बिन देख्यां कल नाहिं पड़त जिय ऐसी ठानी हो॥
अंग-अंग व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो।
अंतर बेदना बिरह की वह पीर न जानी हो॥
ज्यूँ चातक घन को रहै, मछरी जिमि पानी हो।
मीराँ व्याकुल बिरहिणी सुध बुध बिसरानी हो॥

मीरां के प्रेम और विरह सम्बन्धी पदों में उच्चकोटि के काव्य के दर्शन होते हैं। जायसी की नागमती की भाँति वह अपनी विरह कथा को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त नहीं देखतीं बल्कि भीतर ही भीतर तड़पती रहती है। प्रियतम के वियोग में उसने अपने हृदय की जिस व्याकुलता का चित्रण किया है वह अत्यन्त स्वाभाविक और मार्मिक है, संयत और शिष्ट है, दिव्य और प्रभाव पूर्ण है। आत्म-समर्पण की जितनी प्रबल भावना मीरां की रचनाओं में दीख पड़ती है, उतनी अन्य कवियों की कविताओं में नहीं। उनके पद अपनी स्निग्धता, और माधुर्य के लिये हमेशा याद किये जायेंगे। निस्संदेह हिन्दी में मीरां का विरह-वर्णन बेजोड़ है। संयोग के वर्णन बहुत कम मिलते हैं। संतों से प्रभावित होकर उन्होंने जो रचनायें लिखी हैं उनमें उनका कवि-हृदय पूर्णत: छिप-सा गया है। हां, वे मीरां की विचार-धारा पर थोड़ा बहुत प्रकाश अवश्य हैं। उनके कुछ पदों में कबीर के रहस्य वाद की भी एक झलक मिल जाती है। उदाहरण लीजिए—

बिन करताल पखावज बाजे, अनहद की झनकार रे।

उन्होंने कुछ ऐसी भी पंक्तियां लिखी है जो उनके जीवन की ओर संकेत करती हैं। ऐसे पद राणा विक्रमादित्य को सम्बोधित करके लिखे गये हैं।

राणा जी मैं तो गोविंद का गुण गास्याँ॥
चरणामृत का नेम हमारे, नित उठ दरसन जास्याँ।
हरि मन्दिर में निरत करास्यां, घूघरियाँ धमकास्यां। आदि

मीराँ की रचनाओं में वाग्विदग्धता, और उक्ति वैचित्र्य, वक्रोक्ति और अलंकारों की भरमार नहीं है। कदाचित् इसी से हमारे अनेक आलोचक उन्हें एक भक्त से अधिक नहीं मानते। यदि कविता का क्षेत्र केवल तुकबन्दियों तक सीमित है तब तो मीरां वास्तव में कवियित्री नहीं हैं। और इस पर किसी के दो विचार हो ही नहीं सकते। परन्तु क्या तुकबन्दी ही कविता है? उस्ताद गालिब की निम्नांकित पंक्तियों में कौन सा अलंकार है? कौन सी वाग्विदग्धता, कौन सा उक्ति वैचित्र्य है जो हमारे हृदय के तारों को झकझोर देता है।

कोई 'उम्मीद बर नहीं' आती
कोई सूरत नज़र नहीं आती।
मौत का एक दिन मुयैयन है
नींद क्यों रात भर नहीं आती।
आगे आती थी हाले दिल पै हँसी
अब किसी बात पै नहीं आती।

× × ×

क्यों न चीखूँ कि याद करते हैं
मेरी आवाज गर नहीं आती।
हम वहां हैं जहां से हमको भी
कुछ हमारी खबर नहीं आती।
मरते हैं आरज़ू में मरने की
मौत आती है पर नहीं आती
काबा किस मुँह से जाओगे गालिब
शर्म तुमको मगर नहीं आती।

कविता यह है। हृदय की स्वाभाविक और सरस अनुभूतियों की सरलतम और स्पष्टतम अभिव्यंजना। इस कसौटी पर मीराँ खरी उतरती हैं इसलिये वह एक उच्चकोटि की कवियित्री हैं।

भाषा और शैली

उनकी भाषा का कोई निश्चित नाम नहीं दिया जा सकता। अधिकांश

पदों में राजस्थानी मिश्रित व्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। उदाहरण लीजिए--

मन रे परस हरि के चरण।
सुभग शीतल कंवल कोमल त्रिविध ज्वाला हरण।
जिन चरण प्रह्लाद परसे इन्द्र पदवी धरण। आदि

उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं गुजराती, फ़ारसी तथा पंजाबी भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं। व्याकरण के नियम साधारणतः भाषा के अनुसार ही प्रयुक्त हुये हैं। परन्तु कहीं-कहीं खड़ी बोली की भी विभक्तियां दीख पड़ती हैं। उनकी भाषा में प्रवाह नहीं माधुर्य है। शैली सीधी-सादी और आकर्षक है। पिंगल का कोई नियम नहीं है। जैसे-जैसे भाव बदलते हैं वैसे-वैसे छन्दों की गति भी बदलती है। पदों में उपमा, उत्प्रेक्षा, और रूपक अलंकार अपने स्वाभाविक ढंग पर आते हैं। उनमें प्रयत्न नहीं मालूम पड़ता। पद प्रसाद गुण युक्त और गेय हैं।

रसखान

मीरां के बाद अनेक लोगों ने कृष्ण प्रेम की कवितायें लिखीं परन्तु 'रसखान' की गहराइयों तक कोई पहुँच न सका। उनका जन्म सं० १६१५ में दिल्ली के एक पठान राज वंश में हुआ। उनका असली नाम था मुहम्मद इब्राहीम। एक मस्त नवयुवक, जिसकी सौन्दर्योपासना और प्रेम-पिपासा विषय वासना की चरम सीमा तक पहुँच कर अन्त में आध्यात्मिक दिशा की ओर मुड़ गयी थी। श्री कृष्ण के प्रति उनकी उत्कट लालसा देखकर गोस्वामी विठ्ठल दास जी ने उन्हें अपने सम्प्रदाय में दीक्षित कर लिया था। रसखान ने भागवत के फारसी अनुवाद का अध्ययन किया था। पंडितों के सम्पर्क में आकर उन्होने संस्कृत भी सीख ली थी। बाद को उन्होंने हिन्दी काव्य ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन और परिशीलन किया। बहुत दिनों तक गोकुल में रहने के कारण उनका ब्रज भाषा पर भी अधिकार हो गया था। रसखान सचमुच रसखान थे, न तो उन्हें इह लोक को चिन्ता थी न परलोक का भय। श्री कृष्ण को आत्म समर्पण कर निश्चिन्त हो गये थे। सं० १६८५ में उनका गोलोक वास हो गया।

रचनायें

सं० १६४० से उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया था। प्रेम कबाटिका उनी

प्रथम कृति है जो सं० १६७१ में लिखी गयी थी। इसमें कुल मिलाकर २५ दोहे और सोरठे हैं जिनमें प्रेम का बड़ा ही विशुद्ध और हृदय ग्राही चित्र खींचा गया है। दूसरे ग्रन्थ का नाम है सुजानरसखान जिसमें कुल १२९ छन्द हैं १० दोहे और सोरठे, शेष कवित्त और सवैये। इसमें भी प्रेम ही की निर्मल धारा बह रही है। रसखान की रचनायें तो थोड़ी सी ही हैं, लेकिन हैं जोरदार।

कविता

रसखान के समय तक हिन्दी काव्य काफी ऊँचाई तक पहुँच गया था। उसमें कबीर और तुलसी; सूर और मीरां जैसे कवि हो चुके थे जिनकी रचनायें हृदय के तारों को झंकृत कर देने का दम भरती थीं। कृष्णभक्ति में सौन्दर्योपासना तथा मधुर भाव की प्रधानता थी। सूफियों के प्रेम की भी एक झलक इसमें मिल जाती थी इसलिये मुसलमानों को सगुण भक्ति की कृष्णाश्रयी धारा ने ही प्रभावित किया।

रसखान बडे भावुक थे, रसिक थे, प्रेमी थे। वे जीवन की कोमलता, सुकुमारता और प्रेमानुभूति के कवि हैं। प्रेम बाटिका में उन्होंने जिन पौदों को आरोपित किया था वे आज भी लहलहा रहे हैं। उनके सौरभ से आज भी हिन्दी-संसार मतवाला हो उठता है। इस काव्य संग्रह की रचनाओं में प्रेम के जिस पावन रूप की व्यंजना मिलती है, वह स्तुत्य है। सुजान रसखान कवि-हृदय के वह दर्पण हैं जिसमें गोपियों के बीच मुरली बजाते हुये कृष्ण के दर्शन होते हैं। कृष्ण के प्रति उनकी भक्ति सखा भाव की है। भक्ति का आधार है रूपासक्ति।

वह कृष्ण के रूप पर मुग्ध हैं उनकी महिमा पर चकित हैं, जिसकी महिमा का वर्णन करते शेष, महेश, दिनेश और सुरेश भी नहीं थकते वही जब अहीर की 'छोहरियों' के इशारों पर नाचने लगता है तब वह उसके हृदय की विशालता पर गा उठते हैं—

सेस महेस; गनेस, दिनेस, सुरेसहुँ जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखण्ड अछेद, अभेद, सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक ब्यास रटैं पचि हारैं तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियां छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥

आगे चलकर वह बताते हैं कि भगवान प्रेम के ही वशीभूत हैं। प्रेम भगवान है और भगवान प्रेम :—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यों पुरातन गानन वेदरिचा सुनी चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यों कबहूँ न कहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्यो, रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुञ्ज-कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन॥

वह कृष्ण की प्रत्येक वस्तु से प्रेम करने लगते हैं। प्रेम की यह विशेषता रसखान की ही कविताओं में मिलती है। उनकी एक अभिलाषा भी देखिए —

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं संग गोकुल गांव के ग्वारन।
जौ पशु हो तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हों तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरन्दर धारन।
जौ खग हों तो बसेरो करों मिलि कालिंदि कूल कदम्ब की डारन॥

कृष्ण प्रेम के आगे कवि जीवन की सारी महत्वाकांक्षाओं को ठुकरा देता है और चिल्ला कर कहता है—

या लकुटी अरु कामरिया पर राजतिहूँ पुरि को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि के सुखनन्द की गाय चराय बिसारौं॥
नैनन सों रसखान सबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतक ही कलधौत के धाम करील के कुञ्जन ऊपर वारौं॥

प्रेम का ऐसा सुन्दर उद्‌गार अन्यत्र दुर्लभ है।

भाषा और शैली

रसखान की भाषा बहुत चलती-फिरती और शब्दाडम्बर से रहित है। घनानन्द की शुद्ध ब्रज-भाषा की सफाई और मिठास इनकी काव्य कला में पुंजीभूत हो उठी है। रसखान ने अन्य कृष्ण भक्तों की तरह संगीत के पद नहीं लिखे। कवित्त और सवैयों में ही उनके सच्चे प्रेम की व्यंजना हुयी है। अनुप्रास की सुन्दर छटा, भाषा की चुस्ती और सफ़ाई जैसी इनकी कविताओं में मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

कृष्ण-काव्य की परम्परा के अन्य कवि

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त ध्रुव दास, नागरी दास, अलबेली अलिजी, चाचा हित वृन्दावन दास जी, भगवत रसिक, ललित किशोरी आदि भक्तों

ने कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित उच्च कोटि की रचनायें लिखी हैं। अन्य कृष्णोपासक भक्त कवियों में सर्वश्री गङ्ग, नरहरि, बीरबल, टोडर मल, बनारसी दास, नरोत्तम दास, लक्ष्मी नारायण, निपट निरंजन, लालच दास, कृपा राम, मनोहर कवि, बलभद्र मिश्र, केशव दास, होर्ती राम, सेनापति, पुहकर, जमाल, कादिर, कारे खाँ, मुबारक, आलम, महबूब, इसलीन, प्रवीण राम, छत्र कुँवरि बाई, साईं, रसिक बिहारी, प्रताप कुँवरि, सुन्दर कुँवरि, रत्न कुँवरि, दया बाई, सहजो बाई, ताज और शेख ने कृष्ण की लीलाओं का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है।

कृष्ण भक्ति काव्य की प्रतिक्रिया और कृष्ण काव्य का विकास

भक्त कवियों ने राधा और कृष्ण के जिस अलौकिक तथा पावन चरित्र का चित्रण किया था वैसा आगे के कवि न कर सके। रीति कालीन कवियों ने राधा और कृष्ण को साधारण स्त्री-पुरुष मान कर उनकी प्रेम लीलाओं का नग्न चित्रण किया। जिस भक्ति में प्रेम की प्रधानता और श्रद्धा का अभाव रहता है वह आगे चलकर वासना के रूप में बदल ही जाती है। कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने प्रेम लक्षणाभक्ति को ही अपनाया था, इसलिये एक तरह से उन लोगों ने स्वतः अश्लीलता के लिये मैदान तैयार कर दिया था। कृष्ण भक्ति-काव्य के शृंगार में बदल जाने के अनेक कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि लोग स्वामी वल्लभाचार्य की आध्यात्मिक विचार धारा को अच्छी तरह न समझ सके। स्वामी जी ने ब्रह्म के लिये कृष्ण, और मुक्त योगिन आत्माओं के लिए 'गोपी' शब्द का प्रयोग कर ब्रह्म की नित्य लीला का महत्व जन साधारण को समझाना चाहा था। लोगों ने उसे सूक्ष्म रूप में ग्रहण न करके स्थूल रूप में ही ग्रहण किया।

इस काल में मुगल साम्राज्य की जड़ें मजबूत हो चुकी थीं। लोग सुख और चैन का जीवन व्यतीत कर रहे थे। ललित कलाओं को प्रोत्साहन मिल रहा था। हिन्दू राजे विजेताओं के साथ हास-विलास में सम्मिलित हो, तज्जन्य रूप समता का अनुभव कर अपनी हार की पीड़ा को भूलने का प्रयास कर रहे थे, उन्हें अब कबीर के निर्गुणों की आवश्यकता नहीं थी। तुलसी और सूर के पद उनके हृदय की प्यास बुझाने में असमर्थ सिद्ध होने लगे थे। उनको तो किसी और तरह के रसराज की अपेक्षा थी। ठीक

समय पर स्वामि-भक्त दरबारी-कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की मनो-वृत्तियां पहचान लीं। राधा और कृष्ण के अलौकिक प्रेम-लीलाओं से लोग परिचित ही थे, उसे लौकिक भर ऽकर देना था। विद्यापति कर भी चुके थे। संस्कृत में शंकर और पार्वती का शृंगार वर्णन था ही। फिर क्या था, कवि महोदयों ने आँख-कान मूँद कर गाना शुरू किया। शीलता और अश्लीलता की सीमायें टूट गयीं, लेकिन उन महागायकों को इसका ध्यान नहीं रहा। इसके बाद इतिहास ने कई बार पलटा खाया। परिस्थितियाँ बदलीं। बुद्धिवाद के प्रभाव से लोग यथार्थ की ओर झुकने लगे। समाज ने नयी मान्यताओं को स्वीकार किया और कृष्णभक्तिकाव्य की धारा भी क्षीण पड़ गयी। फिर भी गोरखपुर से निकलने वाला 'कल्याण' मासिक पत्र 'कृष्ण भक्तों' की रचनाओं से परिचित कराता रहता है ।

भक्ति-काल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

भक्ति काव्य का अध्ययन करने के पश्चात् हमें छः प्रकार की प्रवृत्तियाँ दीख पड़ती हैं—

१. **राज दरबार से सम्बन्ध विच्छेद**—इस काल के कवियों ने राज दरबारों से नाता तोड़कर जनता के लिये उन्हीं की भाषा में कवितायें लिखीं। उनके लिए उनके इष्ट देव ही सर्वोपरि थे इसलिए उनका भजन करने के लिए इन भक्त कवियों ने जनता में घूम-घूमकर प्रचार किया।

२. **भक्ति**—सभी कवि भगवान के भक्त थे। किसी ने भगवान को निराकार मान कर उनकी भक्ति की, किसी ने उसे प्रेमिका समझकर विरह की साधना की, किसी ने सखा भाव से उसका कीर्तन किया और किसी ने दास की भावना से अपने को उसके चरणों में डाल दिया।

३. **गुरु का महत्व**—भक्तिकालीन कवियों ने गुरु को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया। कबीर ने गुरु को गोविन्द से बड़ा माना। जायसी ने गुरु की वन्दना की। सूर और तुलसी तो गुरु महिमा का वर्णन करते अघाते ही नहीं ।

४. **जन-कल्याण की भावना और समन्वय का प्रयत्न**—भक्त-कवियों ने जन-कल्याण की भावना से ही प्रेरित होकर कवितायें लिखी हैं। उन्होंने किसी न किसी रूप में ऐहिकता को निरर्थक सिद्ध करके अलौकिकता का

दिव्य संदेश दिया है। इन कवियों की रचनाओं का विश्लेषण करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके हृदय में सड़े-गले समाज के उद्धार की भावना अपने प्रबल रूप में विद्यमान थी। कबीर ने डांट-फटकार कर तथा जायसी, सूर और तुलसी ने प्रेम से यह काम किया। इसके अतिरिक्त उन कवियों ने किसी न किसी प्रकार विशृंखल समाज के परस्पर विरोधी तत्वों में समन्वय स्थापित करने का भी प्रयत्न किया है।

५. भाव-पक्ष की प्रधानता—इस काल के कवियों की रचनाओं में कला की काट-छाँट कम देख पड़ती है। उनके हृदय से भावों की जो स्वाभाविक निर्झरनी फूट पड़ी है उसी को छन्द का रूप दे दिया गया है। अलंकार अपने स्वाभाविक रूपों में ही आये हैं। इसलिए उनकी रचनाओं में हार्दिक सत्यता और भावप्रवणता की प्रधानता दीख पड़ती है और कला की ओर कोई विशेष रुचि परिलक्षित नहीं होती।

६. जनता की भाषा में और सरल छन्दों का प्रयोग—इन कवियों ने अवधी और ब्रज-भाषा का प्रयोग किया है जिसे साधारण जनता अच्छी तरह समझ लेती थी। दोहा, चौपाई, सोरठा और पदों का प्रयोग करके उन्होंने साहित्य को जनता की वस्तु बना दिया था।

———

रीति-काल

(१७००–१९००)

'रीति' का अर्थ

'रीति' शब्द का अर्थ होता है नियम, तात्पर्य, लक्षण अथवा प्रणाली। यहाँ पर रचना-सम्बन्धी प्रणाली-विशेष के लिये ही इस शब्द का प्रयोग किया गया है। 'रीति' को काव्य की आत्मा मानने वाले 'रीति-सम्बन्ध' के प्रतिष्ठाता एवं संस्कृत के प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री-आचार्य भामह के शब्दों में "विशिष्ट पद रचना रीतिः"—विशिष्ट पद रचना को ही 'रीति' कहते हैं। उन्हीं के अनुसार 'रीति' पद-रचना का वह प्रकार हैं जो दोषों से मुक्त, गुणों से अनिवार्यतः और अलंकारों से साधारणतः सम्पन्न हो।

नामकरण

जिन ग्रन्थों में रचना करने के नियमों का उल्लेख रहता है उन्हें रीति-ग्रन्थ कहते हैं और उन नियमों के आधार पर लिखी गयी कविताओं को रीति काव्य। हिन्दी साहित्य के इतिहास में विक्रम की १७वीं शताब्दी तक रीति काव्यों और रीति ग्रन्थों के प्रणयन की प्रवृत्ति उभार पर थी इसलिये पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का नाम 'रीति काल' रख दिया। तब से लोग इस उत्तर-मध्य काल को 'रीति काल' के नाम से ही सम्बोधित करते हैं।

'रीति' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग करना आदरणीय शुक्ल जी की मौलिक सूझ नहीं थी। हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकालीन अनेक कवियों ने भी 'काव्य की रीति' 'अलंकार रीति' 'कवित्त रीति' आदि वाक्यों का प्रयोग स्पष्ट रूप से इसी अर्थ में किया था। पद्माकर ने अपने 'पद्माभरण' में 'अलंकार विवेचन' को 'अलंकार रीति' कहा है। दास जी अपने 'काव्य निर्णय' में लिखते हैं—

रीति काल

'काव्य की रीति सिखी सुकबीन सों, देखी सुनी बहुलोक की बातें" । इसी प्रकार प्रताप साहि ने भी 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में लिखा है—

'कवित रीति कछु कहत हों, व्यंग अर्थ चितलाय" आदि ।

रीति काल के उत्तरार्द्ध में यह शब्द काफी प्रचलित हो गया था और उसकी समाप्ति तक तो लोग धड़ल्ले से इसका प्रयोग करने लग गये थे। 'रीति काल' का तत्कालीन प्रयोग 'मिश्रबन्धु विनोद' में इस प्रकार से हुआ है, "इस प्रणाली के साथ रीति ग्रन्थों का भी प्रचार बढ़ा और आचार्यता की वृद्धि हुयी ।.........आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह समाज में कहते हों कि अमुकामुक विषयों के वर्णनों में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी ।"

इन दो सौ वर्षों में इतनी अलंकृत और कोमल भाषा में इतने सरस और इतने मर्मस्पर्शी शृंगार मुक्तकों की सृष्टि हुयी कि पं० शुक्ल जैसे गम्भीर आलोचनाकार को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि "ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी ।" निस्संदेह इस समय साहित्य के भाव पक्ष में शृंगार की और कलापक्ष में अलंकारों की जिस इन्द्र धनुषी छटा के दर्शन होते हैं वह अद्वितीय है, अनुपम है और बेजोड़ है । कदाचित् इसीलिये पंडित-प्रवर डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने इसे 'शृंगार-काल' और मिश्रबन्धु महोदयों ने 'अलंकृत काल' की संज्ञा दे रखी है ।

शृंगार काल और अलंकृत काल

हमारे साहित्य के इतिहास में रीति काल का आविर्भाव न तो कोई आकस्मिक घटना थी और न तो किसी छू मंतर का प्रभाव ही था । सच बात तो यह है कि इस काल में एक प्राचीन साहित्यिक परम्परा का विकास ही हुआ था । शताब्दियों पूर्व संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यों में बहती हुयी प्रवृत्ति-विशेष की जो धारा हिन्दी के आविर्भाव काल में दब-सी गयी थी, वही अनुकूल स्थिति पाकर उभर आई । केशव, देव, बिहारी, और पद्माकर जैसे कवियों के कंठ-स्वरों से इस धारा का मधुर संगीत मुखरित हो उठा और वातावरण में एक अजीब सी मोहकता छा गयी ।

रीति कालीन शृङ्गार और अलंकार के मूल स्रोत और उनका विकास

आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ यजुर्वेद में शृंगार और लौकिकता के प्रति मोह के दर्शन होते हैं या नहीं, कहा नहीं जा सकता। हाँ! ऋग्वेद और अथर्ववेद में महाभारत और बौद्धों के थेर-थेरी गाथाओं में पंडितों को इसकी एक झलक अवश्य मिलती है।

विद्वानों का विचार है कि भारतवर्ष में जब आभीर आकर बस गये और आर्यों की शिक्षा-संस्कृति का जब उनके उन्मुक्त जीवन से संयोग हुआ, तब यहाँ वालों के मन में भी परलोक की चिन्ता से मुक्त गार्हस्थ्य-जीवन के प्रति आकर्षण का भाव बढ़ने लगा। घर-घर में उनकी प्रेम कहानियाँ कही जाने लगीं। उनके गीत लोक भाषा के द्वारा शास्त्रीय कवित्व को भी प्रभावित करने लगे। सन् ईसवी के पूर्व या पर की प्रथम शताब्दी में इस प्रभाव की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति प्राकृत भाषा में हाल की 'सत्तसई' में हुयी। शृंगारिक मुक्तकों के इस संग्रह में प्रेम और करुणा के भाव प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ायें और उनका घात-प्रतिघात अतिशय जीवित रूप में प्रस्फुटित हुआ। "अहीर अहीरिनों की प्रेम गाथायें, ग्राम बधूटियों की शृंगार चेष्टायें, चक्की पीसती हुई और पौधों को सींचती हुयी सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं के भावोत्तेजन आदि की बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर खिंच जाता है।"

इसके पूर्व आमुष्मिकता की चिन्ता से मुक्त और अपने में स्वतंत्र ऐसे मुक्तकों की रचना संस्कृत साहित्य में नहीं हुयी थी। इसके अनन्तर संस्कृत की कई पुस्तकें इसके आधार पर लिखी गयीं, जिनमें अमरुक की अमरुक-शतक और गोवर्धन की 'आर्या सप्तसती' के नाम उल्लेखनीय हैं। उसके बाद इस प्रकार की रचनाओं का यथेष्ट परिमाण में प्रणयन भी होने लगा।

साहित्य में जब काव्य-ग्रन्थों की प्रचुरता हो जाती है तब साहित्य-शास्त्रियों का ध्यान उसकी विवेचना की ओर जाता है। सन् १५०-१५२ ई० का एक शिलालेख गिरनार में मिला है जिसे महाक्षत्रप रुद्रदामा ने खुदवाया था। इस लेख की अलंकृत भाषा स्वयं ही गद्य काव्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें अलंकारों का स्पष्ट उल्लेख है और हमारा विश्वास तब और भी दृढ़ हो जाता है जब हम यह सोचते हैं कि इस समय तक हाल की

सत्तसई का भी निर्माण हो चुका था। लेकिन बहुत खोज करने पर भी भरत के नाट्यशास्त्र से प्राचीन काव्य की विवेचना करने वाले किसी ग्रन्थ का पता नहीं चलता। इसका प्रतिपाद्य विषय था रस। साहित्य की दूसरी चिन्ता अलंकार शास्त्र के रूप में प्रकट हुयी। इसके आचार्य थे भामह। रस सम्प्रदाय के लोग रस को ही काव्य की आत्मा मानते थे और अलंकार-शास्त्री अलंकार मात्र को। नाटकों में प्रयुक्त मुक्तकों को अपने से अलग मान कर अलंकार शास्त्री उनकी विवेचना करते थे। ईसा की दूसरी शताब्दी में वात्सायन का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कामसूत्र' प्रकाश में आया। इसमें युवा-युवतियों की बहुविध शृंगार-चेष्टाओं का वर्णन है। उनकी सीमायें निर्धारित की गयी हैं और यह भी बताया गया है कि अपनी भद्रता का परिचय देने के लिये किस प्रकार के युवा को किस प्रकार की युवती से कैसा व्यवहार करना चाहिये। आहार-विहार, भोजन-शयन तथा दैनिक शिष्टाचार पर भी अनेक सुझाव पेश किये गये हैं। इस ग्रन्थ से तत्कालीन कवि प्रभावित हुये होंगे और नाट्य-शास्त्र के एक पक्ष नायिका भेद पर उनकी दृष्टि गयी होगी, फिर नायक-नायिकाओं के व्यवहार और कथोप-कथन शृंगार चेष्टा और दैनिक कार्य समूह इसी से चालित हुये होंगे।

इसके बाद अलङ्कार शास्त्रियों के अनेक सम्प्रदाय बने और शृंगार की रचनायें होती रहीं। परन्तु आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना करके रस, अलङ्कारादि का समन्वय कर दिया। अब ध्वनि ही काव्य की आत्मा मानी जाने लगी और यह भी स्वीकार कर लिया गया कि फुटकर पद्यों में भी रस-विवेचन उतना ही आवश्यक है जतना नाटक में। इस ध्वनि सम्प्रदाय ने काव्य की ही विवेचना नहीं की बल्कि आगे चलकर सम्पूर्ण काव्य को ही अभिभूत कर लिया। बाद के कवि काव्य के नियमों को ध्यान में रखकर ही कवितायें रचने लगे। माघ, भारवि, और श्री हर्ष जैसे संस्कृत के दिग्गज कवियों ने भी 'शिशुपाल-बध' 'किराता-र्जुनीय' तथा 'नैषधीय चरित'की रचना करते समय उसका पूरा-पूरा ध्यानरखा।

देश की परिस्थितियाँ बदलीं और काम-शास्त्र अपने मूल रूप में नागरिक—नागरिकाओं के काम की वस्तु न रह गया। उसके अनावश्यक अंगों को काट-छाँट कर अनेक ग्रन्थ लिखे गये और इन्हीं के आधार पर तत्का

लीन कवि अपनी नायिकाओं के शिष्टाचार में सुधार करके शृंगार-मुक्तकों की रचना करते रहे।

नाट्य-शास्त्र के नायिका भेद नामक अंग की ओर आकर्षित होकर, जब संस्कृत के कवि ऐहिक-मुक्तकों की रचना में लगे हुये थे उसी समय ठीक उसके समान्तर भक्त कवि भी विभिन्न देवी-देवताओं के स्तोत्र रच रहे थे। सन् ईसवी के बाद से ही ये स्तोत्र यथेष्ट संख्या में निकलने लग गये थे। कवित्व की दृष्टि से प्राचीनतम् स्तोत्र बाण का 'चण्डीशतक' है। फिर मयूर का 'सूर्य शतक' और शंकराचार्य की विभिन्न देवताओं की स्तुतियां। शङ्कर-पार्वती पर भी बहुत से स्तोत्र लिखे गये। कृष्ण-राधा की भक्ति का प्रचार जब समाज में बढ़ने लगा तब अनेक कवियों ने उन पर स्तोत्र लिखे। गोपाल और गोपियों की प्रेम चर्चा का प्राचीनतम् उदाहरण धन्वालोक की इन पंक्तियों में मिलता है—

तेषां गोपवधू बिलास, सुहृदो राधा रहः साक्षिणाम्।
क्षेमं भद्र कलिन्द राज तनया तीरे लता वेश्यनाम्॥

इसके पश्चात् ११वीं शताब्दी में लीलाशुक ने कृष्ण कृष्णामृत की रचना की जो अपनी सरसता और तन्मय भावना के कारण जन-हिय-हार बन गया। १२वीं शताब्दी में जयदेव ने 'गीत गोविन्द' लिखकर इस प्रकार के काव्य को मधुरता की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। स्तोत्र लिखने वाले भक्त कवि भी जब गद्‌गद् भक्ति-भावना से प्रेरित होकर लेखनी उठाते थे तब जिन सरस और अमूल्य पंक्तियों की सृष्टि होती थी वे किसी भी लौकिक शृंगार कविता को लज्जित कर देने के लिये काफी होती थीं। १२वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक बंगाल में राधा-कृष्ण की भक्ति के जितने छन्द रचे गये लगभग सभी काव्य-शास्त्र के सूक्ष्म रहस्यों से ओत-प्रोत हैं। चैतन्य स्वामी के जीव गोस्वामी और सनातन नामक शिष्यों के कारण इसका खूब प्रचार हुआ। अलङ्कार और नायिका भेद के उदाहरणों के लिये राधा-कृष्ण के प्रेमलीला सम्बन्धी गीत सजाये जाने लगे। इस समय नायिकाओं के वर्गीकरण के पीछे एक उद्देश्य था और वह यह कि गोपियों की विभिन्न प्रकृति के साथ रसराज श्रीकृष्ण के प्रेम-भाव के विविध रूप दिखलाये जा सकें। इस प्रकार शृंगार, नायिका-भेद एवं अलङ्कारों की यह प्रवृत्ति बहुत

समय से चली आ रही थी। संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश में होती हुयी यह धारा आ ही रही होगी कि बीच में अन्य धाराओं के मिल जाने से हिन्दी के आविर्भाव काल में इसका जैसा रूप प्रकट होना चाहिये था, न हो सका होगा। फिर भी हिन्दी साहित्य के आदि कालीन कवि चन्द बरदाई के 'पृथ्वी राज रासो' में इस प्रवृत्ति की एक झलक मिल ही जाती है। 'पद्मावती समय' के एक परिचित नख-शिख का उदाहरण लीजिये।

मनहु कल्प ससिभान कला सोलह सोबन्निय
बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय !
बिगसि कमल मृग भ्रमर नैन खंजन मृग लुट्टिय
हीर कीर अरु बिम्ब मोति नखसिख अहि छुट्टिय !!
छत्रपति गयंद हरि हंस गति बिहब नाम संचै सचिय
पदमिनिय रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनि रचिय !!!

रीति काल की प्रस्तावना

१४वीं शताब्दी में यही धारा फिर ज़ोर मारती हुयी सी दिखलायी पड़ने लगी। हिन्दी में सर्व-प्रथम विद्यापति की रचनाओं में ही रीति के असंदिग्ध संकेत मिलने लगे। उनकी कविताओं में ऐन्द्रिक शृंगारिकता का अपार वैभव है और है भावों की एक सूक्ष्म तरलता। इसके पश्चात् रीति काल की भूमिका तैयार होने लगी। इस समय भी अनेक अलङ्कार ग्रन्थों का प्रणयन हुआ होगा, किन्तु वे अप्राप्य हैं। सन् १५६८ में कृपा राम नामक एक सज्जन ने रस के उपर 'रस तरंगिणी' नाम की एक पुस्तक दोहे में लिखी—

बरनत कवि सिंगार रस छन्द बड़े बिस्तारि।
में बरन्यो दोहान बिच याते सुघरि बिचारि ॥

उनके इस दोहे के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके पहले भी कुछ न कुछ अलंकार ग्रन्थ बन चुके थे जो अब प्राप्य नहीं हैं। इसी समय के आस-पास मोहन मिश्र ने भी 'शृंगार-सागर' लिखा जिसमें रस निरूपण किया गया है। हिन्दी साहित्य में यह 'भक्ति काल' का युग था लेकिन रीतिकाल ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से भक्त कवियों को भी प्रभावित कर रहा था। कृपा राम के सम सामयिक सूरदास की रचनाओं में भी रीति बद्ध शृंगार यथेष्ट मात्रा में मिल जाता है। उन्होंने दृष्टि-कूट लिखे हैं

जिनके अन्त में या तो किसी नायिका का नाम या लक्षण निकलता है या किसी अलङ्कार का ही। उनके पदों में शृंगार लीला तो गाई ही गई है नायिका भेद से भी अछूते नहीं बचे हैं।

उनकी एक खण्डिता नायिका का उदाहरण लीजिये—

तहंइ जाह जँह रैन बसे
अरगज अङ्ग मरगजी माला बसन सुगन्ध भरे से हैं
काजर अधर कपोलनि चंदन लोचन अरुन ढरे से हैं

तुलसी के बरवै रामायण पर भी रीति का प्रभाव स्पष्ट है। नन्ददास और रहीम ने तो नायिका भेद पर स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिख डाले। इसके पश्चात् 'भूषन बिन न बिराजहीं, कविता, बनिता, मित्त' की घोषणा करते हुये महाराज केशव हिन्दी संसार में अवतरित होते हैं।

केशवदास

इनका जन्म सं० १६१२ में ओरछा नामक नगर में एक कुलीन सनाढ्य ब्राह्मण के घर में हुआ था। उनके पिता का नाम था पं० काशीनाथ। उनका वंश पण्डितों का वंश था। ओरछा राजवंश में उनका अत्यधिक मान था। उनके दादा ओरछा नरेशों के यहाँ अच्छे पदों पर काम कर चुके थे। तत्कालीन ओरछा नरेश इन्द्रजीत सिंह ने केशवदास को अपना गुरू मान लिया था और भेंट स्वरूप बदले में २१ गाँव भी दे डाले थे। केशवदास संस्कृत के प्रकांड पण्डित थे किन्तु उनका युग संस्कृत का युग नहीं था। उनके पूर्वजों ने संस्कृत में ही अनेक विषयों की रचना की थीं, किन्तु केशव ने अपनी कुल परम्परा के विरुद्ध हिन्दी में कवितायें लिखी। इस पर प्रकाश डालते हुये उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—

भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
तिन भाषा कविता करी जड़ मति केशव दास॥

केशव, दृढ़ चरित्र, स्वाभिमानी, और निःस्पृह व्यक्ति थे। राजनीति का उन्हें अनुभव था और ज्ञान भी। संकट के समय अपने राजाओं को परामर्श भी दिया करते थे। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने राजा इन्द्रजीत सिंह को मुगल सम्राट अकबर के कर-भार से मुक्त कर दिया था। रामचन्द्र उनके इष्टदेव थे। जो कुछ हो केशव जी थे बड़े रसिक। इस रसिकता ने वृद्धा-

वस्था तक साथ नहीं छोड़ा था। इस सम्बन्ध में एक बड़ी रसीली कहानी प्रचलित है। एक बार जब वृद्ध केशव कुँए पर बैठे हुये कुछ सोच रहे थे कि पानी भरने वालियों में से एक रसीली ने बाबा का सम्बोधन कर कुछ पूछा। बेचारा कवि चकपका उठा अपनी दशा पर। उसने एक लम्बी साँस ली और तत्काल ही एक दोहे की रचना कर डाली—

केशव केसनि असिकरी बैरहु जस न कराहि।
चंद्रबदनि मृग लोचनी बाबा कह कह जाहिं॥

सं० १६७६ में उनकी मृत्यु हो गयी।

रचनायें

केशव के नौ काव्य ग्रन्थों का पता चला है। वे हैं रामचन्द्रिका, वीर सिंह देव-चरित्र, जहांगीर जस चन्द्रिका, रतन बावनी, विज्ञान गीता, कवि प्रिया, रसिक प्रिया, नख शिख और राम अलंकृत मंजरी।

केशव की कविता

'राम चन्द्रिका' केशव का प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य ग्रन्थ है। ३९ अध्यायों में राम-कथा का वर्णन किया गया है। इसकी भाषा क्लिष्ट है। विविध छन्दों में परिसंख्या, विरोधाभास, उत्प्रेक्षा, श्लेष आदि अलंकारों का अधिक संख्या में प्रयोग किया गया है। छन्दों के इतने शीघ्र परिवर्तन के कारण उसमें एक रूपता नहीं आ पाई है। कथा का क्रम भी ठीक नहीं है। 'रामचन्द्रिका' में यदि आकर्षण का कोई तत्व है तो सम्वादों का। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में लव-कुश का सम्वाद अच्छा बन पड़ा है। जहाँ पर राजनैतिक प्रसंग आया है वहां पर तो कवि ने कमाल कर दिया है। दरबार के अनुकूल वर्णन करने में तो केशव जी सिद्ध हस्त ही थे। इस क्षेत्र में चमत्कार की ओर उनका अधिक ध्यान है। अपनी बहु श्रुतता और विद्वत्ता दिखाने के चक्कर में पड़ कर उन्हें कई स्थलों पर धोखा भी खाना पड़ा है। दक्षिणापथ के वर्णन में उत्तरापथ के वृक्षों की एक अच्छी खासी नामावली पेश की गयी है। इस ग्रन्थ की कई पंक्तियां संस्कृत का अनुवाद जैसी लगती हैं। वीर सिंह देव चरित्र भी प्रबन्ध काव्य ही है। प्रबन्ध काव्य में कथा का क्रमबद्ध और अवसर के अनुकूल जो उतार चढाव होना चाहिये वह इनके दोनों प्रबन्ध काव्यों में नहीं है। इसमें भी शैली की विविधता और पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति दीख

पड़ती है। प्रबन्ध काव्यों में छन्द परिवर्तन सम्भव अवश्य है परन्तु इन्होंने इस परिवर्तन में इतनी शीघ्रता दिखलाई है कि वह मुक्तक-उक्तियों का संग्रह मात्र मालूम पड़ता है, जहांगीर को प्रसन्न करने के लिये 'जहांगीरजस चन्द्रिका' लिखी गयी थी और 'प्रबन्ध चन्द्रोदय' संस्कृत नाटक के आधार पर विज्ञान गीता की रचना भी कर डाली थी। इसमें भी अनावश्यक प्रसंग जोड़े गये हैं। 'काव्य कल्प लता वृत्ति' और काव्यादर्श के आधार पर 'कवि प्रिय' नामक ग्रन्थ लिखा गया है। यह कवि-शिक्षा की एक उपयोगी पुस्तक है। इसमें भी इनकी मौलिक सूझ कहीं देखने को नहीं मिलती। जहां पर अपने से लिखने का प्रयत्न भी किया गया है वहां उलटी सीधी बातें आ गई हैं। संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर 'रसिक प्रिय' भी लिखी गयी है जिसमें रस और नायिका-भेद का विवेचन किया गया है। इसमें उनकी प्रसंग-कल्पना-शक्ति का पता चलता है। पांडित्य प्रदर्शन की तीव्र लालसा सभी स्थानों पर दृष्टिगोचर होती है इसी लिये उनके विरोधी उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कहते हैं।

भाषा और शैली

उनकी भाषा बुन्देलखंडी मिश्रित ब्रज भाषा है। क्रिया कालों, तथा संज्ञा, सर्वनाम के रूपों में इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। भाषा क्लिष्ट है। कहीं-कहीं संस्कृत के अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। भाषा को सजाने के लिये जहाँ पर लोकोक्तियों या मुहाविरों का प्रयोग किया गया है वहाँ का सौंदर्य बढ़ गया है। विविध छन्दोंके प्रयोग किये गये हैं, जिसमें भाव ठूँसे से मालूम पड़ते हैं, यही कारण है कि उनकी शैली मस्तिष्क को चमत्कृत तो कर देती है परन्तु हमारी रागात्मक वृत्तियों को छू तक नहीं पाती। जहां जहां पर कवित्त और सवैयों के सुन्दर प्रयोग हुये हैं, वहां उनकी भाषा प्रसाद गुणयुक्ता हो गयी है। उनकी भाषा में विदेशी शब्द कम मिलते हैं। शैली में संस्कृत कवियों के प्राचीन छन्दों का खूब प्रयोग हुआ है। चमत्कारवादी तो थे ही, इसलिये विविध अलङ्कारों की बानगी इनकी रचनाओं में अधिकता से मिलती है।

हिन्दी में रीति-ग्रन्थों के लेखन की आवश्यकता और इसमें केशव का योग

भक्तिकाल के अधिकांश महा-कवि परम भक्त ही थे जो प्राकृत गुण गान

करना बुरा समझते थे। उन्होंने 'सीकरी से नाता तोड़' कर काव्य की जो साधना की वह भाव की दृष्टि से तो बेजोड़ थी ही परन्तु कला की अनोखी कांट छांट और तराश उनकी रचनाओं में न आ सकी। उनकी इस उपेक्षा का परिणाम बहुत अच्छा नहीं हुआ। महाराजों की जै जै कार करने वाले प्राकृत कवि पुनः दरबारों में घुस गये। हिन्दी कविता की बागडोर अपने हाथों में ले सरस्वती के ये वरदपुत्र मनमानी हाँकने लगे। हिन्दी का इस समय फारसी से मुकाबला था। मुसलमानी दरबारों में जहाँपनाहों की तबीयत खुश करने वाले शायर फ़ारसी शेरों की मिठास, और लचक, चमक और दमक से लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। फारसी के इस प्रभाव के कारण हिन्दू राजे भी हिन्दी कविता में चमत्कारों की फर्माइश करने लगे। दरबारी कवियों का काम ही क्या, राजाओं का मनोरंजन करना और उन्हें संसार के कटु-सत्यों से दूर हटा कर स्वप्न-लोक की सैर कराना। वे उनके हाथों की कठ पुतली थे। महाराज की आज्ञा हुई और ग्रामोफोन के रेकार्ड की तरह कवि-कंठ से ध्वनि निकलने लगी। लेकिन कवि कोई रेडियो सेट तो है नहीं कि कान गरमाया और गाना शुरू। आशु कविता करने के लिये भी कुछ अभ्यास की आवश्यकता तो होती ही है। प्रकृति-प्रदत्त-प्रतिभा के बावजूद भी कुछ देखना पड़ता है, कुछ सुनना पड़ता है, कुछ पढ़ना और लिखना पड़ता है; तब कहीं जाकर सफलता मिलती है। कहने का तात्पर्य यह कि अलंकार पिंगल के ज्ञान अथवा कवि-कर्म के लिये काव्य-शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित हो जाता है। अधिकांश लक्षण ग्रन्थ संस्कृत में ही होने के कारण कवियों को परेशानियों का सामना करना पड़ता था। इस समय तक संस्कृत का प्रचार उठ गया था। और अलंकार पिंगल पढ़ने के लिये सिद्धान्त कौमुदी से संस्कृत की पढ़ाई आरम्भ करना आकाश के तारे तोड़ने से कम नहीं था। ऐसे समय में आवश्यकता थी हिन्दी-लक्षण ग्रन्थों की जो तत्कालीन कवि-कर्म शिक्षा की आवश्यकता पूरी कर सकते। कृपा राम की पुस्तक से काम नहीं चल पाता था। केशव ने इस अभाव का अनुभव करके कवि-प्रिया नामक कवि-शिक्षा की एक पुस्तक लिखी। यह उनकी मौलिक कृति नहीं थी, संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थ ही उसके आधार थे। भामह, दण्डी और उद्भट् जैसे आचार्यों के सिद्धान्त को स्वीकार करके उन्होंने अलंकार मात्र को काव्य

की आत्मा मान लिया था और उसी का प्रतिपादन किया था। उसी कवि प्रिया का प्रभाव यह पड़ा कि लोग पुस्तक पढ़कर ही कवि बनने लगे। उन लोगों ने स्वतः निरीक्षण करना छोड़ दिया और केशव के ज्ञान से ही काम चलाने लगे। पं० विश्वनाथ प्रसाद के शब्दों में "दक्षिणापथ के वर्णन में उत्तरापथ के वृक्षों की नामावली देना अथवा मथुरा में मेवे के पौधे लगाना केशव की ही जताई हुई परिपाटी का परिणाम था।"

१७०० के आस पास भक्ति का स्रोत क्षीण सा होने लगा। इसी समय कविवर चिन्तामणि साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और हिन्दी कविता एक नया मोड़ लेती है। रीति ग्रन्थ लेखन की प्रवृत्ति एक बार फिर ज़ोर पकड़ती है लेकिन बिल्कुल नये रूप में। संस्कृत साहित्य में आचार्य भामह, दण्डी और उद्‌भट के बाद आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ महापात्र ने अलंकार शास्त्र में एक नये सम्प्रदाय को जन्म दिया। अलंकार और अलंकार्य अलग कर दिये गये। केशव आचार्य भामह के सिद्धान्तों को मानने वाले थे परन्तु उनकी कवि-प्रिया के ५० वर्षों बाद चिन्तामणि ने परवर्ती (मम्मट विश्वनाथ आदि) द्वारा निर्देशित मार्ग ग्रहण किया। चिन्तामणि के बाद लक्षण ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चल पड़ी।

एक प्रश्न

हिन्दी में रीति ग्रन्थों का प्रवर्त्तक किसे माना जाय, इस प्रश्न पर मतभेद है। बाबू श्याम सुन्दर दास केशव दास को ही रीति ग्रन्थों का प्रवर्तक मानते हैं, अपने 'हिन्दी-साहित्य' में आप लिखते हैं—"यद्यपि समय विभाग के अनुसार केशव भक्ति काल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा 'राम-चन्द्रिका' आदि ग्रन्थ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते परन्तु उन पर पिछले काल के संस्कृत साहित्य का इतना अधिक प्रभाव था कि अपने काल की हिन्दी काव्य धारा से पृथक् होकर वह चमत्कारवादी कवि हो गये और हिन्दी में ये रीति ग्रन्थों की परम्परा के आचार्य कहलाये।" परन्तु बाबू साहब के विरुद्ध आचार्य शुक्ल का मत है—"पर केशव दास के उपरान्त तत्काल रीति ग्रन्थों की परम्परा नहीं चली। कवि-प्रिया के पचास वर्ष पीछे उनकी अखण्ड परम्परा का आरम्भ हुआ। यह परम्परा केशव के दिखाये हुये पुराने आचार्यों के

परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार-अलंकार्य का भेद हो गया था।"

इस प्रकार आचार्य शुक्ल केशव को न मानकर चिन्तामणि त्रिपाठी को ही रीति-ग्रन्थों का प्रवर्तक मानते हैं।

हिन्दी साहित्य के उपर्युक्त महारथियों के मतों की विवेचना करने के पश्चात् हम केशव को ही रीति-ग्रन्थों का प्रवर्तक मानते हैं। यह सत्य है कि केशव 'भक्ति-काल' में उत्पन्न हुये थे। उन्होंने राम चन्द्रिका भी लिखी थी। और उनकी कवि प्रिया के पश्चात् लगभग ५० वर्षों तक हिन्दी में एक भी लक्षण ग्रन्थ देखने को नहीं मिलता परन्तु केवल इतनी ही बातें यह सिद्ध करने के लिये काफी नहीं हैं कि केशव रीति-ग्रन्थों के प्रवर्तक नहीं थे।

केशव की रचनाओं में उस रागात्मक तत्त्व के दर्शन नहीं होते जो एक कवि के लिये अपेक्षित हैं। कवि-प्रिया नामक लक्षण ग्रन्थ लिखकर उन्होंने जो सफलता प्राप्त की वैसी अन्यत्र न मिल सकी। कहने का तात्पर्य यह कि वह एक कवि के रूप में असफल हुये हैं; आचार्य-रूप में सफल। उनकी रचनाओं में हृदय के तारों को छेड़ने की शक्ति नहीं है, मस्तिष्क को चमत्कृत करने का बल है। उनका युग भक्ति का युग था परन्तु उन्होंने उस युग के प्रतिकूल रसिक-प्रिया और कवि-प्रिया की रचनायें कीं। कवि-शिक्षा, की पुस्तकें लिखकर उन्होंने तत्कालीन कवियों का पथ-प्रदर्शन किया। केशव ने संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। उन्हें भाषा पर अधिकार था, छन्द और अलंकार उनके इशारों पर नाचते थे। वस्तुतः वह आचार्य थे, कवि नहीं। उन्होंने लक्षण-ग्रन्थ लिखकर आगे के आचार्यों का पथ प्रशस्त किया। इसके बाद परिस्थिति विशेष के कारण कुछ वर्षों तक रीति ग्रन्थ नहीं लिखे जा सके तो इसमें केशव का क्या दोष ? रहा परवर्ती रीतिकारों द्वारा पथ-परिवर्तन का प्रश्न, तो यह कोई नई बात नहीं। नई पीढ़ी का धर्म ही है बायें-दायें घूम कर प्रगति करना और अपने पूर्वजों के काम को आगे बढ़ाना। चिन्तामणि के अनुकूल उनकी ऐतिहासिक परिस्थितियाँ थीं, लोग इस विषय को थोड़ा बहुत जानने लगे थे। उन्होंने केशव की तरह युग को धक्का नहीं दिया, युग ने स्वयं उन्हें धक्का दिया था। प्रवर्तक तो उसे ही कहते हैं जो विपरीत परिस्थितियों में भी अपने मत का झंडा गाड़ दे, केशव ने ऐसा किया, इसलिये केशव को ही रीति-ग्रन्थों का प्रवर्तक मानना चाहिये।

रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि

रीतिकाल सं० १७०० विक्रमी से आरम्भ होकर १६०० तक में समाप्त हो जाता है। यह काल भारतीय इतिहास में विलास और वैभव की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए मुगल साम्राज्य के क्रमशः पतन और अन्त में विनाश का समय है। सं० १७०० में शाहजहां दिल्ली की गद्दी पर आसीन था। वह स्वयं विलास और वैभव की प्रतिमूर्ति था। उसके समय में तो थोड़ी बहुत शान्ति भी थी परन्तु औरंगजेब के समय में सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य का वायु मण्डल दूषित हो उठा। जगह-जगह से विरोध के स्वर उठने लगे। औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता के कारण उसे जीवन भर चैन न मिल सका। उसके बाद उसके सभी उत्तराधिकारी निकम्मे तथा अयोग्य निकले। मुगल साम्राज्य क्षीण से क्षीणतर होता हुआ पतन के गर्त में गिर पड़ा।

इस समय का समाज सामन्तवादी आधारों पर टिका था। सम्राट इस व्यवस्था का केन्द्र था। उच्च वर्ग के लोग बड़े बड़े पदों पर स्थित थे जिन्हें अमीर और मनसबदार कहा जाता था। ये लोग सम्राट के दाहिने हाथ थे। मध्यम वर्ग के शिक्षित व्यक्ति राज्य के छोटे छोटे ओहदों पर काम करते थे। इसी वर्ग में साहूकार दूकानदार तथा व्यापारी लोग भी आ जाते हैं जो अशिक्षित और असंस्कृत थे। निम्नवर्ग किसानों और मजदूरों का गरीबों और कारीगरों का था। निम्नवर्ग को आर्थिक दृष्टिकोण से उत्पादक वर्ग कहा जा सकता है। ये लोग स्वयं अकिंचन अवस्था में रह कर उच्च तथा मध्यम वर्ग की आवश्यकताओं के लिये उत्पादन कार्य करते थे। उच्च तथा मध्यम वर्ग उपभोक्ता का वर्ग था। एक शोषित था दूसरा शोषक। शोषित वर्ग युद्ध और शासन के मामलों से दूर रह कर पैदा करता था और शोषक वर्ग उसकी मिहनत पर मजे उड़ाकर बदले में उन्हें आन्तरिक और वाह्य आक्रमणों से संरक्षण प्रदान करता था। इसके अतिरिक्त विद्वानों का भी एक वर्ग था जो निम्न और मध्यम वर्गों से आता था तथा उच्च वर्ग के अमीरों तथा रईसों के आश्रय में रहता था। इस पर दोनों वर्गों का संस्कार रहता था। ये लोग चैन के समय मन बहलाने और खतरे के समय राय बात देने के लिये रखे जाते थे। समय समय पर पुरस्कार देकर उनका सम्मान किया जाता था। कुछ समय के बाद ये अपने वर्गों को बिल्कुल भुला बैठते थे।

इसके कारण थे; वह ये कि निम्न और मध्यम वर्गों के लोग पर्याप्त संख्या में अशिक्षित होते थे जो उनकी रचनाओं से अपना मनोरंजन नहीं कर पाते थे। गरीबी के कारण वे लोग उन्हें पुरस्कृत भी नहीं करते थे। शाहजहाँ के समय तक इन लोगों की भी पूछ थी, बाद को उनका रंग उखड़ गया और वे लोग दिल्ली छोड़कर विभिन्न राजाओं, सूबेदारों, नवाबों और रईसों के दरबारों में जाने लगे—

वर्नियर, ट्रेवनियर और मैंनूची नामक यात्रियों ने मुगल वैभव के अनुपम चित्र खींचे हैं। मुगल परिवार के लोग बड़ी शान शौकत से रहते थे। उनका जीवन विलास के ही क्षणों में बीतता था। शाहजहाँ के लिए प्रति वर्ष एक हजार बहुमूल्य वस्त्र बनते थे जो साल के अन्त तक दरबार में आने वाले अमीर उमरावों को भेंटकर दिये जाते थे। बेगमें सिर से पांव तक जवाहिरातों और हीरों से ढँकी रहती थीं। बहुमूल्य और इत्र में बसे हुये वस्त्रों को दिन में सैंकड़ों बार बदला करती थीं। राजमहल में भिन्न-भिन्न वर्णों और जातियों की लगभग दो हजार स्त्रियां रहती थीं। उनके काम भी भिन्न-भिन्न होते थे। कुछ स्त्रियाँ बादशाह की सेवा करती थीं; कुछ शाहजादियों का मनोरन्जन। कुछ उन्हें आशिकाना गजलों और फारसी की अश्लील कहानियां पढ़ाया करती थीं। बुड्ढी स्त्रियां कुटनियों का काम करती थीं। सुन्दर स्त्रियों को धोखा फरेब या लालच देकर महलों में ले आती थीं। कंचन कामिनी और कादम्बिनी का संयोग-भोग तो होता ही है। लोग छक छक कर पीते थे। महलों में भांति भाँति के पकवान वनते रहते थे। खाना और खुल कर खेलना, यही दो काम थे, तीसरा नहीं। अंतःपुर में शतरञ्ज, चौसर, गंजफा आदि खेल खेले जाते थे। बाहर शिकारबाजियां होती थीं। पतंग उड़ाये जाते थे और बाज़ तथा शिकारों की लड़ाइयां बदी जाती थीं। राजकुमारों की शिक्षा का ठीक से प्रबन्ध नहीं किया जाता था। मौलाना लोग पढ़ाने तो आते थे पर बड़ी बढ़ियाँ शिक्षा देते थे। महीने-महीने में तलब मिल जाया करे बस। इसका परिणाम वही होता था जो होना चाहिए। सभी निकम्मे निकल जाया करते थे। वे अक्सर बाज़ारों में आवारागर्दी करते फिरते थे। राह चलती हुयी औरतों को छेड़ देना उनके बांए हाथ का खेल होता था। मुगल सेना भी विलास के सागर में गोते लगा रही थी। सैनिक

शिविरों में वेश्याओं का नाच होता था। ये वेश्यायें बड़ी मुँह लगी होती थीं। भरी मजलिस में बड़ों का अपमान कर देना उनके लिए साधारण काम होता था। मुक्ताहार और विहार के लिये नगर से बाहर भांति-भाँति के फल-फूलवाले उपवन लगवाये जाते थे। औरंगजेब ने सुरापान पर प्रतिबन्ध लगा दिया और वेश्याओं को विवाह करने के लिये वाध्य किया परन्तु उसे अधिक सफलता नहीं मिली।

मुगलकालीन स्थापत्य, चित्रण और आलेखन आदि कलाओं पर भी उनकी विलास प्रियता की छाप है। उन सभी कलाओं में उनको अपनी शैली है जो उनके ऐश्वर्य और उल्लास का साक्षी देती हैं। शाहजहां ने आगरे में ताजमहल और मोती मसजिद बनवाया। दिल्ली—लाल किले के स्वर्गिक प्रासाद दीवान खास और दीवाने आम अपनी मूर्ति और चित्रण कलात्मकता के लिये अब तक प्रसिद्ध हैं। औरंगजेब के समय में कोई उल्लेखनीय इमारत नहीं बनी। जो बनी भी उसमें मोहकता के स्थान पर एक प्रकार की बर्बरता, रुखाई और उजाड़पन सा निदर्शित होता है। उसने कई हिन्दू मन्दिरों को धराशायी करवा दिया। वह तो जीवन के लालित्य से ही चिढ़ता था और उसे ही पतन का कारण समझता था।

मुगल अधिपतियों की देखा-देखी अधिकृत राजे भी वैसा ही जीवन बिताने का प्रयत्न करने लगे। अवध के नवाबों और जयपुर तथा मारवाड़ के हिन्दू राजाओं के जीवन वृत्त इसके प्रमाण हैं। वे लोग भी भव्य भवनों में रहते थे। वहां भी विलासिता से आंख मिचौनी खेली जाती थी। वहां भी लाल परी नाचती रहती थी और वेश्याओं के हाव-भावों की कटारें चला करती थीं। मुसलमानों की देखा देखी हिन्दू राजे भी छतरियां और समाधियां बनवाने लगे। राजपूतानान्तर्गत आम्बेर में जयसिंह सवाई के राजमहल और राजा सूरजमल के दोग महल महत्वपूर्ण हैं। राजा सूरजमल, संग्रामसिंह और छत्रसाल एवं उनकी रानियों की छतरियां उल्लेखनीय हैं। १६ वीं सदी में सिक्खों ने भी अमृतसर का मन्दिर बनवाया, लेकिन कला की दृष्टि से उसे एक महत्त्वपूर्ण सृष्टि नहीं कहा जा सकता।

राजनैतिक हार के कारण हिन्दू संगठन छिन्न-भिन्न हो गया था। उनमें एका नहीं थी। जाति-पाति का भेद-भाव था ही, शूद्रों के प्रति अस्पृश्यता

की भावना भी जोर पकड़ने लगी थी। कभी कभी तो ब्राह्मणों में भी वेद-मन्त्रों के उच्चारण और जनेऊ धारण करने के अधिकारों को लेकर लड़ाइयां होने लगती थीं। मुसलमान उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे। उनके लिये प्रायः राज्य के सभी पदाधिकार वर्जित थे। औरंगजेब ने उनके कई पुस्तकालय फूँक डाले थे, मन्दिरों को तहस-नहस कर डाला था और पाठशालाओं में आग लगा दी थी। कुछ समय के बाद जब मुगलों की शक्ति क्षीण होने लगी तब वे हिन्दुओं को छाती से चिपकाने के लिये आगे बढ़ने लगे। निर्गुण सन्तों और सूफियों के उपदेशों ने इस ओर सहायता पहुँचाई। उनकी धार्मिक भावना में समन्वय के तत्व घर करने लगे। आचारों-विचारों में समता आने लगी। फिर तो दोनों के उत्सव और रीतिरिवाजों में फर्क करना मुश्किल हो गया। यह वृत्ति देहातों में भी जोर पकड़ती जा रही थी परन्तु कभी कभी मामला गड़बड़ हो जाता था। ज्यों ज्यों मुगलों का पतन होने लगा, त्यों त्यों मुसलमानों में भी शिया-सुन्नी और ईरानी-तूरानी का भेद होता गया। घोर भ्रष्टाचार फैलने लगा। बादशाह निकम्मे तो हो ही रहे थे कर्मचारी भी रिश्वत लेने लगे। कहा जाता है कि बहुत से बादशाहों ने ओहदे बेचना आरम्भ किया और बहुतों ने अमीरों और आक्रमणकारियों तक को घूस दिया। वे विलास-रत थे। ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट और षडयन्त्रों का नंगा नाच होता रहा।

'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार लोगों के नैतिक बल का ह्रास होने लगा। समाज के प्रत्येक पक्ष में विनाश के लक्षण नजर आने लगे। धर्म के क्षेत्र में भी सड़ाँध उठने लगी। जब मसीहा ही बीमार हो गया तो दवा कौन करे? रूढ़िवादी पण्डित और मौलवी अपने अपने धर्मों को सनातन समझते थे और अपने धर्म ग्रन्थों की आज्ञा को ब्रह्मा का लेख। साधारण हिन्दू और मुसलमान रूढ़िवाद का शिकार था, अशिक्षित लोग अंध विश्वासी थे। वे बाह्याडम्बर को ही धर्म समझ बैठे थे। तीर्थ व्रत में विश्वास, साधु और पीरों की भक्ति, जादू और टोने में आस्था आदि विश्वासों ने जन साधारण के मन में घर कर लिया था। इस समय समाज में बहुत से साधु और पीर फैले हुये थे जो ताबीज दे देकर जनता को ठगते थे। तिसपर भी लोग इन्हें भगवान से कम नहीं मानते थे।

हिन्दी भाषी क्षेत्रों में शास्त्रीय धर्मों में वैष्णव मत का प्रचार था, उसमें भी कृष्ण शाखा का अधिक। गोपियों के साथ रास लीला रचाने वाले कृष्ण ही इस युग के अनुकूल थे। कृष्ण सम्प्रदाय भी अनेक उप सम्प्रदायों में बँटा हुआ था। गोसांई विठ्ठलदास के गोलोकवास के बाद, वल्लभ सम्प्रदाय के उत्तराधिकारी उनके सात पुत्रों ने अपनी अलग अलग गद्दियां स्थापित कर ली थीं। श्रीनाथ के प्राकट्य वार्ता के प्रणेता कांकरोली के गोस्वामी हरि राय को छोड़ अन्य लोग न तो विद्वान् ही थे और न प्रतिभावान् ही। गोस्वामी गोकुल नाथ ने कुछ मौलिक कार्य किये अन्य लोग वल्लभाचार्य के अणु भाष्य के पीछे ही चक्कर काटते रह गये। समय के प्रभाव के साथ वैभव का भूत इन पर भी सवार हुआ। जनता से सम्पर्क तोड़कर ये गुरु श्रीमानों को चेला मूड़ने लगे। उन्होंने तत्वचिंतन को सलाम किया, साधना को ताक पर रख दिया और अर्चा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधियों का आविष्कार कर स्वयं ऐश्वर्यवान और विलास-रत हो गये। माधव, निम्बार्क और चैतन्य सम्प्रदायों के गद्दीधर भी विलास की ओर झुकने लगे। चैतन्य सम्प्रदाय में अभी जीवन शेष था। वे लोग जन-सम्पर्क बढ़ा रहे थे। बंगाल और वृन्दावन में उन लोगों ने कीर्तनों की धूम मचा दी थी। राधा वल्लभीय सम्प्रदाय भी विलास में लीन था। राधा की भक्ति बढ़ी और रूप गोस्वामी ने सम्पूर्ण नायिका भेद को कृष्ण भक्ति में फिट कर दिया। अन्य सम्प्रदाय भी इसी रोग के मरीज थे। मठ और मंदिरों में देवदासियों की नर्तन-ध्वनि गूँजा करती थी। महाराष्ट्र में तुकाराम और स्वामी रामदास के मत जनता में धार्मिक जागरण पैदा कर रहे थे परन्तु अधिकांश लोग रूढ़िवादी ही होते जा रहे थे। विलासी लोग धर्म से डरते नहीं थे। उन्होंने धर्म को मनोरंजन की एक वस्तु समझ ली थी। वे उसी सम्प्रदाय में नाम लिखाते थे जिनमें उनके विलास पूर्ण जीवन का पूर्णतः समर्थन मिलता था।

हिन्दू समाज में वर्ष में एक बार रामलीला और एक बार रासलीला हुआ करती थी। रामायण और महाभारत की कथायें भी कभी कभी हुआ करती थीं। हरिकीर्तन का आयोजन किया जाता था। घर घर मीराँ और सूर के पद गाये जाते थे। सूफियों की गजलों का प्रचार था, यह भक्ति

की भावना भी जोर पकड़ने लगी थी। कभी कभी तो ब्राह्मणों में भी वेद-मन्त्रों के उच्चारण और जनेऊ धारण करने के अधिकारों को लेकर लड़ाइयां होने लगती थीं। मुसलमान उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे। उनके लिये प्रायः राज्य के सभी पदाधिकार वर्जित थे। औरंगजेब ने उनके कई पुस्तकालय फूँक डाले थे, मन्दिरों को तहस-नहस कर डाला था और पाठशालाओं में आग लगा दी थी। कुछ समय के बाद जब मुगलों की शक्ति क्षीण होने लगी तब वे हिन्दुओं को छाती से चिपकाने के लिये आगे बढ़ने लगे। निर्गुण सन्तों और सूफियों के उपदेशों ने इस ओर सहायता पहुँचाई। उनकी धार्मिक भावना में समन्वय के तत्व घर करने लगे। आचारों-विचारों में समता आने लगी। फिर तो दोनों के उत्सव और रीतिरिवाजों में फर्क करना मुश्किल हो गया। यह वृत्ति देहातों में भी जोर पकड़ती जा रही थी परन्तु कभी कभी मामला गड़बड़ हो जाता था। ज्यों ज्यों मुगलों का पतन होने लगा, त्यों त्यों मुसलमानों में भी शिया-सुन्नी और ईरानी-तूरानी का भेद होता गया। घोर भ्रष्टाचार फैलने लगा। बादशाह निकम्मे तो हो ही रहे थे कर्मचारी भी रिश्वत लेने लगे। कहा जाता है कि बहुत से बादशाहों ने ओहदे वेचना आरम्भ किया और बहुतों ने अमीरों और आक्रमणकारियों तक को घूस दिया। वे विलास-रत थे। ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट और षडयन्त्रों का नंगा नाच होता रहा।

'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार लोगों के नैतिक बल का ह्रास होने लगा। समाज के प्रत्येक पक्ष में विनाश के लक्षण नजर आने लगे। धर्म के क्षेत्र में भी सड़ाँध उठने लगी। जब मसीहा ही बीमार हो गया तो दवा कौन करे? रूढ़िवादी पण्डित और मौलवी अपने अपने धर्मों को सनातन समझते थे और अपने धर्म ग्रन्थों की आज्ञा को ब्रह्मा का लेख। साधारण हिन्दू और मुसलमान रूढ़िवाद का शिकार था, अशिक्षित लोग अंध विश्वासी थे। वे वाह्याडम्बर को ही धर्म समझ बैठे थे। तीर्थ व्रत में विश्वास, साधु और पीरों की भक्ति, जादू और टोने में आस्था आदि विश्वासों ने जन साधारण के मन में घर कर लिया था। इस समय समाज में बहुत से साधु और पीर फैले हुये थे जो ताबीज दे देकर जनता को ठगते थे। तिसपर भी लोग इन्हें भगवान से कम नहीं मानते थे।

हिन्दी भाषी क्षेत्रों में शास्त्रीय धर्मों में वैष्णव मत का प्रचार था, उसमें भी कृष्ण शाखा का अधिक। गोपियों के साथ रास लीला रचाने वाले कृष्ण ही इस युग के अनुकूल थे। कृष्ण सम्प्रदाय भी अनेक उप सम्प्रदायों में बँटा हुआ था। गोसांई विट्ठलदास के गोलोकवास के बाद, बल्लभ सम्प्रदाय के उत्तराधिकारी उनके सात पुत्रों ने अपनी अलग अलग गद्दियां स्थापित कर ली थीं। श्रीनाथ के प्राकट्य वार्ता के प्रणेता कांकरोली के गोस्वामी हरि राय को छोड़ अन्य लोग न तो विद्वान् ही थे और न प्रतिभावान् ही। गोस्वामी गोकुल नाथ ने कुछ मौलिक कार्य किये अन्य लोग वल्लभाचार्य के अणु भाष्य के पीछे ही चक्कर काटते रह गये। समय के प्रभाव के साथ वैभव का भूत इन पर भी सवार हुआ। जनता से सम्पर्क तोड़कर ये गुरु श्रीमानों को चेला मूड़ने लगे। उन्होंने तत्वचिंतन को सलाम किया, साधना को ताक पर रख दिया और अर्चा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधियों का आविष्कार कर स्वयं ऐश्वर्यवान और विलास-रत हो गये। माधव, निम्बार्क और चैतन्य सम्प्रदायों के गद्दीधर भी विलास की ओर झुकने लगे। चैतन्य सम्प्रदाय में अभी जीवन शेष था। वे लोग जन-सम्पर्क बढ़ा रहे थे। बंगाल और वृन्दावन में उन लोगों ने कीर्तनों की धूम मचा दी थी। राधा वल्लभीय सम्प्रदाय भी विलास में लीन था। राधा की भक्ति बढ़ी और रूप गोस्वामी ने सम्पूर्ण नायिका भेद को कृष्ण भक्ति में फिट कर दिया। अन्य सम्प्रदाय भी इसी रोग के मरीज थे। मठ और मंदिरों में देवदासियों की नर्तन-ध्वनि गूँजा करती थी। महाराष्ट्र में तुकाराम और स्वामी रामदास के मत जनता में धार्मिक जागरण पैदा कर रहे थे परन्तु अधिकांश लोग रूढ़िवादी ही होते जा रहे थे। विलासी लोग धर्म से डरते नहीं थे। उन्होंने धर्म को मनोरंजन की एक वस्तु समझ ली थी। वे उसी सम्प्रदाय में नाम लिखाते थे जिनमें उनके विलास पूर्ण जीवन का पूर्णतः समर्थन मिलता था।

हिन्दू समाज में वर्ष में एक बार रामलीला और एक बार रासलीला हुआ करती थी। रामायण और महाभारत की कथायें भी कभी कभी हुआ करती थीं। हरिकीर्तन का आयोजन किया जाता था। घर घर मीराँ और सूर के पद गाये जाते थे। सूफियों की गजलों का प्रचार था, यह भक्ति

सांसारिक दुःखों से कुछ समय तक के लिये त्राण पाने का एक बहाना बन गयी थी।

इस समय कबीर और दादू की परम्परा भी जीवित थी। ये संत जाति पाँति के भेद-भाव का विरोध करते थे। ईश्वर की एकता में इनका विश्वास था, ये वाह्याडम्बरों के विरोधी और अंतर्मुखी साधना के समर्थक थे। निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाना ही उनके लिये जीवन की एक मात्र सार्थकता थी। उनके इन विचारों के समर्थक अन्य सम्प्रदाय भी पैदा हो गये थे। ऐसे सम्प्रदायों में प्रमुख थे सतनामी, नारायणी, और लाल दासी आदि। १७वीं शताब्दी में इनका भी ज़ोर था। १८वीं शताब्दी में धरणीदास और प्राण-नाथ के अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। दयाबाई, सहजोबाई और भीखा दास इसी समय हुये। पलटू साहब तो १६वीं शताब्दी तक जीवित रहे। इन संतों का संगठन काफ़ी मज़बूत था। ये लोग बाल बच्चेदार होते थे और जनता में घूम-घूमकर अपने मत का प्रचार करते थे। उपेक्षित जनता पर इनका प्रभाव था। कुछ समय के बाद हज़रत लोगों ने भी श्रीमानों को चेला मूड़ना शुरू किया। वैभव और विलास की प्यास से ये बेचारे बेचैन हो गये। अन्त में वे भी अपनी-अपनी गद्दियां स्थापित कर स्वर्गानन्द लेने में जुट गये।

हिन्दुओं में जिस तरह नाना प्रकार के पंथ फैले हुये थे उसी तरह मियाँ भाइयों के यहां सिलसिलों का जोर था। निजामियां, नक्शबंदियां, कादिरिया, सन्तरिया, चिश्तिया आदि इनके पन्थ थे इसमें मोहिउद्दीन चिश्ती का चिश्तिया सिलसिला प्रभाव शाली था। हिन्दू और मुसलमान उसे समान रूप से मानते थे। सभी लोग पूर्ववर्तियों का पृष्ठ पोषण कर रहे थे किसी में मौलिक प्रतिभा निश्शेष नहीं रह गयी थी।

ऐसे समाज में अच्छे साहित्य की आशा करना भी व्यर्थ ही है। शाह-जहां के बाद ही फ़ारसी का ह्रास होने लगा था। अकबर के समय के शायर भारतवर्ष को अपना देश समझते थे। उनके फ़ारसी छन्दों में भी भारत की आत्मा बोलती थी। परन्तु औरंगजेब की कृपा से यहाँ के फ़ारसी कवियों की कल्पना ईरान के चमन में बुलबुलों के साथ अपना घोंसला बनाने लगी। इस पर भी यहां के अच्छे अच्छे शायरों की फ़ारसी साहित्य में कोई

पूछ नहीं थी। इस प्रकार उनका उत्तरोत्तर ह्रास होने लगा। संस्कृत साहित्य का विकास भी अवरुद्ध था। जो ग्रन्थ प्रकाश में आये भी, उन पर घोर शृंगारिकता और चमत्कार-क्रीड़ा की मुहर लगी हुयी है। मोरो पंत का मंत्र रामायण शाब्दिक क्रीड़ा का और लक्ष्मणाचार्य की 'चंडी कुच पंचासिका' घोर शृंगारिकता का निकृष्टतम उदाहरण है। १९वीं शताब्दी में अयोध्या के भक्त भाइयों ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम की भी बड़ी दुर्गति कर दी। लोग उनकी 'बांकी अदा' और 'तिरछी चितवन' पर मरने लगे।

१७वीं शताब्दी के आरम्भ में कृष्ण काव्य पर अनेक सुन्दर रचनायें हुयीं। भाषा घिसघिसा कर शृंगारिकता को वहन करने में समर्थ हो चली थी, नायक कृष्ण थे और नायिका राधा परन्तु उनके व्यक्तित्व चित्रण में वह सूक्ष्मता नहीं आ पाई जो अपेक्षित थी। इस समय तो कुछ लोगों ने बड़ी ही ललित कवितायें लिखीं। ब्रज भाषा की मधुरता और अलंकारों की अनुपम छटा सेनापति के 'पावस वर्णन' में देखिये :—

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकीऔ
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियां॥
आई सुधिबर की, हिये में आनि खरकी
सुमिरि प्रान प्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीति औधि आवन की लाल मन भावन की
डग भई बावन की सावन की रतियाँ॥

अब तो आवश्यकता भी थी कि काव्य पर कुछ चर्चा हो। अस्तु १७०० वि० में पं० चिन्तामणि त्रिपाठी ने रीतिकाल का द्वार खोलकर शास्त्र-चर्चा आरम्भ कर दी।

रीति काल (१७००–१९००)

सं० १७०० के लगभग पं० चिन्तामणि त्रिपाठी ने आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ महापात्र नामक संस्कृत के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर 'काव्य विवेक' 'कवि कुल कल्प तरु' तथा 'काव्य प्रकाश' नाम के तीन लक्षण ग्रन्थों की रचना की। काव्य के

प्रमुख अंगों का विवेचन कर चुकने के बाद उन्होंने छन्द शास्त्र की भी एक पुस्तक लिखी। फिर तो हिन्दी में लक्षण ग्रन्थ लिखने की परिपाटी ही चल पड़ी। संस्कृत की प्रसिद्ध पुस्तक चन्द्रालोक के आधार पर महाराज जयवन्त सिंह ने 'भाषा भूषण' रचा। यह एक सुन्दर लक्षण ग्रन्थ है जिसमें लक्षण और उदाहरण साथ-साथ रखे गये हैं। इसके बाद मतिराम द्वारा 'रस राज' और 'ललित ललाम' लिखा गया। इसमें क्रमशः रस और अलंकार की विवेचना है। इन दोनों ग्रन्थों का खूब प्रचार हुआ। इस काल का प्रत्येक कवि लक्षण ग्रन्थ लिखने के बहाने अपनी कवित्व शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता था। इसी परम्परा में वीर रस के कवि भूषण ने भी 'रस राज भूषण' लिख मारा। इसको लक्षण ग्रन्थ कहा भी जाय या नहीं, कुछ समझ में नहीं आता। वस्तुतः यह भूषण जी की नितान्त असफल कृति है। एक ओर तो शृंगार रस के युग में उन्होंने ओजपूर्ण कविताओं की सृष्टि करके युग की धारा को मोड़ने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर ऐसे लक्षण ग्रन्थ पर लेखनी चलाकर वह स्वयं भी युग-प्रवाह में प्रवाहित हो चले।

भूषण—

भूषण को चिन्तामणि और मतिराम का भाई बताया जाता है। वह कानपुर जिलान्तर्गत तिकवाँ पुर गाँव के निवासी थे और वहीं सं० १६६२ विक्रमी उनका जन्म हुआ। कहा जाता है कि बालक भूषण बड़ा उद्दण्ड था। न एक अक्षर पढ़ना न लिखना; दिन भर इधर से उधर चौकड़ी मारना, यही उसका काम था। पंडितों के घर कुलबोरन पैदा हो, लोगों को कुछ अच्छा नहीं लगा। जगह-जगह से भूषण पर थूक पड़ने लगी। अभिमानी लड़का, भाभी के व्यंग वाण से घायल हो, घर से बाहर निकल गया।

अब भूषण यौवन के द्वार पर थे। उन्होंने मन लगा कर विद्याध्ययन आरम्भ किया। कुशाग्र बुद्धि तो थे ही, थोड़े ही समय में कविता भी रचने लगे। कालान्तर में घूमते फिरते वह चित्रकूट पहुँचे। चित्रकूट नरेश के पुत्र रुद्रराम कविता के प्रेमी थे। सत्संग हुआ, राजकुमार प्रभावित हुये और भूषण के हाथ 'कवि भूषण' की उपाधि लगी।

भूषण कहाँ के राजकवि थे, कहा नहीं जा सकता। इस सम्बन्ध में अनेक बातें प्रचलित हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वह बहुत दिनों तक औरङ्गजेब के दरबार में भी थे। कुछ महाशय उन्हें शिवाजी का राजकवि बतलाते हैं। उनकी रचनाओं को पढ़ कर मन में यह धारणा अवश्य होती है कि वह शिवाजी के निकट सम्पर्क में अवश्य रहे होंगे। सं० १७३१–३२ में छत्रसाल से मिलने का प्रमाण तो मिलता है परन्तु उनके दरबार में कितने दिनों तक रहे, कहा नहीं जा सकता। जन श्रुति है कि छत्रसाल बुन्देला ने उनकी बड़ी आवभगत की, सत्कार किया और विदा के समय भूषण की पालकी का डंडा अपने कंधों पर लिया। इससे बढ़ कर एक कवि का सम्मान हो ही क्या सकता था? 'बस महाराज बस' कह कर भूषण पालकी से कूद पड़े और उनके मुँह से निकल पड़ा 'सिवा को बखानौ कि बखानौ छत्रसाल को' इस कथन में सत्य का अंश कहां तक है कहा नहीं जा सकता परन्तु छत्रसाल की प्रशंसा में भूषण के अनेक कवित्त मिलते हैं। इस प्रकार कई स्थानों का भ्रमण करके यथेष्ट द्रव्य के साथ वे घर लौटे। बहुत दिनों के बाद एक बार फिर उन्होंने राज दरबारों का चक्कर लगाया परन्तु अन्त में निराश और असंतुष्ट हो घर वापस लौट आये। सं० १७७२ के लगभग उनका देहावसान हो गया।

रचनायें

भूषण कृत 'शिवराज भूषण' 'भूषण हजारा' 'भूषण उल्लास' और 'दूषण उल्लास' में से केवल 'शिवराज भूषण', प्राप्य है। 'शिवा बावनी', 'छत्रसाल दशक' तथा कुछ फुटकर रचनायें तो समय-समय पर उनके रचे हुये छन्दों के संग्रह मात्र हैं।

कविता—

रीति कालीन कवियों की प्रतिभा जहाँ नायिका भेद और नख शिख वर्णन के चारों ओर ही चक्कर काट रही थी, वहीं पर भूषण ने अपने युग की भावनाओं को मुखरित किया, विचारों को वाणी दी और शतशत हिन्दुओं को अत्याचारी मुगलों का विरोध करने के लिये तैयार किया। इसीलिये उन्हें हिन्दुओं का प्रतिनिधि कवि भी कहते हैं। उनके काव्य-नायकों, शिवा जी और छत्रसाल, के प्रति अब भी हिन्दू जनता के हृदय में श्रद्धा की

भावना है। उनकी रचनाओं के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि उनके हृदय में धर्म विशेष के प्रति द्वेष का भाव नहीं था। हाँ, अपनी जाति और धर्म के प्रति मोह अवश्य था। हिन्दू जाति के विनाश के कारण अनुभव करते हुये भूषण ने लिखा था "आपस की फूट ही ते सारे हिन्दु आन फूटे", वह कितना सत्य था बताने की आवश्यकता नहीं है।

भूषण की कुछ शृङ्गारिक रचनायें भी मिली हैं परन्तु उनमें वे असफल रहे। उनकी रचनाओं में नागरिक और प्राकृतिक चित्रों का अभाव है। रण स्थल की ओर प्रस्थान करती हुयी सेना, उसकी पद-धूलि से छिपता हुआ आसमान तथा कटे हुये मुण्डों से पटती हुयी भूमि की स्पष्ट तसवीर उनकी कविताओं में देखी जा सकती है। उनके वर्ण्य विषय हैं, युद्ध, शिवाजी का प्रताप उनकी दान शीलता एवं आतंक, छत्रसाल की वीरता तथा शत्रु नारियों की दुर्दशा। उन छन्दों में मुगलों की उद्दण्डता, अनाचार उच्छृङ्खलता के प्रति गहरी असंतोष की भावना व्यक्त होती है।

भाषा और शैली

भूषण की भाषा को खिचड़ी भाषा कहना ही उपयुक्त होगा क्योंकि उनकी ब्रज भाषा में बुन्देल खण्डी, अरबी, फारसी, बैसवाड़ी और अवधी के ठेठ शब्द भी मिले हुये हैं। शब्दों को तोड़ मरोड़ कर उन्होंने उसे वीर रस की अभिव्यक्ति के योग्य बना लिया है। उनकी भाषा में ब्रज भाषा की मिठास है ही नहीं, होना भी नहीं चाहिये। अरबी फारसी के शब्दों को तो कभी-कभी उन्होंने इतनी बुरी तरह तोड़ा है कि मूल रूप का पता ही नहीं चलता। पातसाह, तसवीह, हजार हासिल रोजनामचा, फौज, गुसलखाना, अवरंग, कलकान आदि शब्दों का प्रयोग बहुतायत से मिलता है। मराठी के कुछ शब्दों को उन्होंने उसी तरह रखा है जिस रूप में वे बोले जाते हैं इसीलिये उनकी रचनायें क्लिष्ट हो गयी हैं। कर्ण-कटु लगती हैं। क्योंकि हमारे कान वैसी भाषा सुनने के अभ्यस्त नहीं हैं। इस प्रकार के शब्द बुरी तरह खटकते भी हैं। व्याकरण की अशुद्धि स्थान-स्थान पर दिखलायी पड़ती है। मुहाविरे और लोकोक्तियों के प्रयोग कहीं-कहीं बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। 'तारे लागे फिर न सितारे गढ़ धर के, तारे सम तारे मूंदि गये तुरकन के,' अथवा 'काल्हि के जोगी कलीदे के खप्पर' 'सौ-सौ चूहे खाय के बिलारी

बैठी जप के' आदि इसी प्रकार के अनुपम, चुटीले और सार्थक प्रयोग हैं।

उनकी शैली वीरोचित शैली है। मनहरण, छप्पय, रोला, उल्लाला, दोहा, गीतिका, मालती, सवैया, किरीट, माधवी, लीलावती और अमृत ध्वनि नामक छन्दों के प्रयोगों के द्वारा उनकी कविताओं में बादलों की कड़क सुनाई पड़ती है और अस्त्र-शस्त्रों की खड़खड़ाहट। शब्दों में गजब का ओज है। जिस विषय को उठाते हैं उसे पूरा करके ही छोड़ते हैं। प्रभावोत्पादकता, चित्रोपमता, और सरलता उनकी शैली की विशेषतायें हैं। उपमा, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति, और यमक अलंकारों का विशेष प्रयोग हुआ है। यमक का एक उदाहरण लीजिये।

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहन वारी
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं।
कंदमूल भोग करैं कंदमूल भोग करैं
तीन बेर खाती ते वै तीन बेर खाती हैं॥
भूखन शिथिल अंग भूखन शिथिल अंग
बिजन डुलाती ते वै बिजन डुलाती हैं।
भूषण भनत शिवराज बीर तेरे त्रास
नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं॥

'भूषण' को कुछ आलोचकों ने साम्प्रदायिक कवि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है परन्तु वस्तुतः वे उस समय के राष्ट्रवादी कवि ही थे। हम भूल जाते हैं कि राष्ट्र की जो परिभाषा हम आज करते हैं वह भूषण के समय में मान्य नहीं थी।

देव; जीवनी

भूषण के बाद देव का नम्बर आता है। वह कवि और आचार्य दोनों थे। शुक्ल जी के अनुसार वे रीतिकाल के कवियों में बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाव विलास' के अनुसार देव की जन्म तिथि १७३० विक्रमी है। मिश्र बन्धुओं के अनुसार ये कान्यकुब्ज द्विज थे। परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत से वे इटावा के रहने वाले एक सनाढ्य ब्राह्मण थे। यद्यपि उनकी जीवनी के सम्बन्ध में पुष्कल प्रमाण

नहीं मिल सके हैं, फिर भी अनुमान किया जाता है कि उन्हें किसी बहुत अच्छे नृप का आश्रय नहीं मिल सका था। बेचारे एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहे परन्तु चित्तवृत्ति कहीं जमती ही नहीं थी। अन्त में राजा भोगीलाल नामक एक सज्जन उस महाकवि को प्रसन्न करने में समर्थ हो सके। देव उन्हीं के आश्रय में बहुत दिनों तक रहे और उनके लिये 'रस विलास' नामक एक पुस्तक लिख दी। कहा जाता है कि वे ६४ वर्षों से अधिक जीवित रहे। सं० १८२४ में उनका देहावसान हो गया।

रचनायें

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में देव ने सबसे अधिक पुस्तकें लिखीं। कुछ लोग उनके पुस्तकों की संख्या ७२ और कुछ लोग ५२ बतलाते हैं, परन्तु अभी तक केवल २५ पुस्तकों का ही पता लग पाया है। वे हैं, (१) भाव विलास (२) अष्टयाम (३) भवानी विलास (४) सुजान विनोद (५) प्रेम तरंग (६) राग रत्नाकर (७) कुशल विलास (८) देव चरित्र (९) प्रेम चन्द्रिका (१०) जाति विलास (११) रस विलास (१२) काव्य रसायन या शब्द रसायन (१३) सुख सागर तरंग (१४) वृक्ष विलास (१५) पावस विलास (१६) ब्रह्मदर्शन पचीसी (१७) तत्व दर्शन पचीसी (१८) आत्म दर्शन पचीसी (१९) जगद्दर्शन पचीसी (२०) रसानन्द लहरी (२१) प्रेम दीपिका (२२) सुमिल विनोद (२३) राधिका विलास (२४) नीति शतक और (२५) नख शिख प्रेम निदर्शन।

पुस्तकों की इतनी संख्या का रहस्य यह है कि देव महाशय अपने पुराने ग्रन्थों की रचनाओं को इधर उधर एक नये क्रम से सजाकर एक नया संग्रह तैयार कर दिया करते थे। इनकी कृतियों के द्वारा हमें उनके मानसिक विकास का पूरा पूरा पता चलता है। पहले उद्दाम यौवन की मस्ती में आकर उन्होंने शृंगार को बुरी तरह छेड़ा परन्तु ज्यों ज्यों आयु ढलती गयी त्यों त्यों वे जीवन के भोग विलासों को तिलांजलि देकर अध्यात्म की ओर झुकते गये। भाव विलास उनकी सर्व-प्रथम कृति है। इसमें कवि ने अलंकारों का निरूपण और शृंगार की विस्तृत व्याख्या की है। अष्टयाम में नायक नायिकाओं के रातदिन के भोग विलासों की एक अच्छी खासी दिनचर्या प्रस्तुत की गयी है। शब्द रसायन में शब्द शक्ति, गुण, रीति, पिंगल

तथा अलंकारों का विवेचन किया गया है। जाति विलास में भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। 'सुखसागर तरंग' अनेक ग्रन्थों से लिये गये कवित्तों का संग्रह मात्र है। भवानी विलास, भवानी दत्त वैश्य के नाम पर और कुशल विलास कुशल सिंह के नाम पर रची गई कृतियाँ हैं। मर्दन सिंह के पुत्र राजा उद्योग सिंह वैश्य के लिये उन्होंने 'प्रेम चन्द्रिका' बनाई। कहा जाता है कि उन्होंने 'भाव विलास' और 'अष्टयाम' नामक अपनी रचनाओं को औरंगजेब के पुत्र आजमशाह को भी सुनाया था। वह हिन्दी-प्रेमी था और उसने इनकी कृतियों को पसन्द भी किया था।

बाद को लोग इस प्रकार की रचनाओं से ऊबने लगे। अपनी कृतियों की यह दशा देखकर उन्होंने 'ब्रह्मदर्शन पचीसी' और 'तत्व दर्शन' लिखकर अपने आत्म चिंतन की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया।

देव का आचार्यत्व

देव ने हिन्दी संसार को भवानी विलास के द्वारा सर्वप्रथम अपने आचार्यत्व का ही परिचय दिया है। भाव विलास में अलंकारों की विवेचना की गयी है। परन्तु उसमें किसी प्रकार की मौलिकता के दर्शन नहीं होते। लगता है जैसे उन्होंने केशव की रचनाओं के माध्यम से दण्डी के यथासंख्य आदि अलंकारों को ज्यों का त्यों उतार दिया हो। शब्दालंकार तो उनके लिये हेय ही है। अर्थ के अभाव में मधुर और चित्रोत्पादक शब्दों से निर्मित काव्य को भी वे 'प्रेत काव्य' ही मानते हैं। देव के अनुसार उपमा और स्वभावोक्ति ही मुख्य अलंकार हैं। उपमा को अलंकारों का मूल दण्डी भी मानते थे। इन्होंने उसके अनेक भेद और उपभेद करके अपनी मौलिकता का परिचय देने का प्रयत्न किया है परन्तु वह नितान्त सारहीन है। देव जी ने चार प्रकार की शब्द शक्तियाँ मानी हैं। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य। उनका कहना था कि प्रमुख तीन शक्तियाँ तो सभी शब्दों में रहती हैं परन्तु प्रसंगानुकूल जो जहाँ पर अधिक प्रकाशित हो उठती है वहाँ उसकी स्थिति मान ली जाती है। इन तीन शब्द शक्तियों के फिर अनेक भेद किये गए हैं जो केवल नाम गिनाने भर के लिये हैं। शब्द की तात्पर्य शक्ति भी उनकी अपनी खोज नहीं है। प्राचीन अलंकार शास्त्रियों में इसको लेकर बड़ा वाद-

विवाद चला था फिर भी लोग किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पाये थे। इन्होंने भी इसे संदिग्ध रूप में ही स्वीकार किया है।

देव ने शृङ्गार और नायिका भेद पर भी काफी लिखा है। संस्कृत के आचार्यों की तरह वह भी रस को ब्रह्मानन्द सहोदर ही मानते हैं और उन्हीं की तरह उन्होंने भी नायक और नायिका के हृदयों में रस की स्थिति मान ली है। रसतरंगिणीकार की तरह ये भी रस के अलौकिक व लौकिक रूप का प्रतिपादन करते हैं।

देव ने रसों के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी दो प्रकार से प्रकाश डाला है। उन्होंने बताया कि मुख्य रस केवल चार होते हैं। शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स। शान्त को छोड़ कर शेष रसों का जन्म इन्हीं से होता है। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुणा, वीर से अद्भुत, और वीभत्स से भयानक। इसी को दूसरी तरह से सिद्ध करने के लिये उन्होंने केवल तीन रस माने हैं। शृंगार, वीर और शान्त। शेष इन पर आश्रित होते हैं। यह वर्गीकरण भी बहुत पुराना है। शृंगार को रसराज अवश्य माना गया है लेकिन वही एक मात्र रस है, ऐसा तो नहीं ही कहा जा सकता।

देव के अनुसार संचारियों के भी दो भेद हैं—शारीरिक और आन्तरिक। अनुभव के ही अन्तर्गत माने जाने वाले सात्विक भाव शारीरिक संचारी हैं। आन्तरिक संचारियों से तात्पर्य निर्वेदादि मान्य संचारियों से है। 'छल' को इन्होंने चौतीसवाँ संचारी माना जरूर है परन्तु वह भी अवहित्थ्या के अन्त-र्गत आ जाता है; अतः व्यर्थ है। अन्य रीतिकारों ने आठ काम दशाओं का वर्णन किया है परन्तु इन्होंने उसमें भी अनावश्यक भेद कर डाले हैं। नायिका भेद इनका प्रिय विषय था। एक स्थल पर आप लिखते हैं।

बानी को सार बखानी सिंगार
सिंगार को सार किसोर किसोरी।

अन्य आचार्यों ने जहाँ कर्म, काल, गुण, अवस्था, दशा और जाति के अनुसार नायिका भेद का वर्णन किया है वहीं देव ने देश, प्रकृति, सत्व और अंश के आधार को भी ग्रहण किया है। प्रकृति, सत्व और अंश का विवेचन आयुर्वेद एवं काम शास्त्रों में तथा देश भेदादि का वर्णन मम्मट के काव्य प्रकाश और केशव के रसिक-प्रिया में पहले ही हो चुका है।

अस्तुः यह भी उनकी मौलिक उद्भावना नहीं है। उन्होंने संगत भी अपने ढंग से निश्चित कर डाले हैं। प्रथम तो मुग्धा, मध्या, और प्रौढ़ा के विभिन्न भेदों के पूर्व राग, प्रथम संयोग, तथा सुख भोग के साथ दूसरा, काम दशा, अवस्था और हास के क्रमशः मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के साथ यह वर्गीकरण कहाँ तक ठीक है और कहाँ तक उचित कोई नहीं जानता। 'लिखै ईसा पढ़ै मूसा' वाली कहावत है। हाँ! इस वर्गीकरण में एक विचित्रता अवश्य है और तो कुछ तत्व नहीं मालूम पड़ता। नायिकाओं के साथ नायक, उसके सहायक और दूतियों को भी नहीं भुलाया गया है।

'रीति' को आप काव्य के माध्यम के रूप में स्वीकार करते हैं। इसका विवेचन काव्य रसायन में किया गया है। कदाचित केशव के माध्यम से उन्होंने प्रसिद्ध आचार्य भानुदत्त और विश्वनाथ का ही अनुसरण किया है। इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि देव ने इस क्षेत्र में भी कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया।

कुछ लोग देव को रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ आचार्य मानते हैं और कहते हैं कि केशव को छोड़कर और कोई उनसे टक्कर ले ही नहीं सकता।

जब हम देव की तुलना रीतिकाल के अन्य आचार्यों से करने बैठते हैं तब सर्व श्री कुलपति मिश्र, श्रीपति तथा प्रताप साहि की साहित्य-कृतियाँ भी हमारे समक्ष आती हैं। इनकी कृतियों का मूल्य देव की रचनाओं से किसी भी प्रकार घटिया नहीं है। उन लोगों ने इन महाशय से कम आचार्यत्व का निर्वाह नहीं किया। सच बात तो यह है कि उन लोगों की कृतियों में कहीं-कहीं उनकी मौलिकता झलक जाती है जिसका देव में नितान्त अभाव है। विषय प्रतिपादन में जहाँ उनके गम्भीर अध्ययन और मनोयोग का पता चलता है वहाँ देव की पल्लव ग्राहिता तथा मानसिक-चांचल्य के दर्शन होते हैं। उन्होंने शब्द शक्ति, रीति, गुण, पिंगल आदि का विवेचन कर के अपने क्षेत्र की सीमा का विस्तार तो कर दिया परन्तु उसमें कहीं भी स्पष्टता नहीं आ सकी। एक विशेषता देव में अवश्य है और वह है उनकी रस चेतना, जिसे एक आचार्य का प्रमुख गुण माना जाता है। इस माने में वह केशव से भी बढ़ गये हैं।

केशव और देव पर एक दृष्टि

केशव को रीति ग्रन्थों का प्रवर्तक माना जाता है। उन्होंने ही सर्व प्रथम संस्कृत के रीति-शास्त्र को हिन्दी में अवतरित किया था। देव ने केशव की रचनाओं के माध्यम से बहुत सी सामग्री ग्रहण की। केशव की तरह वे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित नहीं थे। केशव अपनी सूक्ष्म और गम्भीर विवेचना-शक्ति, सिद्धान्तों की व्यावहारिक योग्यता और भाषा की प्रकृति के सम्यक ज्ञान के कारण देव से बहुत ऊपर उठ जाते हैं। देव को भी हिन्दी में रस के प्रतिष्ठाता के रूप में स्मरण किया जायेगा।

कविवर देव और उनकी कवितायें

आचार्य के अतिरिक्त देव एक अच्छे कवि भी हैं। उनका वर्ण्य विषय है 'शृंगार'। उन्होंने संयोग के और वियोग के, मिलन की प्रफुल्लता और विरह की तड़पन के मनोहर चित्र खींचे हैं। यौवन तो किसी के बस का है नहीं, तिस पर देव जैसे भावुक कवि का। जवान कवि रूप की ओर अकर्षित हो उठा। उसने मिलन के गीत गुनगुनाये और वे हिन्दी के अनमोल हीरे बन गए।

देव वस्तुत: संयोग शृंगार के ही कवि हैं। संयोग शृङ्गार में रूप और मिलन का वर्णन किया जाता है। यह मिलन, शारीरिक सुख के वर्णन के लिये भी होता है और विनोद एवं विहार के लिये भी। रूप का मूलाधार है सौन्दर्य और सौन्दर्य का मूलतत्व है सामञ्जस्य। वस्तु के विभिन्न अंगों के सामञ्जस्य, अनुक्रम और अनुपात को वस्तुगत सौन्दर्य कहते हैं और वस्तु तथा भाव के सामञ्जस्य को भावगत सौन्दर्य। इस दृष्टिकोण से रूप, सौन्दर्य का वह पक्ष है जो नेत्रों के माध्यम से मन का प्रसादन करता है। देव को रूप की भाव परक व्याख्या ही मान्य थी। यही उनके जीवन के अनुकूल भी था। 'रस विलास' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में वह कहते हैं।

देखत ही जो मनहरै, सुख अँखियन को देइ।
रूप बखानै ताहि जो, जग चेरो कर लेइ॥

रूपानुभूति की तीन अवस्थायें होती हैं। (१) वस्तुगत रूप की अनुभूति, जिसमें वस्तु के भिन्न अंगों के सामञ्जस्य का तटस्थ रूप से ग्रहण मात्र होता है। (२) रूप के द्वारा पैदा होने वाली मानसिक आनन्दानुभूति

यह वस्तु और भाव के सामञ्जस्य पर आधारित रहती है (३) रूप के प्रति वासना की अनुभूति इसमें केवल आनन्द की ही भावना नहीं होती वरन् रूप के ऐन्द्रिय उपभोग की वासना का भी रङ्ग रहता है। रस शास्त्र की दृष्टि से सौन्दर्य की अनुभूति में विस्मय, आनन्द और रति भावों की अलग-अलग अथवा मिली हुई अनुभूति होती है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर रूप के द्वारा पैदा होने वाली मानसिक आनन्दानुभूति ही देव की कविताओं में अधिक दिखलाई पड़ती है। एक उदाहरण लीजिये,

ललित लिलार शुभ झलक अलक भार,
मग में धरत पग जावक धुरो परै।
देव मनि-नुपुर पदुपपद दूपर है,
भू पर अनूप रूप रंग निचुरो परै॥

इसी प्रकार निम्न पंक्तियों में भी द्रष्टा की भावना की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है।

डगर डगर बगरावति अउर अंग
जगर मगर आपु भावत दिवारी सी।

आगे चलकर यह अनुभूति अत्यन्त सूक्ष्म हो गयी है और लगता है जैसे वह सम्पूर्ण चेतन में व्याप्त हो उठी है। देखिये न,

सङ्ग-सङ्ग डोलत सखीन के उमँग भरी
अङ्ग-अङ्ग उठत तरंग स्याम रङ्ग की।

रीति कालीन कवियों को परिपाटी के अनुकूल ही किसी वस्तु का वर्णन करना पड़ता था। वस्तु वर्णन के लिये निश्चित उपमान दिये रहते थे और उन बेचारों को उसी में से चुनना पड़ता था। इसलिये देव से उस सीमा के बाहर आने की कल्पना करना व्यर्थ है। परम्परा के ही अनुसार उन्होंने नख शिख आदि का भी वर्णन किया है। मिलन का चित्र खींचने के लिये उस समय दम्पत्ति की रस चेष्टा, सुरत, अष्टयाम तथा विहार आदि का वर्णन करना पड़ता था। देव ने जहाँ अपने नायक और नायिकाओं की रस चेष्टाओं का वर्णन किया है। वहाँ डा० नगेन्द्र के शब्दों में—"एक रस सिद्ध कवि की भाँति उन्होंने मांसलता द्वारा भावना को प्रगाढ़ किया है और भावना के द्वारा मांसलता में रंग भर दिया है।" एक उदाहरण यथेष्ट होगा।

नायिका गौने जा रही है बडे बूढ़े उसे संवारते सजाते हैं। सहेलियाँ सीख देती हैं—'हेरी, उनसे सदा हँस कर बातें करना जिससे 'मनभावन' हमेशा खुश रहें। 'मनभावन' शब्द सुनकर नायिका के उरोजों पर अनुराग के अंकुर उग आते हैं।

गौने के चार चली दूलही, गुरु लोगन भूषण भेष बनाए
सील सयान सखीन सिखायो, बड़े सुख सासुरे हू के सुनाये।
बोलियो बोल सदा हँसि कोमल, जे मन भावन के मन भाये
यों सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आए।

यहाँ पर अभी मिलन हुआ ही नहीं तब तक मन में उठे हुये अनुराग के अंकुर उरोजों पर भी उभर आते हैं। काम की प्राथमिक चेतना का यह कितना सूक्ष्म, कितना सहज और कितना मार्मिक वर्णन है। इसी प्रकार के अनेक चित्र देव की कविताओं में मिलते हैं।

रीति कालीन कवियों में प्रेम की एकनिष्ठता न होकर रसिकता और विलास की प्रधानता होने के कारण उनके वियोग वर्णन में पीड़ा की मार्मिक अनुभूति का पता नहीं चलता। उनके वियोग में आत्मा की तड़प नहीं शरीर की भयङ्कर भूख होती है। अनुभूतियों के अभाव में रीति का पल्ला पकड़ कर अतिशयोक्तियों और ऊहा पर उछल कूद करने वालों के वियोग चित्रण मजाक बन गये हैं। उर्दू शायरों के आशिकों की तरह उनकी नायिका इतनी दुबली नहीं हो गयी है कि उसको ढूंढ़ने के लिये बिस्तर झाड़ने की आवश्यकता पड़े। विरह जन्य कृशता के चित्रण में उन्होंने अतिशयोक्ति का भी सहारा लिया है फिर भी वह काफी सफल रहे हैं। उदाहरण के लिये निम्नांकित कविता प्रस्तुत की जा रही है—

लाल विदेश वियोगिनि बाल, वियोग की आगि जई झुरि झूरी
पान सों पानी सों प्रेम कहानी सों प्रान ज्यों प्रानन यों मत हू री।
देव जू आजुहि ऐबे की औधि सो बीतति देखि बिसेखि बिसूरी
हाथ उठायो उड़ाइबे को उड़ि काग गरे परि चारिक चूरी॥

इससे थोड़ा सा भिन्न एक चित्र और देखिये।

बड़े बड़े नयनन ते आँसू भरि भरि डारि,
"गोरो गोरो मुख आज ओरो सो बिलान्न जात"

इसके अतिरिक्त वियोग के अंतर्गत मान वर्णन में उन्हें बड़ी सफलता मिली है।

प्रकृति वर्णन में वाह्य प्रकृति के कम और अन्तर्प्रकृति के अधिक चित्र देखने को मिलते हैं।

देव ने बहुत सी अश्लील कवितायें भी लिखीं। 'जोग हूँ ते कठिन संयोग पर नारी को' आदि भोगमूलक पंक्तियाँ देव की एतद्विषयक कठिन अनुभूतियों पर यथेष्ठ प्रकाश डालती हैं। रसिक कवि के जीवन में एक भी उचित आश्रयदाता की प्राप्ति नहीं हो सकी। आर्थिक कठिनाइयाँ निरन्तर कष्ट देती रहीं। एक दिन ऐसा भी आया जब वे अपने किये पर घोर पश्चा-ताप करने लगे। 'मधु की मखियाँ अखियाँ भईं मेरीं' जैसी मधुर पंक्ति का रचयिता फूट पड़ा—

ऐसो जो हौं जानतो कि जै है तू विषै के संग
एरे मन मेरे हाथ पांव तेरे तोरतो।
आजु लौं हों कत नर-नाहन की नाहीं
सुनि, नेह सो निहारि हारि बदन निहोरतो॥
चलन न देतो देव चंचल अचंचल करि
चाबुक चिताउनीनि मारि मुँह मोरतो॥
भारो प्रेम-पाथर नगारो दै गरैते बाँधि
राधा वर-बिरद के बारिधि में बोरतो॥

यही पश्चाताप, यही क्लान्ति यही विफलता कवि को तत्व चिन्तन की ओर प्रेरित करने लगी और वह तभी से आध्यात्मिक रचनायें करने लगे। कहीं-कहीं तो उनकी कवितायें कबीर के 'निर्गुण' का छोर छूने लगती हैं। जैसे,

नाक, भू पताल नाक सूची ते निकसि आए,
चौदहो भुवन भूखे भुनगा को भयो हेत।
चीटीं अंड-मंड में समान्यो ब्रह्मारड सब,
सपत समुद्र बारिबुन्द में हिलोरे लेत।
मिलि गयो मूल थूल सूछम समूल कुल,
पंच भूत गन अनूकन मैं कियो निकेत।

आपहीं तै आपहीं सुमति सिखराई देव,
नख सिखराई में सुमेरु दिखराई देत।

और आश्चर्य होता है कि जन्म भर भोग तथा विलास में पड़े रहनेवाले व्यक्ति को इतने शीघ्र इस रहस्य का अनुभव कैसे हो गया ? कबीर आदि संत तो आजीवन साधना करते रहे, आध्यात्मिकता की अनुभूति के लिए सांसारिक सुखों की बलि देते रहे तब कहीं जाकर उन्हें 'अनहद नाद' सुनाई पड़ता था। प्रश्न फिर उठता है क्या देव को ऐसा अनुभव हुआ था ? इस प्रकार हम उनका आध्यात्मिक विश्लेषण करने के लिए बाध्य होते हैं और पूर्ण परीक्षा के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनकी इस प्रकार की रचनाओं में बुद्धितत्व तथा रागतत्व तो मिलते हैं परन्तु अध्यात्मतत्व दिखाई ही नहीं पड़ता।

भाषा और शैली

यद्यपि देव ने शुद्ध ब्रज भाषा में कवितायें रची हैं फिर भी उसे बिल्कुल दोष मुक्त नहीं कहा जा सकता। उसमें यत्र तत्र लिङ्ग सम्बन्धी दोष हैं, क्रिया रूपों की गड़बड़ी है, और वाक्य-विन्यास में एक गहरी शिथिलता पाई जाती है। कहीं कहीं तो वचन की मामूली गल्तियाँ दीख पड़ती हैं। "पायन के चित चायन को बस लीलत लोग अथायनि बैठ्यो" इसी तरह का एक उदाहरण है। लोग शब्द का प्रयोग सदैव बहुवचन में ही होता है परन्तु आपने उसके साथ "बैठ्यो" एक वचन की क्रिया का प्रयोग किया है। इसी तरह कारक के दोष भी दिखलाई पड़ जाते हैं। मतिराम की तरह इनकी भाषा में स्वाभाविक सौन्दर्य नहीं है इस पर भी उनकी नयी-नयी उद्भावनाओं को देख कर उनकी मौलिकता और कवित्व शक्ति के प्रति आश्चर्य होता है।

मुहाविरे और कहावतें उनकी काव्य-पंक्तियों में सहज अंग बन कर आयी हैं, स्वतन्त्र चमत्कार बनकर नहीं। "जोबन आयो न पाप लग्यो, कवि देव कहें गुरु लोग सराहें" में 'पाप लग्यो' का प्रयोग देखिए। इसी प्रकार "ओस की आस बुझै नहिं प्यास बिसास डसै जनि काल फनिन्द के" में 'ओस की आस बुझै नहिं प्यास' की कहावत तो सम्पूर्ण कविता की जान है। यों तो देव ने अपने समय के प्रचलित सभी अलंकारों का अपनी रचना में प्रयोग किया है फिर भी अनप्रास और यमक उन्हें विशेष प्रिय हैं।

उनकी इस रुचि के कारण कभी कभी उनकी रचनाओं की बड़ी दुर्दशा हो जाया करती थी। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं—"कभी कभी वे कुछ बड़े और पेचीले मजमून का हौसला बांधते थे पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही में उसका अंग-भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फंसा छकड़ा बना देती थी।" इसलिए उनकी कविताओं में स्निग्ध प्रवाह नहीं परन्तु प्रवाह अवश्य मिलता है। कहीं कहीं कल्पनाओं की ऐसी उड़ानें भरी गयी हैं कि अभिप्रेत भावों को समझने में कठिनाई होती है, फिर भी प्रसाद गुण युक्त अपने सरस कवित्तों के कारण देव कभी भुलाए नहीं जा सकते—

अन्य रीति शास्त्री

इनके बाद भिखारी दास जी का नाम लिया जाता है। उन्होंने 'रस सारांश' 'काव्य निर्णय' 'शृंगार निर्णय' 'नाम प्रकाश' 'विष्णु पुराण भाषा' 'छन्द प्रकाश' 'शतरंज' 'शतिका' और 'अमर प्रकाश' नामक उच्च ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन पुस्तकों में रस अलंकार, छन्द, रीति-गुण-दोष-शब्द शक्ति आदि काव्यांगों का सम्यक विवेचन किया गया है। यद्यपि काव्यांग निरूपण में इनका ही स्थान सर्वोच्च है फिर भी इन्हें पूर्ण आचार्यत्व नहीं प्राप्त हो सका। इनके लक्षण कहीं कहीं बड़े भ्रामक और अशुद्ध हैं।

पद्माकर : जीवन-चरित

इस काल के अंतिम लक्षण-ग्रन्थकार का नाम है पद्माकर। इनके समान प्रतिभाशाली कवि सम्पूर्ण रीति काल में खोजने पर एक दो ही मिलेंगे। सं० १८१० में बाँदे के एक सम्पन्न तैलंग ब्राह्मण परिवार में पद्माकर का जन्म हुआ था। इनके पिता पं० मोहनलाल भट्ट एक प्रकाण्ड पंडित और कुशल कवि के रूप में विख्यात थे। अनेक राज कुलों ने भट्ट जी को समय-समय पर अनेक पारितोषिक प्रदान करके उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट किया था। जयपुर नरेश महाराज प्रतापसिंह ने तो इन्हें 'कविराज-शिरोमणि' की उपाधि देते समय एक अच्छी सी जागीर भी भेंट की थी। कवि पिता का पुत्र भी कवि हुआ, पण्डित हुआ और अनेक राज्यों से उसे भी सम्मान मिला। वह सुगरा के नोने अर्जुन सिंह का मन्त्र गुरु बना और प्रसिद्ध वीर गोसाईं अनूपगिरि उर्फ हिम्मत बहादुर ने उसे अपना मित्र बना लिया। कुछ दिनों के बाद कदाचित सं० १८५३ में जब वह राघोबाजी के सम्पर्क में

आये तब वहां से भी उन्हें लक्ष्मी मिलीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने जयपुर के महाराज प्रताप सिंह, उदयपुर के महाराणा भीम सिंह तथा इतिहास प्रसिद्ध दौलत राव जी सिन्धिया जैसे अर्थपतियों को अपने कवित्व शक्ति से विमोहित करके प्रभूत धन राशि इकट्ठा करली। घूमते फिरते वे बूंदी भी गए और वहां से भी सम्मान प्राप्त कर घर लौट आए। आयु के पिछले दिनों में पद्माकर जी अक्सर बीमार ही रहा करते थे। जीवन के अन्तिम दिनों को निकट जानकर गंगा तट वास करने की इच्छा से वे कानपुर चले आए, जहां ८० वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हो गयी।

रचनायें

पद्माकर के प्राप्य ग्रन्थों में (१) जगद्विनोद, (२) हिम्मत बहादुर विरदावली, (३) पद्माभरण (४) रामरसायन (५) प्रबोध पचासा और (६) गंगा लहरी के नाम उल्लेखनीय हैं।

उन्होंने जयपुर नरेश महाराज प्रताप सिंह के सुपुत्र महाराज जगत सिंह के नाम पर जगद्विनोद लिखा। जिसे काव्य रसिकों और अभ्यासियों ने बड़े आदर से अपनाया। यह शृंगार रस की एक उत्कृष्ट पुस्तक है। हिम्मत बहादुर के ऊपर हिम्मत बहादुर विरुदावली लिखी गयी। वीर रस की फड़कती हुयी चीजें इसमें मिलेंगी। पद्माभरण दोहों में लिखी हुयी अलंकार की पुस्तक है। कुछ लोगों के अनुसार इसकी रचना जयपुर में ही हुयी थी। वाल्मिकी रामायण के आधार पर दोहे चौपाइयों में 'रामरसायन' का प्रणयन हुआ है। यह इनकी रचनाओं में सबसे असफल है। हो सकता है यह उनकी न भी हो और किसी महापुरुष ने इसे उन्हीं के नाम से प्रचारित करने की कृपा कर दी हो। पद्माकर अंत समय तक लिखते ही रह गये, अस्वस्थावस्था में भी। उस समय लिखे गये विराग और भक्ति से पूर्ण रचनाओं का संग्रह 'प्रबोध पचासा' में किया गया है। 'गंगा लहरी' में माता गंगा के प्रति लिखे गये उद्गार पूर्ण कवित्तों के दर्शन होते हैं। यह उनके जीवन की अंतिम कृति है।

पद्माकर की काव्य कला

पद्माकर के समय तक हिन्दी कविता को क्षणिक स्थायित्व प्राप्त हो चुका था। यद्यपि उन्होंने भी अपने युग के ही अनुकूल चुने चुनाये उपादानों एवं

सतत सहचारी भावों-उद्भावों को अपनी रचना में उतार दिया है फिर भी उनकी कोमल तथा रुचिर भावाभिव्यंजना से उनकी मौलिक कल्पना की दिव्य छटा के दर्शन होते हैं। हिन्दी में अभिनव सौन्दर्य-उद्भावना के लिये वे प्रख्यात हैं। उन्होंने वीर रस की भी कविता की है और भक्ति के ऊपर भी उन्होंने थोड़ा बहुत लिखा है परन्तु जितनी सफलता उन्हें शृंगार वर्णन में मिली उतनी अन्य क्षेत्र में नहीं। उनका भाव-क्षेत्र सीमित है। उनकी रचना में तुलसी और सूर की अनुभूतियाँ तथा कबीर एवं मीराँ की भाव प्रवणता के दर्शन नहीं होते। वे तो मानवीय सौन्दर्य के ही उपासक थे। आचार्य शुक्ल जैसे गम्भीर आलोचक भी उनकी प्रतिभा की सराहना करते हुये लिखते हैं—इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भाव मूर्ति विधान करती है कि पाठक मानों प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसी सजीव मूर्ति विधान करने वाली कल्पना बिहारी को छोड़ और किसी कवि में नहीं पायी जाती।

उनकी कल्पना यद्यपि तन्वङ्गी रहती पर सौन्दर्य तथा मादकता से इतनी परिपूर्ण कि वह अपने प्रेमियों के मन के साथ तादात्म्य स्थापित कर के उन्हें तन्मय बना देती थी। उनकी रचना की सरसता, रसखान और मतिराम से, ऐन्द्रियता विद्यापति तथा देव से तथा भावानुभूति जयदेव, तोष और दास से मिलती जुलती है। प्रभातोत्थिता, विपर्यस्त वदना नायिका का यह मोहक चित्र लीजिए—

> *अध खुली कंचुकी, उरोज अध आधे खुले,*
> *अध खुले वेश, नख रेखन के झलकैं।*
> *कहैं पद्माकर नवीन अधनीबी खुली*
> *अध खुले छहरि छराके छोर छलकैं॥*
> *भोर जग प्यारी अध ऊरध इतै की ओर*
> *भाखी झिखि झिरकि उचारि अध पलकैं*
> *आँखें अध खुली, अध खुली खिरकी हैं खुली*
> *अध खुले आनन पै अध खुली अलकैं।*

छिछली भाव भूमि पर कितना सजीव चित्र बन पड़ा है। महाकवि जयदेव की निम्नांकित पंक्तियाँ भी तो कुछ इसी प्रकार की हैं—

व्यालोल, केशपाश स्तरलितमलकै स्वेद लोलौ कपोलौ
दृष्टवा बिम्बाधर श्री कुच कलश रुचाहारिता हार यष्टिः।
काञ्ची काञ्चिद्गताशां स्तन जघन पदंपाणिना छाद्य सद्यः
पश्यन्ती सत्रपमान्तदपि विलुलितस्रग्धरेयन्धुनोति ।।

शृंगार के दोनों पक्षों को इनकी लेखनी का सहारा मिलता है। संयोग के अन्तर्गत शैली और रासलीला के जैसे सुन्दर एवं सजीव चित्र इनकी कविताओं में देखने को मिलते हैं वैसे अन्यत्र नहीं । इनके वियोग शृंगार में सर्वत्र तीव्र सम्वेदना, तन्मयता तथा त्याग की भावना मिलती है। "पातकी पपीहा जलपान को न प्यासो, काहू व्यथित वियोगिन के प्रानन को प्यासो है।" जैसी राशि राशि पंक्तियों के उदाहरण देकर उपर्युक्त तथ्य की सत्यता प्रमाणित की जा सकती है।

पद्माकर के काव्य का प्रधान विषय है मानवीय सौन्दर्य की मोहकता तथा नारी का रूपोत्कर्ष। अन्तः और वाह्य सौन्दर्य निरूपण में से इनको दूसरे में ही विशेष सफलता मिली है । तुलसी के सौन्दर्य में आध्यात्मिकता पूर्ण रूपेण विकसित है सूर के सौन्दर्याभिव्यक्ति में आध्यात्मिकता एवं भौतिकता का पूर्ण सामंजस्य दीख पड़ता है। विद्यापति सौन्दर्य-चित्रण में लोक की मर्यादा ही तोड़ देते हैं परन्तु पद्माकर की सौन्दर्य लिप्सा में भौतिक लावण्य है। एक उदाहरण लीजिये—

सुरँग सुरँग नैन सोभित अनङ्ग रङ्ग
अङ्ग अङ्ग फैलत तरङ्ग परिमल के।
वारन के भार सुकुमारिको लचत अङ्ग,
राजै पर्जङ्क पैजु भीतर महल के,
कहैं पद्माकर विलोंकि जन रीझैं जाहि
अम्बर अमल के सकल जल थल के।
कोमल कमल के गुलाबन के दल के सु
जात गड़ि पायन बिछौना मखमल के।

प्रस्तुत कविता की तुलना कविवर शेली की निम्नांकित पंक्तियों से की जा सकती है।

Like a high born maiden
—in a palace tower,
Soothing her love laden
—Soul in Secret hour,
with music sweet as love
which over flows her bower

राजकुल की दोनों ललनायें कोमल काया हैं। पद्माकर की नायिका का सौन्दर्य वाह्य तथा भौतिक है। 'शैली' की नायिका की सुन्दरता नितान्त आन्तरिक एवं आत्म सम्बद्ध है। निस्संदेह पद्माकर की कल्पना में सम्मोहन की अनोखी शक्ति है।

संसार के कवियों ने प्रकृति को तीन दृष्टिकोणों से देखा है। कहीं पर तो प्रकृति को ही आलम्बन मान कर तथा स्वयं उसका ही आश्रय ग्रहण करके एक प्रकार की रचना हुयी है। भारतीय साहित्य में ऐसी पद्धति देखने को अपेक्षाकृत कम मिलती है। दूसरे प्रकार की कृतियों में प्रकृति उद्दीपन का कार्य करती है और इस प्रकार रस-निष्पत्ति में सहायक होती है। तीसरे में विकासोन्मुख परिमार्जित प्रकृति में सौन्दर्य का वास्तविक मूल्य निर्धारित किया जाता है। इसी के द्वारा मानवहृदय के घात-प्रतिघातों को प्रकाशित करने के लिये प्रकृति पटभूमि का कार्य करती है। अन्तिम दोनों भारतीय साहित्य में मिलते हैं। कालिदास, सूर, और तुलसी के जीवित काव्यों में मानव-स्पन्दन के साथ ही साथ प्रकृति के नित्य-वैभव का भी दर्शन होता है। प्रकृति का रंगीन चित्र मानव हृदय में सुषमा का प्रवेश कराता है और मानव के नयनों का अश्रुधार प्रकृति का पावस बन जाता है। प्रकृति को इस कवि ने एक शृंगारिक कवि की ही दृष्टि से देखा है। उनकी नायिकायें प्रकृति को सहचरी मानकर रोती गाती हैं। इनकी कविताओं में वर्षा और हिंडोले के चित्र देखते ही बनते हैं। वसन्त की मोहिनी छटा देखनी हो तो यहाँ देखिये—

कूलन में, केलि में, कछारिन में, कुञ्जनि में,
क्यारिन में कलिन कलीन किलकत हैं।
कहै पद्माकर परागन में, पौन हूँ में
पानन में पिक में पलासन पगन्त हैं।

द्वार में, दिसान में, दुनी में, देस देसन में,
देखी दीप दीपन में दीपत दिगन्त है
बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में
बनन में, बागन में, बगरो बसन्त है।

प्रकृति का इतना दिव्य चित्र रीतिकाल में कहाँ मिलेगा ?

भाषा और शैली

पद्माकर की भाषा ब्रज भाषा और बुन्देलखन्डी की खिचड़ी है जिसमें पूर्वी भाषा एवं अपभ्रंश के पदों का भी प्रयोग मिलता है। फारसी के प्रचलित शब्द भी इनकी भाषा में भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिये फरस बन्द, रोसनी एवं उजार आदि शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है। इतना ही नहीं उन्होने करेजा, दजौरी, खसबोय आदि ग्रामीण एवं अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया परन्तु उससे उनकी काव्य कला को क्षति नहीं पहुँची, उसमें चार चाँद ही लगे। नाद साम्य एवं अनुप्रासों की सुरक्षा के लिये उन्होंने समय को सामन्त लिखा और चातुरी को चातुरई लिख देने में भी वे हिचके नहीं।

अशुद्ध मुहाविरों का प्रयोग करते हुये पद्माकर ने

"मोहि झकझोरि डारी, कञ्चुकी मरोरि डारी
तोरि डारी कसनि विथोरि डारि बेनी ज्यों"

तक भी लिखा फिर भी उसमें मोहकता बनी रही। कहीं कहीं पर तो वे बहुत ही असफल रहे हैं और उनकी रचना नितान्त शब्दाडम्बर की खाल ओढ़कर ही उछलती कूदती रही है।

करि धक्काधक्की, हक्का हक्की
टक्का टक्की मुदित मची।
घनघोर घुमण्डी, रारि उमण्डी
किलकत चण्डी, निरखि नची।

और भी

तहँ ढुक्का ढुक्की, मुक्का मुक्की
डुक्का डुक्की होन लगी।

रन इक्का इक्की, झिक्का झिक्की
फिक्का फिक्की जोर जगी।

यह कविता है या जादूगर पद्माकर के शब्द ही आपस में मुक्का मुक्की कर रहे हैं? अनुप्रास के फेर में पड़ कर उन्होंने कई स्थलों पर कविता के तत्व एवं भावों की उपेक्षा कर दी है। जहाँ कहीं भी उन्होंने भावुकता की दशा में ऋतु वर्णन तथा वीर यश के गीत गाये हैं वहाँ छन्दों की यही दशा हुयी है।

कवि के प्रभाव पूर्ण एवं मार्मिक शैली में एक अजीब सी तरलता एवं मुखरता है। भाव तथा विषय के अनुरूप ही उनका वाक्य विन्यास शिष्ट तथा सुष्टु है। कोमल तथा उपनागरिका वृत्ति के सफल प्रयोगों के कारण भाषा माधुर्य एवं प्रसाद गुणयुक्ता हो गयी है। उसमें न तो केशव का भाव प्रक्षेप ही मिलता है और न तो सेनापति के दुरुह, द्वयर्थक शब्दों की प्रदर्शिनी ही। कबीर का अक्खड़पन भी उसमें नहीं है। भाषा चयन तथा सजीवता की दृष्टि से उनकी तुलना रीति कालीन कवियों में मतिराम से तथा आँग्ल साहित्य में वर्डसवर्थ तथा आधुनिकों में रत्नाकर से की जा सकती है। उनकी शैली में वाक्य विन्यास का लाघव, छन्दों का कलापूर्ण विधान एवं अलंकारों का सरस उपयोग है। आचार्य के रूप में उन्होंने दोहों का प्रयोग किया है, कवि के रूप में कवित्त और सवैयों का। ब्रज भाषा में शृंगार के लिये ये छन्द उपयुक्त भी हैं। उनके पास शब्दों की कमी नहीं थी इसीलिये वे छन्दों को सरस तथा कलापूर्ण बना सकने में भी समर्थ हुये हैं। अनुप्रास प्रेमी ने उपमा, उत्प्रेक्षा तथा लोकोक्तियों का भी सफल प्रयोग किया है। उनके अनुप्रास कहीं-कहीं तो भाषा को फड़कन तथा एक अजीब तड़प तथा ओज प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिये अधोलिखित पंक्तियां पेश की जा सकती हैं—

पञ्चगुनी पब्ब पै, पचीस गुनी पातक तैं
प्रकट पचास गुनी प्रलय प्रनाली तैं।
सत गुनी सेस तैं, सहस्रगुनी सरपन तैं
लाखगुनी लूक तैं, करोर गुनी काली तैं।

निस्संदेह पद्माकर ने १६ वीं शताब्दी के श्रेष्ठ कवियों में अपना एक अक्षुण्य स्थान बना लिया है।

रीति युक्त कवि

रीति काल में दो प्रकार के कवि हुये, रीति युक्त और रीति मुक्त। रीति युक्त कवियों की भी दो कोटियाँ थीं। प्रथम कोटि के कवि आचार्यत्व के बहाने कवितायें लिखा करते थे। अपने लक्षण ग्रन्थों में उदाहरण देने के लिये ये लोग शृंगार रस की रचनायें ही चुनते थे। ऐसे लोगों की संख्या बड़ी लम्बी चौड़ी है जिसमें से मुख्य-मुख्य लोगों का वर्णन ऊपर हो चुका है। दूसरे प्रकार में वैसे कवियों का नाम लिया जाता है जिन्होंने स्वयं किसी लक्षण ग्रन्थ का प्रणयन तो नहीं किया किन्तु अपनी कविताओं में उन नियमों की अवहेलना भी नहीं की। इस वर्ग के कवियों में बिहारी, नेवाज, प्रीतम, रसनिधि, दीनदयाल गिरि तथा पजनेस जैसे कवि हैं जिन्होंने रीति शास्त्र के अनुसार शृंगार रस की उत्तम कवितायें लिखीं। बिहारी का इस वर्ग में सर्वोच्च स्थान है।

बिहारी; जीवन चरित

उनका जन्म सं० १६५२ कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार को ग्वालियर राज्य में हुआ था। उनके पिता केशवराय जी धौम्य गोत्रीय चतुर्वेदी माथुर थे। सं० १६६० में वह किसी कारणवश ग्वालियर से ओरछा चले आये जहाँ कवि केशव के पाण्डित्य की आरती उतारी जा रही थी। केशवराय जी ने बिहारी को उन्हीं के चरणों में डाल दिया। प्रखर प्रतिभा सम्पन्न बिहारी को अति अल्प काल में ही थोड़े बहुत छन्दों का ज्ञान हो गया और उसी के सहारे वे रचनायें भी करने लगे। कुछ समय बाद केशवदासजी उनकी ओर से उदासीन होने लगे। यह देख कर बिहारी के पिता उन्हें लेकर ब्रज चले आये। यहाँ पर उन्होंने ब्रज भाषा और साहित्य का घोर अध्ययन किया।

ब्रज में केशवराय जी यमुना की कछार में कुटी लगा कर नागरी दास नामक एक साधु के साथ रहा करते थे। पत्नी की मृत्यु हो जाने से बाल-बच्चों की देख-रेख का भार भी उन्हीं के ऊपर था। कुछ वर्षों के बाद उन्होंने अपनी एक पुत्री और दोनों पुत्रों की शादियाँ भी कर दीं और स्वयं संसार से विरक्त हो गये। बिहारी का विवाह मथुरा में हुआ था और वहीं वह रहते भी थे। कभी-कभी पिता को देखने बाबा नागरीदास की कुटी पर पहुँच जाया

करते थे। बुन्देल खण्ड में भी वह तत्कालीन प्रसिद्ध महात्मा नरहरिदास जी के निकट सम्पर्क में आ गये थे।

एक दिन बाबा नरहरिदास ने बुन्देल खण्ड से कृष्ण की लीला भूमि वृन्दाबन की ओर प्रस्थान किया और वहाँ पहुँच करके बाबा नागरीदास की कुटी में रहने लगे। उनके त्याग और तपस्या की प्रसिद्धि सुन कर तत्कालीन सम्राट जहाँगीर उनका दर्शन करने आये। सौभाग्यवश बिहारी भी उस दिन उपस्थित थे। बाबाजी ने अपने प्रिय शिष्य का उनसे परिचय करा दिया। इस प्रकार बिहारी को एक आश्रयदाता मिल गया। शाहजहां ने उनका बड़ा सम्मान किया और वह उनके साथ आगरा चले गये। यहीं पर उनकी जान पांहचान रहीम से हुयी। खानखाना से उन्हें प्रेरणा मिली और मिला काव्य की साधना के लिये प्रोत्साहन। शाहजहाँ की कृपा से अनेक राजाओं की ओर से उन्हें वार्षिक वृत्ति भी मिलने लगी। नूरजहां के षड़यन्त्र से जब शाहजहां को आगरा छोड़ कर दक्षिण जाने के लिये वाध्य होना पड़ा तब बिहारी भी मथुरा चले आये।

बिहारी के सम्बन्ध में अनेक बातें सुनने को मिलती हैं। कहा जाता है कि एक बार वह वर्षाशन लेने जोधपुर गये थे और वहीं पर उन्होंने महाराज जसवंत सिंह के नाम से 'भाषा भूषण' लिख मारा था। सं० १६६२ के लगभग वह वार्षिक वृत्ति के लिये जयपुर गये। वहाँ के तत्कालीन राजा जय सिंह ने अपनी नव विवाहिता के प्रेम में निमग्न होकर राज्यकाज देखना छोड़ दिया था। उनकी यह दशा देखकर बिहारी ने "नहिं पराग नहिं मधुर मधु" से आरम्भ होने वाला अपना प्रसिद्ध दोहा मालिन के द्वारा उनके पास भेज दिया। महाराज के ऊपर दोहे का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने उसी समय से राज्य काज देखना आरम्भ कर दिया।

इस घटना के थोड़े दिनों बाद रानी अनन्त कुँअरि के गर्भ से राजकुमार राम सिंह का जन्म हुआ। जब वह कुछ पढ़ने लायक हुये तब उनके गुरु के स्थान पर बिहारी नियुक्त कर दिये गये। इसी समय वे सतसई की रचना में भी व्यस्त थे। सतसई समाप्त होने के बाद उनके ऊपर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा। उनकी पत्नी चल बसीं। बिहारी विरक्त हो गये। राज महलों को त्याग कर शृंगार की कवितायें लिखने वाले कवि ने वृन्दाबन

की राह ली। नि:संतान बिहारी ने कृष्ण की लीला भूमि में अपने अन्तिम दिनों को शान्ति पूर्वक बिताकर सं० १७२१ में अनन्त की राह ली।

रचना—

बिहारी की केवल एक रचना मिलती है जिसका नाम है सतसई। सतसई में कुल ७१६ दोहे हैं इसके अतिरिक्त 'रत्नाकर' जी ने अनेक उपलब्ध प्रतियों को मिलाकर १५० दोहे और छाँट रखे हैं।

कविता—

बिहारी के दोहों में शृंगार-रस की प्रधानता अवश्य है। परन्तु उसके साथ ही साथ उनमें अन्य विषयों की झाँकियाँ भी मिल जाती हैं। शृंगार के दोनों रूपों, संयोग और विप्रयोग को लेकर उन्होंने शृंगार के चुभते दोहे कहे हैं। उनकी मादकता, उनके व्यंग्य, उनकी तीव्रता और चोट करने की शक्ति की तुलना 'नावक के तीर' से की जाती है। उन्होंने अनुभाव, विभाव तथा संचारी भावों की सहायता से ही रस का अनुभव कराया है। अनुभावों और सात्विक भावों के चित्रण में उनके मनोविज्ञान के सूक्ष्म ज्ञान का पता चलता है। उनके संयोग शृंगार में सजीवता है। उन्होंने प्रसंग के संकेत से औत्सुक्य की ध्वनि देकर प्रेमातिशय की अनोखी व्यंजना की है। विरह वर्णन में उन्होंने शारीरिक व्यापारों का भी सुन्दर चित्र खींचा है। उनकी रचना में काव्य के सभी अंगों का यथोचित समावेश मिलता है। नख शिख, नायिका भेद, प्रकृति चित्रण, रस, अलंकार सभी दृष्टियों से उनकी रचना पूर्ण हैं। बिहारी सौन्दर्य के कवि हैं। उनके सौन्दर्य वर्णन की अपनी विशेषता है। वह प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रशंसक हैं। आभूषणों को तो उन्होंने 'दरपन के मोर्चे' और 'हग पग पौंछन को किए पायंदाज' कहा है। उनकी अनेक पंक्तियों में संस्कृतज्ञों का "क्षणे-क्षणेयन्नवता मुपेति तदेव रूपं रमणीयताया" का दर्शन होता है। "अंग-अंग छबि की लपट उपटत जाति अछेह" में यही बात है। उनके अनुसार सुन्दरता वस्तु में भी होती है और द्रष्टा की रुचि में भी लेकिन उन्होंने द्रष्टा की रुचि को ही अधिक महत्व दिया है। देखिये न,

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ॥

वैयक्तिक रुचि को वह विकृति की सीमा तक नहीं पहुँचाना चाहते। पीनस के रोगी को कपूर के महक में शोरा की तेजी का अनुभव हो तो कपूर का क्या दोष ?

सीतलता अरु सुबास कौ घटै न महिमा मूर।
पीनस वारे ज्यौं तज्यौ सोरा जानि कपूर॥

सतसई के अध्ययन से बिहारी की बहुज्ञता का पता चलता है। वे अपने समय के वैद्यक और विज्ञान से तो परिचित थे ही सांख्य, वेदान्त तथा चित्र कला के जानकार भी थे। ज्वर में सुदर्शन चूर्ण दिया जाता है। बिहारी ने विरह के विषम ताप से संतप्त नायिका को बड़ी विदग्धता के साथ दूती द्वारा नायक से सुदर्शन देने की प्रार्थना करायी है। उदाहरण लीजिए—

यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जस लेहु।
जरी विषम जुर जाइये, आय सुदरसन देहु॥

यद्यपि उन्होंने किसी लक्षण ग्रन्थ की रचना नहीं की किन्तु उनकी रचनाओं में शृंगार सम्बन्धी काव्य के सभी उपादान अलंकारों के सूत्र में पिरोये हुये मिलते हैं। अलंकारों के प्रयोग में वे बड़े दक्ष थे। शब्दालंकार लिखने में तो उन्होंने अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। उसी से प्रभावित होकर एडविन ग्रीब्स जैसे आलोचकों ने उन्हें शब्दों का कलाबाज (Clever Manipulator of words) कहा है। उनके शब्दालंकार की एक बानगी लीजिए—

अज्यो, तरयोना ही रहयो, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसर लहयो, बसि मुक्तन के संग॥

तरयोना के दो अर्थ हुये। कान का आभूषण और तरा नहीं। उसी प्रकार श्रुति कान और वेद शास्त्र के अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। नाक नासिका और स्वर्ग दोनों को कहते हैं। मुक्तन माने मोती और मुक्त लोग। श्लेष का चमत्कार देखते ही बनता है। इसमें शास्त्र ज्ञान की निरर्थकता बड़े काव्यमय ढंग से प्रमाणित की गई है। कहीं-कहीं तो शाब्दिक चमत्कारों के बीच उन्होंने मधुर और शिष्ट हास्य की भी सृष्टि कर दी है। जैसे निम्नांकित दोहे पर ध्यान दीजिये—

चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गम्भीर ।
को घटि, ये वृष भानुजा, वे हलधर के बीर ॥

वृषभानुजा के दो अर्थ हुये बैल की बहिन और वृषभानु की पुत्री राधा। हलधर बैल और बलराम दोनों को कहते हैं। बिहारी दादा ने यहाँ राधा और कृष्ण को गाय और बैल बना कर छोड़ दिया है।

अर्थालंकार पर भी उनका गजब का अधिकार है। निम्नांकित दोहे में एक ही स्थान पर अनेक अलंकारों की योजना देखिये। तारीफ यह कि पाण्डित्यप्रदर्शन का आभास तक इसमें नहीं मिलता है। कितनी स्वाभाविकता है—

मृग नैनी, दृग की फरक उर उछाह तन फूल ।
बिन ही पिय आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल ॥

अब इसमें परिरांकुर, विभावना, समुच्चय, प्रमाण अलंकार तो स्पष्ट ही हैं साथ ही साथ इसमें आगमिष्यति पतिका के हर्ष, अभिलाषा, उत्कण्ठा, मति आदि संचारियों की सुन्दर व्यंजना भी हुई है।

उनकी अन्योक्तियाँ सांसारिक अनुभवों के तथ्यों से भरी पूरी हैं। एक अन्योक्ति के द्वारा मुसलमानों के आश्रय में रह कर हिन्दुओं पर चढ़ाई करने के लिये अपने आश्रय दाता को फटकारा है।—

स्वारथ सुकृत न शुभ वृथा देखि विहंग विचारि ।
बाज, पराये पानि पर, तू पंछीनु न मारि ॥

इसी प्रकार उनकी उक्तियाँ भी बड़ी अनूठी हैं। उसकी वाग्विदग्धता अपूर्व है। उनके भक्ति के दोहे भी रस से लबालब भरे हुये ही मिलते हैं। यह तो ठीक है कि उन्होंने संस्कृत के कवियों से अनेक भाव उधार लिये हैं परन्तु अपनी प्रतिभा के द्वारा उसे मूल से भी सुन्दर बना दिया है। उदाहरण के लिए स्वेद के सात्विक भाव को दिखाने के लिये बिहारी ने यह दोहा लिखा—

नैंक उतै उठ बैठिये, कहा रहे गहि गेहु ।
छुटी जाति नहदी छनक मेंहदी सूखन देहु ॥

यह निम्नांकित श्लोक की छाया है—

सुभग ब्यजन विचालन शिथिल भुजा भूदियं व्यस्यापि ।
उद्वतर्न न सख्याः समाप्यते किञ्चिद् पगच्छ ॥

नायिका को उबटन लग रहा है। नायक महाशय भी पास में बैठे हुये हैं। बेचारी नायिका के शरीर में पसीना छूट रहा है। एक सखी पंखा झलते-झलते थक गई है। दूसरी सखी कहती है जरा आप हट जायँ जिससे सखी का उबटन समाप्त हो जाय। बिहारी ने उबटन के स्थान पर मेंहदी की बात कही है। उबटन के समय बैठना शिष्टाचार के विरुद्ध है न, परन्तु नाखूनों में मेंहदी लगाते तो देखा ही जा सकता है। इसमें अनुप्रास का चत्मकार भी दर्शनीय है। 'किञ्चिद् पगच्छ' का काम 'नैक उतै उठ बैठिये' से चल जाता है पर इसके द्वारा नायिका की सखी का रोष नहीं मालूम पड़ता। 'कहा रहे गहि गेहु' में नायक की मुग्धता का पता चलता है और मुहाविरे के प्रयोग से जो चत्मकार आ गया है वह केवल अनुभव करने की वस्तु है। छनक शब्द के प्रयोग से तो बड़ी शक्ति आ गई है। इससे पता चलता है कि नायक एक क्षण को भी उठना नहीं चाहता। इसी प्रकार उनका प्रसिद्ध दोहा—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं बिध्यों आगे कौन हवाल ॥

इस श्लोक का रूपान्तर है—

ईषद कोष विकासं यावन्ना प्नोति मालती कलिका।
मकरन्द पान लोलुप मधुकर किं ताव देव मर्दयसि ॥

'विध्यों' में जो सौष्ठव, शिष्टता और प्रसंगानुकूलता आ गई है वह 'मर्दयसि' में कहाँ आ पाई है। भौंरा तो रस पान करता है। भला वह क्या मर्देगा? विंध्यौ से घर के बाहर न निकलने की ध्वनि भी निकलती है।

यह सब होते हुये भी उनकी रचनाओं में भारतीयता के आदर्श का निर्वाह नहीं हो पाया है। उनकी सम्पूर्ण कृति से काम वासना की मादक गन्ध आती है। उनकी नायिकाओं में लज्जा नामक कोई वस्तु ही नहीं है। लज्जा; जिसे भारतीय मनीषियों ने नारी का प्रधान गुण माना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक स्थानों पर ऐसी अतिशयोक्ति की है जिसे पढ़ कर बगैर हँसी आये नहीं रहती। फिर भी बिहारी के दोहों पर हमारे साहित्य को गर्व होना चाहिये।

भाषा और शैली

उनकी भाषा चलती हुई होने पर भी साहित्यिक ब्रजभाषा है। हां, उस पर पूर्वीपन का भी कुछ प्रभाव है। लीन्ह, कीन्ह, जौन आदि शब्दों के प्रयोग इस तथ्य के साक्षी हैं। वाक्य-रचना व्यवस्थित और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। उनकी भाषा में न तो शब्दों की टांग तोड़ देने का ही प्रयत्न दीख पड़ता है और न तो मन गढंती ही नजर आती है। वह कोमल है, सरस है और है अलंकृत। भरती का एक भी शब्द उनके वाक्यों में नहीं दीख पड़ता। सब को नापतौल कर इस प्रकार जड़ दिया गया है कि किसी शब्द का पर्यायवाची शब्द भी उसके स्थान पर काम नहीं कर सकता। भाषा अल्पाक्षरा है फिर भी भावों को वहन करने की उसमें पर्याप्त शक्ति है। वह अपने समास गुण और चित्रोपमता के लिये प्रसिद्ध है। शब्द चित्र खींचने में बिहारी पूरे उस्ताद हैं। एक उदाहरण लीजिए—

बत रस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहन हँसै, देन कहै नटि जाय॥

उन्होंने अपनी भाषा में आवश्यकतानुसार अरबी, फारसी, तुर्की, बुन्देल खन्डी, तथा डिंगल के शब्दों का भी प्रयोग किया है। करवी, पायबी, गीधे, बीधे, कौद, गुहार लाने आदि शब्द बुन्देल खन्डी के ही तो हैं। प्राकृत के लोयन, समर आदि जैसे शब्द जो परम्परा से साहित्यिक ब्रजभाषा में चले आये थे, उन्हें भी ज्यों का त्यों रख लिया गया है। नीठि, चिलक, गांस आदि प्रान्तीय तथा अप्रयुक्त शब्द भी कहीं-कहीं पर मिल जाते हैं। यह सब होते हुये भी उनकी भाषा बड़ी शक्ति शालिनी और मुहाविरे दार है। छैव छिगुनी पहुँची गहत, सँधे पायन परत, रहे गहि गेहु, सौंले करत न नैन, मूठि सी मारी आदि प्रयोगों से भाषा में कितनी सजीवता आ गई है! उनकी भाषा अपने माधुर्य गुण के लिये प्रसिद्ध है। जहां व्यंग्यार्थ बहुत गहन नहीं है, वहां प्रसाद गुण खूब बन पड़ा है। ध्वनि साम्य के लिये वर्णमैत्री परिमाण में सर्वत्र है जिससे अनेक अनुप्रासों की सृष्टि होती है।

उनका प्रत्येक दोहा मुक्तक है। इसमें पूर्वापर प्रसंग बहुधा नहीं रहते इसलिये इसमें शृंगारी रचनाओं के साथ ही साथ नीति तथा शिक्षा की

उपदेशात्मक चीजें भी गठ जाती हैं। इस शैली में सरसता, भावोद्रेकता तथा प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है कि कवि मानव जीवन के किसी अंग को लेकर अथवा किसी प्रकार के व्यंग का आश्रय ग्रहण करके ही कुछ कहे। बिहारी ने विषय-निर्वाचन में इन बातों का पूरा ध्यान रखा है, काव्य सामग्री के लिये उन्होंने दोहा और भाव भरने के लिये समस्त शैली का आश्रय ग्रहण किया है। ब्रजभाषा में समास बाहुल्य का पल्ला पकड़ कर चलना बड़ा कठिन है इसीलिये अधिकतर उन्होंने छोटे-छोटे समस्त पद ही रखे हैं। इससे भाषा में चुस्ती और भाव व्यंजकता आ गयी है। कहीं-कहीं बड़े समस्त पद भी आये हैं (जैसे समरस समर सकोच वस-विवस और ब्रज केलि, निकुंज मग आदि) वहाँ भी वे प्रवाह में बाधक नहीं हुये हैं। इस प्रवाह में भी बला का जोर है। माधुर्य गुण और वैदर्भी रीति के लिये प्रसिद्ध इन दोहों में प्रवाह का दृश्य देखिये--

रस सिंगार मंजनु किये कञ्जन भञ्जन वैन।
अञ्जन रञ्जन हूँ बिना खञ्जन गञ्जन नैन॥
रुनति भृङ्ग घंटावली, झरत दान मधु नीर।
मन्द मन्द आवत चल्यो, कुञ्जर कुञ्ज समीर॥
नभ लाली चाली निशा, चटकाली धुन कीन।
रति पाली, आली अनत, आए बन मालीन॥

इनकी आन्तरिक सुन्दरता, वाह्य सौन्दर्य के साथ मिल कर कला की प्रेषणीयता को द्विगुणित कर रही है। इसी प्रकार के राशि-राशि प्रयोग बिहारी की रचनाओं में मिलेंगे। भाषा और कल्पना की यही समाहार शक्ति मुक्तककारों की सफलता की कसौटी है जिस पर बिहारी की सतसई बावन तोले पाव रत्ती खरी उतरती है। उनके बहुत से प्रयोगों में पौराणिक अंतर-कथाओं की ओर भी संकेत है। 'बलि बावन को बौंत,' 'छाया ग्राहिणी सुरसा'. 'बाढ़त बिरह ज्यों पांञ्चाली को चीर' आदि प्रयोगों से भाषा की संपन्नता और साहित्यिकता तो बढ़ ही जाती है कवि की योग्यता का भी पता चल जाता है। मुक्तकों में प्रसंग योजना की पटुता पर भी सफलता निर्भर करती है इसलिए उन्होंने छांट-छांट कर सरस प्रसंग रखे हैं। निस्सन्देह बिहारी रीति कालीन शृंगारी कवियों में एक श्रेष्ठ शैलीकार हैं।

रीति मुक्त कवि

रीति काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होंने आचार्यों द्वारा प्रतिपादित नियमों की तनिक भी चिन्ता न करके खुले कंठों से प्रेम के गीत गाए हैं। प्रेम के उन स्वच्छन्द गायकों ने हमारे साहित्य को अनेक अनमोल हीरे दिए हैं जिनसे आज तक हिन्दी कविता कामिनी का कलेवर जगमगा रहा है। ऐसे कवियों में घनानन्द और बोधा ठाकुर द्विजदेव तथा आलम और शेख प्रमुख हैं।

घनानन्द

घनानन्द का जन्म सं० १७४६ के लगभग एक कायस्थ वंश में हुआ था। वह दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के मीर मुन्शी थे। प्रेम का यह पपीहा सुजान नामक वेश्या को प्यार करता था। एक बार कुछ कुचक्रियों ने बादशाह से कह दिया की मीर मुन्शी साहब गाते बड़ा अच्छा हैं। बादशाह से उन्होंने अनेक बहाने किए इस पर लोगों ने कहा कि हजरत ऐसे नहीं गायेगें। इनकी वेश्या बुलाई जाय और जब वह कहे तभी शायर साहब आलाप ले सकेंगे। ऐसा ही हुआ। वेश्या बुलाई गई। उन्होंने उसकी ओर मुंह और बादशाह की ओर पीठ करके ऐसा गाया कि लोग तन्मय हो गए। बादशाह उनके गाने पर जितना ही खुश हुआ उनकी बेअदबी पर उतना ही नाखुश। उसने उन्हें शहर से बाहर निकाल दिया। जब वे चलने लगे तो सुजान को भी साथ ले जाना चाहा लेकिन उसने इन्कार कर दिया।

इस पर इन्हें विराग हो गया। वे वृन्दाबन जाकर निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव हो गये। वहीं पर उन्होंने एक कुटी बनाकर जीवन के शेष दिनों को भगवत भजन में बिता देने का निश्चय कर लिया। सं० १७९६ में नादिर शाह ने भारत वर्ष को रौंदना शुरू किया। उसकी सेना के सिपाही मथुरा तक पहुँच गये। कुछ लोगों ने सिपाहियों से कह दिया कि वृन्दाबन में बादशाह का मीर मुन्शी रहता है उसके पास अवश्य कुछ माल होगा। सिपाहियों ने इन्हें आ घेरा और लगे ज़र ज़र ज़र चिल्लाने। बेचारे घनानद के पास वृन्दाबन के रजकणों को छोड़कर और था ही क्या? उन्होंने रज रज रज कह तीन मुट्ठी धूलि उनके ऊपर फेंक दी। सैनिकों को गुस्सा आया

और उन्होंने कवि के दोनों हाथ काट डाले। खून की धारा बह चली। कहा जाता है कि मरते समय उन्होंने अपने रक्त से यह कविता लिखी थी—

बहुत दिनान की अवधि आस पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मन भावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को॥
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब न घिरत घन आँनद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

रचनायें—

घनानंद की उपलब्ध कृतियों में सुजान सागर, बिरह लीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली और कृपाकाण्ड नामक ग्रन्थों का नाम लिया जाता है। छत्रपुर के राज पुस्तकालय में इनका कृष्ण भक्ति सम्बन्धी एक बड़ा ग्रन्थ मिलता है। इसके अतिरिक्त लगभग चारसौ फुटकर कवित्तों के संग्रह भी इधर उधर दिखलायी पड़ता है। विरह लीला ब्रजभाषा की ही कविता है परन्तु इसकी प्राप्त पुस्तक की लिपि फारसी थी।

कविता—

विप्रयोग शृंगार के ऊपर लिखने वाले कवियों में घनानन्द जी सर्व श्रेष्ठ हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में सुजान को सम्बोधित करते हुये प्रेम की अनूठी अभिव्यंजना की है। वृन्दाबन में जाकर उन्होंने भक्ति के ऊपर भी कुछ कवितायें लिखीं लेकिन वे सुजान को भूल न सके। इस प्रकार की कविताओं में सुजान शब्द का प्रयोग कृष्ण के ही लिए हुआ है। वैसे उनकी अधिकांश रचनाओं का सम्बन्ध लौकिकता से ही अधिक है। एक उदाहरण लीजिये—

पर कारज देह को धारे फिरौ परजन्म जथारथ ह्वै दरसौ
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सुन्दरता सरसौ।
घन आँनद जीवन दायक हौ, कबौं मोरियौ पीर हिये परसौ
कबहुँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ॥

उनकी अधिकांश कविताओं में भाव पक्ष की प्रधानता है पर कहीं-कहीं विभाव पक्ष की व्यंजना का प्रयास भी झलक उठता है। उनके सम्पूर्ण काव्य में प्रेम की अंतर्वृत्तियाँ बड़ी कुशलता से उद्‍घाटित मिलती हैं। वियोगी की चीख नीचे के कवित्त में देखिये—

अन्तर में बासी पै प्रवासी कैसो अन्तर है,
मेरी न सुनत दैया, आपनी यो ना कहौ।
लोचननि तारे है सुझाओ, सब सूझा नाहि,
बूझी न परति ऐसो सोचनि कहा दहौ॥
हौ तौ जान राय जाने जाहुन अजान यातें,
आनन्द के घन छाया छाय उघरे रहौ।
मूरति मया की हा हा, सूरति दिखैए नैकु,
हमैं खोय या विधि हो, कौन धौं लहा लहौ॥

प्रेम की अनिर्वचनीयता का आभास उन्होंने भी विरोधाभास के ही द्वारा दिया है इसीसे उनकी कुछ रचनाओं में विरोध-मूलक वैचित्र्य की प्रवृत्ति दिखालायी पड़ती है।

संयोग शृंगार पर भी उनकी कलम चली है। होली के उत्सव, नायक-नायिकाओं का रास्ते में मिलना तथा उनकी रमणीय चेष्टाओं के रूप में उन्होंने वाह्यार्थ निरूपक रचनायें भी प्रस्तुत की हैं पर इस क्षेत्र में भी आभ्यान्तरिकता की ही ओर उनकी दृष्टि लगी रही है और उसमें उन्होंने हृदय के उल्लास और लीनता का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। सच पूछिए तो घनानन्द वियोग प्रसूत अंतर्द्वन्द के कवि हैं किन्तु उनका वियोग बिहारी की तरह उछल कूद और हो हल्ला मचाने वाला नहीं है, वह प्रशान्त है और है गम्भीर।

उन्होंने नायिका भेद की रूढ़ियों पर कुठाराघात करके कहीं-कहीं पर बड़ी सुन्दर उक्तियाँ कही हैं जिसमें स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन के साथ अर्थ-गर्भत्व भी है। इस दिव्य उक्ति की सांगोपांग योजना पर ध्यान दीजिए—

पूरन प्रेम को मंत्र महापन जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यो।
ताही के चारु चरित्र विचित्रनि यों पचिकै रचि राखि बिसेख्यो॥

ऐसे हियो-हित-पत्र पवित्र जो आन कथा न कहूँ अवरेख्यो।
सो घन-आँनद जान अजान लौं टूक कियो पर बाँचि न देख्यो॥

उनकी अनेक रचनाओं में नाद की बड़ी सफल व्यंजना हुयी है। "ए रे बीर पौन! तेरो सबै ओर गौन......वाली प्रसिद्ध कविता के दूसरे चरण की "आँनद-निधान सुखदान दुखियानि दै" में तो मृदंग की ध्वनि का ही अनुकरण किया गया है। घनानन्द जी की कवितायें अपनी मार्मिकता और अनूठी ध्वनि व्यंजना के क्षेत्र में अपनी शानी नहीं रखतीं।

भाषा और शैली

घनानन्द की भाषा प्रवाह पूर्ण प्रांजल भाषा है। उसमें न तो शब्दों की तोड़ मरोड़ ही दिखलाई पड़ती है और न तो विदेशी शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति ही। भाषा पर उनका गजब का अधिकार है। वह भावों के पीछे-पीछे दौड़ती है। अपने समय में उन्होंने भाषा को नयी शक्ति दी और उसे अपने भावों को वहन करने के योग्य बनाया। इसीलिये पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—

"घनानन्द जी उन बिरले कवियों में से हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप रङ्ग की व्यंजना के लिये भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में कोई नहीं हुआ। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहां तक है, इसकी पूरी परख इन्हें थी।"

उन्होंने लाक्षणिक मूर्ति मत्ता तथा प्रयोग वैचित्र्य से भरे हुये अधिकतर कवित्त और सवैये ही लिखे हैं। "उघरो जग, छाय रहे घन आँनद चातक ज्यों तकिए अब तौ" तथा "गति सुनि हारी, देखि थकनि मैं चली जाति, थिर चर दशा कैसी ढकी उघरति है" जैसी राशि-राशि पंक्तियों में उनकी वचन वक्रता बिखरी हुयी है। लाक्षणिकता विरोधात्मकता, प्रछन्न रूपकता, चमत्कारोत्पादक उक्ति कथन तथा भाषा की वाच्योत्सम्बन्धी शक्तियों का गम्भीरता पूर्ण विधान उनकी भाषा और शैली की विशेषतायें हैं।

कविता काल

जीवन चरित

बोधा जी (सं० १८३०–१८६०) राजापुर के रहने वा[illegible] सरयपारी

ब्राह्मण थे। उनका नाम था बुद्धिसेन पर पन्ना नरेश उन्हें प्यार के कारण 'बोधा' ही कहा करते थे। काव्य भाषा के अतिरिक्त उन्हें संस्कृत और फारसी का भी अच्छा ज्ञान था। पन्ना दरबार में रहते समय सुबहान नामक एक वेश्या से उनका प्रेम हो गया। बात महाराज तक पहुँच गयी। उन्होंने रुष्ट होकर कवि को छः महीने के लिये देश से निकल जाने की आज्ञा दे दी। वे निकल गये और किसी तरह अपनी प्रेमिका की याद में कवितायें लिखकर छः महीने काट लिये। अवधि पूरी हो जाने पर वे पुनः पन्ना गये और वियोग की अवधि में लिखी गयी कविताओं की बानगी महाराज के समक्ष रक्खी। पन्ना नरेश प्रसन्न हो उठे और वर मांगने को कहा। कवि ने कहा—"सुभान अल्लाह!" 'एवमस्तु' महाराज का उत्तर था। अब क्या था बोधा जी की हार्दिक अभिलाषा पूरी हो गयी।

कृतियाँ—

वियोग की अवधि में लिखी गयी कविताओं का संग्रह 'विरह वारीश' के अंतर्गत किया गया है। इसके अतिरिक्त 'इश्क नामा' नाम की भी एक पुस्तक मिलती है। वैसे इधर-उधर ढूँढ़ने से इनकी कुछ फुटकल रचनायें भी मिल जाती हैं।

कविता—

बोधा महोदय कुछ नया रंग ढङ्ग लेकर काव्य क्षेत्र में आये थे। वे एक भावुक और मौजी कवि थे। प्रेम की प्रेरणा से प्रेरित होकर जब वे कवितायें लिखने बैठते थे तब 'प्रेम की पीर' की बड़ी मार्मिक व्यंजना होती थी। उन्होंने रीति के विरुद्ध विद्रोह करके स्वच्छन्दता का समर्थन किया। फारसी के प्रभाव के कारण जहां कुरबान, नेजा और कटारी आदि शब्दों का योग मिलता है वहां उनके प्रेम में बाजारूपन की गंधसी आने लगती है। उदाहरण लीजिये—

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
कैयो सतक्रतु पदवी की लुटिए लख कै मुसकाहट ताको॥
सोक जरा गुजरा न जहाँ कवि बोधा जहाँ उजरा न तहाँ को।
जान मिलै तो जहाँन मिलै, नहिं जान मिलै तौ जहांन कहाँ क

कहीं-कहीं तो इनका अक्खड़पन भी व्यक्त हो उठा है—

हिलि मिलि जानै तासों मिलि कै जनाबै हेत,
हित को न जानै ताको हितू न बिसाहिए।
होय मग रूर तापै दूनी मगरूरी कीजै,
लघु ह्वै चलै जो तासों लघुता निबाहिए॥
बोधा कवि नीति को निबेरो यही भाँति अहै,
आपको सराहै ताहि आपहू सराहिए।
दाता कहा, सूर कहा, सुन्दर सुजान कहा,
आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिये।

जो कुछ हो इनकी प्रेम मूलक कविताओं में प्रेम के पीर की सच्चाई है। और उन्होंने अधिकतर उसी तरह की रचनायें की हैं।

भाषा-शैली—

बोधा की भाषा के दो रूप मिलते हैं। एक तो ब्रज के परम्परागत रूप को लेकर चलने वाली है, दूसरी में विदेशी शब्दों का आधिक्य है जिससे उसकी प्राञ्जलता लुप्त सी हो गयी है। दूसरे प्रकार की भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों का यथेष्ट प्रयोग मिलता है जिसमें आशिकी ढङ्ग की कवितायें लिखी गयी हैं। यत्रतत्र व्याकरण की अशुद्धियां होते हुये भी सम्पूर्ण भाषा चलती हुयी और मुहाविरेदार है। बोधा ने कोई खण्ड काव्य नहीं लिखा उन्होंने केवल कवित्त और सवैया की रचना की। इस प्रकार के छन्द 'प्रेम की पीर' को वहन करने की पूरी क्षमता रखते हैं। बोधा की सभी मार्मिक अनुभूतियां इसी में प्रकट हुयी हैं।

ठाकुर और द्विज देव

रीति काल में ठाकुर नामक अनेक कवि हुये किन्तु जो अपनी शृंगारिक कविताओं के लिये रीति मुक्त कवियों की कोटि मे चमकते दीख पड़ते हैं, वे हैं बुन्देल खण्डी ठाकुर।

लाला ठाकुर दास जन्म के कायस्थ थे। उनके पूर्वजों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। पितामह जी तो बड़े भारी मनसबदार थे। ठाकुर की ननिहाल ओरछे में थी। जहां सं० १८२३ मे वे उत्पन्न हुये थे। वहीं पर उनकी अच्छी शिक्षा दीक्षा भी हुयी। ठाकुर बड़े अच्छे कवि निकले और जैतपुर के

राजा केसरी सिंह जी के राज्य में सम्मान के सहित जीवन बिताने लगे। ठाकुर के कुल के कुछ व्यक्ति बिजावर में भी रहते थे इसलिये उनका वहाँ पर भी आना जाना तथा रहना लगा रहता था। बिजावर नरेश ने भी ठाकुर को एक गांव भेंट करके उनके प्रति अपने सम्मान का परिचय दिया था।

जैतपुर नरेश के उपरांत जब उनके पुत्र पारीछत महोदय गद्दी पर बैठे तब ठाकुर उनकी सभा के रत्न नियुक्त हुये। इस पद पर आ जाने के बाद उनकी ख्याति बढ़ चली और वे बुन्देलखण्ड के अनेक राजाओं के यहाँ आने जाने लगे। उनके सम्बन्ध में अनेक कहानियाँ सुनने को मिलती हैं। जिससे मालूम होता है कि ठाकुर जी कितने निर्भीक, कितने उदार और हाजिर जवाब थे। सं० १८८० में उनका परलोक वास हो गया।

रचना

ठाकुर ने किसी पुस्तक विशेष की रचना नहीं की। उन्होंने अपनी भावनाओं को कवित्त और सवैयों का रूप देकर छोड़ दिया। प्रेम के अतिरिक्त उन्होंने अरवती, फाग, बसन्त, होली, हिंडोरा आदि उत्सवों पर भी कवितायें लिखीं। ब्रज भाषा के प्रसिद्ध कवि और विद्वान लाला भगवानदीन ने 'ठाकुर-ठसक' के अन्तर्गत उनकी कुछ कविताओं का संग्रह निकाला था जिसमें अन्य ठाकुरों की रचनायें भी आ गयी थीं। उनकी कविताओं का कोई प्रामाणिक संग्रह अभी तक नहीं निकल सका।

कविता

उनकी कविताओं की जान है स्वाभाविकता। जो भाव जिस रूप में आये हैं, बोल चाल की भाषा में उन्हें ज्यों का त्यों व्यक्त कर दिया गया है। उनमें व्यर्थ का शब्दाडम्बर, कल्पना की दुरूहता, तथा अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष तो दीख ही नहीं पड़ता। निस्संदेह ठाकुर सच्ची उमंग के कवि थे तभी उन्होंने किसी खास विषय पर क्रम बद्धता पूर्वक कभी नहीं लिखा। जब जी में आया, कुछ कह दिया। वे रीति परम्परा पालन के विरुद्ध थे। रूढ़ि के अनुसार शब्दों की लड़ी जोड़ देना भी कोई कविता है? शास्त्रीय कविता के विरुद्ध उनकी विद्रोह वाणी सुनिये—

सीखि लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन
सीखि लीन्हों जस औ प्रताप को कहानी है।

सीखि लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीन्हों मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहिं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
ठेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त की वो खेल करि जानो है ॥

हिन्दी कविता में लोकोक्तियों का जितना सुन्दर और स्वाभाविक प्रयोग ठाकुर ने किया है वैसा आज तक कोई कर ही न सका। इस प्रकार के प्रयोग प्रसंग अनुकूल होने के साथ ही साथ अर्थगत भी हैं। इन लोकोक्तियों में से कुछ का प्रचार तो सर्वत्र है और कुछ बुन्देलखन्ड में ही प्रयुक्त होती हैं। सवैया छन्द के तीन चरणों में जो बात जमाई गयी है उसी का समर्थन चौथे चरण में लोकोक्ति से करके अर्थ को ऊँचा और विस्तृत भाव भूमि पर फेंक दिया गया है। प्रेम की स्वाभाविक व्यंजना और लोकोक्ति का अनूठा प्रयोग अधोलिखित सवैया में देखते ही बनता है।

यह चारहु ओर उदौ मुख चन्द की चाँदनी चारु निहारि लै री।
बलि जौ पै अधीनभयो पिय, प्यारी! तौ एतो बिचार बिचारि लै री ॥
कवि ठाकुर चूकि गयो जो गोपाल तो तैं बिगरी को सँभारि लै री।
अब रैहै न रैहै यहै समयो, बहती नदी पाँय पखारि लै री ॥

इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में काल की गति पर खिन्नता और उदासी, लोगों की क्षुद्रता, कुटिलता और दुःशीलता पर क्षोभ तथा विभिन्न उत्सवों पर उल्लास और उमंग के भी दर्शन होते हैं।

भाषा और शैली

उन्होंने चलती हुयी ब्रज भाषा में कवितायें लिखी हैं। वह यथेष्ट शक्ति शालिनी भी हैं और दौड़ में भावों से कभी पीछे नहीं रहतीं। भाषा की इसी सरलता के कारण उनकी रचनायें उनके जीवन काल में ही प्रचलित हो गयी थीं। लोकोक्तियों के प्रयोग से उसकी स्वाभाविकता और सौदन्र्य में चार चाँद लग गये हैं। उन्होंने कवित्त और सवैये ही लिखे हैं जिसमें यथेष्ट प्रवाह और माधुर्य है।

द्विज देव: परिचय

अयोध्या नरेश महाराज मानसिंह का ही उपनाम 'द्विज देव' था। उनके कवित्त काव्य प्रेमियों के हियहार हैं। ब्रज भाषा के शृंगारी कवियों की परम्परा के ये अंतिम कवि माने जाते हैं।

कृतियाँ

द्विज देवजी की 'शृंगार बत्तीसी' और 'शृंगार लतिका' नामक दो पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं। 'शृंगार बत्तीसी' तो एक ही बार छपी थी परन्तु 'शृंगार लतिका' का एक विशाल और सटीक संस्करण कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। उसकी टीका भूत पूर्व अयोध्या नरेश श्री प्रताप नारायण सिंह ने की थी।

कविता

मानसिंह जी अपने 'ऋतुवर्णन' के लिये विशेष प्रसिद्ध हैं। रीति कालीन कवि शास्त्र में गिनी गिनायी सामग्री के ही आधार पर ऋतुओं का वर्णन कर दिया करते थे परन्तु द्विज देव ही इस काल के ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपनी आँखों से देखकर ही लिखा है। ऋतुओं के अनुकूल विभिन्न समयों, पक्षियों, वृक्षों, लताओं आदि का बड़ा प्रभावकारी वर्णन उनकी रचनाओं में मिलता है। देखिए न,

सुरही के भार सूधे सबद सुकीरन के
मंदिरन त्याग करैं अनत कहूँ न गौन।
द्विजदेव त्यौं ही मधुभारन अपारन सों
नेकुझुकि झूमि रहै, मोगरे मरुअ दौन॥
खोलि इन नैनन निहारौं तो निहारौं कहा ?
सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चन्द।
गन्ध ही के भारन बहत मन्द मन्द पौन॥

इस प्रकार के वर्णनों में उनके हृदय का उल्लास उमड़ता सा नजर आता है। कहीं कहीं तो उनका उक्ति वैचित्र्य और भाव प्रवणता देखते ही बनती है। उदाहरण लीजिए—

बोलि हारे कोकिल, बुलाय हारे केकी गन,
सिखै हारीं सखी सब जुगुती नई नई।
द्विजदेव की सौं लाज-बैरिन कुसंग इन,
अंगन हू आपने. अनीति इतनी ठई॥
हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे श्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधा मई।
आवन समैं में दुखदाइनि भई री लाज
चलन समैं में चल पलन दगा दई॥

इस तरह की अनेक मार्मिक रचनाओं के सृजन करने का उन्हें सौभाग्य प्राप्त है।

भाषा और शैली

उनकी भाषा शुद्ध और परिमार्जित ब्रज भाषा है। भाषा की वैसी सफाई इनके पश्चात् भारतेन्दु में ही दीख पड़ी। इन्होंने प्राकृत के पुराने और भद्दे शब्दों को त्याग कर चलते या चल सकने वाले शब्दों को अपनाया और अनुप्रास और चमत्कारों के लिए उसे भद्दी नहीं होने दिया। वर्ण्य विषय के अनुकूल ही कहीं उन्होंने सवैयों का प्रयोग किया और कहीं कवित्तों का। उसमें प्रसाद गुण की प्रधानता है।

अलंकार अपने स्वाभाविक रूप में आये हैं। इन्हीं सब गुणों के कारण इनकी इतनी प्रसिद्धि है। आचार्य शुक्ल ने इनके सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है—"इनकी सी सरस और भावमयी फुटकर शृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गयी।

आलम और शेख; जीवन परिचय

स्वच्छन्द प्रेम के गायक आलम ब्राह्मण थे, शेख रंगरेजिन थी। कहा जाता है कि ब्राह्मण देवता ने एक बार उसे अपनी पगड़ी रंगने को दी। जिसकी खूँट में भूल से कागज का एक चिट चला गया। उस चिट में एक दोहे की आधी पंक्ति लिखी थी—"कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन" शेख ने दोहा पूरा किया—"कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन।" और उस चिट को फिर ज्यों का त्यों पगड़ी की खूँट में बांध कर लौटा दिया। आलम ने पूर्ति पढ़ी और दिल खो बैठे। प्रेम बढ़ा। जाति और धर्म की सीमायें टूट गयीं। आलम मुसलमान हो गये और शेख के

साथ विवाह करके रहने लगे। कवि दम्पति को कुछ वर्षों के बाद एक पुत्र भी पैदा हुआ। नाम रखा गया जहान। जहान बहादुर शाह के आश्रय में था। आलम और शेख ने अलग-अलग और मिल कर शृंगार की बड़ी सरस रचनायें की हैं। आलम का कविता काल सं० १७४०-१७६१ तक माना जाता है।

रचना

आलम और शेख की फुटकल रचनायें काव्य-प्रेमियों के मुंह से सुनने को मिलती हैं। वैसे उनकी कविताओं का एक संग्रह 'आलम केलि' नाम से निकला है।

कविता

दोनों प्रेमोन्मत्त कवि थे, इसलिए उनकी रचनाओं में हृदय पक्ष की प्रधानता है। एक एक पंक्ति से 'प्रेम की पीर' की आह निकली है, उन्माद अंगड़ाइयां लेता है और तन्मयता फूटी सी पड़ती है। कभी कभी तो एक ही कविता को दोनों साथ साथ बनाते थे। निम्नांकित कवित्त का चौथा चरण शेख का बनाया कहा जाता है।

प्रेम रंग-पगे जगमगे जगे जामिनिके,
जोबन की जोति जगि जोर उमगत हैं।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत हैं झुकि झुकि झँपि उघरत हैं॥
आलम सो नवल निकाई इन नैनन की,
पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं।
चाहत हैं उड़िबे को, देखत मयंक मुख,
जानत हैं रैनि तातें ताहि में रहत हैं॥

जहां आलम की अलग और शेख की अलग रचनायें देखने को मिलती हैं; वहां पता चल जाता है कि शेख में आलम से कहीं अधिक माधुर्य एवं कोमलता है। वे शब्द वैचित्र्य तथा अनुप्रासों को जबरदस्ती ठूँसने के पक्ष में नहीं दीख पड़ते। आलम उत्प्रेक्षा के उस्ताद हैं। एक उदाहरण लीजिए।

कैधौ मोर सोर तजि गए री अनत भाजि
कैधों उत दादुर न बोलत हैं, ए दइ।
कैधों पिक चातुक महीप काहू मारि डारे
कैधों बग पांति उत अन्त गति ह्वै गई?
आलम कहैं हो आली! अजहूँ न आये प्यारे
कैधों उत रीत विपरीत विधि ने ठई?
मदन महीप की दुहाई फिरिबे तें रही,
जूझि गए मेघ, कैधों बीजुरी सती भई?

इन्हीं गुणों के कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी गणना 'रसखान' और घनानन्द की कोटि में की है। यह सब होते हुये इन कवियों में प्रसंग कल्पना की विशेषता के साथ ही साथ अर्थ भूमि उत्पन्न करने की ऐसी अद्‌भुत क्षमता है जिससे वह लाखों के बीच में पहचाने जा सकते हैं।

भाषा और शैली

यद्यपि दोनों की भाषा परिमार्जित तथा सुव्यवस्थित ही है परन्तु कहीं-कहीं पर दीन, कीन, जैन आदि अवधी और पूरबी हिन्दी के प्रयोग मिलते हैं। सवैया और कवित्त छन्दों का प्रयोग किया गया है पर फारसी शैली के रस बाधक भाव भी यत्र-तत्र मिलते हैं।

संस्कृत और हिन्दी-रीति

यद्यपि हिन्दी ने संस्कृत से ही रीति का अध्याहार किया है फिर भी दोनों में अन्तर है। यह अन्तर केवल रचना में ही नहीं परिस्थितियों और प्रवृत्तियों में भी दीख पड़ता है। दृश्य काव्य के पूर्ण विकास के बाद ही भरत का नाट्य शास्त्र लिखा गया होगा परन्तु हिन्दी में श्रव्य काव्य पर ही शास्त्र चर्चा आरम्भ हुई। इसके कई कारण थे। पहली वजह तो यह थी कि उस समय सम्पूर्ण जनता ऐसी शिक्षित नहीं हो गई थी जो साहित्य से अपना मनोरंजन करती। रही बात राजाओं की तो इन्हें कविताओं से ही बहला लिया गया। इस प्रकार हिन्दी काव्य का तो प्रचार हुआ परन्तु गद्य का विकास न होने से पद्य में ठीक से शास्त्र चर्चा न हो सकी। संस्कृत में शास्त्र चर्चा के योग्य परिपक्व गद्य था। देव भाषा में रीति ग्रन्थों के प्रणेता कवि नहीं आचार्य थे। उन लोगों ने कवितायें नहीं लिखीं वरन सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन

किया। भरत, वामन, रुद्रट, अभिनव गुप्त, मम्मट, आदि लोगों ने कवितायें न रचकर सूत्र, कारिका एवं वृत्ति के ही द्वारा सिद्धान्तों की आलोचना की। कुछ लोग कवि भी थे और आचार्य भी, दोनों के रूप अलग-अलग थे। उदाहरण के लिये दण्डी और राजशेखर को लिया जा सकता है। कुछ लोगों की कृतियों में कवित्व और आचार्यत्व का विभिन्न अनुपातों में सम्मिश्रण मिलता है। दण्डी, भानुदत्त और जगन्नाथ पण्डितराज ऐसे ही थे। इन लोगों ने गद्य के माध्यम से शास्त्र की विवेचना की और उनके उदाहरण स्वरचित कविताओं से दिये। चन्द्रालोक में जयदेव ने लक्षण और उदाहरण एक में देकर गद्य का पूर्णतः वहिष्कार ही कर दिया। हिन्दी में ठीक इसका उलटा हुआ। वस्तुतः यहां कोई आचार्य था ही नहीं। शास्त्र प्रतिपादन तो कवित्व प्रदर्शन का बहाना मात्र था। हिन्दी के तथाकथित आचार्यों ने एक भी ऐसे मत का प्रतिपादन नहीं किया है जिसे उनकी मौलिक सूझ कही जाय। जहां उन्होंने ऐसा करने का प्रयत्न भी किया है, वहां धोखा हुआ है। राजा जसवंतसिंह ने चन्द्रालोक के आधार पर ही भाषा-भूषण लिख दिया फिर भी उसमें वह विशेषता न आ सकी जो चन्द्रालोक में आ गई है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि इस काल में मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला हिन्दी में कोई आचार्यन हीं हुआ।

आधुनिक काल में रीति और शृंगार की दशा

आरम्भ में ही रीतिकालीन शृङ्गार और अलंकार के मूल स्रोत तथा उनके विकास के इतिहास पर प्रकाश डाला जा चुका है। रीतिकाल के अन्तिम और जन प्रिय लक्षण ग्रन्थकार पद्माकर थे, और द्विजदेव के पश्चात् भावमयी तथा सरस फुटकल शृंगारी रचनायें सुनने को नहीं मिलीं। इसके पश्चात् ही रीति परम्परा के प्रति विद्रोह की घोषणा करता हुआ नवयुग आ धमका। काव्य की ब्रज भाषा के स्थान पर खड़ी बोली की प्रतिष्ठा की गई। फिर भी ब्रज भाषा में कविताओं का सृजन बंद न हुआ। रीति ग्रन्थों का छिट फुट प्रणयन भी प्राचीन परिपाटी के आधार पर होता रहा है। इस युग में भी मौलिकता का अभाव ही रहा। गद्य का विकास आधुनिक काल की प्रमुख घटना है। रीति काल में लक्षण ग्रन्थों का निर्माण पद्य में ही होता था परन्तु आधुनिक काल में गद्य का भी सहारा लिया जाने लगा। लक्षण ग्रन्थों

के औदाहरिण भागों में कुछ लोगों ने नूतनता का भी समावेश किया। नायक-नायिका भेद में भी कुछ नई बातें समाविष्ट हुई। हरिऔध जी ने अपने 'रस कलश' में 'देश प्रेमिका' 'समाज सेविका' 'परिवार प्रेमिका' 'निजतानुरागिनी' 'लोक सेविका' 'धर्म प्रेमिका' नामक नायिकाओं के अनेक भेद प्रभेद किये। इस वर्गीकरण में एक बात और खटकती है और वह यह कि हमें इस बात का पता नहीं चल पाता कि उपर्युक्त नायिकायें किस रस के लिये उपयोगी सिद्ध होंगी। डाक्टर 'रसाल' ने अपने नाट्य निर्णय में नाट्य शास्त्र के नियमों को छन्द बद्ध किया।

रीति कालीन शृंगार की भावना रीति काल में बुद्धिवादिनी हो गई। आधुनिक शृंगार का झुकाव भी यथार्थ की ही ओर अधिक है। प्राचीन कवि अपने नायिकाओं के जिस रूप का वर्णन करते थे, वह हमारे वास्तविक जीवन से दूर की चीज थी। उनके लिये नायिका या तो देखने की वस्तु थी या केलि की परन्तु अर्वाचीन नायिकायें अपने प्रकृति रूप में दीख पड़ती हैं जिनकी जीवन में अनेक जिम्मेदारियाँ भी हैं। सत्य नारायण कविरत्न की एक कविता १९०४ की सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। उन्होंने हेमन्ता का यथार्थ चित्र खींचा है और उसमें 'ग्रामीण नायिका' की दशा का वर्णन किया है। उदाहरण लीजिए—

रबी जहाँ सींची जावे, तहँ गोहूँ जौ लहराँय
सरसो सुमन प्रफुल्लित सोहैं अलि माला मँडराय।
प्रकृति दुकूल हरा धारणकर, आनन अपना खोल
हाव भाव मानहु बतलावै, ठाढ़ी करै कलोल।
बरहा खोदत श्रमी कृषकवर जल नहिं कहुँ कढ़ि जाय
खुरपी और फाँवरा कर गहि क्यारी काटहिं धाय।
चरसा गहे राम आये, कहि गाय गीत ग्रामीन
जीवन हेत देत खेतन कँह जीवन नित्य नवीन।

यह तो रही ब्रज भाषा की बात। खड़ी बोली के अर्वाचीन कवियों ने जिन नायिकाओं का वर्णन किया है उसमें और प्राचीन कवियों की नायिकाओं में महान अन्तर है। यह अन्तर 'मतिराम' और कविवर 'निराला' की नायि-

काओं की ओर देखने से स्पष्ट मालूम पड़ जाता है। मतिराम का यह सवैया देखिये—

कुन्दन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई
आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु विलासन की सरसाई।
के बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहे मुसुकानि मिठाई?
ज्यों-ज्यों निहारिये नेरेह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई ॥

इसमें उनकी नायिका का रूप हमारी आँखों के आगे मूर्त हो उठता है और हम अपनी सामान्य इन्द्रियों से उसके स्वरूप का अनुभव कर सकते हैं। वह काल्पनिक नहीं सत्य है। ठीक इसके विरुद्ध कविवर 'निराला' की नायिका देखिये—

चंचल अञ्चल उसका लहराता था
खिंची सखी सी वह समीर से
गुप चुप बातें करता—
कभी जोर से बतलाता था
विकसित-कुसुम-सुशोभित असित सुवासित
कुंजित कच बादल से काले-काले
उड़ते, लिपट उरोजों से जाते थे
मार-मार थपकियाँ प्यार से इठलाते थे
झूम-झूम कर कभी चूम लेते थे स्वर्ण कपोल
जल तरंग सा रंग जमाते हुये सुनाते बोल

(शृंगारमयी)

इस नायिका का रूप तो पहिचान में आता ही नहीं। हाँ! उसकी कल्पना की जा सकती है। इसका सौन्दर्य अतीन्द्रिय है और इसका कारण है निराला जी पर विशुद्ध बुद्धिवाद का प्रभाव। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्वाचीन शृंगार भावना विशुद्ध बुद्धिवादिनी है।

रीति काल की सामान्य प्रवृत्तियाँ

रीति काल की पांच सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं।

१—रीति ग्रन्थों का आधिक्य—इस काल में रीति ग्रन्थों की प्रचुर मात्रा में अवतारणा की गयी। संस्कृत में तो इसके पाँच सम्प्रदाय प्रतिष्ठित

थे। भरत का रसवाद, आनन्दवर्धनाचार्य और मम्मट का ध्वनिवाद, दण्डी और भामह का अलंकारवाद, कुंतक का वक्रोक्तिवाद तथा वामन का रीति-वाद। वक्रोक्ति और रीति अपने जन्म के कुछ समय बाद ही दब गये। उन्हें लोक-प्रियता नहीं प्राप्त हो सकी। हिन्दी के आचार्यों ने रस, ध्वनि और अलंकार को ही अपनाया और उन पर काफी पुस्तकें लिखीं। चिन्तामणि, देवदत्त, मतिराम, भिखारीदास आदि ने रस, पिंगल, नायिका भेद, आदि पर खूब लिखा। केशव, राजा जसवंत सिंह, उत्तमचन्द्र भंडारी और ग्वाल ने अलंकारों की धूम मचा दी। इस प्रकार सम्पूर्ण रीति काल में रीति ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा।

२—**श्रृंगार वर्णन की प्रधानता**—शृंगार ही इस काल की मूल भावना है। इसकी प्रधानता का कारण है तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति तथा प्राचीन साहित्यिक परम्परा का प्रभाव। मुगलों की विलासिता का प्रभाव सभी क्षेत्रों पर पड़ा। भक्त कवि भी इससे अप्रभावित न रह सके। राधा-कृष्ण का शृंगार वर्णन करते समय भक्ति के आवेश में कवियों को अश्लीलता का भी ध्यान नहीं रहता था। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता उसे लौकिक शृंगार के ही रूप में ग्रहण करने लगी। इस काल के कवियों ने भक्ति, नीति और आचार को छोड़ कर लौकिक शृंगार का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

३—**कला पक्ष का विकास**—इस समय काव्य के कला पक्ष का खूब विकास हुआ। भक्ति कालीन कवियों की साधना से ब्रज भाषा की अभिव्यंजना शक्ति और शब्दकोश में पर्याप्त शक्ति आ गयी थी। इस समय अनेक अलंकारों से कविता कामिनी को खूब सजाया गया। उपमान और प्रतीकों के प्रयोग से कला में चार चाँद लग गये।

४—**मुक्तकों की बाढ़**—इस काल का काव्य राज दरबारों का काव्य था। राज दरबारों में कवियों को इतना ही अवसर रहता था कि राजा का जब मन हो तब जल्दी से एक दो छन्द बना कर उसका मनोरंजन कर दें। प्रबन्ध काव्य के आस्वाद के लिये जिस धैर्य और काव्य मर्मज्ञता की आवश्यकता होती है, उसका अधिकांश राज दरबारों में अभाव था।

आधुनिक-काल

(१९००-२०१०

नामकरण, उद्भव और विकास

हमारे साहित्य का आधुनिक इतिहास प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों के बंधनों को तोड़कर नयी भाषा और नये भावों का शृंगार करती हुयी, 'नवगति नवलय ताल छन्द नव' के स्वरों में नवयुग का आह्वान करने वाली हिन्दी का इतिहास है। इसीलिए इसे आधुनिक काल भी कहते हैं। विक्रम की १९ वीं शताब्दी को इसका प्रारम्भिक काल माना जाता है और तब से आज तक इसकी स्रोतस्विनी विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होकर अभूत पूर्व छटा का प्रदर्शन करती आ रही है। वस्तुतः इसके पूर्व ऐसा एक काल भी न था जिसने इतने कम समय में ही इतनी प्रचुर मात्रा में इतनी प्रखर प्रतिभाओं का परिचय दिया हो। इस युग में हिन्दी ने अनेक करवटें लीं और हमारे साहित्यकारों ने संसार को नयी दृष्टि से देखने का प्रयास किया। दम तोड़ते हुये रीति काल के अंतिम दिनों में शास्त्र और शृंगार की कीचड़ में बुरी तरह फँस कर बेचारे कवि मुक्तकों का लगातार वमन करते रहे, जिसकी दुर्गन्धि से रसिकों का दम घुटा जा रहा था। पतझर के बाद बसंत आया और हिन्दी साहित्य का कानन, महाकाव्य, खण्ड काव्य, आख्यानक काव्य (Ballads) प्रेमाख्यानक काव्य (Metrical Romances) प्रबन्ध काव्य और गीति काव्य के प्रसूनों से महक उठा। हमारे कवियों ने काव्य की 'वंशरी' पर प्रेम के राग छेड़े और उसकी मादक स्वर लहरियां वातावरण में घुल गयीं। प्रेम की यह व्यापकता, दाम्पत्य प्रेम, देश प्रेम, प्रकृति प्रेम, मित्र प्रेम, ईशप्रेम आदि को अपने भीतर समेट कर ससीम और असीम प्रेम की अभिव्यंजना करने लगी। इसीलिये वर्ण्य विषय और मनोवृत्ति का विचार करके आलोचक प्रवर पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वाङ्मयविमर्श में इस काल को प्रेम काल की संज्ञा दी है।

१६ वीं शताब्दी का साहित्य, गोष्ठी साहित्य (Drawingroom Literature) था। इस काल में विशेष अवसरों पर आयोजित कवि सम्मेलनों में समस्या पूर्तियों के खेल खेले जाते थे। कवि दरबारों का बोल बाला था। ब्रज भाषा के कवि परम्पराओं की लकीरें पीट रहे थे तथा रूपक उत्प्रेक्षा और श्लेष आदि के सम्मिलित रूप से भाषा का गला घोंटकर 'रस' निकालने के असफल प्रयत्नों में व्यस्त थे। लगभग तीन सौ वर्षों से नायिका भेद और रीति आदर्शों का झंडा लहरा रहा था। विषय और साहित्यिक रूपों के प्रति सीमित दृष्टि कोण और ऊहात्मक प्रसंग तत्कालीन काव्य-प्रणाली को विनाश के गर्त में झोंक रहे थे। संस्कृत के जटिल नियमों के आधार पर नाटकों की सृष्टि हो रही थी। समालोचना थोड़े से विद्वानों की बपौती हो रही थी, तभी लगभग सं० १६१४ में भारतेन्दु ने क्रान्ति की शंख ध्वनि की। यह विशाल व्यक्तित्व साहित्य की सभी शाखाओं का अकेला प्रेरक रहा। इसीलिए आधुनिक काल में सं० १६२४ से १६६० के युग को भारतेन्दु युग कहते हैं। इसके पश्चात् पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हमारी सारी अव्यवस्थाओं को स्थायित्व प्रदान किया और हिन्दी को एक नयी आधार भूमि दी। सं० १६६७ से सं० १६७५ तक का मध्य युग द्विवेदी युग के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद हमें किसी ऐसे प्रभावशाली व्यक्तित्व के दर्शन नहीं होते जिसका जादू प्रस्तुत युग के सिर पर चढ़ कर बोल रहा हो। इसीलिये सं० १६७५ के बाद से आज तक के काल को वर्तमान युग कहना ही उपयुक्त मालूम पड़ता है। प्रेम की वही पूर्व प्रवाहित प्रवृत्ति भारतेन्दु युग में दाम्पत्य रति से आगे बढ़ कर प्रकृति प्रेम और देश प्रेम तक आ गयी थी। हां! धीरे-धीरे वह भगवत् प्रेम की ओर भी मुड़ने लगी थी। द्विवेदी युग में प्रेम की यह धारा देश प्रेम और प्रकृति प्रेम के रूप में दृष्टि गोचर हुयी। वर्तमान युग के पूर्वार्द्ध में ससीम प्रेम की लहरियां असीम की सीमाओं पर छहरने लगीं और आज वह सामान्य मानवता के पांव पखारती हुयी दीख रही हैं। इन सब बातों पर विचार करके आधुनिक काल को प्रेमकाल कहने में तो कोई अत्युक्ति नहीं मालूम पड़ती।

वीरता भक्ति और शृंगार हमारे साहित्य की तीन प्रमुख प्रवृत्तियां हैं। यद्यपि इस युग में इनमें से किसी की प्रधानता न थी फिर भी एक भारतीय

आत्मा, सोहनलाल द्विवेदी, श्यामनारायण पाण्डेय, सुभद्रा कुमारी चौहान तथा रामधारी सिंह 'दिनकर' प्रभृति कवियों ने पुष्ट एवं ओजपूर्ण भाषा में वीर रस की फड़कती हुयी रचनायें कीं। इस काल में भक्ति मूलक काव्य भी रचे गये। यह दूसरी बात है कि उनमें भक्तिकालीन हार्दिक सत्यता (Sincerity) और भाव प्रवणता का अभाव हो। इसका एक कारण है, और वह यह कि इस काल की भक्ति हार्दिक से कहीं अधिक मानसिक है। सर्व श्री मैथिली शरण गुप्त, वियोगी हरि और जयशंकर प्रसाद की चन्द रचनायें उदाहरण के लिए पेश की जा सकती हैं। वस्तुतः यह शृंगार काल न था फिर भी इसने उत्कृष्ट कोटि की शृंगारिक कवितायें ढाली गयीं। प्रमाण स्वरूप श्री सुमित्रानन्दनपन्त की ग्रन्थि ली जा सकती है। इसके अतिरिक्त सर्व श्री आरसी प्रसाद सिंह तथा रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की कुछ ऐसी रचनायें भी हैं जो रीतिकाल की घोर शृंगारिक रचनाओं को भी मात करने की क्षमता रखती हैं। इसी काल में राम और कृष्ण के चरित्रों में भी नवयुग का रंग भरा गया।

यह क्रान्ति और युगान्तर का काल है। इसी समय सर्व श्री जयशंकर-प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' हमें रहस्यवादी तथा छायावादी भावनाओं एवं कमनीय कल्पनाओं से सुसज्जित मधुर गीतों का गुलदस्ता भेंट करते हैं। हिन्दी कवि नारी तथा प्राकृतिक व्यापारों के सम्बन्ध में एक अत्यन्त संकुचित भाव रखते रहे हैं। हमारे रीति कालीन महाकवियों ने इन विषयों को अपने हृदय की उछ्ंखल भावनाओं में रंग कर उनका स्वरूप ही बिगाड़ दिया था। आधुनिक काल में नारी को केवल श्रद्धा कहा गया और उससे जीवन के सुन्दर समतल में पीयूष स्रोत सी बहने की प्रार्थना की गयी। अब वह भोगा मात्र नहीं है। वह है राष्ट्र शक्ति और पुरुष के जीवन की प्रेरणा।

आधुनिक काल के कवियों ने प्राकृतिक उपादानों की गणना नहीं की। उन्होंने प्रकृति में उस शक्ति को देखा जिसके इंगित पर सम्पूर्ण संसृति गतिमान रहती है। इसी समय 'झंझा में नीम' की दशा पर पन्त जी ने लेखनी उठायी—

मर मर मर मर
रेशम के से स्वर भर
घने नीम दल चंचल
श्वसन स्पर्श से
रोमहर्ष से
हिल हिल उठते प्रतिपल
वृक्ष शिखा से भूपर
शत शत मिश्रित ध्वनिकर
फूट पड़ा लो निर्झर
मरुत कंप अर……

और हमारे कवि प्राकृतिक सौन्दर्य के विभिन्न रूपों पर मुग्ध होना सीख गये। इस प्रकार उनका भाव क्षेत्र विकसित होता गया। रहस्यवादी शैली में भी एक प्रकार की आंतरिकता, स्वच्छता और अनन्तता है जो आध्यात्मिकता से प्रभावित दिखायी पड़ती है। इसी प्रकार इस क्षेत्र में छायावादी भावातिरेक कला की सौन्दर्य निर्भरता के भी दर्शन होते हैं।

इसी काल में बच्चन जी काव्य-प्रेमियों को मधु-पान का निमन्त्रण देते हैं और परिस्थितियों से निराश तथा पीड़ित मानव, पीड़ा के प्रशमन हेतु उनकी मधु-शाला का आमन्त्रण स्वीकार करता है, जहाँ 'सतरंगिनी' 'मधु-बाला' 'मधुकलश' लेकर दीवानों की प्यास बुझाने का उपक्रम करती है। 'आकुल अन्तर' का गायक हिन्दी कविता को छायावादी शब्द जाल के चक्कर से बाहर निकालकर स्वाभाविकता एवं सरलता का जामा पहनाता है। मस्ती के साथ ही साथ बच्चन जी के प्रगीतों ने प्रगति का संदेश भी देना शुरू किया।

रक्त से सींची गयी है
राह मन्दिर मसजिदों की
किन्तु रखना चाहता मैं
पाँव मधु सिञ्चित डगर में
पाप की हो गैल पर
चलते हुये ये पाँव मेरे

हँस रहे हैं उन पगों पर
जो बँधे हैं आज घर में ॥

आदि पंक्तियाँ लोगों की जिह्वा से छलकने लगीं।

इसी समय विश्व ने अनेक उलट फेर देखे। रूस ने एक नयी दुनियाँ बसा ली। वहाँ के समाजवाद ने लोगों को काफी प्रभावित किया। हमारे कवियों का स्वर भी बदलने लगा और वे रहस्यवादी एवं छायावादी चोला उतार, हालावादी कुल्हड़ फेंक मजदूरों और किसानों की ओर आश्चर्य और भरे नेत्रों से देखने लगे। अब कविता के विषय राजा और रानी, स्वकीया परकीया, राम और कृष्ण नहीं रहे, अब तो दीन-दुखिया, दलित पतित कुरूप, श्रमजीवी, और अकाल पीड़ित लोगों में दैवी सौन्दर्य देखा जाने लगा। आज का मनुष्य पहले मानव है तत्पश्चात और कुछ। इस प्रकार प्रगतिवादी कविताओं की सृष्टि होने लगी, जिनमें कटु यथार्थवाद का प्रबल प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रगतिवाद, यथार्थवाद के सहारे जीवन की वास्तविकता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। सर्वश्री शिव मङ्गल सिंह, 'सुमन' केदार नाथ अग्रवाल, रामधारी सिंह 'दिनकर' नागार्जुन इस धारा के प्रमुख कवि हैं। जब इस धारा का क्षेत्र केवल किसान और मजदूरों तक ही सीमित रहने लगा और उसके द्वारा वर्ग संघर्ष की आशंका होने लगी तब चिल्ल-पों मचने लगी। इसके अतिरिक्त इसी स्तर पर पं० सुमित्रा नन्दन पन्त का स्वाभाविक विकास हो रहा था। उन्होंने अपनी नयी रचनाओं, 'स्वर्ण धूलि' 'स्वर्ण किरण' और 'युग पथ' में समाजवाद, और मार्क्स वाद के आगे की भूमि की ओर इंगित किया जहाँ पर आध्यात्मिक और प्राकृतिक जीवन का समन्वय हो जाता है। इस काल ने साहित्य को जनता की सम्पत्ति बना दिया है। प्रगतिवादी कवियों का दल कला को जीवन की अभिव्यक्ति मात्र मानता है। वह जन संस्कृति को आगे बढ़ाना चाहता है। इस वर्ग के आधार स्तम्भों का कहना है कि आज तक का सारा साहित्य उच्च वर्गों की उपज है अतः उसमें उसी वर्ग की मनोभूमि मिलती है। यह दल जन जीवन से सम्पर्क स्थापित करने की सलाह देता है और अनुरोध करता है लोक-गीतों में सुरक्षित शैलियों तथा छन्दों को साहित्य का शृंगार बनाने का।

आज कल हिन्दी में प्रयोगवादी कविताओं की नूतन धारा प्रवाहमान है। प्रयोगवादी कवि भाषा और भाव, विचार और छन्द तथा शैली आदि सभी दिशाओं में नये नये प्रयोग कर हैं। वे अपने व्यक्तित्व का समाजीकरण करने पर उतारू हैं। सर्वश्री अज्ञेय, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, नेमिचन्द्र जैन, भवानी प्रसाद मिश्र, गजानन मुक्ति बोध तथा गिरजा कुमार माथुर प्रभृति कवियों ने तार सप्तकों के द्वारा प्रयोग वादी कविताओं का सूत्रपात किया है। अभी तक दो सप्तक-बज चुके हैं, तीसरे की तैयारी हो रही है। इस परम्परा ने अत्यन्त थोड़े ही दिनों में अपने चारों ओर सक्रिय लेखकों का एक बड़ा दल एक एकत्र कर लिया है और आज सभी हिन्दी प्रेमियों की आंखें उसकी गति विधि की ओर लगी हुयी हैं।

इस काल का महत्व गद्य साहित्य के आविर्भाव और उसके चतुर्दिक उत्थान के कारण और भी बढ़ जाता है। मुन्शी सदासुख लाल ने जिस गद्य की नींव डाली थी वह उत्तरोत्तर विकसित होता गया और आज वह संवाद से लेकर नाटक, एकांकी, उपन्यास, आख्यायिका, निबन्ध, समालोचना, शब्द चित्र, संस्मरण तथा रिर्पोताज आदि अपने विभिन्न रूपों के द्वारा हमारे साहित्य की श्री वृद्धि कर रहा है। इसीलिये हिन्दी साहित्य के प्रकांड इतिहासकार पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे गद्य काल के नाम से अभिहित किया है।

इस काल की विशेषता साहित्यिक रूपों और मान्यताओं की विविधता तथा प्रवृत्तियों की विभिन्नता है। इन चंद दशकों ने ही हमें प्रसाद, पंत, महादेवी और निराला जैसे कवि, प्रेमचंद, अज्ञेय और कृष्ण चन्द्र जैसे उपन्यास कार एवं कहानी कार, जयशंकर प्रसाद और वृन्दाबन लाल वर्मा जैसे नाट्यकार तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे निबन्ध लेखक तथा आलोचक प्रदान किये। आधुनिक काल की क्षिप्र प्रगति और विकास, तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों के प्रमुख छः कारण हैं। (१) भारत में ब्रिटिशराज्य की स्थापना (२) पश्चिमी भावों और विचारों का आयात (३) अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव (४) सामाजिक, धार्मिक राजनैतिक उलट फेर तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ (५) गणतंत्र आविर्भाव।

भारतवर्ष के इतिहास में अंग्रेजी राज्य की स्थापना एक अनोखी घटना थी। अन्य विदेशी आक्रमणकारियों की तरह श्वेत काय ससैन्य नहीं आये थे। वे तो यहाँ पर व्यापार की इच्छा से आये थे परन्तु भारतीय राजनीति की दुर्बलता देख कर अपनी कूटनीति से यहाँ राजनैतिक मुहरों को शह देकर उन्होंने अन्य यूरोपीय सौदागरों को मात दे दी। धीरे-धीरे उनका राज्य पूर्व की ओर से पश्चिम की ओर बढ़ने लगा। अन्तिम सिक्ख युद्ध के बाद अंग्रेजों ने भारतवर्ष के समस्त नक्शे पर लाली फेर दी। उसके कुछ वर्ष बाद तक भी वे अपनी कोई निश्चित नीति निर्धारित नहीं कर सके थे। यहां के सभी राजे चरित्रहीन थे और उनमें अंग्रेजों से मोर्चा लेने की हिम्मत ही नहीं थी। जो दो-चार वीर शेष भी थे उनकी भी अंग्रेजों के नये रण कौशल के आगे एक न चली। धीरे-धीरे सभी राजाओं के राज्य छीने जाने लगे। लार्ड डलहौजी की नीति से लोगों में असन्तोष की भावना भरने लगी। अंग्रेजों के आचार-विचार, शासन प्रणाली, सभ्यता और संस्कृति भारतीयों से पूर्णतः भिन्न थी। अपनी राज शक्ति के मद में चूर होकर अंग्रेज भारतीयों को मूर्ख समझने लगे। इसाई पादरियों का धर्म प्रचार भी आरम्भ हो गया। बंगाल पर इसाई धर्म छाने लगा और धीरे-धीरे वहां के सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक जीवन में युगान्तरकारी परिवर्तन नजर आने लगे। बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना हुई और उसके द्वारा हिन्दू समाज की सड़ी गली प्रथाओं को सुधारने का प्रयत्न किया जाने लगा। अंग्रेज जिसे सुधार कहते थे, भारतीय उसे धर्म पर हस्तक्षेप समझते थे। यह असन्तोष बढ़ता ही गया और सन् १८५७ के सिपाही विद्रोह के रूप में भड़क उठा। अपनी अनभिज्ञता और अनुभव शून्यता के कारण बेचारे हिन्दुस्तानी सिपाहियों की मनोकामना मन में ही रह गयी। विद्रोह बुरी तरह दबा दिया गया। परिणाम स्वरूप सन् १८५८ में भारतववर्ष एक राजनैतिक सत्ता के बन्धन में बँध गया और भारतवर्ष पर इंगलैण्ड की साम्राज्ञी विक्टोरिया का शासन हो गया। अंग्रेजी सभ्यता, संस्कृति, भाषा और साहित्य का दबाव प्रबल से प्रबलतर होता गया जिसने हमारे साहित्य की काया पलट दी।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण पश्चिमी भावों और विचारों का आना स्वाभाविक ही था। पूर्व और पश्चिम की इन धाराओं का संगम

एक दूसरा ही रंग लाने लगा। सन् १८३७ में दिल्ली में लिथोग्रैफिक प्रेस की स्थापना हुई और पुस्तकों का अबाध गति से प्रकाशन होने लगा। प्रकाशन के डैनो पर बैठकर पश्चिमी विचार और भावनायें दरवाजे दरवाजे उड़ने लगीं। जनता पर उनका प्रभाव भी पड़ने लगा। अंग्रेजों के आने के समय तक यहां दो प्रकार की शिक्षा प्रणालियां प्रचलित थीं। मुसलिम पद्धति और हिन्दू प्रणाली। मुसलिम पद्धति के मदरसे और मकतब मसजिदों में लगा करते थे जिसमें कुरान की आयतों के साथ फारसी के गुलिस्तां और बोस्तां की भी शिक्षा दी जाती थी। इन दिनों अरबी, फारसी और उर्दू का जोर था। इन भाषाओं के द्वारा शिक्षा-प्राप्त लोगों की समाज में इज्जत थी और उन्हें राजकीय विभागों में काम करने की सुविधायें भी मिल जाती थीं।

हिन्दू प्रणाली की पाठशालाओं में संस्कृत के माध्यम से व्याकरण, कोश, तथा पुराण आदि विषयों का अध्ययन-अध्यापन चलता था। अंग्रेजों के हाथ में शासन की बागडोर आने पर उन्होंने इस ओर भी ध्यान दिया। राजकार्य चलाने के लिये उन्हें क्लर्कों की आवश्यकता थी। इंगलैण्ड से क्लर्कों का आयात करने में काफी रूपये खर्च हो जाते थे। इसके अतिरिक्त भारतीय सभ्यता और संस्कृति से परिचित होने के लिये उन्हें यहां की प्रमुख भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना भी अपेक्षित था। यही सोचकर अंग्रेजों ने कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज (सन् १८०० ई०) की स्थापना की थी। प्रिन्सपल जान गिल क्राइस्ट की देख रेख में विभिन्न भारतीय भाषाओं के विद्वान रखे गये थे। इसी कालेज में पं० सदल मिश्र और लल्लू लाल जी अध्यापन करते थे। थोड़े ही दिनों में अंग्रेजों ने अनुभव किया कि भारतीयों को अंग्रेजी की शिक्षा देकर कम खर्च में ही क्लर्की कराई जा सकती है। वर्षों के बाद जब कम्पनी की ओर से शिक्षा पर खर्च करने के लिये कुछ रुपये स्वीकृत हुये तो माध्यम का प्रश्न सामने आया। कुछ लोगों ने अरबी फारसी का पक्ष लिया, कुछ लोगों ने संस्कृत का और कुछ महाशयों ने अंग्रेजी का समर्थन किया। मैकाले ने अंग्रेजी की ओर से जोरदार बहस की और अंग्रेजी माध्यम मान ली गई।

देश भर में अंग्रेजी की शिक्षा आरम्भ हो गई और उभरता हुआ भारतीय मस्तिष्क चक्कर खाने लगा। वह अपने घरों से दूसरे प्रकार का

संस्कार लेकर अंग्रेजी पाठशालाओं में जाता था परन्तु उसे विरोधी बातें पढ़ाई जाती थीं। उसकी मां उसे बताती थी कि सूरज पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाता है। धरती शेषनाग के फन पर स्थित है और जब भगवान शेष सांस लेते हैं तो भूचाल आ जाता है। स्कूल के अध्यापक उसे सिखाते थे कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। समस्त ब्रह्माण्ड में अनेक ग्रह हैं जो एक दूसरे को आकर्षित किये हुये हैं। हमारी पृथ्वी भी एक निराधार ग्रह है और ग्रहों की आकर्षण शक्ति के ही द्वारा इसकी अवस्थिति है। वर्षा का जल जब किसी दरार से होता हुआ, धरती के अत्यन्त गर्म भाग से मिल कर भाप बन जाता है तब वह बाहर निकलने के प्रयत्न में अपने अवरोधक-शक्तियों को हिला देता है यही भूचाल है। विद्यार्थी अंग्रेजी से प्रताड़ित होने लगे। वे आंख मूदकर अंग्रेजों की नकल करने लगे और अपने पूर्वजों को नीचा समझने की भावना उनके मन में घर करने लगी। अंग्रेजी शिक्षा की कुछ अपनी विशेषतायें भी हैं। यह हमारे मन में आलोचनात्मक और वैज्ञानिक संस्कारों की सृष्टि करती है, सन्देह का पोषण करती है और करती है गुरुजन का विरोध। इसे प्रकृति की भौतिक सत्ताओं पर विश्वास है, अभौतिक तथा अतिभौतिक शक्तियों पर नहीं। यह रूढ़ियों, अंधविश्वासों और परम्पराओं का विरोध करती है। व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य में इसका विश्वास है। इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली से शिक्षित व्यक्तियों का दृष्टिकोण भी इसी प्रकार का बनाने लगा। हमारे साहित्य पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों का हिन्दी साहित्य गोष्ठी साहित्य था। उसके पूर्व भी भारतीय जनता मौखिक कथा कहानियों और गीतों से अपना मनोरंजन कर लेती थी। हाथ से लिखी गयी पुस्तकों का साहित्य तो द्विजों के लिये ही सुरक्षित था। हमारे यहां कालिदास के समय से ही साहित्य की भाषा और जनता की भाषा में अन्तर पाया जाता है। मनु की सामाजिक व्यवस्था के अनुसार जब हमारे यहां ब्राह्मणों का राज्य था तब हमारे कवि वाल्मीकि और व्यास थे, हमारे दार्शनिक और नीति शास्त्री कपिल, कणाद और गौतम थे और तब हमारे यहां अनुष्टय, काव्य की नैसर्गिक निर्झरिणी प्रवाहित होती थी। मौर्य वंश की स्थापना के बाद क्षत्रियों के हाथ में शासन की बागडोर आयी। कलाकारों ने राजा के लिए

गगन चुम्बी अट्टालिकायें बना दीं। कवियों ने उनके वैभव के गान गाये और साहित्य कला की मोतियों से चमक दमक उठा। भक्तिकाल में हमारा साहित्य जन साधारण के अत्यन्त निकट आ गया था और उसने हमें सूर, और तुलसी जैसे अनमोल रत्न भेंट किये थे परन्तु रीति काल में वह जन सम्पर्क विच्छेद कर शासकों के दल में सम्मिलित हो गया और शृंगार रस की सरस कवितायें बरस पड़ीं।

अंग्रेजों का राज्य वैश्य वर्ग का राज्य था अतः साहित्य में भी वैश्य-वृत्ति के दर्शन होने लगे। अर्थ सर्वोपरि हो गया जिसकी सर्वोपारिता से पदार्थवादी दृष्टिकोण का जन्म हुआ। रेल, तार, डका, छापाखाना आदि की सुव्यवस्थाओं से साहित्य का केन्द्र जनता में खसकने लगा। पढ़े लिखे जनता के आदमी कवि और लेखक होने लगे और साहित्य में घुरहू चमार, पायगू मेहतर तथा रमजान अली का चित्रण होने लगा। एक ओर समाज में छुआ-छूत, जाति-पाँति, बाल विवाह, वृद्ध विवाह विरोधी विचार धारायें जड़ जमाने लगीं दूसरी ओर समान अधिकार की भावनायें तूती बजाने लगीं। साहित्य जब जनता के अधिकार में आया तब साहित्य की ब्रजभाषा और जन भाषा खड़ी बोली के बीच एक महान् अन्तर लोगों को असह्य हो उठा। सर्व श्री अयोध्या प्रसाद खत्री, तथा पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ब्रजभाषा के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया। जन रुचि के कारण ब्रज-भाषा के पांव उखड़ गये और खड़ी बोली साहित्यिक भाषा के सिंहासन पर जा बैठी। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा में भी विनाश के अंकुर थे। नायिका भेद की भूल भुलैयों में चक्कर लगाने की किसको फुर्सत थी? ब्रजभाषा काव्य में अनेक अप्रचलित शब्द आ गये थे। कवि लोग शब्दों की टाँग तोड़ देने के आदी हो गये थे। वे दूर की कौड़ी लाने के प्रयत्न में कवित्व का सत्यानाश कर रहे थे। पाश्चात्य विचार धारा बुद्धि वाद प्रसूता है। बुद्धि वाद, अंधविश्वासों का नाश करके प्रस्तुत उपकरणों से प्रयोग करके नये सिद्धान्तों की सृष्टि करता है। इसीलिये सर्वप्रथम ब्रजभाषा की काव्य परम्परा का विरोध हुआ और फिर प्राचीन साहित्यिक नियमों, विकृत एवं अप्रचलित शब्दों तथा प्राचीन व्याकरण के विधानों का मूलोच्छेद किया गया। प्राचीन साहित्यिक विधानों, नियमों और रूढ़ियों को उखाड़ कर फेंक दिया गया

और उनके स्थान पर नये नियमों तथा सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की गयी।

बुद्धि वाद की दूसरी धारा यथार्थ वाद की दिशा में बहती है। हमारे प्राचीन कवि भावों की व्यंजना करते थे सत्यों की नहीं। उनका 'कवि-समयों' के प्रति अगाध श्रद्धा थी। उनका विश्वास था कि प्रमदाओं के पदा-घात से अशोक में फूल लगते हैं। चकोर अंगार चुंगता है। पपीहा स्वाति नक्षत्र के जल को छोड़कर पानी की ओर देखता तक नहीं। हंस में नीर-क्षीर विवेक की शक्ति होती है। यद्यपि ये सारी बातें सम्भावना की श्रेणी से भी परे हैं परन्तु प्राचीन काव्य-प्रेमियों तथा कवियों को उन पर पूरा विश्वास था। बुद्धि वाद ने आंखों के आगे का परदा हटा दिया। बिहारी की जिन कविताओं पर रसिक समाज तड़प उठता था, दिल थाम लेता था, वे अब उपहास की सामग्री बन गयीं। इस काल में पाण्डित्य प्रदर्शन और साहित्यिक रूढियों का विरोध हुआ और स्वच्छन्द वाद (Romanticism) की प्रतिष्ठा हुयी।

अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला और मिला सामाजिक अभिव्यक्ति को छोड़कर व्यक्तिगत अभिव्यक्ति को प्रोत्साहन। हमें इसी समय साहित्य ने राष्ट्र-प्रेम का पढ़ाया। राष्ट्र की इतनी विस्तृत कल्पना इससे पूर्व हमारे यहां नहीं थी। आंग्ल साहित्य से ही हमने दलितों और पीड़ितों के प्रति उदार होना सीखा और सीखा नारियों को आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखना। शेक्स पियर और मिल्टन, वर्डसवर्थ और शेली, कीट्स और बायरन की रचनाओं ने प्रकृति को नयी दृष्टि से देखने का चश्मा दिया। अंग्रेजी के ही माध्यम से फ्रेंच लेखक मोलियर ने हमें हास्य के अनेक नूतन विषय दिये। अंग्रेजी साहित्य का सबसे पहले प्रभाव बंगला साहित्य पर पड़ा। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में हमें आंग्ल विषय-वस्तु भारतीय वेश भूषा में मिलीं। कवि कुल गुरु रवि ठाकुर की रचनाओं में आंग्ल-आत्मा के स्वर भी सुनायी पड़े।

अंग्रेजी साहित्य ने हम भूलों को राह दिखाया, हमारी बन्द आंखें खोलीं और हमें वास्तविकता का ज्ञान कराया। अपनी प्राचीन निधियों के मूल्यांकन से अनभिज्ञ आंग्ल सभ्यता की राह पर आंख मूंद कर चलने वाले राहियों को जब सर मोलियर विलियम्स द्वारा अनूदित अभिज्ञान शाकुन्तल

के अनुवाद पर पश्चिमी विद्वानों की प्रशंसायुक्त वाक्यावलियां सुनने को मिलीं तब उनकी आंखें खुलीं। शकुन्तला का अनुवाद पढ़ कर विश्वविख्यात जर्मन कवि गेटे फूट पड़ा था* और अनूदित मेघदूत का अध्ययन करके जर्मनी के प्रसिद्ध कवि तथा नाट्यकार शिलर ने इस अपूर्व काव्य के प्रणयन के लिये कालिदास की प्रतिभा को प्रणाम किया था। इससे प्राचीन भारतीय गौरव की महानता प्रमाणित हो गयी और पढ़े लिखे लोग संस्कृत साहित्य के अध्ययन तथा अनुशीलन की ओर प्रवृत्त हुये। परिणाम स्वरूप संस्कृत के ग्रन्थों का प्रचुर मात्रा में अनुवाद हुआ।

अंग्रेजी शासन काल में उच्चवर्गीय और मध्यवर्गी लोगों को तो सुख अवश्य मिला परन्तु निम्न वर्ग इसी तरह पिसता रहा। रेल, तार, डाक और मुद्रण यन्त्र के कारण संसार एक सम्बन्ध सूत्र में बँध गया। यह सब सुख होते हुये भी उनके मन को शान्ति नहीं मिल पा रही थी। ज्यों ज्यों उन्हें अपने प्राचीन गौरव की याद आती थी त्यों-त्यों वे स्वतन्त्र होने के लिये तड़प उठा करते थे। अपनी वर्तमान अवस्था के प्रति क्षोभ और विद्रोह की भावना जागने लगी। यह एक सांस्कृतिक संघर्ष का युग था। इसाई धर्म के प्रचार के कारण तथा हिन्दू धर्म की शोचनीय स्थिति को देख कर बङ्गाल और युक्त प्रान्त ने क्रमशः ब्रह्म समाज और आर्य समाज को जन्म दिया। आर्य समाज के सद्प्रयत्नों से हिन्दी का खूब प्रचार हुआ और उसने उर्दू भाषा-भाषी क्षेत्रों में भी हिन्दी का डंका बजा दिया। इसी के कारण हिन्दी गद्य में वाद-विवाद की शैली का प्रचार हुआ। सन् ५७ के विद्रोह के ठीक आठ वर्षों के बाद भारतीय राष्ट्रीय महासभा (Indian

---

*Wouldst thou see spring
blossoms and the fruit of its decline
Wouldst thou see by what the souls
enraptured feasted fed.
Wouldst thou have this earth and heaven

National Congres) की स्थापना हुयी। इस संस्था के तत्वावधान में भारत वर्ष के उच्चकोटि के विचारकों एवं राजनीतिज्ञों ने देश भर में स्वतन्त्रता का अलख जगाना आरम्भ किया। भारतीय जनता गहरी नींद से जगने लगी। राष्ट्रीयता का रक्त शिराओं में संचरित होने लगा। लोगों को देश भक्ति के साथ भाषा भक्ति की भी सूझी। राष्ट्रीय एकता को एक सूत्र में पिरो देने के लिये एक राष्ट्र-भाषा की अपेक्षा तो होती ही है। हिन्दी को स्वभाव से ही यह पद प्राप्त था। अब कांग्रेस के प्रयत्नों से राष्ट्र-भाषा की ओर भी लोगों का ध्यान गया। १८९३ ई० में श्यामसुन्दर दास के अथक परिश्रम से काशी नागरी प्रचरिणी सभा की स्थापना हुयी। इसने उत्तर भारत में नागरी प्रचार का बहुत काम किया। उसकी पत्रिका में साहित्य के अतिरिक्त मनोविज्ञान, दर्शन, भूगोल, संस्कृति आदि विषयों पर विचार पूर्ण निबन्ध प्रकाशित होने लगे। १९०० ई० में कचहरियों में हिन्दी को स्थान मिल गया। १९०५ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने श्रीरमेश चन्द्र दत्त के सभापतित्व में एक सभा का आयोजन किया जिसका मुख्य उद्देश्य उत्तर भारत में देव नागरी का प्रचार था। कई वर्षों के बाद कांग्रेस ने भी देव नागरी को स्वीकार कर लिया। १९१० ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुयी थी आज यह हिन्दी की सब से बड़ी संस्था है। इसने दक्षिण में हिन्दी प्रचार का स्तुत्य कार्य किया। अपनी परीक्षाओं और प्रकाशन के द्वारा आज तक यह हिन्दी के उत्थान में संलग्न है।

हमारे साहित्य के उत्थान में अनेक अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी योग दिया है। १९०४ ई० रूस जापान युद्ध के समय हिन्दी में जापान सम्बन्धी साहित्य की वृद्धि हुयी। इस समय तक तो भारत वर्ष पश्चिम की राष्ट्रीयता से ही प्रभावित था। प्रथम महायुद्ध के समय इसे इस बात का भी अनुभव होने लगा कि भारत विश्व का एक अंग है और उसकी प्रत्येक घटना का उस पर प्रभाव पड़ता है। इस समय भारतवासियों की रुचि फ्रेंच, जर्मन, और रूसी जनता तथा उनके साहित्य की ओर भी बढ़ने लगी। अब हिन्दी के साहित्यकार अंतर्राष्ट्रीयता की ओर मुड़ने लगे और एक बार फिर हमारे साहित्य में "वसुधैव कुटुम्बकम्" का स्वर सुनायी पड़ने लगा।

नयी संस्कृति के गहरे आरोप के साथ ही साथ राजनीति का संघर्ष भी गहरा होता गया। आधुनिक काल के प्रथम आधार स्तम्भ भारतेन्दु बाबू ने पहले ही अनुभव किया था—"अङ्गरेज राज सुख साज सजे सब भारी—पर धन विदेश चलि जात यहै अति खारी", परन्तु उनकी मृत्यु के बाद सारे देश को इस तथ्य का अनुभव होने लगा। यह बात सब के दिल में कांटे की तरह चुभने लगी। भारतीय राष्ट्रीय महासभा के संचालन का भार जब बापू के कंधों पर आया, तब उन्होंने राजनीति में सत्य और अहिंसा का प्रयोग किया। उन्होंने दुःख के भाव को करुणा के भाव में बदल दिया। प्राचीन अध्यात्म की नयी व्याख्या की। अभ्यास के लिये रास्ता साफ किया और वैज्ञानिक बौद्धिकता को भक्ति की सरलता प्रदान की। थोड़े ही दिनों में उनके सत्याग्रह की अमोघता सिद्ध होने लगी। सन् १६२१ के आन्दोलन के समय हिन्दी में अनेक उच्चकोटि के राष्ट्रीय गीतों की सृष्टि हुयी। सर्वश्री माखन लाल चतुर्वेदी, सोहन लाल द्विवेदी, और सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता भारतीय सत्याग्रहियों की सम्पत्ति बन गयी। अछूतोद्धार और हिन्दू मुसलिम एकता की समस्याओं को लेकर बहुत सी पुष्ट एवं प्राञ्जल रचनाओं का प्रणयन किया गया। संग्राम में असफलता भी मिली जिससे रहस्यवादी, छायावादी और हालावादी कवितायें भी सामने आ गयीं।

सन् १६३६ में कुछ प्रवासी भारतीयों के कारण प्रगति शील लेखक संघ का जन्म हुआ। बापू की विचार धारा के विरुद्ध यह मार्क्स की विचार धारा थी। परिणाम स्वरूप हमारे साहित्य में भी शोषित की आवाज सुनायी पड़ने लगी। इन घोर बुद्धिवादी घोर यथार्थवादी रचनाओं में भी शोषक के प्रति आक्रोश वर्षा तथा शोषित के प्रति करुणा की भावनाओं का प्रदर्शन था। प्रगतिवादी विचारकों ने अर्थ को प्रधानता दी और आर्थिक समानता को भावगत तथा मानवीय समता की जननी बताया। हिन्दी के यशस्वी उपन्यास एवं कहानी कर मुन्शी प्रेम चन्द्र ने लखनऊ में होने वाले द्वितीय अखिल भारतीय प्रगति शील लेखक संघ की अध्यक्षता की। 'कर्म भूमि' का लेखक अपनी अंतिम कृति 'मङ्गल सूत्र' में बिल्कुल बदल गया, और उसने चिल्लाकर कहा—"दरिन्दों से लड़ने के लिये हथियार बांधना पड़ेगा, उनके पंजों का शिकार होना देवतापन नहीं जडता है।" प्रेम चन्द्र के विरुद्ध सर्व श्री अवध

उपाध्याय और नन्द दुलारे वाजपेयी ने 'प्रचार वादिता' का दोषारोपण किया था। वाद प्रतिवाद भी चलते रहे परन्तु हिन्दी साहित्य का प्रगतिवादी दल अपने पथ से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। मार्क्स, फ्रायड और डार्विन के सिद्धान्तों ने उनकी मेधा को एक बार कस कर झकझोर दिया और हिन्दी साहित्य में उसका प्रभाव दिखाई पड़ने लगा। द्वितीय महायुद्ध के बाद पदार्थवादी संस्कृति का जोर और बढ़ा। इस युद्ध में भी जब अङ्गरेजों ने अपने वायदों का उल्लंघन किया तब भारतीय जनता बिगड़ खड़ी हुयी।

इसके बाद आया सन् ४२, देश के कोने-कोने में विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। तोड़, फोड़, धरपकड़, आगजनी के बीच भी हमारे कवि क्रान्ति के गीत गाते रहे। विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग के अनुसंधान कर्त्ता विद्यार्थियों में से कुछ लोगों ने इसमें भाग लिया और कुछ लोग शान्ति पूर्वक अपनी साधनाओं में जुटे रहे। विद्रोह दबा दिया गया किन्तु अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण ब्रिटिश साम्राज्य की नींव थरथराने लगी। पांच वर्षों के बाद अंग्रेजों ने भारतीय राष्ट्रीय महासभा के हाथों में सत्ता सौंप दी। इसके बाद का काल भारतीय इतिहास में संक्रमण काल के नाम से याद किया जायेगा। भारत वर्ष के दो टुकड़े कर दिये जाते हैं हिन्दुस्तान और पाकिस्तान। इसी बीच हिन्दू मुसलमानों का भयंकर दंगा शुरू होता है। बंगाल और पंजाब नामक प्रान्त खून में डूब जाते हैं। लाखों आदमी, बूढ़े जवान युवा युवती बेजबान बच्चे धन जन हीन होकर शरणार्थी के रूप में घरों से बाहर निकल पड़ते हैं। बँगला, उर्दू एवं पंजाबी भाषा-भाषियों का एक विशाल जन-समूह हिन्दी भाषी क्षेत्रों में आकर शरण लेता है। देश के इस उलट फेर ने उर्दू को अनमोल कृतियाँ भेंट की। कृष्ण चन्द्र, ख्वाजा अहमद अब्बास और रामानन्द सागर प्रभृति लेखकों ने इस ज्वार भाँटे की पट भूमिका में अत्यन्त मार्मिक शैली में अपनी कृतियाँ प्रस्तुत कीं। अब्बास का "मैं कौन हूँ ?" कृष्ण चंद्र का "हम वहशी हैं" तथा रामानन्द सागर का—"और इन्सान मर गया" अनूदित रूप में हिन्दी के पाठकों को पढ़ने को मिलीं। इसके अतिरिक्त आंग्ल, अमेरिकी तथा रूसी साहित्य के अध्ययन से भी हिन्दी के लेखकों ने प्रेरणा ग्रहण की। टी० एस० इलियट के अनुकरण पर यहाँ भी प्रयोग वादी कविताओं का जन्म हुआ। और आज प्रयोग वादी कवियों

का दल अज्ञेय के नेतृत्व में हिन्दी कविता में नये प्रयोग कर रहा है। अभी उसके विषय-वस्तु और शैली हमारी रागात्मिका वृत्तियों से घुल-मिल नहीं सकी हैं कदाचित इसलिये उन कविताओं में हमारे हृदय के तारों को झकझोरने की शक्ति नहीं है। कविता, शैली की दृष्टि से गद्य के अत्यन्त निकट आती जा रही है।

२६ जनवरी १९४७ को गणतन्त्र का आविर्भाव हुआ और हिन्दी राष्ट्र-भाषा घोषित कर दी गई। अनेक विश्वविद्यालयों ने हिन्दी माध्यम को स्वीकार किया और हिन्दी में अनेक विषयों के साहित्य निर्मित होने लगे। विभिन्न देशों से हमारा दूत सम्बन्ध स्थापित हो गया। हमारा सांस्कृतिक प्रतिनिधि मंडल अनेक देशों में गया और अन्य देशों के साहित्यकार हमारे यहाँ आने लगे। विभिन्न भाषा-भाषियों और साहित्यकारों के सम्पर्क में आने के कारण हिन्दी को बहुत लाभ हुआ। रूसी साहित्य ने हमें एक अभिनव गद्य शैली से परिचित कराया जिसे रिपोर्ताज कहते हैं। 'बंगाल के अकाल' पर डा० रांगेय राघव ने 'तूफानों के बीच' शीर्षक रिपोर्ताजों का एक संग्रह निकाला। राजकीय दफ्तरों में भी अब हिन्दी में ही काम होने लगा है। पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ आ गई है।

हमारा साहित्य लोक गीतों से अत्यधिक प्रेरणा लेता आया है। यह जनतन्त्र है। जनता की सरकार देश का प्रबन्ध कर रही है। इसीलिये साहित्य में भी लोक गीतों की महत्ता बढ़ती जा रही है। सर्व-प्रथम पं० राम नरेश त्रिपाठी ने बड़े परिश्रम और खोज से लोक गीतों का एक संग्रह प्रकाशित किया था। अब तो कृष्ण देव उपाध्याय के 'भोजपुरी ग्राम गीत' तथा देवेन्द्र सत्यार्थी के 'बेला फूले आधी रात' 'धीरे बहो गंगा' और 'बाजत आवे ढोल' नामक लोक गीतों के संग्रह भी निकल गये हैं। इन संग्रहों में अनेक प्रान्तीय भाषाओं के लोक गीत भी आ गये हैं जो हिन्दी साहित्यकारों के लिये बड़े उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

इस समय कोष निर्माण का भी कार्य हो रहा है। वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्द कोषों की रचना हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रबन्ध में हो रही है। अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी लोग हिन्दी सीख रहे हैं। हिन्दी की

पित साहित्यकार संसद की स्थापना ने हिन्दी को बड़ा लाभ पहुँचाया है। यहाँ पर प्राचीन कवियों और लेखकों की उपलब्ध पांडुलिपियाँ और उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाली वस्तुओं का संग्रह किया गया है। विशेष अधिवेशनों पर भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्यकार यहाँ उपस्थित होते रहते हैं जहां उन्हें आपस में विचार विमर्श करने का मौका मिलता है। प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशनों पर भी देश विदेश के कलाकार आते रहते हैं। चीन की क्रान्ति से हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों को नई प्रेरणायें मिली हैं। चीन पर अमृत राय ने अनेक रिपोर्ताज लिखे हैं। प्रसिद्ध प्रगतिवादी चिली के कवि पाब्लो नेरूदा के 'लेट द रेल स्पिल्टर्स अवेक' का 'रेल भंजकों को जगने दो' शीर्षक के अंतर्गत केदार नाथ अग्रवाल ने अनुवाद किया है। विदेशों में भी हिन्दी के अध्ययन की ओर रुचि बढ़ रही है। रूसी लेखक वरन्निकोफ ने तुलसी के रामायण का अनुवाद रूसी जनता के लिये उपलब्ध कर दिया है। प्रेमचन्द्र की अनेक रचनाओं का अनुवाद भी रूसी भाषा में हो रहा है। आंग्ल भाषा में भी हिन्दी की प्रसिद्ध पुस्तकें अनूदित हुई हैं। इसके अतिरिक्त गुंजराती, मराठी आदि प्रान्तीय भाषाओं में प्रसाद के कुछ काव्य ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है।

नागरी लिपि में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सुधार हुआ है। आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में नागरी लिपि सुधार की कमेटी ने जो संशोधन प्रस्तुत किये थे उसे सरकार ने भी मान लिया है। दफ्तरों में हिन्दी का प्रयोग होने लगा है जिसके फलस्वरूप शीघ्र लिपि और टंकण के कार्य भी हिन्दी में होने लगे हैं। सुनने में आया है कि बहुत शीघ्र ही हिन्दी टेली प्रिन्टर भी सामने आ रहा है। इसके आगमन से हिन्दी दिन दूनी, रात चौगुनी विकसित होगी और सारा जन समाज हिन्दी से अपना मनोरंजन कर सकेगा। चलचित्रों के प्रचार से हिन्दी नाट्य साहित्य और रङ्ग-मंच को कुछ क्षति पहुँची थी। भगवती चरण वर्मा के 'चित्र लेखा' पर फिल्म बनी थी उसके पश्चात् फिल्म निर्माताओं की भोंड़ी नीति से हमारे साहित्यकार असन्तुष्ट हो गये। चलचित्र जगत के स्वनाम धन्य कलाकार पृथ्वीराज ने पृथ्वी थियेटर्स के द्वारा हिन्दी रङ्गमंच को जनता तक पहुँचाने का संकल्प कर लिया है। आकाशवाणी ने भी अपनी नीति बदल दी है। अब वहाँ भी सुमित्रा नन्दन

पन्त, विश्वम्भर मानव, बाल कृष्ण राव, गिरजा कुमार माथुर, नरेश मेहता प्रभृति हिन्दी-हितैषी पहुँच गये हैं। इस बार निर्वाचन के पश्चात् कांग्रेस ने केन्द्र में फिर से अपनी सरकार बना ली है। सरकार ने सर्वश्री मैथिली शरण गुप्त, बनारसी दास चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा, पृथ्वीराज कपूर प्रभृत साहित्यकारों तथा कलाकारों को लोक सभा का सदस्य मनोनीत कर लिया है। यह हिन्दी का सम्मान नहीं तो और क्या है? प्रान्तीय सरकार प्रतिवर्ष अच्छी पुस्तकों पर पारितोषिक देकर हमारे साहित्यकारों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करती है। इस प्रकार प्रत्येक दिशा में हिन्दी की उन्नति हो रही है।

गति वर्द्धक और अवरोधक शक्तियाँ

हिन्दी के विकास में सहायता प्रदान करने वाली कुछ ऐसी शक्तियां भी हैं जिन्हें सहसा भुलाया नहीं जा सकता। १६०५ ई० के बंग भंग आन्दोलन से स्वदेशी भावना को शक्ति मिली थी और उच्च पदाधिकारी भी हिन्दी की ओर झुक गये थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा आर्य समाज के आविर्भाव ने भी हिन्दी को अत्यन्त शक्ति-शालिनी बना दिया था। पंजाब और संयुक्त प्रान्त में उर्दू का आधिपत्य हटाकर हिन्दी प्रसार का सारा श्रेय आर्य समाज को ही है। इसी के कारण साहित्य में भी शुद्धि, विधवा विवाह, बाल विवाह, वर्ण व्यवस्था, पर्दापद्धति, और अस्पृश्यता की समस्यायें सामने आयी थीं। इससे एक ओर विविध समस्याओं के खण्डन मण्डन मूलक उपदेश-साहित्य की सृष्टि हुयी दूसरी ओर विशुद्ध साहित्यिक रचनाओं के लिये विषय और उपादान मिले। लेखकों और पाठकों की संख्या बढ़ने लगी। पाठकों में आलोचना की प्रवृत्ति भी जगने लगी। सन् १८५७ में कर्नल कनिंघम के अध्यवसाय से पुरातत्व विभाग की स्थापना हुयी। सन् १७७४ में सर विलियम जोन्स द्वारा स्थापित बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् स्वतंत्रता मिल जाने पर जब देश के सामने राष्ट्र-भाषा की समस्या आयी तब हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा तथा सभी हिन्दी पत्रों ने हिन्दी के पक्ष में प्रचार किया। जनता में हिन्दी के प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिये अनेक प्रयास किये गये। जनता जनार्दन की प्रबल

इच्छा का ही यह फल है कि हिन्दी आज राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर आसीन है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी शक्तियाँ भी सामने आ गयी थीं जिनसे हमारे साहित्य को काफी क्षति उठानी पड़ी थी। प्रारम्भिक वर्षों में भारतीय आँखें पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के तीव्र आलोक में चकाचौंध हो उठी थीं। इसके कारण हमारे साहित्यकारों का मानसिक विकास क्रम बद्ध न हो सका। वे भूत और वर्तमान के बीच सामंजस्य स्थापित न कर सके। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों ने बड़े बूढ़ों का ठुकराया। उन्होंने उन्हें जी भर कर कोसा। इससे जो प्रतिभायें सम्मिलित रूप से हिन्दी के रचनात्मक कार्य में व्यस्त रहतीं उन्होंने लड़ झगड़ कर बहुत हद तक नुकसान पहुँचाया। इसके साथ ही साथ हिन्दी का अस्तित्व भी खतरे में था। न्यायालय और शिक्षा विभागों में उर्दू का रंग जम चुका था। फारसी और उर्दू के विद्वान हिन्दी को असभ्यों की भाषा समझ कर उसके विरुद्ध आन्दोलन करते रहे। यह तो बाहरी झगड़ा था। हिन्दी का भीतरी झगड़ा भी कम खतरनाक नहीं था। यह लड़ाई थी ब्रजभाषा और खड़ीबोली की। दोनों के पक्षपाती अपनी अपनी दलीलों के प्रदर्शन में फँसे हुये थे। इस काल की मानसिक अराजकता से भी हमारे साहित्य को काफी क्षति पहुँची। अच्छे साहित्य की रचना के लिये विचारों और भावनाओं में समन्वय होना चाहिये परन्तु अंग्रेजी विचार और भारतीय भावनाओं के संघर्ष के फलस्वरूप शुरू शुरू में उत्कृष्ट रचनायें नहीं हो सकीं। हिन्दी प्रान्तों में जो छोटे छोटे राजा थे उनका उन्मूलन हो गया जिससे हिन्दी को जो संरक्षण वहाँ प्राप्त हो सकता था, उपलब्ध नहीं हो सका। वैज्ञानिक आविष्कारों से जीवन संघर्ष गहरा होने लगा जिससे लोग साहित्य सेवा के लिये उपयुक्त समय नहीं निकाल सके। कुछ समय के बाद जब थोड़ा स्थायित्व प्राप्त भी हुआ तब तो देश में अनेक प्रकार के आन्दोलन उठ खड़े हुये। आर्य समाज के आक्रमण से मुसलमान, जैन, सनातनी हिन्दू, तथा इसाई अपने संगठन में लग गये। जब उनके धर्म पर ही आक्षेप होने लगा तब साहित्य सेवा छोड़ वे धर्म रक्षा में जुट गये। कांग्रेस के आन्दोलनों में फँसे रहने के कारण कुछ लोग अच्छी रचनायें नहीं कर सके। जो कुछ रचनायें प्रकाश में आयीं भी उनमें भी वही प्रचार

वादी मनोवृत्ति लक्षित होती है। सन् ४२ का विप्लव, हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का बँटवारा, मार काट, लूट और आगजनी तथा शरणार्थी समस्याओं ने सभी लोगों को इस ओर फँसा लिया। गणतंत्र की स्थापना के पश्चात् भी कोरिया युद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक कारणों से लोगों में बेचैनी है। बेकारी की समस्या बढ़ रही है। "भूखे भजन न होय गोपाला" को तो महात्मा तुलसीदास तक ने स्वीकार किया था। जीवन-संघर्ष के ऐसे समय में शाश्वत साहित्य की रचना कहाँ हो पाती है। साहित्य की साधना के लिये जिस शान्ति पूर्ण वातावरण और धैर्य की आवश्यकता होती है वह आज हमारे साहित्यकारों को कहां उपलब्ध है। इतिहास के प्रकाश में हमें अपना रास्ता बनाना है। हम यकायक न तो नवीन वस्तु को ग्रहण ही कर सकते हैं और न जल्दी में पुरानी चीज को छोड़ ही सकते हैं। विवेक का अभाव हमारे लिये अहितकर सिद्ध होगा।

आधुनिक काल की ऐतिहासिक पीठिका

ईस्ट इण्डिया कम्पनी अंग्रेज व्यापारियों की एक मण्डली थी जो भारत में व्यापार करने आयी थी। देश की आन्तरिक कमजोरी से लाभ उठा कर उसने यहाँ पर राज्य भी स्थापित कर लिया। आरम्भ में उसने व्यवस्था की चिन्ता छोड़ कर मनमाने ढंग से शासन किया और यहाँ की जनता को लूटा। यहाँ के किसान, मजदूर और व्यापारी वर्गों की दशा अत्यन्त शोचनीय होने लगी। १७५७ इतिहास सम्मत् तिथि है जब क्लाइव ने कलकत्ते पर अधिकार कर धीरे-धीरे पश्चिम की ओर बढ़ा इसके पूर्व बंगाल के किसानों की दशा बड़ी अच्छी थी परन्तु यहाँ अंग्रेजों ने ऐसा शोषण किया कि थोड़े ही दिनों में बंकिम का शस्यश्यामल बंगाल दाने-दाने को तरसने लगा। १७७० में ऐसा भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा कि वहाँ की लगभग एक तिहाई आबादी खतम हो गयी। ऐसी दयनीय दशा में भी कम्पनी के कर्मचारियों ने किसानों को पीट-पीट कर पूरा लगान वसूल किया। पहले लगान की दर साधारण थी और किसान को नकदी या जिन्स के रूप में उसे चुकाने की स्वतन्त्रता थी। कम्पनी सरकार ने जिन्स में चुकाने की प्रथा बन्द कर दी। लगान की दर भी खूब बढ़ा दी गयी।

१८२६ में हिबर नामक एक पादरी भारत का भ्रमण करने आया था उसने स्पष्ट लिखा है कि "कोई देशी नरेश अपनी प्रजा से इतना अधिक लगान वसूल नहीं करता जितना हम"। परिणाम स्वरूप किसान गाँव छोड़-छोड़ कर भागने लगे।

वारेन हेस्टिंग्ज के समय में हर पाँचवें साल अधिक रुपया देने वालों के नाम भूमि के ठेके दिये जाते थे। इससे पुराने जमींदारों के हाथ से भूमि निकल कर नये जमींदारों के हाथ में आने लगी जो मालगुजारी वसूल करने के लिये किसानों को बड़ा कष्ट देते थे। फिर भी बकाया रह जाता था। लार्ड कार्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त किया। मालगुजारी की दर निश्चित कर दी गयी। १७९३ में बंगाल बिहार तथा उड़ीसा में स्थायी बन्दोबस्त कर दिया गया। इससे जमीन्दारों को ही लाभ हुआ। वे भूमि के मालिक हो गये। मालगुजारी की निश्चित रकम से ऊपर का रुपया उनका होने लगा। वे मनमाने ढंग से किसानों को बेदखल करने का भी अधिकार पा गये। जमींदार के कारिन्दे किसानों पर गजब ढाने लगे। १७९५ में यही बन्दोबस्त बनारस के इलाके में भी कर दिया गया। लेकिन सभी जगह ऐसा नहीं किया गया। मद्रास प्रान्त में सर थामस मुनरो ने सीधे किसानों से यह सम्बन्ध रखा इसलिये इसे रैय्यत-वारी प्रथा भी कहते हैं। जमींदारी अथवा स्थायी बन्दोबस्त में भूमि के मालिक जमींदार हो गये और रैय्यतवारी प्रथा में भूमि पर कम्पनी सरकार का अधिकार हो गया। और धरती का बेटा केवल रैय्यत ही रह गया। एल्फिस्टन ने बम्बई में भी यही व्यवस्था की। माल गुजारी की रकम ५५% नियत की गयी। जिससे किसानों की दशा अत्यन्त बिगड़ गयी और सरकारी लगान अदा करने के लिये उन्हें महाजनों की कर्जदारी का भी शिकार होना पड़ा। इसी प्रकार आगरे में महालवाड़ी बन्दोबस्त किया गया। यहाँ भी कम्पनी का सम्बन्ध जमींदारों और किसानों के मुखियों से रहा। अवध के ताल्लुकेदारों को जमींदारों का अधिकार दे दिया गया। पंजाब में महालवाड़ी और मध्य प्रान्त में मालगुजारी बन्दोबस्त करके कम्पनी ने देश के किसानों का शोषण किया। उन्हे कंगाल बना दिया। लार्ड आकलैण्ड के समय में १८३७ ई० में उत्तरी भारत में अकाल पड़ा। ८ लाख आदमी भूख से तड़प-तड़प कर मर गये। इसी समय गंगा से नहरें

निकालने का काम शुरू हुआ जो डलहौजी के समय में जाकर पूरा हुआ। इसके पूर्व हेस्टिंग्ज के समय में भी जमुना की पुरानी नहरों का पुनरुद्धार किया गया था। सिंध और पंजाब को अंग्रेजी राज्य में मिला देने के बाद वहाँ की नहरों की सुरक्षा पर भी ध्यान दिया गया। दक्षिण में गोदावरी के पानी से भी खेती को लाभ पहुँचाने का प्रबन्ध किया गया।

खेती की ही तरह कम्पनी ने यहां के व्यापार और उद्योग धन्धों को भी चौपट कर दिया। उनके आने के पूर्व भी भारत का विदेशों से व्यापार होता था। सूती तथा रेशमी कपड़े, हाथी दाँत और जवाहिरात की बनी चीजें यूरोप को भेजी जाती थीं। रंग, लौंग, मिर्च, मसाला, शोरा तथा अफीम भी बाहर भेजा जाता था। भारत के ही बने हुये जहाजों पर ये चीजें जाती थीं। तब हमारे किसान, व्यापारी, शिल्पी और जुलाहे बड़े खुशहाल थे। परन्तु धीरे-धीरे सारा व्यापार अंग्रेजों के हाथ में चला गया। १८ वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड की सरकार ने भारतीय कपड़ों पर गहरी चुङ्गी लगा कर और बाद को कानून बना कर भारत के छपे और बुने हुये कपड़ों का व्यवहार बन्द करा दिया। इससे भारतीय व्यापार को बहुत धक्का पहुँचा। १८ वीं शताब्दी के आरम्भ में फरुखसियर ने कम्पनी को मुगल-राज्य में बिना चुङ्गी के व्यापार करने की स्वीकृति दे दी। उन्हीं के फरमान के आधार पर बंगाल के नवाब से भी यह छूट मिल गयी। प्लासी की विजय (१७५७) के बाद अंग्रेज मनमाने व्यापार करने लगे। ये कपड़े का ही व्यापार नहीं करते थे बल्कि नमक, सुपारी, तम्बाकू, चीनी, घी, तेल, चावल, शोरा का बिना महसूल दिये व्यापार करते थे। इसको वे भारतीयों से सस्ते दामों पर लेकर उन्हीं के हाथों मनमाने दाम से बेंचते थे। कम्पनी के छोटे-छोटे कर्मचारी भी अपना निजी व्यापार करते थे। इस स्वार्थी नीति से भारतीय व्यापार, उद्योग धन्धे, और दस्तकारी सब चौपट हो गये। यहां के सूती और रेशमी कपड़ों की बुनाई के लिये यहां के जुलाहे प्रसिद्ध थे। इससे उनको बहुत लाभ था। पर अब इससे अंग्रेज ही लाभ उठाने लगे। १८०३ ई० तक विलायत से एक गज भी कपड़ा भारत नहीं आया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ही यहां का कपड़ा बेंच कर फायदा उठाया करती थी। कम्पनी के कर्मचारी जुलाहों को रुपया देकर मुचलका लिखवा लेते थे जिसके अनुसार उन्हें अपना

माल व्यापारी रेजीडेन्टों की नियत की हुयी दर पर अंग्रेजी कम्पनी को ही देना पड़ता था। कोई जुलाहा इस मुचलके का उल्लंघन करता था तो कोड़े लगा कर उसकी चमड़ी उधेड़ दी जाती थी।

प्लासी की विजय से लेकर सन् १८१५ के भीतर देशी राजाओं और नवाबों को लूट कर करोड़ों रुपया अंग्रेजों ने इङ्गलैण्ड पहुँचाया। इससे वहां का उद्योग और व्यापार बढ़ा, आविष्कार हुये १७६८ में वाष्प इञ्जन का आविष्कार हुआ। कपड़े बुनने का यंत्र बना जो भाप की शक्ति से चला करता था। इसी समय, वेलने, धुनने, रंगने, छापने की मशीनें भी बनायी गयीं। मशीनों के आविष्कार से इतना अधिक कपड़ा तैयार होने लगा कि उनके लिये बाजारों में बेंचना आवश्यक हो गया। भारत वर्ष के कपड़े के आयात को रोक कर इङ्गलैण्ड अपने यहाँ के कपड़े को ही भारत के सिर मढ़ने लगा। १६ वीं सदी के मध्य में भारतीय कपड़े का निर्यात बिल्कुल बंद हो गया और इङ्गलैण्ड से करोड़ों का कपड़ा व सूत यहां आने लगा। हमारे यहां के प्रसिद्ध व्यापारिक एवं औद्योगिक केन्द्र, सूरत, ढाका मुर्शिदाबाद उजड़ गये। हजारों व्यवसायियों की रोजी मारी गयी। देश में बेकारी बढ़ी, भुखमरी नंगा नाच नाचने लगी। बेकार जुलाहे और शिल्पी नगर छोड़-छोड़ कर गांवों में भागने लगे। जमीन पर बोझ बढ़ा। जंगलों तथा चरागाहों की जमीन जोत कर खेती की जाने लगी इससे पशुधन का विनाश हुआ और वन काटने के सारे नुकसान सहने पड़े।

डलहौजी के समय में अंग्रेजी राज्य का विस्तार बढ़ गया था। इसलिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर सेना ले जाने में उसे रेल-पथ बनाने पड़े। कुछ अंग्रेजी कम्पनियों को तैयार किया गया। सरकार की मदद पाकर ग्रेट इण्डियन, पेनिन शुलन रेलवे और ईस्ट इण्डियन कम्पनियों ने रेल-पथ बनाने का काम शुरू किया। इसके बाद और कम्पनियां खुलीं। १८५३ में ग्रेट इण्डियन पेनिनशुलन रेलवे कम्पनी ने बम्बई और थाने के बीच पहली रेल चलाई। इसी समय बिजली द्वारा तार देने का भी प्रबन्ध किया गया। १८५२ में कलकत्ता के निकट पहला तार लगा। इससे जल्दी-जल्दी खबर पहुँचने लगी। डलहौजी ने डाक विभाग में समुचित सुधार किये। उसने साढ़े सात सौ डाकखाने खोले और सन् १८५३ से आधे तोले के वजन के

पत्र पर आधा आना महसूल निश्चित कर दिया। नहरों और सड़कों के निर्माण पर भी ध्यान दिया गया। ग्रांडट्रांक रोड आदि कई सड़कें बनवायीं और इसके लिए पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेण्ट की स्थापना की। १८१३ में कम्पनी का भारत के साथ व्यापार करने का ठेका बन्द कर दिया गया। १८३३ में इङ्गलैण्ड की पार्ल्यामेण्ट द्वारा बनाये गये कानून के अनुसार उसे चीन के साथ व्यापार करने से भी रोक दिया गया। और अब उसका काम था केवल शासन करना। इसी समय से अंग्रेजों को भारत में बसने और जमीन खरीदने की भी स्वतन्त्रता दे दी गयी। बहुत से अंग्रेज पूँजीपतियों ने जमीनें खरीद लीं और वहीं खेती करने लगे। वहीं बस्तियां भी बसा लीं। वे बंगाल, बिहार में नील, आसाम और कुमायूँ में चाय तथा कुर्ग में काफी की खेती कराने लगे। इस काम के लिये उन्हें मजदूर भी मिल गये। इसके पहिले मजदूरों का कोई वर्ग न था। अंग्रेजों के अत्याचारों से जब यहाँ के शिल्प और उद्योग नष्ट हो गये तो बहुत बड़ी संख्या में जुलाहे बेकार हो गये। कम्पनी सरकार के भारी लगान के फलस्वरूप किसानों का भी बुरा हाल था। इस दयनीय अवस्था के कारण वे काम की तलाश कर रहे थे। इन गोरे पूँजीपतियों ने उन्हें मजदूरी करने के लिये बुलाया और वे बेचारे मान गये। इस प्रकार गोरों के कारण यहां भी मजदूर वर्ग की उत्पत्ति हो गयी।

चाय वाले तथा निलहे अंग्रेज मजदूरों पर बड़ा अत्याचार करते थे। १८५९–६० में इसके विरुद्ध विद्रोह किया गया। नील की खेती कुछ कम हुयी और उसमें कुछ सुधार भी हुये। अन्त में गान्धी जी के राजनीति प्रवेश करने पर नील की खेती बन्द कर दी गयी और वे यहां पर बस भी न सके।

अंग्रेजों ने आते ही इसाई धर्म का प्रचार करना चाहा। इस प्रचार के लिये लार्ड वेलेजली ने सात देशी भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद कराया। १८१३ में इंगलैण्ड की सरकार ने इसाई मत के प्रचार के लिये लाइसेंस लेकर पादरियों को भारत जाने की अनुमति दे दी। भारत की आय से कलकत्ते में एक बिशप और चार पादरियों की नियुक्ति हुयी। अब क्या था अपने मत का प्रचार करने के लिये पादरी लोग जी जान से प्रयत्न करने लगे कि भारतीयों को सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी गुलाम बना दिया जाय। इसका परिणाम उलटा ही हुआ।

१८३५ में सरकार ने यह घोषणा की कि अंग्रेजी द्वारा पश्चिमी विज्ञान की ही शिक्षा भारतीयों को दी जायेगी और जो कुछ रुपया सरकार की ओर से शिक्षा के लिये मिलता है वह अंग्रेजी पर ही खर्च किया जायेगा। अंग्रेजी को सर्व प्रिय बनाने के लिये यह भी घोषणा कर दी गयी कि सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने के लिये अंग्रेजी का ज्ञान अत्यावश्यक है। मैकाले अंग्रेजों के लिये क्लर्क पैदा करना चाहता था और उसने बड़े अभिमान के साथ अपने एक पत्र में लिखा था कि तीस वर्षों के भीतर भारतवर्ष में एक भी मूर्ति पूजक न रह जायेगा लेकिन इसमें अंग्रेजों को जो सफलता मिली वह इतिहास के विद्यार्थियों से छिपी नहीं है।

अंग्रेजों ने बहुत कुछ सुधार किये। उस को भुलाया नहीं जा सकता। कहीं-कहीं पर हिन्दू स्त्रियाँ मनौती के नाम पर अपने बच्चों को समुद्र या गंगा में फेंक दिया करती थीं। राजपूत और जाट विवाह की कठिनाइयों से बचने के लिये कहीं अपनी कन्याओं को मार डाला करते थे। सती प्रथा तो बहुत पहले से ही चली आ रही थी। जो स्त्रियाँ सती नहीं होना चाहती थीं उन्हें भी जबरदस्ती आग के कुण्ड में ढकेल दिया जाता था। १८०२ में वेलेजली ने बाल हत्या कानून के द्वारा इस नीच कर्म को बन्द कर दिया। लार्ड विलियम बैंटिंग ने प्रसिद्ध सुधारक राजा राममोहन राय की सहायता से १८२६-३० में सती प्रथा को बन्द करके उसे जुल्म करार दिया। इसी के समय में ठगी की प्रथा का भी विनाश कर दिया गया। १८४३ में लार्ड एलिनबरों ने गुलामी प्रथा को कानूनी रूप से बन्द कर दिया। लार्ड हार्डिंग ने देशी राज्यों में भी सती की प्रथा बन्द करा दी और आदिम जंगली जातियों में प्रचलित नरबलि रोक दी गयी।

अंग्रेजों ने एशियाई देशों को लूटने में जो रुपया खर्च किया वह भी भारत से वसूला गया। इस प्रकार तेजी से चुसाई होने लगी और भारतवासी बेदम होने लगे। इसी लिये सन् १८५७ का भी विद्रोह हुआ। १८५८ में ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी सरकार को हटाकर भारत को इंगलैण्ड के राज्य छत्र के आधीन कर लिया। १२० लाख पौंड में खरीददारी हुयी जिसे

अंग्रेजों की इस स्वार्थ मूलक नीति का परिणाम उनके हक में अच्छा नहीं हुआ। भारत की जन चेतना जाग्रत होने लगी। राजनैतिक एवं आर्थिक ह्रास के साथ ही साथ १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में ही हमारे देश में सुधारकों का अवतार होने लगा। उन लोगों ने भारतीयों को संसार के उत्थान की दौड़ में आगे बढ़ने के लिये ललकारा। जाग्रति की ये भावनायें अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी ज्ञान विज्ञान एवं साहित्य से पुष्ट हुयीं। इस समय के सबसे प्रसिद्ध सुधारक का नाम राजा राममोहन राय (१७०४-१८३३) है। वे तथा उनके साथी विदेशी भाषाओं और संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् थे। राय साहब ने तो स्वयं २१ वर्ष की अवस्था से अंग्रेजी का अध्ययन प्रारम्भ किया था। वे एक दूरदर्शी और प्रतिभावान व्यक्ति थे। उन्होंने अंग्रेजों की पोल जानने के लिये अंग्रेजी पढ़ने पर जोर दिया। कलकत्ते में हिन्दू कालेज की स्थापना की। सती प्रथा को बन्द कराने में लार्ड बैंटिंग का साथ दिया। धार्मिक मत भेदों को दूर करने की चेष्टा की। सन् १८२८ में उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। इसमें सभी धर्मों के लोग प्रवेश कर सकते थे। ये लोग निर्गुण ईश्वर की उपासना करते थे और मूर्ति पूजा पर विश्वास न करते थे। वे हिन्दू थे परन्तु हिन्दू धर्म के कोढ़ को अच्छा करना चाहते थे। वे चाहते थे कि भारतवासी पश्चिम वालों की भाँति ज्ञान विज्ञान के रहस्यों के आधार पर जीवन और समाज के रहस्यों को समझें और कठिनाइयों को हल करें। उनके बाद १८६५ में ब्रह्म समाज में दो दल हो गये। एक का नाम हुआ 'आदि ब्रह्मसमाज' और दूसरे का ब्रह्म समाज। पहला वेदों की महानता को स्वीकार कर निर्गुण ब्रह्म की उपासना करता था और भारतीयता के अत्यधिक निकट था। दूसरो को वेदों की मान्यता स्वीकार नहीं थी। उस पर पश्चिम का अधिक असर था। दूसरा दल धर्म और समाज में तेजी से परिवर्तन चाहता था। पहले के नेता थे देवेन्द्रनाथ टैगोर और दूसरे के केशवचन्द्र। केशव चन्द्र के प्रचार से ब्रह्मसमाज की शाखायें पंजाब, बम्बई और मद्रास में स्थापित हो गयीं। अंग्रेजी पढ़े लिखे नवयुवक इधर तेजी से आकृष्ट हुये। उन्होंने सुधार सम्बन्धी आन्दोलन किये और १८७२ में सरकार ने नाबालिक लड़कियों के विवाह और बहु विवाह पर प्रतिबंध लगा दिया। विधवा विवाह की मन्जूरी

दे दी। ब्रह्म समाज के आन्दोलन की शंखध्वनि देश के कोने-कोने में गूंजने लगी। उसी के सिद्धान्तों के आधार पर १८६७ ई० में महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की स्थापना हुयी। इसने सामाजिक बुराइयों को दूर करने की प्राण पण से चेष्टा की। अन्तर्जातीय विवाह, खान पान और विधवा विवाह तथा अछूतोद्धार पर इसने बड़ा जोर दिया और इन कर्मों को आगे बढ़ाने के लिये अनाथालय और विधवाश्रम आदि पुण्य संस्थायें स्थापित कीं। इसके प्रमुख नेता थे जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे।

इसी समय प्रेसों के आ जाने से समाचार पत्रों का प्रकाशन भी आरम्भ हुआ। जागरण के स्वरों में पंख लग गये। १६ वीं सदी के प्रारम्भ में ही प्रेस खुल गये थे। पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं थीं अंग्रेजी और देशी दोनों भाषाओं में। १८१६ में पहला भारतीय समाचार पत्र प्रकाशित हुआ। धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ी और इनके द्वारा लोगों के विचारों को जानने तथा दुनिया की हलचल को पहचानने को मौका मिला। मुसलमानों ने अंग्रेजी देर से सीखी। वे इस भाषा का अध्ययन अपने धर्म के विरुद्ध समझते थे। मुसलमान यहाँ पर हिन्दुओं से पिछड़ने लगे। इस अव्याव-हारिकता का सबसे पहले सर सैयद अहमद खां ने पहिचाना। उन्होंने १८७७ में लार्ड लिटन के कर कमलों द्वारा अलीगढ़ में मुसलिम कालेज की स्थापना कराई।

इस काल में सुसुप्त भारतीय जन जीवन को जगाने वालों में स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द को कभी भुलाया नहीं जा सकता। १८५७ के विद्रोह को अंग्रेजों ने इस बुरी तरह कुचल दिया था कि उनकी आत्मा पर अविश्वास और हीनता की काई चढ़ गयी। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की। वे हिन्दू धर्म के अंध विश्वासों और पाखण्डों का नाशकर प्राचीन वैदिक आर्य संस्कृति की स्थापना करना चाहते थे। उनका कहना था कि ब्रह्म एक है, मूर्ति पूजा निरर्थक है। जाति पाँति का भेद भाव, बाल-विवाह तथा समुद्र यात्रा निषेध हमारी प्रगतिशीलता में बाधक है। विधवा-विवाह और स्त्री शिक्षा पर उन्होंने जोर दिया। अहिन्दू को हिन्दू बनाने के लिये 'शुद्धि' की व्यवस्था की गयी। उन्होंने लोगों में स्वदेशी शासन अथवा

स्वराज्य की भावना का प्रचार किया। स्वामी जी ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा कहा। उसका प्रचार किया। उसमें ग्रन्थ लिखे। उनकी संस्था ने अनेक शिक्षण संस्थायें खोलीं। आर्य समाज ने हिन्दी के लिये बड़ा काम किया। बंगाल के स्वामी रामकृष्ण परमहंस (१८३४–१८८६) ने सभी धर्मों में सामंजस्य स्थापित कराने का स्तुत्य प्रयत्न किया। समाज सुधार के लिये उन्होंने मिशन की स्थापना की जो आज भी रामकृष्ण मिशन के नाम से भारत की सेवा कर रहा है। स्वामी विवेकानन्द (१८६३–१६०२) स्वामी रामकृष्ण जी के ही परम शिष्य थे। उनकी प्रतिभा, विलक्षण निर्भीकता तथा अद्वितीय विद्वत्ता ने संसार को आश्चर्य चकित कर दिया।

उन्होंने भारतीयों को हार की मनोवृत्ति त्यागने और उन्नति-पथ पर अग्रसर होते रहने की प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्रदान की। सन् १८७५ में अमेरिका के न्यूयार्क नगर में मैडम ब्लैवटस्की और कर्नल अलकॉट ने थियोसोफिकल सोसाइटी की नींव डाली। १८७६ में वे भारत वर्ष आये। इन्होंने अपनी सोसाइटी द्वारा पाश्चात्य दर्शन की महत्ता पर प्रकाश डाला। वे भारतवर्ष की ज्ञान गरिमा से परिचित थे। १८६३ में एनीबिसेन्ट भारत वर्ष आयीं तो इस मत का बड़े जोर शोर से प्रचार हुआ। अपने मत के प्रचारकों के साथ उन्होंने देश के प्राचीन धर्म का गुणगान भी किया। थोड़े से अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों में ही इसका प्रचार हुआ। इसके द्वारा राष्ट्रीयता का पोषण हुआ। इन्होंने तत्कालीन प्रचलित शिक्षा को भारत के हितों के विरुद्ध बताया। कुछ समय के बाद सोसाइटी की शाखायें देश भर में स्थापित हो गयीं। इसने सुधारों के साथ शिक्षा प्रसार की ओर भी ध्यान दिया। एनीबिसेण्ट के प्रभाव से काशी में सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल खुला जो कालेज के रूप में बदलता हुआ १६१५ में विश्व विद्यालय बन गया। इसके कामों से अनुप्राणित होकर जस्टिस रानाडे ने १८८४ में "दक्खन एजूकेशन सोसाइटी" की स्थापना की। इसके सदस्य थोड़ा सा वेतन लेकर शिक्षा का प्रसार करते रहे। इस संस्था के सदस्यों में प्रसिद्ध समाज सेवी गोपाल कृष्ण गोखले भी थे।

इन सुधारों का प्रभाव जीवन तथा समाज के विभिन्न क्षेत्रों पर भी पड़ने लगा। १८५७ के बाद राजनीति का क्षेत्र पनपने का नाम ही न ले

रहा था परन्तु सरकार की अनुदार नीति, युद्धों के कर्जे, दमन तथा लगातार दुर्भिक्षों के पड़ने के कारण जनता में असंतोष बढ़ने लगा। १८३३, १८५८, और १८६१ में तीन-तीन बार सरकार ने यह घोषणा की थी कि सरकारी ओहदों के लिये जाति, धर्म अथवा वर्ण का विचार न किया जायेगा परन्तु इस पर कभी ध्यान नहीं दिया गया। अंग्रेजी पढ़े लिखे प्रतिभा सम्पन्न भारतीयों को यह अपमान बहुत खला। श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी को आई० सी० एस० पास करने के बाद भी अंग्रेजों ने एक बहाने से निकाल दिया। इसी घटना को लेकर भारतीय अधिकार रक्षा के लिये १८७६• में उन्होंने कलकत्ते में इण्डियन एसोशिएशन की स्थापना की। यह एसोशियन भारत को एक सूत्र में बाँधना चाहता था और शिक्षित वर्ग को सिविल सर्विस की परीक्षाओं में बैठने की सुविधायें दिलवाना चाहता था। इसके लिये बनर्जी महोदय ने पञ्जाब और उत्तर प्रदेश की यात्रा की और विभिन्न सभाओं में भाषण करके लोक मत तैयार कराया। राजनैतिक अधिकारों की मांग के लिये सर्व प्रथम इसी एसोसिएशन ने प्रेरणा दी। लार्ड लिटन के समय में शस्त्र कानून और वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट के विरुद्ध भी आन्दोलन चला। १८८३ में इलबर्ट बिल की घटना ने भी भारतीयों की आँखें खोल दीं। इसका विरोध करने के लिये अंग्रेजों ने भी डिफेन्स एसोसिएशन बनाया। वे चाहते थे कि उनके अपराधों की सुनवाई किसी भारतीय न्यायाधीश के इजलास में न हो। उनके आन्दोलन से डर कर रिपन ने उसे थोड़े से संशोधन के साथ मञ्जूर कर लिया। भारतीयों को यह भी अच्छा नहीं लगा। श्रीसुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने १८८३ में 'भारतीय राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स' और 'राष्ट्रीय कोष' की स्थापना की जिसमें सारे भारत के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। कुछ विचारशील अंग्रेज इन घटनाओं को बराबर ध्यान से देख रहे थे और समझ रहे थे कि भारत में एक बार फिर विद्रोह की आग धधकने वाली है जिसमें भारत में रहने वाली पूरी अंग्रेज जाति जल उठेगी। इसलिये उन्होंने भारतीयों के प्रति थोड़ी बहुत सहानुभूति दिखलानी शुरू की। युक्त प्रान्त के अन्तर्गत इटावा नामक जिले के भूतपूर्व कलक्टर मि० ह्यूम ने लार्ड डफरिन से सलाह लेकर श्री बेडरवर्न तथा दादाभाई नौरोजी की सहायता से १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना की। उसका पहला अधिवेशन

उमेशचन्द्र बनर्जी के सभापतित्व में हुआ। बाद को श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी की "इण्डियन नेशनल कान्फ्रेन्स" नामिक संस्था भी इसी में सम्मिलित हो गई।

यह संस्था भारतीयों को कुछ न कुछ अधिकार दिलाते रहने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रही। १८९२ में इसी की मांग के फल स्वरूप इण्डिया कौंसिल एक्ट पास हुआ। १८६१ के इंडियन कौंसिल एक्ट के अनुसार यद्यपि भारतीयों को व्यवस्थापिका सभा में प्रवेश करने का अवसर मिल गया था पर सरकारी सदस्यों की संख्या अधिक होने से सरकार के अधिकार ज्यों के त्यों सुरक्षित रहे। इसके अनुसार बड़े-बड़े प्रान्तों को भी व्यवस्थापिका सभा स्थापित करने का अधिकार दे दिया गया था। १८९२ के इण्डिया कौंसिल एक्ट के अनुसार केन्द्रीय तथा प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं की संख्या पहले से बढ़ा दी गयी। म्युनिस्पलिटियों, जिला बोर्डों और यूनिवर्सिटियों को इन सभाओं के प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मिला। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के गैर सरकारी सदस्यों में से ४ को चुनने का अधिकार प्रान्तीय सभाओं के गैर सरकारी सदस्यों को दे दिया गया। इसमें और भी सुधार हुये परन्तु फिर भी सरकार का ही बहुमत रहा इससे जनता का कोई लाभ नहीं हुआ। कांग्रेस चाहती थी कि कौंसिल में जाने वाले सदस्यों को जनता अपने प्रतिनिधि के रूप में चुने। कांग्रेस का आन्दोलन जारी रहा। १८९६ और १९०३ के बीच भारत में बड़े जोरों का प्लेग फैला। २० लाख आदमी मर गये। सन् १८९८ और फिर १९०० में दो बार उत्तरी भारत के प्रान्तों तथा गुजरात में भीषण अकाल पड़ा। जनता अंग्रेजी शासन से असंतुष्ट हो गयी। कांग्रेस ने स्थायी बन्दोबस्त करने, लगान कम करने, अंग्रेजी अफसरों की तनख्वाह कम करने, भारतीयों को ऊँचे ओहदे देने तथा देश के शिल्प और उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिये सरकार के नाकों में दम कर दिया परन्तु उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। १८९९ में लार्ड कर्जन वाइसराय होकर आया था वह कांग्रेस की एक बात भी सुनने को प्रस्तुत नहीं होता था। १९०१ में विक्टोरिया मर गई। उसका लड़का एडवर्ड सप्तम गद्दी पर बैठा। इसके उपलक्ष में लार्ड कर्जन ने दिल्ली में एक बड़ा दरबार किया। लाखों रुपयों खर्च किये गये। दूसरी ओर प्रजा को अकाल निगले जा रहा था। कांग्रेस ने कहा कि यह फिजूल खर्च है। इसे बन्द करो। इसका

आधा भी खर्च करके लाखों आदमियों के प्राण बचाये ।जा सकते हैं परन्तु उसने एक न सुनी। सन् १८५८ में यह घोषणा हो चुकी थी कि भारत का पैसा भारत के हित में ही खर्च किया जायेगा, लेकिन भारत के ही रुपये से और उसी की सेना से तिब्बत पर अधिकार किया गया। कांग्रेस ने सरकार की इस युद्ध नीति का विरोध किया। कर्जन ने दमन किया। अब तक उच्च शिक्षा की भी व्यवस्था हो गयी थी। विश्वविद्यालयों से निकले हुये स्नातकों की संख्या लोकमत जाग्रत कर रही थी। यह देखकर १६०४ में यूनिवर्सिटी एक्ट पास करके उस पर सरकारी नियंत्रण का बोझ डाल दिया गया। बंगाल में राष्ट्रीयता बढ़ रही थी। १६०५ में इस भावना को रोकने के लिये बंगाल को दो भागों में बांट कर आसाम और पूर्वी बंगाल के अलग प्रान्त बना दिये गये। ऐसा करने में दो उद्देश्य थे,। बंगाल की बढ़ती हुयी शक्ति को छिन्न-भिन्न करना और मुसलमानों को बढ़ावा देकर हिन्दुओं को दबाना। इससे गहरा असंतोष फैला। जगह-जगह से विरोध के स्वर उठने लगे। बंगाल के नेताओं ने स्वदेशी आन्दोलन चला कर विदेशी माल के बहिष्कार का नारा लगाया। कांग्रेस ने समर्थन किया। देश के उद्योग धन्धे को बढ़ाने की कोशिश की गई। इससे राष्ट्र का आन्दोलन तीव्र से तीव्रतर होने लगा। कर्जन की दमन नीति से भारत में स्वदेश प्रेम और राष्ट्रीयता की लतायें लहराने लगीं। इसी समय एशिया के एक छोटे राष्ट्र जापान ने रूस को युद्ध में बुरी तरह पिछाड़ दिया। जापान के इस विजय से हमारे देश पर गहरा प्रभाव पड़ा। अभी तक योरोप को एशिया वाले बहुत बड़ा दैत्य समझ बैठे थे परन्तु अब उनकी हिम्मत बढ़ चली। इस घटना से पूरा एशिया जाग उठा। भारत को एक नयी प्रेरणा मिली और नयी पीढ़ी में क्रान्तिदल निर्माण की बात चलने लगी। ये लोग दमन का जवाब शस्त्रों से देना चाहते थे। बंगाल और महाराष्ट्र क्रान्तिकारियों के अड्डे बन गये। इन दलों ने समय समय पर अंग्रेजों का खूब शिकार किया। इसी समय सरकार की दमन नीति सम्बन्धी समस्या को सुलझाने के प्रश्न को लेकर काँग्रेस में दो दल हो गये। गरम दल और नरम दल। गरम दल का कहना था कि सरकार पर विश्वास करना और सुधारों के लिए उससे प्रार्थना करना व्यर्थ है। नरम दल वाले शान्ति पर्वक काम करना चाहते थे। गरम दल के नेता थे

बाल गंगाधर तिलक जिन्होंने केशरी के सम्पादन के द्वारा देश में विप्लव की आग फूँक दी थी। नरम दल के नेताओं में सर्व श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले और फिरोजशाह मेहता थे। गरम दल के नेता तिलक जी के लेखों से सरकार भड़क उठी और उन्हें १६०८ में कैद करके माण्डले भेज दिया गया। पंजाब के लाला लाजपत राय तथा अजीत सिंह बरमा में निर्वासित कर दिये गये। इन घटनाओं ने क्रान्ति की लपटों में घी डाल दिया।

कांग्रेस के आन्दोलन में सभी वर्गों ने साथ नहीं दिया। देश का मुसलिम वर्ग जिस प्रकार शिक्षा में पिछड़ा हुआ था उसी प्रकार यहां भी पिछड़ रहा था। अंग्रेज तो यह चाहते ही थे बंग भंग का मूल उद्देश्य ही था हिन्दू मुसलमानों में भेद पैदा करना। इससे सरकार की आशायें बढ़ने लगीं। उसके इशारे पर सरकार भक्त मुस्लिम नेता आगा खां १६०६ में लार्ड मिण्टो से मिले उन्होंने मुसलमानों के राज-भक्ति का विश्वास दिलाया और उनके राजनैतिक महत्व पर प्रकाश डाला। उनके लिये कुछ सुविधायें भी माँगीं। अंग्रेजों ने उनकी पीठ ठोंक दी। उसी समय कांग्रेस के ढँग पर मुस्लिम लीग की स्थापना हो गयी। मिन्टो ने भी स्वराज्य की मांगों को दबाने की चाल चली। परन्तु जब उसकी नीति का कुछ असर न मालूम पड़ा तब मार्लो-मिन्टो सुधार की अधकचरी योजना सामने रखी गयी। १६०६ में इंगलैंड की पार्ल्यामेन्ट ने सुधार बिल पास किया। इसके अनुसार केन्द्रिय तथा व्यवस्थापिका सभाओं की संख्या बढ़ा दी गयी।

निर्वाचित सदस्यों की संख्या पहले से अधिक कर दी गयी। सदस्यों को प्रस्ताव उपस्थित करने और प्रश्न पूछने का अधिकार था। बजट पर विचार करने का अधिकार था। अधिकार नहीं था तो मत देने का। केन्द्रिय और प्रान्तीय शासन समितियों में एक एक, दो दो, भारतीय सदस्यों को भी रखने का निश्चय किया गया परन्तु इससे कुछ नहीं हुआ। क्रान्तिकारियों का जोर बढ़ता गया। १६१० में मिन्टो की जगह पर हार्डिङ्ग आये। एडवर्ड सप्तम चल बसे। पंचम जार्ज गद्दी पर बैठे। भारतीय अशान्ति की खबर उनके कानों में भी पहुँची। १६११ में दौड़े दौड़े आये। दिल्ली में दरबार किया और बंग-भंग को रद्द करने की घोषणा की। आसाम

तथा बिहार-उड़ीसा के प्रान्त बंगाल से अलग कर दिये गये। भारत की राजधानी कलकत्ते से उठाकर दिल्ली रख दी गयी। इससे कुछ प्रसन्नता हुयी लेकिन क्रान्तिकारियों का उत्पात बन्द न हुआ। १९१२ में लार्ड हार्डिङ्ग पर बम फेंका गया और वे बाल-बाल बच गये। अंग्रेज अफ्रीका में रहने वाले प्रवासी भारतीयों को भी सता रहे थे। उनके अधिकारों की रक्षा के लिये मोहन दास कर्मचन्द गांधी नामक एक नवयुवक बैरिस्टर लड़ रहा था। उन्होंने भारतीयों की रक्षा के लिये अफ्रीका में भी कांग्रेस की स्थापना कर ली थी। १९१३ गांधी जी के नेतृत्व में लगभग ढाई हजार प्रवासी भारतीयों ने सत्याग्रह किया। इसमें स्त्री और पुरुष दोनों ने भाग लिया। अंग्रेज ने खूब दमन किया परन्तु जब इस पर भी उन्हें सफलता नहीं मिली तो वे लाचार होकर सन्धि पर उतर आये। गोरी सरकार ने भारतीयों के हितों और अधिकारों की रक्षा करने का आश्वासन देकर १९१४ में सन्धि कर ली। इसी बीच प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। जिस में रूस, फ्रान्स और इंगलैंड के विरुद्ध जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली ने चढ़ायी की थी। कुछ समय के बाद तुर्की जर्मनी के पक्ष में चला गया और अमेरिका ने इङ्गलैंड आदि मित्र राष्ट्रों का साथ दिया। इस अशांति को देखकर अंग्रेजों ने भारतीय जनता को फुसला कर शान्त करने के लिये स्वशासन देने का आश्वासन दिया। भारतीय कपड़ों के मिल मालिकों को प्रसन्न करने के लिये बाहर से आने वाले कपड़ों पर चुङ्गी बढ़ा दी। इससे कांग्रेस का नरम दल प्रसन्न हो उठा। गान्धी जी दक्षिणी अफ्रीका से भारत लौट आये थे। उन्होंने इस युद्ध में सरकार की सहायता करने के लिये भारतीयों से अपील की।

भारतीय जनता, देशी नरेशों, जमींदारों, मिल मालिकों ने धन जन से अंग्रेजों की सहायता की। भारतीय फौजें फ्रांस, मेसोपोटानिया (ईराक) और मिश्र में बहादुरी के साथ लड़ीं और जीतीं। क्रान्तिकारियों को अंग्रेजों पर भरोसा नहीं था। विश्व के विभिन्न देशों में फैले हुये भारतीय क्रान्तिकारियों ने ब्रिटिश साम्राज्य को क्षति पहुँचाने का प्रयत्न किया। उन्हें किसी काम में सफलता न मिल सकी परन्तु उन्होंने लोगों में स्वतन्त्रता की धधकती हुयी अग्नि को शान्त नहीं होने दिया। उनके बलिदानों से प्रेरणा और उत्साह लेकर एनीबिसेन्ट और तिलक ने होम रूल (१९१५) लीग स्थापित की। १९१६

में लखनउ अधिवेशन में गरम दल और नरम दल में एकता स्थापित हो गयी और तिलक उसका नेतृत्व करने लगे। इस बार कांग्रेस ने मुसलिम लीग की साम्प्रदायिक निर्वाचन की मांग को स्वीकार कर उसे भी मिला लिया। इस अवसर पर तिलक ने कांग्रेस का ध्येय स्वराज्य घोषित किया परन्तु लीग ने केवल औपनिवेशिक स्वराज्य का नारा लगाया। होम रूल आन्दोलन तेजी से चला और सरकार ने दमन करना प्रारम्भ किया। इसी बीच गांधी जी ने चम्पारन सत्याग्रह के द्वारा निलहे गोरों के अत्याचारों पर कुठाराघात किया। लार्ड चेम्सफोर्ड (१९१६-१९२१) के समय में शर्तबन्द कुलियों का बाहर जाना भी बन्द हो गया। इस घटना से गान्धी जी के प्रति लोगों में श्रद्धा जगने लगी। भारत की अशान्ति को देखकर माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट १९१८ में प्रकाशित हुयी जिसके आधार पर १९१९ में नया सुधार कानून पास हुआ इसमें वाइसराय और प्रान्तीय गर्वनरों के राजनैतिक तथा कुछ विशेष अधिकार सुरक्षित रखे गये थे। प्रान्तीय सरकारों में चुने हुये मन्त्रियों को केवल स्वायत्त शासन प्रबन्ध सौंपा गया और साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को ज्यों का त्यों रखा गया। इस प्रकार यह भी केवल स्वांग था। इससे भारतीय जन जीवन में असन्तोष फैला। सरकार को विश्व युद्ध में विजय प्राप्त ही हो चुकी थी अतः इसकी रंच मात्र भी परवाह न करके दमन पर उतारू हो गयी। १९१९ में भयानक रौलेट एक्ट पास किया गया। पुलिस के अधिकार बढ़ा दिये गये और राज विद्रोहियों के मुकदमों को जल्दी से निबटा देने के नियम बना दिये गये। क्रान्तिकारियोंका बुरी तरह दमन किया जाने लगा। गान्धी जी आदि नेताओं ने इसका विरोध किया परन्तु किसी ने कुछ ध्यान न दिया। उन्होंने इसे काले कानून की संज्ञा दी और "अहिंसात्मक सत्याग्रह" की घोषणा की। अप्रैल १९१९ को सम्पूर्ण देश में आम हड़ताल हुयी। सरकार ने दमन किया। कहीं-कहीं जनता ने भी उत्तेजित होकर अंग्रेजों को नुकसान पहुँचाया। अप्रैल को जालियान वाला बाग में ४०० निहत्थे बालक, जवानों और वृद्धों को भूना गया। पंजाब के इस भयंकर दमन की कहानी सुनकर अहमदाबाद, वीरम गाँव और नड़ियाद आदि स्थानों में भी जनता ने उपद्रव किया परन्तु गान्धी जी ने सब स्थानों की यात्रा कर करके वहाँ के लोगों को शान्त कर

दिया। कुछ दिनों के लिये सत्याग्रह स्थगित हो गया। जलियान वाला हत्याकाण्ड के उत्तरदायी डायर को कोई सजा न दी गयी इससे जनता में असन्तोष की भावना जड़ जमाने लगी। इसी समय तुर्की के सुल्तान का अपमान करने के कारण भारतीय मुसलमान अंग्रेजों से असंतुष्ट हो गये इसी अवसर पर गान्धी जी ने उन्हें असहयोग करने की सलाह दी। १९२० में तिलक की मृत्यु हो गयी और कांग्रेस के नेतृत्व का सारा भार गान्धी जी पर आ पड़ा। अब कांग्रेस का ध्येय शान्तिमय और उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना हो गया। दिसम्बर में नागपुर कांग्रेस में यह तै हुआ। अब असहयोग आन्दोलन चला। विद्यार्थियों ने स्कूल और कालेजों में पढ़ना छोड़ दिया। राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना हुयी। खद्दर प्रचार बढ़ा। १९२१ में लार्ड रीडिङ्ग वाइसराय होकर आया। नवम्बर में युवराज ड्यूक आफ कनाट आये जनता ने विरोध किया। इसमें भाग लेने वालों का खूब दमन किया गया। सारे नेता जेलों में भर गये। ३० हजार से ऊपर सत्याग्रहियों से जेल भर उठे परन्तु आन्दोलन था कि रुकने का नाम ही नहीं लेता था। १९२१ के अहमदाबाद कांग्रेस में अहिंसात्मक सत्याग्रह चलाने का निश्चय किया गया था। १९२२ में गान्धी ने बारडोली में कर बन्दी आन्दोलन चलाया। इसी बीच ५ फरवरी चौरी चौरा काण्ड के कारण गान्धी जी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। इस निर्णय से देश को कष्ट हुआ। गान्धी जी पर मुकदमा चला और उन्हें ६ साल के कैद की सजा हो गयी। असयोग आन्दोलन के बाद का इतिहास भारतीय इतिहास में बड़ा दुख पूर्ण अध्याय जोड़ता है। गान्धी जी की अनुपस्थिति में १९२३ में श्री चितरंजन दास और मोती लाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस में स्वराज्य दल की स्थापना हुयी। इस दल ने व्यवस्थापिका सभाओं में जाकर भीतर से असहोग करने की नीति अपनायी। १९२३ के निर्वाचन में कांग्रेस को सफलता मिली परन्तु वे लोग कुछ कर न सके। १९२५ में चितरंजन दास की मृत्यु के बाद इस दल का सारा प्रभाव खतम हो गया। १९२४ में गान्धी जी रिहा कर दिये गये। इसी समय देश भर में साम्प्रदायिक झगड़े हुये। सबसे भयानक दंगा सितम्बर के महीने में कोहाट में हुआ। हिन्दुओं की बड़ी जानें गयीं। इसी समय बापू ने १४ सितम्बर को २१ दिन का उपवास किया।

उन्होंने पारस्परिक एकता के लिये जनता से अपील की। फिर भी यदा कदा दंगे होते रहे। १९२६ में एक उन्मादी मुसलमान ने स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या कर डाली। १९३१ में कानपुर में हिन्दू-मुसलमानों का भीषण दंगा हुआ जिसे शांत करने में गणेश शंकर विद्यार्थी शहीद हुये। असहयोग आन्दोलन शिथिल पड़ गया। साम्प्रदायिकता से राष्ट्र की एकता छिन्न-भिन्न हो गयी। क्रान्तिकारी आन्दोलन फिर शुरू हुआ। १९२३ में बंगाल में यह शुरू हो गया। दमन और धर पकड़ शुरू हो गयी। १९२६ में भगत सिंह ने लाहौर में 'नवजवान' सभा स्थापित की। देश भर में युवक संघ बने। क्रान्तिकारियों ने लाहौर में सांडर्स की हत्या कर दी। धर पकड़ हुयी। मेरठ और लाहौर के जेल क्रान्तिकारियों से भर उठे। जेलों में उनके साथ दुर्व्यवहार होने लगा। लाहौर में राजनैतिक कैदियों ने भूख हड़ताल शुरू की। यतीन्द्रनाथ दास ने ६४ दिनों का फांका करके शरीर से नाता तोड़ दिया। क्रान्तिकारियों की इन चेष्टाओं और बलिदानों से राष्ट्र के आन्दोलन को नया बल और उत्साह मिला। १९२६ में लार्ड अरविन वाइसराय हुये। उसने राजनैतिक अशान्ति देख कर कुछ सुधार करने का बहाना बनाया। १९२८ में साइमन कमीशन भारत के भावी शासन विधान की घोषणा करने आया। देश ने कांग्रेस के नेतृत्व में इसका निषेध किया। देश भर में हड़ताल मनाई गयी। लोगों ने काले झन्डे हिलाये और नारे लगाये "साइमन वापस जाओ।" लाहौर में प्रदर्शन कारियों के नेता लाला लाजपत राय पर भी पुलिस ने लाठियां चलायीं और उसी चोट से कुछ दिनों के बाद उनकी मृत्यु हो गयी। इन घटनाओं से देश के नवयुवक नेता उत्तेजित हो उठे। जवाहरलाल और सुभाषबाबू ने औपनिवेशिक स्वराज्य के बजाय पूर्ण स्वराज्य को उग्र कांग्रेस का ध्येय बनाया। ३१ दिसम्बर १९२९ में युवक नेता पं० जवाहरलाल के नेतृत्व में लाहौर में यह घोषणा की गयी। २६ जनवरी १९३० को तिरंगा फहराया गया स्वाधीनता दिवस मनाया गया और सारे देश में सभायें की गयीं। कांग्रेस ने महात्मा गान्धी से नेतृत्व करने की प्रार्थना की। उन्होंने नमक कानून तोड़ कर सत्याग्रह करने की अपील की। देश के सभी पुरुषों ने इस आन्दोलन में डटकर भाग लिया। ६ अप्रैल १९३० को उन्होंने डांडी में नमक कानून तोड़ दिया।

खूब दमन हुआ। देश भर में हड़ताल और प्रदर्शन हुये। लाठी, गोली और मुकदमों के वातावरण से देश में अशान्ति छा गई। कांग्रेस कार्य समिति और कांग्रेस सभायें गैर कानूनी घोषित कर दी गईं। एक ही वर्ष के भीतर ६०, ००० स्त्री पुरुष और लड़कों ने ब्रिटिश गवर्नमेंट की जेलों को भर दिया। सरकार ने इस स्थिति को देख कर शासन-सुधारों की योजना पर विचार करने के लिये नवम्बर १६३० में गोलमेज सम्मेलन बुलाया। इसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्तों और देशी रियासतों से ७३ आदमी शामिल हुये परन्तु भारत का प्रतिनिधित्व करने वाली काँग्रेस उसमें भाग न ले सकी। ११ जनवरी १६३१ ई० का गोलमेज सम्मेलन समाप्त होने के बाद काँग्रेस-कार्य समिति के सदस्य बिना शर्त रिहा कर दिये गये। ५ मार्च को गाँधी-अरविन समझौता हो गया जिसके अनुसार काँग्रेस ने सत्याग्रह बन्द कर दिया और उसने भारत की शासन-सुधार योजना पर विचार करने के लिये गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार कर लिया। सत्याग्रह आन्दोलन को दबाने के लिये बनाये गये विशेष कानूनों को रद्द कर दिया गया। सत्याग्रही कैदी जेलों से रिहा कर दिये गये। गांधी जी ने सान्डर्स अभियोग केस में गिरफ्तार नवयुवक क्रान्तिकारियों की रिहाई के लिये सरकार से प्रार्थना की परन्तु उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी गई। २३ मार्च को भगत सिंह को फाँसी पर लटका दिया गया उनके साथियों को भी। नव युवकों में उत्तेजना फैली। गान्धी जी ने उन्हें शान्ति और धैर्य से काम लेने की सलाह दी। मार्च में कराची कांग्रेस ने द्वितीय गोल मेज सम्मेलन के लिये गान्धी जी को अपनी प्रतिनिधि चुना। १७ अप्रैल को अरविन गये। उनके स्थान पर लार्ड विलिंगटन वाइसराय के पद पर नियुक्त हुये। २६ अगस्त को द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिये गान्धी जी, मदन मोहन मालवीय और सरोजनी नायडू के साथ इंगलैंड के लिये रवाना हुए। यहाँ बुलाकर अंग्रेजों ने उन्हें खूब बेवकूफ बनाया। स्वतन्त्रता का प्रश्न हल करने के बजाय यहाँ अल्प संख्यकों के झगड़े का प्रश्न समुपस्थित हो गया। अछूतों के प्रश्न पर गान्धी जी ने अंग्रेजों को जो जवाब दिया उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने डाँट कर कहा—"सिख भले ही सदैव के लिये सिख रह सकते हैं, वैसे ही मुसलमान और इसाई भी। पर

क्या अछूत सदा अछूत बने रहेंगे ? अस्पृश्यता जीवित रहे, इसकी अपेक्षा मैं यह अधिक अच्छा समझूँगा कि हिन्दू धर्म ही डूब जाय। जो लोग अछूतों के राजनैतिक अधिकारों की बात करते हैं, वे भारत को नहीं जानते और हिन्दू समाज का निर्माण किस प्रकार हुआ है यह भी नहीं जानते। इसलिये यदि अछूतों को अलग करने का प्रयत्न किया गया तो अपने प्राणों की बाजी लगा कर भी मैं इसका विरोध करूँगा"। १ दिसम्बर १९३१ को यह गोलमेज सम्मेलन समाप्त हुआ। २८ दिसम्बर को गान्धी जी वापस चले आये। उनके आते ही दमन शुरू हो गया। गान्धी अरविन समझौते का उल्लंघन कर के लार्ड विलिंगटन ने सीमा प्रांत, उत्तर प्रदेश और बंगाल में कांग्रेसियों को जेलों में ठूँस दिया। जवाहरलाल को भी बन्द कर दिया गया। गान्धी जी ने समझौते की बात चलानी चाही परन्तु वाइसराय ने एक बात भी न सुनी। बापू ने लाचार होकर पुनः सत्याग्रह की घोषणा कर दी। ४ जनवरी सन् १९३२ को सरकार ने गांधी जी और वल्लभ भाई पटेल को जेल में बन्द कर दिया। उसने चार नये आर्डिनेन्सों के द्वारा कांग्रेस को गैर कानूनी घोषित कर दिया। फिर भी सत्याग्रह की आंधी जो चली तो बन्द होने का नाम ही न लेती थी। देश के किसानों और मजदूरों ने, स्त्री और पुरुषों ने, बालक, जवानों और बूढ़ों ने डटकर भाग लिया। यह आन्दोलन २९ महीने तक चलता रहा और १२०,००० सत्याग्रही जेलों में बन्द किये गये। इसी समय हिन्दू जाति को टुकड़े-टुकड़े करने के लिये ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री ने 'साम्प्रदायिक-निर्णय' प्रकाशित किया। उसमें मुसलमानों की तरह अछूतों के भी पृथक निर्वाचन का अधिकार स्वीकार किया गया था। गान्धी जी ने इस निर्णय को बदल देने की सरकार से प्रार्थना की परन्तु उसने सुनी अनसुनी कर दी। इसके विरोध में उन्होंने २० सितम्बर से आमरण उपवास किया। मालवीय जी ने पूना में कांग्रेसी हिन्दू और अछूत नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया। जिसमें हरिजनों को व्यवस्थापिका सभाओं में दस वर्ष के लिये रक्षित स्थान दिये गये। उन्होंने पृथक निर्वाचन की मांग को त्याग दिया। २३ सितम्बर को सरकार ने भी इस समझौते को स्वीकार कर लिया। गान्धी जी ने उपवास समाप्त कर दिया। उन्हीं की प्रेरणा से हरिजनों के उत्थान के लिये "हरिजन सेवक

संघ" स्थापित हुआ। सरकार ने इस काम को चलाने के लिये गान्धी जी को सुविधायें दीं। उन्होंने आत्म शुद्धि के लिये ८ मई १९३३ को २१ दिनों का उपवास फिर शुरू किया। २६ मई को ऐसी अवस्था में सरकार ने उन्हें जेल में रखना ठीक न समझा। २६ मई को यह उपवास भी सफलता पूर्वक समाप्त हो गया। इसी वर्ष कांग्रेस ने सामूहिक सत्याग्रह की नीति को त्याग कर व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाने की घोषणा की। ४ अगस्त को बापू पकड़ लिये गये। इस बार उन्हें हरिजन-सेवा का कार्य चलाने की सुविधा न दी गई। बापू ने फिर अनशन शुरू किया और सरकार ने घबड़ा कर २३ अगस्त को उन्हें रिहा कर दिया। बाहर आने पर वे साल भर तक हरिजन आन्दोलन का कार्य करते रहे। उच्च वर्ण के हिन्दुओं और हरिजनों का भेद भाव मिटने लगा और उनमें भाई चारे का सम्बन्ध स्थापित होने लगा। १८,१९ मई १९३४ को पटने में काँग्रेस महा समिति की बैठक बुलाई गई। गान्धी जी की सलाह से सत्याग्रह बन्द कर दिया गया और केन्द्र की व्यवस्थापिक सभा के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया गया। सरकार ने सीमा प्रान्त और बंगाल की कांग्रेस समितियों को छोड़कर अन्य स्थान की कांग्रेस संस्थाओं पर से प्रतिबन्ध उठा लिया और सत्याग्रही कैदियों को छोड़ दिया।

जून १९३५ में ब्रिटिश पार्ल्यामेंट ने इंडिया एक्ट पास करके एक नये शासन विधान की घोषणा की। इसमें विभिन्न प्रान्तों और रियासतों को अपने भीतरी शासन में स्वतन्त्र बताया गया और प्रान्तों तथा रियासतों के संघ को भारत सरकार का नाम दिया गया। यह सब होते हुये वास्तविक शक्ति और शासन का अधिकार वाइसराय और प्रान्तीय गर्वनरों के हाथों में रखे गये। इस विधान के अनुसार जनता को प्रान्तों में अपना मंत्रिमंडल बनाने का अधिकार था पर वाइसराय अपने व्यक्तिगत निर्णय से मंत्रियों के कामों में हस्तक्षेप कर सकता था। नये मंत्रिमंडलों और व्यवस्थापिका सभाओं को व्यापारिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में भी हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था जिससे अंग्रेज बनियों के हितों पर कोई आंच न आने पाये। इन सब बुराइयों के बावजूद भी कांग्रेस ने चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया। १९३६ में लार्ड विलिंगटन चले गये और और लार्ड लिनलिथगो

वाइसराय हुये। १६३५ में नूतन विधान के अनुसार व्यवस्था सभाओं के लिये चुनाव लड़े गये। कांग्रेस की गहरी जीत हो गई जिससे यह सिद्ध हो गया कि कांग्रेस ही वास्तव में सम्पूर्ण देश का राजनैतिक प्रतिनिधित्व करती है। मंत्रिमण्डल बनाया गया। ११ प्रान्तों में से ६ में मंत्रिमण्डल बना। केवल बंगाल और पंजाब में काँग्रेस मंत्रिमण्डल न बना सका। गान्धी जी ने मन्त्रियों को आदेश दिया कि वे आदर्श पूर्ण जीवन निर्वाह करें ५००) से अधिक वेतन न लें। तीसरे दर्जे में रेल की यात्रा करें, और तकली चलावें। इसी प्रकार प्राथमिक शिक्षा, नशेबन्दी, और किसानों की आर्थिक स्थिति सुधारने तथा खादी के प्रचार को बढ़ाने के लिये वे मन्त्रियों को सलाह भी देते रहे। देश में नया उत्साह आया। अब लोगों को विश्वास होने लगा कि काँग्रेस एक न एक दिन अवश्य स्वराज्य प्राप्त कर लेगी। इस बीच बापू ने मुसलिम लीगी नेता जिन्ना से मेल करने की कोशिश की परन्तु उन्हें सफलता न मिली। लीगी, भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में रोड़े अटकाते रहे।

१६३६ में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया। ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के विरोधी स्वर की परवाह न कर के साम्राज्य रक्षार्थ भारत की ओर से भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। भारतीय फौजें मिश्र और सिंगापुर के मोर्चे पर भेज दी गईं। गांधी जी ने इस तानाशाही का विरोध किया। २२ अक्टूबर १६३६ को कांग्रेस कार्य समिति ने ब्रिटेन को युद्ध में मदद न देने का निश्चय किया। काँग्रेसी मन्त्री ने इस्तीफे दे दिये और ब्रिटिश सरकार ने प्रान्तों का शासन गवर्नरों के हाथ में सौंप दिया।

१६४० में फ्रांस ने जर्मनी के सामने घुटने टेक दिये। कांग्रेस ने भी सरकार को चेतावनी दे दी कि वह भारत को शीघ्र स्वतंत्र करने का बचन दे और उसे केन्द्र में शीघ्रातिशीघ्र एक अस्थायी सरकार बनाने की घोषणा करे। इन माँगों को स्वीकार कर लेने पर कांग्रेस ने उसे युद्ध में मदद देने का वायदा भी किया। सरकार ने कांग्रेस की प्रार्थना पर ठोकर लगा दी और इधर संयत रूप में व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन चलने लगा। "ब्रिटिश सरकार को इस युद्ध में मदद देना पाप है" के नारे से भारतीय वायु मण्डल ध्वनित हो उठा। ११ नवम्बर १६४० को बापू की आज्ञा से आचार्य विनोबा

भावे ने व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू किया। यह सत्याग्रह १ साल तक चला और २०,००० सत्याग्रही जेलों में ठूसे गये। नवम्बर १६४१ में जापान ने भी मित्र राष्ट्रों के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उसने जर्मनी और इटली से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया। देखते ही देखते उसने बरमा पर अधिकार कर लिया। यह स्थिति देखकर ब्रिटिश सरकार के पैरों की धरती खसकने लगी और कांग्रेस से समझौता करने के लिये उत्सुकता दिखलाने लगी। ३० दिसम्बर १६४१ को व्यक्तिगत सत्याग्रह बन्द कर दिया गया। इंगलैण्ड की सरकार से कांग्रेस से समझौता करने के लिये १६४२ में क्रिप्स को भेजा। लेकिन उसकी योजना धोखे की टट्टी साबित हुयी। लीग और कांग्रेस दोनों ने उसका बहिष्कार किया। अब लाचार होकर ६ जुलाई १६४२ को वर्धा में कार्य समिति ने एक प्रस्ताव पास किया कि 'भारत में अंग्रेजी राज्य का शीघ्र अन्त होना चाहिये। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की ७ और ८ अगस्त की बैठक में प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रस्ताव पास हुये। यह प्रस्ताव अंग्रेजों के लिये चुनौती थी। इस खुले विद्रोह की नोटिस से लिनलिथगो की सरकार दमन पर उतर आई। ६ अगस्त को सारे नेता जेल में ठूस दिये गये। १० अगस्त को कांग्रेस कमेटियाँ गैर कानूनी घोषित कर दी गयीं। देश भर में क्रान्ति की आग लग गयी। डाकखाने और थाने फूके जाने लगे। रेल की पटरियाँ तोड़ी जाने लगी। तार काटे जाने लगे। उत्तर प्रदेश के बलिया ने अंग्रेजी सरकार के शासन को अपने कंधे से उतार कर फेंक दिया। वहाँ राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो गयी। पुलिस और फौज ने जनता को बुरी तरह रौंदा। अगस्त से नवम्बर तक यह आन्दोलन चला परन्तु भीषण दमन के कारण यह विद्रोह शिथिल पड़ गया। इस दमन से क्षुब्ध होकर बापू ने १० फरवरी से २१ दिन का उपवास शुरू किया। इससे सारा संसार क्षुब्ध हो उठा। देश विदेश की जनता ने ब्रिटिश सरकार पर जोर दिया कि वह गान्धी जी को रिहा कर दे। पर सरकार ने कोई ध्यान न दिया। ३ मार्च १६४३ को यह व्रत भी समाप्त हो गया। १६४४ में लिनलिथगो के चले जाने पर लार्ड बेवेल वाइसराय हुये। उन्हीं के समय में गान्धी जी की धर्म-पत्नी कस्तूरबा का बन्दी अवस्था में देहावसान हो गया। गान्धी जी के हृदय पर इस घटना से बड़ी ठेस पहुँची।

उनकी तबीयत खराब हो गयी। ६ मई १९४४ को सरकार ने उन्हें बिना शर्त रिहा कर दिया।

मई १९४५ में जर्मनी हार गया। सरकार ने कांग्रेस और लीग से समझौता करने का प्रयत्न किया। जून में कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य रिहा कर दिये गये। राजनैतिक गुत्थी को सुलझाने के लिये वेवेल साहब ने शिमला में एक सम्मेलन बुलाया परन्तु जिन्ना की हठ धर्मी के कारण उसे भी सफलता न मिली

इसी बीच इंगलैंड में चुनाव हुआ। अनुदारवादी चर्चिल हारे और मजदूर दल के नेता एटली की विजय हुयी। एटली की सरकार के निर्देशानुसार सितम्बर में लार्ड बेवेल ने एलान किया कि भारत में शीघ्र ही चुनाव कराये जायेंगे। १९४५-४६ में यह निर्वाचन हुआ। अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेस की जीत हुयी। अप्रैल १९४६ में सिंध और बंगाल में लीग मन्त्रि-मंडल बना, पंजाब में यूनियनिस्ट, सिख तथा कांग्रेसियों का संयुक्त मन्त्रि-मंडल बना और शेष प्रान्तों में अकेले कांग्रेस ने अपने मन्त्रिमंडल बनाये। इस पर भी अभी पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रश्न हल नहीं हो सका था इसलिए लोगों में बड़ी बेचैनी थी। इस स्थिति का अध्ययन करने के लिए जनवरी फरवरी में ब्रिटिश पार्ल्यामेन्ट ने एक शिष्ट मंडल भारत भेजा। यह देश के नेताओं से मिला और वापस जाकर भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करने पर जोर दिया। १५ मार्च को एटली ने घोषणा की कि भारत को अपना विधान बनाने की पूरी स्वतन्त्रता है और उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की जा रही है। लेकिन साथ साथ ही उससे यह भी आशा की जाती है कि वह कामनवेल्थ में ही रहना पसन्द करेगा। २४ मार्च को यह शिष्ट मन्डल भारत पहुँचा। गांधी जी, कांग्रेसियों और लीगियों से मिलकर उसने काफी विचार विनिमय किए और १६ मई को भारत के सम्बन्ध में अपनी योजना प्रकाशित कर दी। इसमें पाकिस्तान की योजना को अव्यावहारिक तथा विधान निर्मातृ-सभा और केन्द्र में अन्तर कालीन सर्वदलीय सरकार बनाने की बात कही गयी।

अगस्त १९४६ में सभी प्रान्तों में विधान सभा के चुनाव हो गए। लीग ने चुनाव में भाग लिया परन्तु विधान सभा में बैठने से इन्कार किया।

इसके बाद केन्द्र में सर्वदलीय मन्त्रिमंडल बनाने का सवाल उठा। लीग ने इसमें भी भाग लेने से इन्कार किया और १३ अगस्त को सीधी कारवाई करने की घोषणा की थी। यह सीधी कारवाई थी लीग की गुन्डागिरी। उसने कलकत्ते और बम्बई में भीषण दंगे और कत्ले आम शुरू किये। इस विरोध के बावजूद भी कांग्रेसी नेताओं ने केन्द्र में अन्तर कालीन सरकार बना ली। जगह जगह सम्प्रादायिक दङ्गे शुरू हो गए। अक्टूबर में लीग अन्तर कालीन सरकार में सम्मिलित हो गयी। कांग्रेसी मन्त्रियों से उसने कोई सहयोग नहीं किया और न तो विधान सभा में ही भाग लेना स्वीकार किया। दंगे होते रहे। लीग के एक प्रमुख नेता सर फिरोज खां नून ने कहा कि वे चंगेज और हलाकू से बढ़कर भी हालत पैदा कर देंगे। नोआखली और त्रिपुरा में लीगियों ने हिन्दुओं को बुरी तरह कत्ल किया। स्त्रियों का अपहरण किया उन पर बलात्कार किये। धर्म परिवर्तन किया। डेढ़ लाख हिन्दू इन दङ्गों के शिकार हुए। महात्मा गाँधी नोआखली गये। शान्ति स्थापित हो गयी। तभी बिहार के हिन्दुओं से लीगियों की यह दुष्टता न बरदाश्त हुयी। उन्होंने भी मुसलमानों को काटना शुरू किया। बापू को यह आचरण बड़ा खेद जनक प्रतीत हुआ। नोआखली से ही उन्होंने एलान किया कि यदि बिहार में दंगे न रुके तो वे आमरण अनशन करेंगे। दंगे बन्द हो गये। बापू कई महीने बाद नोआखली से बिहार आये। तब तक पंजाब में दंगे शुरू हो गये। इस अड़ंगेबाजी की नीति से लीगियों ने स्पष्ट कर दिया कि वे बिना पाकिस्तान लिये न मानेंगे। इसी बीच २० फरवरी १९४७ को एटली की सरकार ने घोषणा की कि जून १९४८ से पहिले ब्रिटेन अपनी सत्ता हटा लेगा। फिर भी लीग और कांग्रेस में आपसी समझौता न हुआ। १९४७ में लार्ड वेवेल के स्थान पर माउन्ट बेटेन साहब वाइसराय होकर आये। ये आखिरी वाइसराय थे। इसी बीच माउन्ट बेटेन इङ्गलैंड गये और वहाँ से आने पर उन्होंने ब्रिटेन की ओर से यह घोषणा की कि १५ अगस्त को ब्रिटेन अपनी सत्ता हटा लेगा और भारत का विभाजन करके पाकिस्तान नामक राज्य की स्थापना होगी। बंगाल, पञ्जाब और आसाम का हिन्दू बहुमत क्षेत्र पाकिस्तान में न जाकर भारत में रहेगा। कांग्रेस, लीग और सिख नेताओं ने इसे स्वीकार कर लिया। फलतः बापू की इच्छा के विरुद्ध भी बँटवारा हो गया। २८ जुलाई

१९४७ को ब्रिटिश पार्ल्यामेन्ट ने भारत स्वतन्त्रता बिल पास किया और १५ अगस्त को ब्रिटेन के आखिरी वाइसराय ने भारत और पाकिस्तान को सत्तायें सौंप दीं। माउन्टबेटेन के बाद चक्रवर्ती राज गोपालाचार्य गवर्नर जनरल हुये। विभाजन के बाद भी पश्चिमी पञ्जाब और सीमा प्रान्त में भीषण दंगे होते रहे। कलकत्ते में भी दंगे हुये। इससे दुःखी हो बापू ने आमरण अनशन किया। दंगे रुक गये। ७२ घन्टे बाद बापू ने उपवास समाप्त कर दिया। पश्चिमी पञ्जाब में दंगे होते रहे। हजारों की संख्या में हिन्दुओं और सिखों को शरणार्थी के रूप में भागकर आना पड़ा। भारत में भी दंगे हुये और मुसलमानों को पाकिस्तान जाना पड़ा। गाँधी जी ने फिर आमरण अनशन किया (१३ जनवरी १९४८) हिन्दू सिख आदि नेताओं ने उन्हें मेल से रहने का आश्वासन दिया इस पर उन्होंने १८ जनवरी को उपवास समाप्त कर दिया। सारे संसार ने हर्ष मनाया। ३० जनवरी को बिड़ला भवन से प्रार्थना सभा में जाते समय गांधी जी की हत्या कर दी गयी। इसके बाद भारत के सामने देशी राज्यों के संगठन और एकीकरण का प्रश्न आया। वल्लभ भाई पटेल के स्तुत्य प्रयत्नों और नीति कुशलता से जनवरी १९४८ से जनवरी १९५० तक के भीतर ५५२ विभिन्न राज्यों का एकीकरण हो जाने से शताब्दियों पुरानी स्वेच्छाचारिता का अन्त हो गया। पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थियों को भी भारत ने बसाया। अधिक अन्न उपजाओ की घोषणा की गयी। इन कठिनाइयों के बावजूद भी भारत की विधान सभा ने २६ नवम्बर १९४९ को संविधान बनाने का काम पूरा करके नये विधान के अनुसार २६ जनवरी १९५० को भारत को पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक जन राज्य घोषित कर दिया। गवर्नर जनरल का शासन समाप्त हुआ और राजेन्द्र बाबू भारतवर्ष के प्रथम राष्ट्रपति चुने गये। उनके कार्य काल में देश में अनेक काम हुये। देश के बँटवारे के कारण पंजाब और बंगाल के उपजाऊ प्रदेश पाकिस्तान को मिल गये थे। हमें अन्न संकट का सामना भी करना पड़ा। रूस, अमेरिका, चीन आदि मित्र राष्ट्रों से हमने सहायता ली। इसी समय अनेक प्राकृतिक उत्पातों का भी सामना करना पड़ा। आसाम आदि पहाड़ी प्रान्तों में खूब बाढ़ आयी। अनेक गाँव नष्ट हो गये। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण देश में अतिवृष्टि और अनावृष्टि का

खतरा बना रहता था। इसलिये भूतपूर्व खाद्य मंत्री श्री कन्हैया लाल माणिक लाल मुन्शी द्वारा 'वन महोत्सव' की योजना कार्यान्वित की गयी।

हिन्दू कोड बिल को लेकर मचा हुआ वितण्डावाद तथा काश्मीर की समस्या भी इस समय की प्रमुख ऐतिहासिक घटनायें हैं। तेलंगाना पर कम्युनिस्टों का अधिकार तथा देश में बढ़ती हुयी समाजवादी शक्तियों के पीछे बेकारी की समस्या का ही मुख्य हाथ है। इसी मनोवैज्ञानिक सत्य के आधार पर आचार्य विनोबा भावे ने भूमिदान यज्ञ का अनुष्ठान किया। उन्होंने अपने अनुयायियों के साथ सम्पूर्ण भारत की पैदल यात्रा की और भूमि हीनों के लिये भूमि इकट्ठा की।

सन् ५२ में भारतवर्ष में बालिग मताधिकार के आधार पर पहला चुनाव हुआ। देश की विभिन्न राजनैतिक पार्टियों ने इसमें भाग लिया। फिर भी कांग्रेस को ही बहुमत मिला। उसने केन्द्र और प्रान्तों में अपने मंत्रि मण्डल बनाये। इस समय एक नयी बात यह हुयी कि विधान और लोक सभाओं में वाम पक्षी शक्तियाँ भी पहुँच गयी हैं। कांग्रेस के बाद कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य ही अधिक संख्या में चुने गये। पंडित जवाहर लाल ने पुनः प्रधान मंत्रित्व का भार संभाल लिया है। देश को उत्थान की चरम सीमा तक पहुँचा देने के लिये अनेक रचनात्मक कार्य किये जा रहे हैं। अनेक योजनायें बनी हुयी हैं। पंच वर्षीय योजना से देश की काया पलट हो जाने की आशा है।

आधुनिक-ब्रजभाषा काव्य-धारा

[अ]

यद्यपि काव्य की ब्रजभाषा के विरुद्ध खड़ी बोली की प्रतिष्ठा आधुनिक-काल की सबसे प्रमुख घटना है, फिर भी ब्रजभाषा का काव्य स्रोत आज तक सूख न सका। दोनों समानान्तर रूप से प्रवाहित हो रहे हैं।

ब्रजभाषा काव्य-धारा

हर्ष बर्धन की मृत्यु के पश्चात् भारतवर्ष छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था। अधिकांश राजाओं की राजधानियाँ पश्चिम में ही थीं। ब्रजभाषा केवल ब्रज भूमि के ही चारों ओर नहीं बोली जाती थी बल्कि वह भरतपुर आदि पूर्वी राजपूताने में होती हुयी, थोड़े-थोड़े परिवर्तन के साथ गुजरात तक समझी और बोली जाती थी। राजपूताने के पूर्वी क्षेत्र में ही बीर गाथाओं की रचना हुयी थी। ब्रजभाषा से मिलती-जुलती जिस भाषा में बीर गीतों की सृष्टि हुयी उसे पिंगल कहा जाता था। इस प्रकार हमारा प्रथम काव्य-ग्रन्थ जिस भाषा में लिखा गया वह ब्रज का ही पश्चिमी रूप था। भक्तिकाल में भगवान राम और कृष्ण के चरित्रों की अवतारणा हुयी जिसमें कृष्ण की ओर अधिकांश लोग झुके। कृष्ण के भक्त उन्हीं की लीला-भूमि ब्रज को अपना निवास स्थान बनाने लगे और उन्हीं की भाषा में काव्य की रचना करने लगे। पूर्वी राजपूताने की भाषा भी अपने स्वरूप को बदलकर भक्ति की धारा से जा मिली और एक वृहद काव्य धारा के रूप में प्रकट हुयी। तुलसी ने भी अपने मानस की रचना पश्चिमी अवधी में की जो ब्रजभाषा के अत्यन्त निकट हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी ने अनेक उच्चिकोटि के ग्रन्थ ब्रजभाषा में ही लिखे। तुलसी के बाद अवधी में अधिक रचनायें नहीं हुयीं। भक्तिकाल में ब्रजभाषा अपने उत्कर्ष की सीमा छूने लगी। इसका प्रचार और प्रसार दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। आवश्यकतानुसार उसकी अभिव्यंजना शक्ति भी विकसित होने लगी। शताब्दियों से वह सत्काव्य की भाषा रही और रीतिकाल में तो उसकी पूरी प्राण प्रतिष्ठा हो गयी। अब वह एक स्टैन्डर्ड भाषा मान ली गयी थी। फल स्वरूप विभिन्न प्रान्तों के कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं का अध्ययन करके ब्रजभाषा पर अधिकार

प्राप्त करने लगे। धीरे-धीरे इसमें स्थानीय शब्द तथा मुहाविरे भी आने लगे। भक्तिकाल के अधिकांश कवि ब्रज भूमि अथवा उसके आस-पास के निवासी थे इसलिए शुद्ध ब्रजभाषा में लिख लेना उनके लिये कुछ कठिन नहीं था। रीतिकालीन कवि तो भाषा की दृष्टि से स्वतंत्र हो गये। सत्य यह है कि बिहारी, घनानन्द, ठाकुर तथा रसखान ने शुद्ध ब्रजभाषा में काव्य की धारा प्रवाहित की किन्तु पुस्तक पढ़कर भाषा पर अधिकार करने वाले कवियों के लिये वैसी भाषा लिखना असम्भव हो गया। मातृ भाषा और अर्जित भाषा में अन्तर तो होता ही है। रीति-काल में कविता लिखने का ऐसा शौक चर्राया कि घर घर में कवि पाये जाने लगे। समय के साथ ही साथ ब्रजभाषा भी बदलने लगी। उसके अनुस्वार बहुला प्रवृत्ति में अन्तर पड़ने लगा। ब्रज भूमि से दूर रहने वाले कवियों के लिये स्थानीय परिवर्तनों पर दृष्टि रखना असम्भव हो गया। प्रयोगों में अनेक रूपता आने लगी। प्राकृत और अपभ्रंश के विकृत शब्द ज्यों के त्यों चले आ रहे थे। कवियों में शब्दों के तोड़ मरोड़ की प्रवृत्ति जड़ जमाने लगी। मनमानी करने वालों की संख्या बढ़ने लगी। इसका फल यह हुआ कि ब्रजभाषा बिल्कुल विकृत हो गयी और आधुनिक काल के कवियों को यही विरासत के रूप में मिली। इसी भाषा में सेवक कवि (सं० १८७२-१९३८) ने नायिका भेद के ऊपर वाग्विलास की रचना की। महाराज रघुराज सिंह रीवाँनरेश (सं० १८८०-१९३६) ने राम स्वयंबर, रुक्मिणी परिचय, आनंदांबुनिधि, तथा रामष्टयाम आदि ग्रंथों की रचना करके भक्ति, सम्बन्धी ललित कविताओं की सृष्टि की। इनके अतिरिक्त प्राचीन परिपाटी को स्थित रखने वाले कवियों में षट्ऋतु हनुमन्त भूषण, साहित्य सुधाकर आदि के लेखक सरदार (सं० १९०२-१९४०) विश्राम सागर प्रणेता बाबा रघुनाथ, कृष्ण चरित के ऊपर गजलों की रचना करने वाले लखनऊ के ललित किशोरी तथा ललित माधुरी, अभिज्ञान शाकुंतल, मेघदूत, तथा रघुवंश के अनुवाद-कर्त्ता राजा लक्ष्मण प्रसाद (सं० १८८३-१९५३) रावणेश्वर कल्पतरु नामक रीति ग्रन्थ के लेखक लच्छिराम भट्ट (ज० सं० १८९८) फुटकल ललित कविताओं के कवि बेनी-द्विज, नीति, विनोद, शृंगार-सरोजिनी, षड् ऋतु, पावस-पयोनिधि, जैसे लगभग एक दर्जन काव्य ग्रन्थों के प्रसवकर्त्ता गोविन्द गिल्ली भाई (सं० १९०५) तथा काशी के कोकिल हनुमान (मृ० सं० १९३६) के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

पुराने कवियों ने ब्रजभाषा की परम्परा में हमें नखशिख, बारहमासा नायिका-भेद आदि विषय दिये थे। आधुनिक काल अपनी भावनाओं और इच्छाओं को लेकर आया। इन नये विचारों और भावों को भारतीयों की रागात्मिका वृत्ति से सामंजस्य स्थापित करने में कुछ देर लगी अतः नये विषय उनके काव्य में देर से अभिव्यक्त हुये। मैकालेने अंग्रेजी का जिस जोर से समर्थन किया भारतीय शिक्षा के इतिहास में वह क्रान्ति के पृष्ठ जोड़ गया। अंग्रेजी का अनिवार्य रूप से अध्ययन अध्यापन आरम्भ हो गया। अपनी दशा पर विचार करने तथा अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के फल स्वरूप नये-नये विचार भारतीय मस्तिष्क में उठ रहे थे। इसके पहले उर्दू और फारसी का जोर था ही। अतः दोनों साहित्यों के अध्ययन का प्रभाव भी नवीन हिन्दी कवियों की रचनाओं पर भिन्न-भिन्न रूप में पड़ा।

उर्दू की अभिव्यंजना शैली अपूर्व है। उसमें शृंगार का तो बड़ा ही मार्मिक चित्रण होता है। रति भाव में विप्रलंभ के ही कारण गम्भीरता और प्रभावोत्पादकता आती है। हिन्दी में ऐसा नहीं हो पाता। इसके कारण हैं। हिन्दुओं में वैवाहिक जीवन की दृढ़ता के कारण विप्रलंभ वर्णन में कमी आ जाती है। इस कमी को परकीया की उद्भावना से हमारे कवि दूर कर दिया करते थे। लेकिन आचार्यों ने परकीया वर्णन को काव्य का दोष माना है। इससे भी बचने के कारण राधाकृष्ण के प्रेम का चित्रण हुआ। राधा कृष्ण के प्रेम का ईश्वर-जीव-प्रेम में पर्यवसान हो जाने के कारण परकीया का दोष दूर हो जाता है। यह सब होते हुये भी वियोगजन्य विह्वलता की जैसी गम्भीरता और तड़प उर्दू में थी, हिन्दी में न आ पाई। हमारे यहाँ तो शास्त्र की आज्ञाओं का अक्षरसः पालन करते हुये विभाव, अनुभाव और संचारियों की तङ्ग गली में से शृंगार को गुजरना पड़ता था। उर्दू में ये बातें नहीं थीं। वहाँ था बिरही हृदय का स्वाभाविक उद्गार और तड़प। उर्दू की इस विशेषता की ओर हमारे कवि उन्मुख होने लगे। इसी लिये हम देखते हैं कि भारतेन्दु बाबू 'रसा' नाम से तथा प्रेमधन जी अब्र तखल्लुस रखकर उर्दू में रचनायें किया करते थे।

अंग्रेजी काव्य का प्रभाव कुछ देर से पड़ा। इसका कारण यह था कि आंग्ल माध्यम से परीक्षा उत्तीर्ण करने वालों को कहीं न कहीं बाबू गिरी मिल जाती थी। रोजी कमाने में व्यस्त उन बेचारों का साहित्य के प्रति कोई

पुराने कवियों ने व्रजभाषा की परम्परा में हमें नखशिख, बारहमासा नायिका-भेद आदि विषय दिये थे। आधुनिक काल अपनी भावनाओं और इच्छाओं को लेकर आया। इन नये विचारों और भावों को भारतीयों की रागात्मिका वृत्ति से सामंजस्य स्थापित करने में कुछ देर लगी अतः नये विषय उनके काव्य में देर से अभिव्यक्त हुये। मैकालेने अंग्रेजी का जिस जोर से समर्थन किया भारतीय शिक्षा के इतिहास में वह क्रान्ति के पृष्ठ जोड़ गया। अंग्रेजी का अनिवार्य रूप से अध्ययन अध्यापन आरम्भ हो गया। अपनी दशा पर विचार करने तथा अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के फल स्वरूप नये-नये विचार भारतीय मस्तिष्क में उठ रहे थे। इसके पहले उर्दू और फारसी का जोर था ही। अतः दोनों साहित्यों के अध्ययन का प्रभाव भी नवीन हिन्दी कवियों की रचनाओं पर भिन्न-भिन्न रूप में पड़ा।

उर्दू की अभिव्यंजना शैली अपूर्व है। उसमें शृंगार का तो बड़ा ही मार्मिक चित्रण होता है। रति भाव में विप्रलंभ के ही कारण गम्भीरता और प्रभावोत्पादकता आती है। हिन्दी में ऐसा नहीं हो पाता। इसके कारण हैं। हिन्दुओं में वैवाहिक जीवन की दृढ़ता के कारण विप्रलंभ वर्णन में कमी आ जाती है। इस कमी को परकीया की उद्भावना से हमारे कवि दूर कर दिया करते थे। लेकिन आचार्यों ने परकीया वर्णन को काव्य का दोष माना है। इससे भी बचने के कारण राधाकृष्ण के प्रेम का चित्रण हुआ। राधा कृष्ण के प्रेम का ईश्वर-जीव-प्रेम में पर्यवसान हो जाने के कारण परकीया का दोष दूर हो जाता है। यह सब होते हुये भी वियोगजन्य विह्वलता की जैसी गम्भीरता और तड़प उर्दू में थी, हिन्दी में न आ पाई। हमारे यहाँ तो शास्त्र की आज्ञाओं का अक्षरसः पालन करते हुये विभाव, अनुभाव और संचारियों की तङ्ग गली में से शृंगार को गुजरना पड़ता था। उर्दू में ये बातें नहीं थीं। वहाँ था बिरही हृदय का स्वाभाविक उद्गार और तड़प। उर्दू की इस विशेषता की ओर हमारे कवि उन्मुख होने लगे। इसी लिये हम देखते हैं कि भारतेन्दु बाबू 'रसा' नाम से तथा प्रेमधन जी अब्र तखल्लुस रखकर उर्दू में रचनायें किया करते थे।

अंग्रेजी काव्य का प्रभाव कुछ देर से पड़ा। इसका कारण यह था कि आंग्ल माध्यम से परीक्षा उत्तीर्ण करने वालों को कहीं न कहीं बाबू गिरी मिल जाती थी। रोजी कमाने में व्यस्त उन बेचारों का साहित्य के प्रति कोई

रुचि नहीं रह जाती थी। मातृ भाषा से उन्हें क्या लेना देना था? बाद में जब साहित्यिक वर्ग भी अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन की ओर उन्मुख हुआ तो उसकी विशेषताओं का प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ने लगा। उन्मुक्त प्रकृति से अनुरागात्मक सम्बन्ध राष्ट्रीयता तथा नारी के प्रति आदर और श्रद्धा की भावना आंग्ल साहित्य की विशेषतायें हैं। हिन्दी ने इन विषयों का संस्कृत से ही अध्याहार किया था। संस्कृत साहित्य में प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण की प्रथा थी। उद्दीपन के रूप में कमल, चंद और उपवन का प्रयोग सदियों से हो रहा था। वस्तुओं के नाम भर गिना दिये जाते थे। इसके कारण रस का कुछ पता ही न चल पाता था। प्रकृति को दूसरा स्थान अप्रस्तुत योजना में मिलता था। वह भी अलङ्कार विधानों की जटिलता के कारण प्रकृति के रमणीय उपादानों की ओर अनुराग लक्षित नहीं होता था। संस्कृत में नारी और राष्ट्रीयता की भी बड़ी व्यापक भावनायें न थीं। इस युग की हिन्दी कविता में अंग्रेजी की उपर्युक्त विशेषतायें थोड़ी बहुत मात्रा में दिखलायी पड़ने लगीं।

अंग्रेजी शासन की स्थापना से अनेक सामाजिक रूढ़ियाँ भी हट गयीं। उत्तर भारत में सुधार के आन्दोलन की आँधियाँ चलने लगीं। लोगों के विचार बदलने लगे। प्लासी युद्ध के फल स्वरूप बङ्गाल के केन्द्र कलकत्ता के सामाजिक धार्मिक और साहित्यिक-जीवन में युगान्तर-कारी परिवर्तन होने लगे। धीरे-धीरे हिन्दी भाषा भाषी क्षेत्रों पर भी इसका प्रभाव पड़ने लगा। समाज, जीवन को लिये दिये व्यवहारिकता में आगे बढ़ गया था परन्तु हिन्दी काव्य शृंगार की पद्य बद्ध रचना लिये समय और जीवन से काफी दूर था। भारतेन्दु ने उसे जीवन से जोड़ दिया।

आधुनिक ब्रज भाषा काव्य के कर्ण-धार

भारतेन्दु बाबू का जन्म भाद्र पद शुक्ल पंचमी सं० १६०७ को काशी के एक सुप्रसिद्ध सेठ परिवार में हुआ था। उनके पिता सेठ गोपाल चंद्र स्वयं भी ब्रज भाषा के प्रतिभाशील भक्त कवि थे।

पांच वर्ष की ही अवस्था में हरिश्चन्द्र जी को मातृ वियोग का दुःख सहन करना पड़ा और लगभग नव वर्षों की आयु तक पहुँचते-पहुँचते उनके पिता जी भी नहीं रहे। इस प्रकार वे अनाथ से हो गये। उनकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही आरम्भ हुयी थी, परन्तु पिता की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने काशी के

क्वीन्स कालेज में नाम लिखा लिया। वे लड़कपन से ही काव्य रचना की ओर झुक गये थे अतः नियमित रूप से उनका पठन पाठन न हो सका। १३ वर्ष की अवस्था में शादी हो गयी और १५ वर्षों की अवस्था में जगन्नाथ पुरी की सपरिवार यात्रा करने के कारण उनके अध्ययन का क्रम टूट गया। उसी यात्रा में उनका परिचय बंग देश के नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से बंगाल में क्रान्ति का जो स्वर बंकिम बाबू को सुनायी पड़ा था, महाराष्ट्र में चिपलूणकर ने जिसकी ओर ध्यान दिया था और गुजरात में नर्मद महाशय जिसकी ओर आर्षित हो उठे थे उसी स्वर माधुरी ने भारतेन्दु बाबू के मन को भी मोह लिया। वहाँ से काशी वापस आते ही वे समाज और साहित्य की सेवा में जुट गये। कभी-कभी यात्रा पर भी चले जाया करते थे, इसलिये उनके अनुभव की सीमा भी बढ़ती जाती थी।

यद्यपि वे स्कूली शिक्षा की ओर से हमेशा उदासीन रहे परन्तु घर पर उन्होंने विभिन्न भाषाओं के साहित्य का अध्ययन किया। धीरे-धीरे वे मराठी, गुजरातो, बंगला, संस्कृत, अंग्रेजी और उर्दू के अच्छे ज्ञाता हो गये। उर्दू में भी वे 'रसा' नाम से कवितायें लिखा करते थे। उन्होंने काशी में कवि-समाज की स्थापना की, हिन्दी की परीक्षायें नियत की, प्रतियोगिताओं का आयोजन किया और पुरस्कार देकर लोगों को हिन्दी में लिखने के लिये प्रोत्साहित किया। उनके साहित्यिक दरबार में दूर-दूर के कवि, लेखक, सम्पादक, हिन्दी हितैषी और तुक्कड़ आया करते थे। उन्होंने 'कवि बचन सुधा' और हरिश्चन्द्रचन्द्रिका, का सम्पादन किया। साहित्य सेवा के पीछे उन्होंने पानी की तरह रुपया बहाया। जिसने जितना माँगा उसे उतना दिया। उनकी फक्कड़ी देखकर उनके छोटे भाई गोकुल चन्द्र ने समस्त जायदाद का बँटवारा कर लिया लेकिन उनकी दान-शीलता में कोई फर्क न आया। इससे उनके ऊपर कर्ज हो गया। जायदाद का एक बहुत बड़ा हिस्सा बिक जाने के कारण उन्हें आर्थिक कठिनाइयाँ परेशान करने लगीं। निरन्तर अन्तर्द्वन्द के कारण वे क्षय रोग के चंगुल में आ गये और लाख कोशिश करने पर भी उनकी रक्षा न की जा सकी। १५ माघ कृष्ण सं० १९४१ को हिन्दी साहित्य को विलखता हुआ छोड़कर उन्होंने स्वर्ग की राह ली।

सोलह वर्षों के भीतर उन्होंने हिन्दी को इतनी रचनायें दीं जिसे देखकर उनकी प्रतिभा, उनकी लगन, और उनके अध्यवसाय पर आश्चर्य होता है।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही अंग्रेजी-राज्य की जड़ जम चुकी थी परन्तु हमारे कवि परिपाटी विहित और रूढ़ि ग्रस्त राधा कृष्ण की लीलाओं और नायक नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य तथा विलास में ही डूबे हुये थे। कविता के आदर्शों में अभी परिवर्तन नहीं हुआ था। वैसे तो हमारे देश में अनेक भाषायें हैं और एक ही प्रान्त के अंतर्गत विभिन्न जन पदों की बोलियाँ हैं जिनमें अमूल्य लोक साहित्य विद्यमान है परन्तु सामान्य शिष्ट साहित्य के लिये एक ऐसी भाषा की आवश्यकता होती है जिसे देश के अधिकांश लोग समझ सकें। इन्हीं प्रान्तीय बोलियों में से परिस्थितियों के घात प्रतिघात के कारण किसी को साहित्यिक भाषा का रूप प्राप्त हो जाता है। ब्रज भाषा हमारे काव्य की अत्यन्त प्राचीन भाषा है जिसे रीति कालीन कवियों ने विकृत करके छोड़ दिया था। भारतेन्दु बाबू ने जब नये विचारों और भावों की अभिव्यंजना के लिये उसकी ओर निहारा तब वह असमर्थ दीख पड़ी। उन्होंने इस भाषा को सजीव और व्यंजक बनाये रखने के लिये शब्दों का संस्कार किया। सदियों से चले आते हुये अपभ्रंश और प्राकृत के मुर्दा शब्दों को छाँट कर फेंक दिया। वाक्य विन्यास में सरलता का समावेश किया। शब्दार्थ की गूढ़ता के स्थान पर भावों की गहराई की ओर रुचि दिखायी। अनेक शैलियों का प्रचार किया। उनके काव्य क्षेत्र में प्रवेश करने पर पहली बार हिन्दी कविता पुरानी सम्पदा छोड़कर आगे बढ़ी।

नवीन आन्दोलन के साथ देश का कुछ सुधार भी हुआ और उसके साथ ही साथ देश की थोड़ी हानि भी हुयी। अंग्रेजी का अध्ययन करने पर लोगों को अपनी दशा का बोध होने लगा। यह संक्रान्ति का युग था। कुछ लोग धीरे-धीरे रूढ़िवादी होने लगे और कुछ लोगों ने पाश्चात्य सभ्यता की गुलामी स्वीकार कर ली।

पुलिस और अदालती लोगों की लूट खसोट, देश के स्वार्थी, अमीरों के अनाचार छल और कपट, सर्वत्र व्याप्त धार्मिक मिथ्याचार, तथा देश की निर्धनता को देखकर भारतेन्दु बाबू को कष्ट हुआ। वे भारत की स्वाधीनता का स्वप्न देखने लगे। हरिश्चंद्र जी एक आदर्श देश भक्त थे। इसी लिये उनकी रचनाओं में देश भक्ति, लोकहित, समाज सुधार तथा मातृभाषोद्धार की ध्वनि कर्ण गोचर होती है। उन्होंने समाज के नवीन आन्दोलनों को कविता का रूप दिया इसीलिये उसमें सामयिकता और प्रचारात्मकता आ गयी। अपने देश की अधोगति का स्मरण आते ही उनकी लेखनी सिर धुनने लगती। इससे पुरानी

लकीर छुट गयी और नवीन रूप सामने आया। सं० १९१८ में उन्होंने स्वर्ग वासी "श्री अलवरत वर्णन अंतर्लापिका" शीर्षक सर्व प्रथम नयी कविता लिखी। यह नव्य रूप की अनुगामिनी है। उनकी अनेक रचनाओं में देश की अतीत-गौरव गाथा का गर्व और भविष्य की भावना से जगी हुयी चिंता दिखलायी पड़ती है। कहीं-कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभ भरी वेदना भी कराहती हुयी सुन पड़ती है। इस प्रकार की रचनाओं को उन्होंने या तो अपने नाटकों में स्थान दिया अथवा विशेष अवसरों—जैसे "प्रिन्स आव वेल्स का आगमन" मिश्र पर भारतीय सेना द्वारा ब्रिटिश सरकार की विजय—पर पढ़ने के लिये सुरक्षित रखा। उन्होंने गद्य को जितने आधुनिक विषय दिये उतने पद्य को नहीं। उनकी अधिकांश रचनायें भक्ति और शृंगार प्रधान हैं। वे पुष्टि सम्प्रदाय के भक्त थे इसलिये वैष्णव कृष्ण भक्ति काव्य के सभी अंगों पर उन्होंने कुछ न कुछ लिखा है। उनका धार्मिक दृष्टिकोण, उनकी प्रारंभिक रचनाओं में ही स्पष्ट हो जाता है—

हम तो मोल लिये या घर के
दास दास श्री बल्लभकुल के चाकर राधावर के
माता श्री राधिका पिता हरि बन्धु दास गुन कर के
हरीचंद तुम्हरे ही कहावत नहिं बिधि के नहिं हर के

उनकी भक्ति मूलक कवितायें गीति काव्य की कोटि में आती हैं। उनकी संख्या भी डेढ़ हजार से कम न होगी। इन पदों का विषय राधा कृष्ण लीला है, पर अन्य विषयों का समावेश भी कुछ पदों में किया गया है। भक्ति, विनय, दैन्य, होली, वसंत, फाग, वर्षा, आदि का वर्णन भी उन पदों में मिलता है। इन पदों के विषय, भाषा, शब्द विन्यास, दैन्य तथा भाव भंगिमा पर सूर का प्रभाव स्पष्ट है। इसीलिये आचार्य राम चंद्र शुक्ल और रावराजा डा० श्याम बिहारी मिश्र ने उन्हें प्राचीन ब्रजभाषा का अंतिम महाकवि माना है।

उनकी शृंगार सम्बन्धी रचना में कवित्त और सवैयों में मिलती हैं। अनुभूति पूर्ण ये मार्मिक रचनायें पद्माकर, घनानंद तथा रसखान की कविताओं की सीमायें छूने का दम भरती हैं। राधाकृष्ण के संयोग और वियोग दोनों का सफलता पूर्वक चित्रण किया गया है। उनके विप्रयोग में उर्दू कवियों की व्याकुलता और तड़प भी दीख पड़ती है। उन्होंने प्रकृति वर्णन सम्बन्धी कुछ सरस

कवितायें भी लिखीं जिनमें अलंकारिक ढंग से उपमान रखने की रुचि लक्षित होती है। उदाहरण के लिये निम्नांकित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

कबहु होत सित चंद कबहु प्रकटत दुरि भाजत
पवन गवन बस बिम्ब रूप जल से बहु साजत।
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै
कै तरंग की डोर हिडोंरन करत किलोलै।

भारतेन्दु बाबू भाषा के शिष्ट एवं व्यावहारिक रूप से पूर्ण परिचित थे। उन्होंने प्राकृत तथा अपभ्रंश काल के शब्दों को रचनाओं में स्थान नहीं दिया। शब्दों को तोड़ा मरोड़ा तक नहीं। उनकी भाषा नयी है, भावनायें हैं, शैली नयी है और इसीलिये वे साहित्य के इतिहास में नये अध्याय का सूत्रपात कर सके।

इस समय का साहित्य गोष्ठी साहित्य था। स्थान-स्थान पर कविता-सम्बद्धिनी सभायें और कवि समाजों की स्थापना हो गयी थी, जहाँ पर समस्यायें दी जाती थीं और उनकी पूर्तियाँ पढ़ी जाती थीं। यद्यपि कवियों की गोष्ठी की प्रथा बहुत प्राचीन है परन्तु भारतेन्दु ने जिन गोष्ठियों की स्थापना की थी वे कई बातों में पुरानी गोष्ठियों से भिन्न थीं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि नवीन शिक्षा प्राप्त लोगों के प्रवेश से उनमें प्राचीन रूढ़िगत शृंगारिक कविताओं के साथ ही साथ नवीन विषय भी आते थे। भारतेन्दु बाबू कवियों को धन देकर कविता लिखने के लिये प्रोत्साहित करते रहे।

उन्हीं के समय में काशी के ब्रजचंद जी वल्लभीय बहुत ही ललित रचनायें कर लेते थे। यद्यपि उन्होंने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा किन्तु भारतेन्दु के समय में समस्या पूर्तियों का जो एक वृहद् संग्रह निकला था उसमें उनकी रचनायें देखने को मिलती है। वे यह प्रमाणित करने के लिये काफी हैं कि वल्लभीय जी एक सिद्धहस्त कवि थे। उनकी भाषा हरिश्चंद्र जी के टक्कर की होती थी। बहुत से लोग उनकी रचनाओं के ब्रजचंद की जगह हरिचंद्र नाम रख कर पढ़ने लगे थे इसीलिये उनकी बहुत सी रचनायें हरिश्चन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हो गयी हैं। इसी मंडली में विजयानंद जी का नाम भी उल्लेखनीय है। उनका ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था और उनके सरस सवैयों पर रसिक मंडली झूम-झूम उठती थी।

इसी परम्परा में भारतेन्दु के साथी उपाध्याय पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१६१२-१६८०) का भी नाम लिया जाता है। हरिश्चंद्र जी की तरह वे भी उर्दू में कवितायें लिखा करते थे। उनका तखल्लुस अब्र था। चौधरी साहब ब्रज भाषा के अनन्य प्रेमी थी। उनके समय में खड़ी बोली का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था परन्तु उनके ऊपर उसका कुछ प्रभाव न पड़ा। 'आनंद-अरुणोदय' को छोड़कर शायद ही कोई कविता उन्होंने खड़ी बोली में की हो। अपनी भावनाओं और विचारों के प्रचार के लिये उन्होंने आनन्द कादम्बिनी तथा नागरी नीरद नामक-क्रमशः मासिक पत्रिका एवं पत्र का सम्पादन किया। वे ही उनके प्रकाशक भी थे। उनकी कविताओं के विषय हमेशा नवीन रहे। देश की परिस्थिति, देश भक्ति, और हिन्दी प्रचार पर उनका विशेष ध्यान रहता था। भारत की दुर्दशा देखकर वह तड़प उठा करते थे। दादा भाई नौरोजी के पार्ल्यामेण्ट का मेम्बर होने पर, कचहरियों में हिन्दी के प्रवेश अवसर पर तथा प्रयाग में होने वाले सनातन धर्म सम्मेलन पर इन्होंने सुन्दर रचनायें प्रस्तुत की। वस्तुतः वे अपने समय और समाज के प्रतिनिधि कवि थे। इसीलिये रायबहादुर पंडित शुकदेव बिहारी मिश्र तथा डा० रमाशङ्कर शुक्ल 'रसाल' ने उन्हें आधुनिक ब्रज भाषा काव्य का प्रारम्भिक सुकवि माना है। प्रेमधन जी ने सर्व साधारण के लिये भी कवितायें लिखीं। कजली, होली, तथा अन्य फुटकल गाने लिखे। समस्या पूर्तियों में भी इन्हें कमाल हासिल था। "चरचा चलिबे को चलाइये ना" को लेकर उन्होंने अनुप्रास पूर्ण एक अत्यन्त मधुर सवैया लिखी थी।

बगियान बसंत बसेरो कियो, बसिए, तेहि त्याग तपाइये ना
दिन काम कुतूहल के जो बने तेहि बीच वियोग बुलाइये ना।
घन प्रेम बढ़ाय कै प्रेम, अहो विथा बारि वृथा बरसाइये ना
चित चैत की चाँदनी चाह भरी चरचा चलिबे को चलाइये ना॥

उनकी भाषा अनुप्रास मयी और चुह चुहाती हुयी होती थी। पं० रामचंद्र शुक्ल ने लखनऊ की उर्दू से उनके भाषा की तुलना की है। उनके वाक्य विन्यास का ढंग अपना है। शैली अपनी है। उनको सम्पूर्ण रचनायें हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'प्रेमघन सर्वस्व' के अन्तर्गत संगृहीत है।

इसी समम कानपुर के 'ब्राह्मण' सम्पादक पं० प्रताप नारायण मिश्र (सं० १९१३-१९५१) ने भी ब्रजभाषा की सेवा में अपना योग दिया। वे उन्नाव जिले के बैज़े गाँव में उत्पन्न हुये थे। उनके पिता पं० संकठा प्रसाद मिश्र कानपुर के प्रतिष्ठित ज्योतिषी थे। पिता की हार्दिक इच्छा थी कि पुत्र ज्योतिषी बने पर मन की बातें मन में ही रह गयीं। स्कूल में नाम लिखा दिया गया परन्तु मिश्र महोदय वहाँ भी न पढ़ सके। स्कूल में उनकी दूसरी भाषा हिन्दी थी। उर्दू का भी अच्छा अभ्यास था। संस्कृत और फारसी भी जानते थे। वे बड़े भावुक थे और छात्रावस्था से ही कविता करने लगे थे। उस समय भारतेन्दु द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित कवि बचन सुधा का बड़ा प्रचार था। प्रताप नारायण जी पर उसका काफी प्रभाव पड़ा था। कुछ ही दिनों के बाद पिता की मृत्यु हो जाने से घर गृहस्थी का बोझ भी उनके दुर्बल कंधों पर आ गया परन्तु उनकी मस्ती में रंच मात्र भी कमी नहीं हुयी। इन्हीं दिनों कानपुर में बनारसी दास की लावनी ने धूम मचा दी थी। मिश्र जी भी उससे प्रभावित हुये और उन्होंने लावनी गाने में डट कर भाग लिया। स्थानीय कवि लालता जी के सम्पर्क में आते ही उन्होंने उन्हीं से छंद शास्त्र से कुछ नियम भी सीख लिये और धड़ल्ले से काव्य रचना आरंभ कर दी। वे अपने समय के उत्साही साहित्य सेवी थे। भारतेन्दु पर उनकी अपूर्व श्रद्धा थी। आत्म श्लाघा उनमें कूट-कूट कर भरी थी।

उन्होंने बहुत सी पुस्तकों का अनुवाद किया। बहुत सो मौलिक रचनायें कीं और ब्राह्मण का सम्पादन किया। उनकी कविताओं में मन की लहर, शृंगार विलास, लोकोक्तिशतक, प्रेम पुष्पावली, दंगल-खण्ड, तृप्यन्ताम, ब्राडला स्वागत, भारतीय विनोद और शैव सर्वस्व प्रसिद्ध है। कानपुर के रसिक समाज में उन्होंने जिन समस्याओं की पूर्तियाँ की हैं वे अमर हो गयी हैं। "पपिहा जब पूछि हैं पीव कहाँ" का एक उदाहरण लीजिये

बनि बैठी है मान की मूरति-सी मुख खोलत बोलत नाहीं न हाँ
तुम ही मनिहार कै हारि परे, सखियान की कौन चलाइ तहाँ।
बरषा है प्रताप जू धीर धरौ, अब लौं मन को समझायो जहाँ।
यह ब्यारि तबै बदलेगी कछू पपिहा जब पूछि है, पीव कहाँ?

उनकी भाषा का रूप स्थिर नहीं है। उन्होंने अपने युग के परिष्कृत एवं विकसित भाषा की चिन्ता न करके जन साधारण की प्रचलित भाषा को अपनाने

का प्रयास किया था, जिसके कारण उसमें ग्रामीणता आ गयी है। उनका शब्द चयन अशिष्ट एवं असंयत है। स्थानीय शब्दों मुहाविरों और कहावतों का खुल कर प्रयोग किया गया है सच पूछा जाय तो मिश्र जी के पास भाव और विचार तो थे पर भाषा न थी। कहीं-कहीं अरबी और फारसी के शब्द भी मिल जाते हैं। उनकी व्रज भाषा पर पश्चिमी अवधी का काफी प्रभाव पड़ा है। बुढ़ापा आदि कुछ कवितायें तो प्रान्तीय बोली बैसवाड़ी में ही हैं।

ठाकुर जग मोहन सिंह (१९१४-१९५५) ने भी हरिश्चंद्र जी के सम्पर्क में आकर व्रज भाषा में कविता करना शुरू कर दिया था। वे एक प्रतिभावान कवि थे। देश की नयी भावनाओं का उन पर भी प्रभाव पड़ा था। प्रकृति और मानव के प्रति अपार अनुराग की भावना उनके मन में विद्यमान थी। उनकी कविताओं के विषय थे प्रेम और प्रकृति। वह भी लौकिक प्रेम नहीं ईश्वरोन्मुखा प्रकृति चित्रण की प्रचलित रीति रूप को छोड़कर ठाकुर साहब ने एक दूसरा रास्ता ही अख्तियार किया। उनकी चित्त वृत्तियों के लिये प्रकृति ने अवलम्बन का काम किया। शब्दों की सहायता से उन्होंने प्रकृति के अनुपम चित्र खींचे। उनकी बहुत सी कविता 'श्याम स्वप्न' 'श्यामलता' और 'प्रेम संपत्तलिका' में संगृहीत हैं। प्रकृति चित्रण की जो प्रणाली इन्होंने हमारे साहित्य को दी वह आगे चलकर श्रीधर पाठक और पं० राम नरेश त्रिपाठी की कविताओं में विकसित हुई। उदाहरण के लिये निम्नांकित रचना प्रस्तुत की जा सकती है।

लागैगो पावस अमावस की अँध्यारी जापै
कोकिल कुहुकि कूक अतन तपावैगो।
पावैगो अथोर दुःख मैन के मरोरन सों
सोरन सों मोरन के जियहँ जरावैगो॥
लावैगो कपूरहु की धूर तन पूर विसि
भारि नहिं कोऊ हाय चित्त को घटावैगौ।
ठावैगो वियोग जग मोहन कुसोग आलि
विहर समीर वीर अंग जब लागैगो॥

उनकी भाषा हरिश्चंद्र जी की तरह शुद्ध तो नहीं है, फिर भी वे अपनी बातों को काव्योचित ढंग से कह लेते हैं। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा को छोड़कर अन्य अलंकारों का उन्होंने बहुत ही कम प्रयोग किया है।

इस नवीन युग में भी कुछ लोग प्राचीनता का मोह त्याग न सके। ऐसे लोगों में पंडित अम्बिका दत्त व्यास (१६१५-१६५७) का नाम पहले लिया जाता है। उनकी रचनायें प्राचीन ढंग की होती थीं परन्तु उनमें से कभी-कभी नवीन विषयों का स्वर भी सुनाई पड़ने लगता था। बिहारी के दोहों पर कुण्डलियों की रचना करके उन्होंने बिहारी नामक ग्रंथ का प्रणयन किया। बिहारी बिहार की भाषा सतसई से शिथिल है। व्यास जी संस्कृत और खड़ी बोली के भी अच्छे कवि थे। इनके पश्चात् नवनीत लाल चतुर्वेदी (१६१५-१६८६) का नम्बर आता है। उन्होंने चलती हुयी ब्रजभाषा में भक्ति मूलक सरस रचनायें की। वैसे तो उन्होंने अनेक मोटे-मोटे ग्रंथों की रचना की है परन्तु 'कुब्जा पचीसी' उनमें सबसे प्रसिद्ध रचना है।

ब्रज वाणी के पुराने उपासकों में श्रीधर पाठक (सं० ११६६-१६८५) भी थे। उनकी प्रतिभा समस्या पूर्तियों के रूपों में प्रस्फुटित न होकर स्वतंत्र रूप से विकसित हुयी। पाठक जी सिक्रेटरिएट के एक विभाग में सुपरिटेन्डेन्ट थे जिसके कारण उन्हें सरकारी काम की वजह से शिमला और नैनीताल में ही अधिक रहना पड़ता था। वहाँ के नैसर्गिक वातावरण से आप प्रकृति सुन्दरी की ओर आकर्षित हुये और उसके सुखमय रूपों का उन्होंने अपनी रचनाओं में हृदय हारी वर्णन किया। प्रकृति के अनुरंजन कारी दृश्यों को लेकर उन्होंने जो कवितायें लिखी हैं वे हमारे साहित्य की अनमोल निधियाँ हैं। मनुष्य, प्रकृति, पशु, पक्षी, आदि सबको उन्होंने अपनी कविता का विषय बनाया। वे स्वतन्त्र विचारों के काव्य-श्रोता थे। बसंत, काश्मीर वर्णन, हिमालय वर्णन, धन विजय आदि प्राकृतिक विषयों पर उन्होंने बड़ी सफलता से लेखनी उठाई। बाल विवाह, भारतोत्थान, भारत प्रशंसा, मातृ भाषा महत्व, आदि की भी उन्हें चिन्ता थी। वैसे उन्होंने 'जार्ज बन्दना' भी की है। उन्होंने ब्रज भाषा के नवीन रूप में कविता लिखी है; इसीलिये वह खड़ी बोली भी अलग नहीं मालूम पड़ती। ऐसी ही भाषा में उन्होंने गोल्ड स्मिथ के 'डेज़र्टेड विलेज' का अनुवाद किया। उसकी बानगी देखिये—मूल—

As some tall cliff. that lifts its awful form Swells from the vale and mid way leaves the storm, Though round its breast the rolling clouds are spread Eternal Sun shine settles on its heads. —अनुवाद

जिमि कोउ पर्वत शृङ्ग तुङ्ग दीरघ तन ठाड़ौ।
उठ्यो खड्ड सों रहै, बवंडर बीचहि-छाँडौ।
यदपि तासु वक्षस्थल, दल बादल कोलाहल
भाल विराजै सदा भानु आभा दुति उज्वल।

उनकी भाषा संयत, परिमार्जित और प्रवाह गुण युक्त है। अंलकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हुआ है। कहीं कहीं 'तव' के स्थान पर 'तु' का प्रयोग मिलता है। लेकिन उनकी भाषा का सबसे बड़ा गुण है माधुर्य। खड़ी बोली आन्दोलन के समय पाठक जी ने उसी का समर्थन किया।

खड़ी बोली के महाकवि अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने ब्रज भाषा के ही माध्यम से अपना कवि जीवन प्रारम्भ किया। उनका जन्म वैशाख कृष्ण ३ सं० १६२२ को निजामाबाद जिला आजमगढ़ में हुआ था। पाँच वर्ष की अवस्था में उनकी पाटी पूजी गयी। आरम्भ में उन्होंने फारसी पढ़ी। सं० १६३६ में स्थानीय तहसीली स्कूल से मिडिल स्कूल की परीक्षा ससम्मान पास की। फल स्वरूप छात्र वृत्ति भी मिली और वे काशी क्वीन्स कालेज में आगे पढ़ने के लिये चले आये। उनका स्वास्थ ठीक नहीं रहा करता था जिसके कारण उनके स्कूली अध्ययन का क्रम टूट गया।

सं० १६३६ में उनका विवाह हो गया। आर्थिक कठिनाइयाँ सामने आने लगीं इसलिये विवश होकर उन्होंने १६४१ में नौकरी कर ली। सर्व प्रथम वह निजामाबाद के तहसीली स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुये। १६४४ में उन्होंने नार्मल की परीक्षा पास की। कुछ दिनों के बाद स्कूल की नौकरी छोड़कर वे कानूनगो हो गये। उपाध्याय जी बड़े ही अध्यवसायी पुरुष थे अतः वे अल्पकाल में ही रजिस्ट्रार कानूनगो, सदर नायब कानूनगो, तथा सदर कानूनगो हो गये। इन पदों पर ३४ वर्षों तक सफलता पूर्वक काम करने के पश्चात् उन्होंने पेन्शन लेकर साहित्यकार का जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। अपने लड़कपन में ही पंडित जी निजामाबाद के सिक्खों के महन्त बाबा सुमेर सिंह के सम्पर्क में आ गये थे। बाबा जी ब्रज भाषा के अच्छे जानकार थे। उन्होंने निजामाबाद में कवि समाज की स्थापना की थी। इसी समय उपाध्याय जी ने अपना नाम 'हरिऔध' रक्खा और साहित्य साधना के लिये शपथ ली। बाबा जी के सम्पर्क में आकर उन्होंने ब्रज भाषा का डट कर अध्ययन किया और सरकारी

नौकर हो जाने पर भी उनका अध्ययन तथा लेखन निरन्तर जारी रहा। सं० १९८० में वे काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अवैतनिक अध्यापक के रूप में काम करने लगे। सं० १९९८ में उन्होंने अवकाश ले लिया। वहाँ से आकर वे स्थायी रूप से निजामाबाद में रहने लगे। सत्रह वर्ष की अवस्था से ही इन्होंने लिखना शुरू कर दिया था परन्तु खड़ी बोली का आन्दोलन आरम्भ होने पर उन्होंने उसी का साथ दिया। फिर भी ब्रज भाषा में कुछ न कुछ लिखते रहे। सं० २००४ में उनका गोलोक वास हो गया।

अयोध्या सिंह जी का जितना अधिकार खड़ी बोली पर था उससे कम ब्रज भाषा पर नहीं। यद्यपि उनकी ब्रज भाषा में वह प्रौढ़ता नहीं पायी जाती जो आगे चलकर रत्नाकर जी की रचनाओं में लक्षित होती है। जो कुछ हो उन्हें ब्रज भाषा की प्रकृति का अच्छा ज्ञान था। रस और नायिका भेद पर उन्होंने 'रस कलश' नामक एक उत्कृष्ट ग्रंथ लिखा इसमें नायिकाओं के अनेक नये भेद किये गये हैं। देश प्रेमिका का एक उदाहरण लीजिए—

नयन मैं नयन-बिमोहन सुमन छबि
मन में बसति मधु-माधव-मधुरिमा,
कबि कल-कंठिता है, बिलसति कानन मैं,
आनन हैं अमित महानन की महिमा
'हरिऔध' धी मैं, धमनीन में बिराजति हैं
बसुधा-धवल, कर, कीरति, धवलिमा,
अंग अंग में हैं अनुराग-राग अंगना के
रोम रोम में है रमी भारत की गरिमा।

ब्रज भाषा की अधिकांश कवितायें उन्होंने कवित्त शैली में ही लिखे हैं। इसके पूर्व उन्होंने उर्दू छन्दों और ठेठ हिन्दी में कुछ रचनायें की थीं जिसका थोड़ा बहुत प्रभाव ब्रज भाषा पर भी पड़ा है। ब्रज भाषा काव्य में इनकी दो शैलियाँ दीख पड़ती हैं। उर्दू की मुहाविरेदार और हिन्दी की रीति कालीन शैली जिस पर उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है।

इसी समय भारतेन्दु के फुफेरे भाई राधाकृष्ण दास (ज० सं० १९२२) भी भारतेन्दु के काम को आगे बढ़ा रहे थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। कवि, आलोचक, नाट्यकार आदि सभी कुछ। रहीम के दोहों के आधार पर

उन्होंने सुन्दर दोहों की रचना की। बाबू श्यामसुन्दर दास के सम्पादकत्व में 'राधाकृष्ण ग्रंथावली' के अंतर्गत उनकी रचनायें संगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त बाबू ब्रज रत्न दास के पास उनकी बहुत सी अप्रकाशित रचनायें पड़ी हुयी हैं।

राधा कृष्ण दास जी के एक वर्ष पश्चात् ही आधुनिक ब्रज भाषा काव्य के अत्यन्त प्रसिद्ध कवि रत्नाकर का जन्म भादो सुदी पंचमी को काशी में हुआ था। वे एक सम्पन्न और प्रतिष्ठित अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुये थे। उनके दादा परदादा मुगलों के समय में उच्च पदों पर प्रतिष्ठित थे। उनके पिता पुरुषोत्तम दास भी फारसी और हिन्दी कविता से अनुराग रखते थे। उनके यहाँ कवियों का जमघट लगा रहता था। वे भारतेन्दु जी के कवि समाज में भी जाया करते थे, इससे जगन्नाथ दास जी को भी उनके सम्पर्क में आने का मौका मिला। धीरे-धीरे उनके बाल हृदय में भी कविता के प्रति रुचि जागृत होने लगी। उन्होंने विद्यार्थी अवस्था से ही अपनी प्रतिभा का परिचय देना प्रारम्भ किया जिसकी प्रशंसा स्वयं भारतेन्दु जी ने उनके पिता से की थी।

उनकी शिक्षा दीक्षा काशी में ही हुयी। उस समय फारसी का बड़ा जोर था इसलिये उन्हें भी फारसी का ही अध्ययन करना पड़ा। बाद को उन्होंने हिन्दी भी सीखी। १८९१ में उन्होंने फारसी लेकर बी० ए० पास किया। एम० ए० में भी फारसी ली थी परन्तु किसी कारण वश अंतिम परीक्षा में न बैठ सके। इसके पश्चात् १९०० ई० के लगभग उन्होंने आवागढ़ में नौकरी कर ली परन्तु स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण उन्होंने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया और काशी चले आये। कुछ दिनों के बाद वे अयोध्या नरेश के प्राइवेट सिक्रेटरी होकर चले गये। १९६० में महाराज की मृत्यु हो गयी और वे महारानी के प्राइवेट सिक्रेटरी बने रहे। इन पदों पर रहकर उन्होंने योग्यता पूर्वक काम किया। आषाढ़ सौर ७ स० १९८९ को हरिद्वार में ही रत्नाकर जी ने गंगा लाभ किया।

हिन्दी में उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। हिंडोला, साहित्यरत्नाकर, घनाक्षरीनियम रत्नाकर, हरिश्चंद्र, शृंगार लहरी, गंगा विष्णु लहरी, रत्नाष्टक, बीराष्टक, गंगावतरण, कल-काशी तथा उद्धवशतक। 'गंगावतरण' महारानी अयोध्या की प्रेरणा से लिखा गया था। जब वह अधूरा था, तभी उन्होंने उस पर एक हजार का पुरस्कार दिया था जिसे रत्नाकर जी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा को

दान दे दिया। इसी ग्रन्थ पर हिन्दुस्तानी एकेडमी ने भी पाँच सौ का पुरस्कार दिया था; उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त उनकी फुटकल रचनायें भी हैं। उन्होंने चन्द्रशेखर के हमीर हठ, कृपाराम की हित तरंगिणी, और दूलह के कंठाभरण का भी सम्पादन किया। पोप के एसेज़ आन क्रिटिसिज्म (Essays on Criticism) का रोला छन्दों में अनुवाद किया। अपने साथियों के सहयोग से उन्होंने 'साहित्य-सुधा-निधि' नामक मासिक पत्र भी निकाला था। इसमें वे नियमित रूप से कुछ न कुछ लिखा करते थे। उन्होंने 'बिहारी-रत्नाकर' के नाम से बिहारी के दोहों की बड़ी ललित टीका की। 'सूर-सागर' के शुद्ध संस्करण के सम्पादन का भार भी उन्होंने लिया था पर बीच में ही वह चल बसे।

उनका काव्य शुद्ध पौराणिक काव्य है। हरिश्चन्द्र, गंगावतरण तथा उद्धवशतक आदि कृतियाँ प्राचीन युग का उच्च आदर्श उपस्थित करती हैं। हरिश्चन्द्र में सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा है। गंगावतरण में सगर के पुत्रों का पाताल-प्रवेश और गंगा का स्वर्ग से आने की कथा, उद्धवशतक में गोपी-ऊधो संवाद का मार्मिक वर्णन है। यह उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। भावों की मौलिकता और उक्तियों की नवीनता इसकी विशेषता है। भावना की भावुकता से भरा हुआ यह इस युग का सवश्रेष्ठ कृष्ण-काव्य-ग्रन्थ है। फुटकल पदों में उन्होंने ऋतु सम्बन्धी अष्टक लिखे हैं। अभी तक ब्रजभाषा काव्य में प्रकृति के जितने सुन्दर चित्र उतारे गये थे, रत्नाकर के ये चित्र उनसे बाजी मार ले जाते हैं। उनकी कला भी इन अष्टकों में निखरी हुयी दिखलायी पड़ती है।

रत्नाकर भावलोक के कुशल चितेरे हैं। भावनाओं के चित्रण के साथ ही साथ उन्होंने क्रोध, प्रसन्नता, उत्साह, शोक, प्रेम, घृणा आदि से उत्पन्न होने वाली विभिन्न प्रकार की वाह्य चेष्टाओं के अत्यन्त सुन्दर, सजीव और आकर्षक तस्वीर उतारे हैं। उनकी निरीक्षण शक्ति अपूर्व है। वे किसी दृश्य का काल्पनिक चित्र नहीं खींचते। इस ओर उनकी कला अत्यन्त सजीव और जागरूक है।

उनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है जिसको उन्होंने स्वयं गढ़ा है। यह सच है कि उनके पूर्व द्विजदेव और हरिश्चन्द्र ने उसका संस्कार किया था फिर भी उससे उनके भावों की ठीक से अभिव्यक्ति नहीं हो पाती थी। वे अंग्रेजी, फारसी और उर्दू के विद्वान थे इसीलिये ब्रजभाषा के संस्कार में उन्होंने सभी विधियों से काम लिया। भाषा की स्वतंत्र प्रकृति का पूरा ध्यान रखते हुये वे उसे एक

अत्यन्त मधुर भाषा बना देना चाहते थे। उन्होंने ब्रजभाषा के घिसे घिसाये प्राचीन शब्दों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर निकाला और बोल चाल के प्रचलित शब्दों को उसमें स्थान दिया। मुहाविरे और लोकोक्तियों की पुनः सुधि ली गयी। भाषा के उस जौहरी ने परिस्थितियों के अनुसार शब्दों का इस ढंग से चयन किया है कि आन्तरिक भावों को समझ लेने में तनिक भी कठिनाई नहीं पड़ती। देखिये न,

सुन सुरपति अति आतुरता जुत कह्यौ जोरिकर
कौन भूप हरिचन्द ? कहौ हमसहुँ कछु मुनिवर
"सुनहु सुनहु सुरराज" कहयौ नारद उछाह सौं
ताकी चरचा करन माँह चित चलत चाह सौं

इसका प्रसाद गुण देखने योग्य है। उर्दू का लालित्य और ब्रजभाषा का माधुर्य एक स्थान पर एकत्र हो उठा है।

उन्होंने अपनी आँखों से तीन काल देखा था। खड़ी बोली के तूफान में भी रत्नाकर जी पर्वत सदृश्य खड़े रहे। उनके ऊपर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। ब्रजभाषा के प्रति उनके मन में अगाध प्रेम था। वे उसके शब्दों के मर्म तक को पहचानते थे। उन्होंने अंग्रेजी की लाक्षणिकता का भी प्रयोग किया परन्तु अपने ढंग पर। उसकी वक्रता भी उनकी रचनाओं में उभर आई लेकिन कोई माई का लाल उस पर विदेशी प्रभाव को सिद्ध नहीं कर सका। भाषा में मुहाविरों के काव्योचित सामंजस्य के साथ उन्होंने भाषा की शक्ति और सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया। लोकोक्तियों की पर्याप्त योजना की और शैली को उत्कृष्ट तथा प्रवाह पूर्ण बना दिया। उदाहरण स्वरूप लोकोक्तियों की योजना निम्नांकित छन्द में देखने योग्य है।

जोगिनि की भोगिनि की विकल वियोगिनि की
जग में न जागती जमातैं रहि जाइँगी।
कहैं रतनाकर न सुख के रहे जो दिन
तौ मे दुख द्वन्द की न रातैं रहि जाइँगी॥
प्रेम नेम छाड़ि ज्ञान छेम जो बतावत सो
भीति ही नहीं तौ कहा छातैं रहि जाइँगी।
घातैं रहि जाइँगी न कान्ह की कृपा तैं इती
ऊधो कहिबे को बस बातैं रहि जाइँगी॥

अलंकारिक विधान की एक संयत और कला पूर्ण शैली भी इनकी कविताओं में देखने को मिलती है। प्रकृति के रमणीय दृश्यों को चुन कर वे उनसे उपमान का काम लेते थे। अलंकारों की चित्रोपमता के लिये उन्होंने वस्तू-त्प्रेक्षा की दृश्यों की संश्लिष्ट योजना करते समय उनका एक अप्रस्तुत विधान देखिये—

जल सों जल टकराइ कहूँ उच्छरत उमंगत
पुनि नीचे गिरि गाजि चलत उत्तंग तरंगत।
मनु कागदी कपोत गोत के गोत उड़ाये
लरि अति उँचै उलटी गोति गुथि चलत सुहाये॥

भावों का विरोध करने वाले या पाठकों का ध्यान बहुत दूर तक खींच ले जाने वाले उपमान तो उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होते ही नहीं। अंग्रेजी साहित्य में एक अलंकार है आनोमोटोपिया (onomotopea) टेनीसन इसके लिये अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में इस प्रकार का अलंकार नहीं मालूम पड़ता। इसमें शब्दों की इस प्रकार योजना की जाती है कि वे प्रस्तुत ध्वनि का आभास देने लगते हैं। रत्नाकर जी ने इसका भी बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है। नीचे, ऊपर, उतरता, चढ़ता हुआ गंगा का प्रवाह ध्वनि कर रहा है। उसकी ध्वनि निम्नांकित पंक्ति में सुनिये—

"फाँदति, फैलति, फटति, सटति, सिमटति सुढग सौ" इस प्रकार के राशि राशि चमत्कार विभिन्न स्थलों पर मिलेंगे। प्रकृति के दृश्यों का मानव हृदय के साथ अलंकारिक सामंजस्य स्थापित करने में रत्नाकर जी की सूझ अद्भुत थी। वीर रस के वर्णन में प्राचीन प्रथा के अनुसार अपभ्रंश काल की द्वित्व वर्ण वाली उग्र पदावली का पल्ला उन्होंने कभी नहीं पकड़ा, फिर भी रत्नाकर जी ने उग्र भावों की काव्योचित स्थापना की। उर्दू के ढंग की प्रेम-पीड़ा वाली कवितायें भी उन्होंने लिखी हैं।"जब मन लाग जात काहू निरमोही सों" वाली कविता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

उनकी भाषा में व्याकरण के दोष नहीं मिलते। ब्रज भाषा का गंभीर अध्ययन करने के उपरान्त उन्होंने भाषा का जो रूप स्थिर किया, उसका आद्यान्त निर्वाह भी किया। सचमुच ब्रज भाषा के सम्पूर्ण कवियों में रत्नाकर जी की सी प्रतिभायें ढूँढने पर एक ही दो मिलेंगी।

इसी काल में 'दीन' जी (सं० १९२३—१९८७) भी ललित कविताओं की माला लेकर ब्रज भाषा की ओर बढ़े और उसे अलंकृत किया। 'बीर पंचरत्न' 'नवीन बीन' और 'दीन' उनके काव्य ग्रंथ हैं। जिनमें विभिन्न विषयों पर बड़ी सरस और धार्मिक कवितायें संगृहीत हैं उनकी भाषा सरल होते हुये भी भावों को पूर्णतः वहन करने में समर्थ है। शैली अलंकृत और कला पूर्ण है। 'चमत्कार' उनको बड़ा प्रिय था। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'अलंकार मंजूषा' तथा 'व्यंग्यार्थ मंजूषा' लिखकर हिन्दी को दो सुन्दर रीति ग्रंथ भी दे डाले हैं। लाला जी संकलनकर्त्ता और टीकाकार के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। केशव कौमुदी, प्रिया प्रकाश, बिहारी बोधिनी, तथा सूक्ति सरोवर उनके टीका ग्रन्थ हैं। सूर पंचरत्न और केशव पंचरत्न में क्रमशः सूर और केशव की रचनाओं का संग्रह है।

राय देवी प्रसाद पूर्ण (सं० १९२५-१९७१) भी इसी समय कानपुर में रसिक समाज का नेतृत्व कर रहे थे। उनकी कविताओं के दो रूप हैं। पुराने ढंग की और नये ढंग की। पुराने ढंग में शृंगार, भक्ति, वेदान्त, तथा ऋतु वर्णन सम्बन्धी कवितायें हैं और नये ढंग में देश भक्ति सम्बन्धी रचनाओं को लिया जा सकता है। ऋतु वर्णन में उनकी तुलना सेनापति से की जा सकती है। भावुक हृदय पर ऋतुओं के जो भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़े हैं उनका काव्योचित ढंग से वर्णन कर दिया गया है। शृंगार रस की रचनायें उन्होंने बहुत कम कीं फिर भी जो कुछ हैं वे अपनी भावपूर्णता तथा सरसता के लिये प्रख्यात हैं। हाँ उनमें नवीनता और मौलिकता नहीं है। इसका कारण यह है कि उस प्रकार की कविताओं में उनकी रुचि नहीं थी वे तो केवल परम्परा पालन के लिये ही लिखे जाते थे। प्रकृति, भक्ति तथा वेदान्त से सम्बन्धित रचनायें सुन्दर बन पड़ी हैं। भक्ति विषयक रचना का एक उदाहरण लीजिये—

कैंधो अटके हो, सबरी के बेर चाखन में
कैंधो भक्त नरसी की हुन्डी के सकारन में।
जूटे हौ अजामिल कै गनिकै उधारन में
कैंधो मुनि गौतम की अंगना कौ तारन में॥
कैंधो स्याम करत, हतत खरदूसन को
लागे कुम्भ कर्न कैंधो रावनै संघारन में।

पतति उधारन ! हाँ करुना जलधि नाथ
बार क्यों लगाई मेरी विपत्ति विदारन में ॥

पूर्ण जी गौ रक्षा के बड़े भारी पक्षपाती थे। स्वदेशी वस्त्र व्यवहार का उप-देश भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। उनकी भाषा शुद्ध ब्रज भाषा है। भाषा के जिस प्रकार के रूपों को उन्होंने प्रारम्भ में प्रयुक्त किया उसका निर्वाह अपने काव्य में सर्वत्र किया है। उसमें किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं है।—च्युत-संस्कृति के दोष कम है। संयत शैली से भाषा को सजाया गया है। अप्रस्तुत विधान भी कला पूर्ण है। देवी प्रसाद जी बड़े सफल अनुवादक भी थे। उन्होंने 'धराधर धावन' शीर्षक के अंतर्गत मेघदूत का बड़ा सफल अनुवाद किया है।

पं० सत्य नारायण कविरत्न(सं० १९४१-१९७५) ब्रज भाषा के क्षेत्र में 'ब्रज कोकिल' के नाम से विख्यात हैं। वास्तव में वे अपनी कविताओं में कोयल की तरह कूकते थे। उनके कविता-पाठ का ढंग अत्यन्त मोहक था। कवीन्द्र रवीन्द्र तथा स्वामी रामतीर्थ भी उनकी पाठ-शैली पर मुग्ध हो उठे थे। उनकी पारिवारिक परिस्थितियों ने उन्हें जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त चैन न लेने दिया। इसीलिये उनकी रचनाओं में दुःख, अशान्ति और निराशा के दर्शन होते हैं। उनकी मुक्तक कविताओं का संग्रह हृदय तरंग में संगृहीत है। इसी में उनका भ्रमर-दूत नामक काव्य भी है। सरसता, सहृदयता, तथा स्वाभाविकता इस काव्य ग्रन्थ की जान है। सत्यनारायण जी ने संस्कृत के उत्तर रामचरित, मालती माधव तथा अँग्रेजी देशभक्त होरेशस का हिन्दी में अनुवाद किया। वे कृष्ण के अनन्य भक्त थे। ब्रजभूमि में अधिक दिनों तक रहने का उन्हें सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था अतः उनकी भाषा बड़ी ही मंजु और मृदुल बन पड़ी है। वह प्रसाद गुण युक्ता तो है परन्तु ठेठ होने के कारण अन्य प्रान्त के लोगों को कम समझ में आती है।

इसी समय हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक पं० रामचंद्र शुक्ल भी ब्रजभाषा में सुन्दर कवितायें लिख रहे थे। उनका जन्म बस्ती जिलान्तर्गत अगोना नामक ग्राम में सं १९४१ की आश्विन पूर्णिमा को हुआ था। उनके पिता पं० चन्द्रबली शुक्ल सं० १९४५ में हमीरपुर जिले में सुपरवाइजर कानूनगो थे। वहीं पर पं० रामचन्द्र शुक्ल की प्रारम्भिक शिक्षा आरम्भ हुयी। उन्होंने आठवीं तक उर्दू फारसी पढी। हिन्दी के प्रति उनका सदैव से अनुराग था पिता की इच्छा के

विरुद्ध भी वह हिन्दी की कक्षाओं में जाकर पढ़ते थे। सं १६४६ में उनके पिता सदर कानूनगो होकर मिर्जापुर चले आये और वहीं के जुबिली स्कूल में उर्दू के माध्यम से अँग्रेजी पढ़ने लगे। सं० १६५५ में उन्होंने वहीं से मिडिल पास किया। सं० १६५८ में लन्दन मिशन स्कूल से मैट्रिक परीक्षा पास करके कायस्थ पाठशाला में एफ० ए० में नाम लिखाया। उस समय एफ० ए० में गणित की शिक्षा अनिवार्य थी। वे गणित में कमजोर थे इसलिये पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। इसके पश्चात् उन्होंने कानून पढ़ना शुरू किया परन्तु उसमें भी सफलता न मिल सकी। शिक्षा समाप्त करके उन्होंने सरकारी नौकरी कर ली। शुक्ल जी ने नायब तहसीलदारी की भी परीक्षा पास कर ली थी परन्तु प्रकृति के अनुकूल न होने के कारण उन्होंने सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दे दिया। इससे परिवार के लोग रुष्ट हो गये। लाचार होकर १६६५ वि० में उन्होंने स्थानीय मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर का पद स्वीकार कर लिया। सं० १६३३-६७ के लगभग वे नागरी प्रचारिणी सभा में हिन्दी-शब्द सागर में काम करने चले गये। वहीं उनकी प्रतिभा विकसित हुयी। 'हिन्दी शब्द सागर' के सम्बन्ध में उनका कार्य अत्यन्त सराहनीय था। लोगों पर उनकी योग्यता की धाक जम गयी। इसके पश्चात् उन्होने सभा के अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, लिख कर शुक्ल जी अमर हो गये।

कोश का काम समाप्त करके वे काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में काम करने लगे। वहाँ पर रह कर उन्होंने हिन्दी की खूब सेवा की। हिन्दी का स्तर ऊँचा किया। उनके समय में श्याम सुन्दर दास जी हिन्दी के अध्यक्ष थे। उनके अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् शुक्ल जी को यह सम्मान प्राप्त हुआ। शुक्ल जी अधिक परिश्रम करने के कारण अस्वस्थ रहा करते थे। उन्हें श्वास का रोग था। सं० १६६७ की माघ सुदी ६ रविवार की रात को ६ बजे के लगभग श्वास के दौरे के बीच सहसा हृदय की गति बंद हो जाने के कारण उनका देहावसान हो गया।

ब्रजभाषा में स्फुट मुक्तक कवितायें लिखने के अतिरिक्त उन्होंने लाइट आॅव एशिया (Light of Asia) का अनुवाद बुद्ध चरित के नाम से किया! उसमें उनकी भावुकता और सहृदयता जैसे मूर्त हो उठी है। करुण रस की कवितायें तो बहुत ही भाव पूर्ण बन पड़ी हैं। उन्होंने प्रकृति के भी बहुत ही सटीक

चित्र उतारे हैं। उनका प्रकृति वर्णन हिन्दी के अन्य कवियों से भिन्न है। उनके लिये प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता है। प्रकृति चित्रण में न तो वे अपनी ओर से कुछ मिलाते ही हैं और न उस पर अपने भावों का आरोप ही करते हैं।

व्रजभाषा पर उनका अच्छा अधिकार है। वह बहुत ही परिमार्जित और प्रवाहपूर्ण है। उनकी भाषा व्रजभूमि में प्रचलित आज कल की भाषा से मिलती जुलती है। वह साहित्यिक भी है। भावों की सम्यक स्थापना को ही शुक्ल जी काव्य का आभूषण मानते थे अतः व्यर्थ के अलंकार उनकी रचनाओं में नहीं आ पाये हैं।

वियोगी हरि (सं० १६५३—) आधुनिक व्रजभाषा के सब से भावुक कवि हैं। भावमय भक्ति के मार्मिक उद्गार उनकी रचनाओं में मिलते हैं, जिसे पढ़ कर प्राचीन भक्त कवियों का स्मरण हो आता है। 'प्रेम शतक' 'प्रेम पथिक' और 'प्रेमाञ्जलि' में पुराने कृष्ण भक्त कवियों की पद्धति पर बहुत ही रसीले और भक्ति भावपूर्ण पदों का संग्रह प्रस्तुत किया गया है। हरिजी प्रसिद्ध देश भक्त और राष्ट्र-सेवी कवि भी हैं। देश के लिये त्याग करने वाले वीरों के लिये इनके मन में अथाह श्रद्धा है। उनकी 'वीर सतसई' इसका ज्वलंत प्रमाण है। वीररस को उन्होंने अत्यन्त व्यापक रूप में ग्रहण किया है। 'चरखे की गूँज' 'चरखा स्तोत्र' तथा 'असहयोग वीणा' में राजनैतिक आन्दोलन से प्रभावित भावनाओं की अभिव्यक्ति हुयी है। उन्होंने प्रेम विषयक कुछ कवितायें भी लिखी है, जिसमें उर्दू कवियों की व्याकुलता का स्पष्ट दर्शन होता है।

उनकी भाषा में न तो रत्नाकर की भाषा की सफाई है और न तो वैसी एक रूपता ही आ पायी है। भिन्न-भिन्न कालों में प्रयुक्त होने वाली संज्ञाओं एवं सर्व-नामों के रूपों तथा क्रिया के कालों को एक साथ रखने से भाषा का स्वरूप कुछ बिगड़ सा गया है। उनकी व्रजभाषा में कहीं-कहीं पर खड़ी बोली का भी मेल है। वे भ्रमात्मक अनुरूपता से भी शब्दों के स्वरूपों की रचना कर लेते हैं। इसी से उन्होंने "दैत हैं" को "देतु हैं" लिखा है। बेचि के लिये बैचि, सागर के लिये सायर श्मशान के लिये 'समसानु' जैसे अनेक रूप जगह-जगह मिलेंगे। सप्तमी के अर्थ में 'में' का प्रयोग किया गया है। पदों की भाषा चलती हुयी तथा मधुर है। उसमें वैष्णव भक्तों की भाषा का माधुर्य भी है। वीररस की

कविताओं में अपभ्रंश काल के द्वित्व वर्णों का प्रयोग कदाचित एक स्थल को छोड़ अन्यत्र नहीं किया गया है। दोहा लिखने में हरि जी एक ही हैं।

रावराजा डाक्टर-श्याम बिहारी मिश्र रायबहादुर एम० ए० डी० लिट् तथा रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र, 'मिश्रबन्धु' के नाम से सं० १९५५ से ही हिन्दी की सेवा करते आ रहे हैं। दोनों बन्धुओं ने ब्रजभाषा में पर्याप्त सुन्दर रचनायें की हैं। पद्य पुष्पाञ्जलि में उनका 'लवकुश-चरित्र' तथा 'भरत विनयादि' नामक प्रसिद्ध काव्यों का संग्रह है। इसके अतिरिक्त उनके टीका और सम्पादित ग्रंथों में भूषणग्रन्थावली देवसुधा, बिहारी सुधा, कविकुल कंठाभरण सूरसुधा आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। साहित्य पारिजात उनकी प्रसिद्ध काव्य शास्त्र-पुस्तक है। लवकुश चरित्र तथा भरत-विनयादि में उन्होंने विभिन्न चरित्रों का बड़ा ही सजीव, प्रभावशाली तथा साकार वर्णन किया है। उनकी ब्रजभाषा संयत और साहित्यिक है।

उनका शब्द संगठन, प्रभावपूर्ण तथा वाक्य विन्यास सुव्यवस्थित है। विषय के अनुरूप उनकी भाषा में माधुर्य, ओज तथा प्रसाद रूपों के प्रचुर मात्रा में दर्शन होते हैं।

सागर विश्वविद्यालय के उपकुलपति तथा प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डाक्टर राम प्रसाद त्रिपाठी (ज० सं० १९४६) आधुनिक ब्रजभाषा के कवियों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। यद्यपि उनकी 'मुक्तक-मंजूषा' अभी प्रकाश में नहीं आयी फिर भी उनकी स्फुट कविताओं को देखकर उनकी प्रतिभा और कवि-कर्म की कुशलता का पता लगता है। उनकी कवितायें अत्यन्त गंभीर और उच्चकोटि की हैं। पदावली प्रभावपूर्ण और मीठी है। भाषा संयत और ललित है।

दुलारेलाल भार्गव (ज० सं० १९५२) ने अपने दोहों के द्वारा बिहारी को एक बार पुनः जीवित कर दिया है। उनकी दोहावली में उनके काव्य कौशल की मर्मज्ञता प्रशंसनीय है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"बिहारी की प्रतिभा जिस ढाँचें की थी उसी ढाँचे की दुलारेलाल जी की भी है। एक-एक दोहे में सफाई के साथ रस से स्निग्ध व वैचित्र्य से चमत्कृत करने वाली प्रचुर सामग्री भरने का गुण इनमें हैं। उनके दोहों में देशभक्ति, अछूतोद्धार, राष्ट्रीय आन्दोलन ने नव जीवन प्राप्त किया है। आधुनिक काव्य क्षेत्र में उन्होंने ब्रजभाषा काव्य चमत्कार पद्धति का पुनरुद्धार किया है।

डाक्टर रामशंकर शुक्ल रसाल (ज० सं० १९५५) आधुनिक ब्रजभाषा के कवियों में अत्यन्त प्रखर प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति हैं। वे अलंकार शास्त्र के आचार्य भी हैं। 'रसाल मंजरी' उनका काव्य ग्रन्थ है। अलंकार पीयूष २ भाग, नाट्य-निर्णय, तथा अलंकार कौमुदी उनकी काव्य शास्त्र के ऊपर लिखी गयी पुस्तकें हैं। उनकी कवितायें अपनी गूढ़ता, गम्भीरता तथा अलंकारिकता के लिये प्रसिद्ध हैं। उनका वाक्य-विन्यास प्रभावपूर्ण और वैचित्र्यमय है। शब्द गुम्फन में वर्ण मैत्री और शब्द मैत्री का अत्यन्त सुन्दर रूप देखने को मिलता है। वाग् वैचित्र्य उनके काव्य का प्रमुख गुण है। भाषा संयत और व्याकरण सम्मत है।

श्री हरदयालु सिंह (ज० सं० १९५०) ने अपने 'दैत्य वंश' के द्वारा ब्रज-भाषा काव्य को एक नया रत्न दिया है। साहित्य सम्मेलन ने उन्हें इस महाकाव्य पर देव पुरस्कार प्रदान करके उनका सम्मान किया है। उनकी वर्णन शैली अत्यन्त रोचक है। कविताओं में स्वाभाविकता-सबलता है। काव्य-विन्यास सुसंगठित और रोचक है। सम्पूर्ण रचना भावपूर्ण, सरस तथा प्रभाशालिनी है। भाषा चलती हुयी तथा प्रवाह पूर्ण है।

डा० रसाल के अनुज श्री रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' (ज० स० १९६०) भी आधुनिक ब्रजभाषा के प्रमुख कवि हैं। उन्होंने 'अभिमन्यु बध' नामक एक अत्यन्त सुन्दर खण्ड काव्य लिखा है। उनकी कवितायें सरस, चमत्कार पूर्ण तथा सजीव है। भाषा सुव्यवस्थित और संयत है। ओज उसका प्रधान गुण हैं।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त पं० गया प्रसाद शुक्ल सनेही कानपुर से तथा पं० हरनाथ शर्मा वैद्य मिर्जापुर से ब्रजभाषा-काव्य-धारा का निर्मल स्रोत बहा रहे हैं। विभिन्न स्थानों में उनके शिष्य प्रशिष्य आज भी पुरानी परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं। इस प्रकार आधुनिक ब्रजभाषा काव्य में नयी और पुरानी धाराओं की गंगा जमुना साथ ही साथ बह रही हैं।

आधुनिक ब्रजभाषा काव्य के विकास पर एक दृष्टि

ब्रजभाषा काव्य का भी आधुनिक काल में विकास हुआ है। विकास की यह प्रक्रिया भारतेन्दु बाबू के ही समय से प्रारम्भ हो गयी थी। वे प्राचीन और अर्वाचीन काव्य की शृंखला के बीच की एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं। उन्होंने अपने समय में ब्रजभाषा को परिमार्जित किया और उसे समय के अनुकूल सँवार निखार कर उसकी भाव व्यंजकता बढ़ाई। उन्होंने कुछ नये विषय भी दिये

और अपने अनुयायियों को आगे बढ़ने के लिये ललकारा। लेकिन यह कार्य अल्प मात्रा में ही हो सका। वीरता, भक्ति और शृंगार की रचनायें इस समय भी दोहराई गयीं परन्तु उनमें किसी प्रकार की मौलिकता नहीं दिखायी पड़ी। वीरता और राष्ट्रीयता की भावना इस युग में व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुई। 'वियोगी हरि' की रचनायें उदाहरण के लिये प्रस्तुत की जा सकती हैं। इस काल में भक्ति के पद भी पर्याप्त संख्या में लिखे गये। निर्गुण और राम भक्ति की कवितायें तो उँगुलियों पर ही गिनने योग्य हैं परन्तु कृष्ण भक्ति मूलक पदों की बाढ़ सी दिखलायी पड़ती है। कृष्ण काव्य के विभिन्न अंगों में कृष्ण लीला काव्य की कुछ सरस और सुन्दर रचनायें हुयीं। उद्धव-गोपी सम्वाद भी कृष्ण काव्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस समय दोनों के सम्वादों में आध्यात्मिकता और तार्किकता को समुन्नत करते हुये कुछ मौलिकता का भी आभास दिया गया। डाक्टर त्रिपाठी जैसे कवियों ने कृष्ण काव्य के उन अंशों में नायक-नायिका सम्बन्धी उन भावों और भावनाओं पर भी आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के साथ प्रकाश डालने का प्रयास किया। शृंगार काव्य का यदा-कदा प्रणयन होता रहा। उसमें अंग्रेजी की लाक्षणिकता और उर्दू की तड़प उभर कर सामने आयीं। रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न, डा० रसाल तथा हरनाथ शर्मा ने शृंगार के संयोग और विप्रयोग पर मार्मिक कवितायें लिखीं। ऋतु वर्णन तथा प्रकृति चित्रण पर भी इस समय थोड़ा बहुत ध्यान दिया गया। प्रायः प्राचीन परिपाटी के आधार पर अलंकार योजना के साथ साधारण अलंकृत वर्णन किया जाता रहा। इस दिशा में कुछ कवियों ने अंग्रेजी की विशेषताओं को भी अपनाया। भारतेन्दु तथा उनकी मित्र मण्डली ने निबन्ध के रूप में अपने भावों और भावनाओं को व्यक्त किया। हरिश्चन्द्र का यमुना वर्णन इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इस क्षेत्र में भी अलंकृत वर्णनात्मक अन्योक्ति मूलक, तथा उक्ति वैचित्र्य मूलक निबन्ध काव्य लिखे गये। रत्नाकर ने भी ऋतु वर्णन की परिपाटी में आधुनिकता और मौलिकता का समावेश किया। इस काल के पूर्वार्द्ध तक तो प्रकृति चित्रण प्राचीन रूप में ही चलता रहा परन्तु प्राकृतिक दृश्यों, स्थलों और वस्तुओं आदि का आलम्बन के रूप में श्रीधर पाठक, रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न; तथा लाला भगवान दीन ने अच्छा चित्रण किया। इन लोगों ने कुछ तो अत्यन्त सुन्दर निबन्ध काव्यों की रचना की। निबन्ध काव्य उस

काव्य को कहते हैं जिसमें किसी प्राकृतिक दृश्य अथवा वस्तु पर काव्योचित ढंग से पदात्मक निबंध लिखा जाय। श्रीधर पाठक की काश्मीर सुषमा, दीन का रामगिर्याश्रम और मेघ स्वागत तथा सत्यनारायण कविरत्न का बसंत स्वागत इसी प्रकार की रचनायें हैं।

इस काल के प्राथमिक भाग में विचार धारा, और रचना शैली में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। प्रायः प्राचीन विषय प्रचलित प्राचीन परिपाटी के आधार पर ही न्यूनाधिक विशेषता के साथ लिखा जाता रहा। लेकिन वर्ण्य विषय में सिद्धान्त सम्बन्धी विशेषता लाते हुये उसे नव साज सज्जा से सजा दिया गया।

रत्नाकर और सत्य नारायण ने बड़े वाग्वैदग्ध्य के साथ भावों और भावनाओं में नूतनता का संचार किया। इस काल में रीति-ग्रन्थों की भी थोड़ी बहुत रचना होती रही परन्तु कोई विशेष मौलिकता इस क्षेत्र में भी नहीं दिखायी पड़ी। खड़ी बोली गद्य का आविर्भाव इस काल की प्रमुख घटना है। गद्य के अत्यधिक प्रचार के कारण गद्यात्मक रीतिग्रन्थ भी लिखे गये। लक्षण ग्रन्थों के उदाहरण में कुछ लोगों ने नवीनता का भी परिचय दिया। हरिऔध ने अपने 'रस-कलश' में देश प्रेमिका, जाति प्रेमिका, धर्म प्रेमिका, परिवार प्रेमिका जैसी नायिकाओं की उद्भावना की। हाँ! यह उन्होंने अवश्य नहीं बतलाया कि ये नायिकायें किन रसों के लिये उपयुक्त हैं। डाक्टर रसाल ने नाट्य शास्त्र के नियमों को छन्द बद्ध किया। इस प्रकार प्राचीन परिपाटी का पालन होता रहा। वर्तमान काल को कुछ नयी पद्धतियों और विचार धाराओं को भी कुछ कवियों ने अत्यन्त सुन्दरता के साथ अपनी कविताओं में स्थान दिया। रहस्यवाद छायावाद और प्रतिबिम्बवाद के वास्तविक मर्मों को लेते हुये हरिऔध जैसे कवियों ने सुन्दर रचनायें की। डा० त्रिपाठी और मिश्र बन्धुओं ने आध्यात्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों को अत्यन्त मोहक तार्किक और मौलिक रूप में काव्योचित ढंग से आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार वीरता, भक्ति, धर्म, शृंगार, नायक नायिका चित्रण तथा ऋतु वर्णन कवियों के लिये व्यापक विषय रहे और इन्हीं में से थोड़े बहुत अंतर के साथ लोग लिखते रहे।

आधुनिक काल में काव्य-कला सम्बन्धी किसी नये कौशल का दर्शन नहीं होता। इसलिये कहने में तनिक भी संकोच नहीं हो सकता कि भाव, कल्पना और कला कौशल की दृष्टि से तत्कालीन रचनायें साधारण कोटि की ही हैं।

अधिकतर कवि आज भी प्राचीन परम्परागत प्रचलित भावों का पृष्ट-पोषण मात्र करते हैं। हाँ! रत्नाकर ने भावोत्कर्ष की वृद्धि की, काव्य कला-कौशल की समृद्धि की, उक्ति वैचित्र्य को आगे बढ़ाया, वाग्वैदग्धता के साथ, भाषा में विशद व्यंजकता और रचना-रंजकता का समावेश किया। अर्थगांभीर्य तथा कोमल कान्त पद लालित्य की ओर आधुनिक कवियों ने अपेक्षा कृत अधिक ध्यान दिया। चमत्कार-चातुर्य से कुतूहल प्रियता की मनोवृत्ति को कुरेद कुरेदकर जगाने तथा तज्जन्य आनन्द की ओर ले चलने की ओर उनकी रुचि अधिक दिखलायी पड़ी। भावों की सूक्ष्मता, विचारों की गूढ़ता और गंभीरता तथा सैद्धान्तिक मार्मिकता के साथ काव्य को अत्युत्कृष्ट बनाने की ओर अनेक कवियों ने स्तुत्य प्रयास किया। हिन्दी तथा संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी, उर्दू और फारसी की विशेषताओं से लाभ उठाया गया। इससे ब्रज भाषा काव्य में सरलता, रम्यता और गम्भीरता आ गयी।

समस्या पूर्ति की प्रणाली भी थोड़ी बहुत चलती रही। काशी और कानपुर के कवि समाजों में इस अभाव की पूर्ति होती रही। पूर्ववर्ती कालों की प्रमुख शैलियाँ और छन्द इस समय भी प्रचलित रहे। रत्नाकर और सरस ने कवित्त-रचना शैली में नयी विशेषता उत्पन्न की और कवित्त की गति का ऐसा परिष्कार किया कि वह त्वरा और मंथर गति में समान रूप से पढ़ी जा सके। कवित्त छन्द के द्वारा एक ऐसी नवीन प्रकार की काव्य रचना शैली का प्रयोग किया गया जिसमें एक साधारण घटना अथवा कथा भी चलती रहे और रचना का प्रत्येक कवित्त मुक्तक के समान स्वतः पूर्ण और स्वतंत्र भी रहे। उद्धव शतक और अभिमन्यु बध, इसके सफल उदाहरण हैं। जिन लोगों ने नन्ददास के 'भ्रमर गीत' का इस काल में भी अनुकरण किया था, उसमें सत्य नारायण कविरत्न का 'भँवर गीत' सर्वोत्कृष्ट है। विविध छन्दात्मक शैली को लेकर लिखे गये प्रबन्ध काव्यों में हरदयालु सिंह का 'दैत्य वंश' अत्यन्त सफल रचना है।

प्राचीन सतसई शैली पहले तो खूब चली थी पर बीच में रुक सी गयी थी परन्तु इधर कुछ कवियों ने सतसइयों के प्रणयन में नये उत्साह का परिचय दिया। इस ओर वियोगी हरि की 'बीर सतसई' और रामचरित उपाध्याय की ब्रज सतसई मुख्य हैं। शतकत्रय और शतकत्रय की परिपाटी में दुलारे लाल की दोहावली प्रमुख है। शतक पद्धति के आधार पर रत्नाकर का उद्धव शतक और

सरस का 'अभिमन्यु वध' लिखा गया। इसके अतिरिक्त रत्नाकर ने आठ-आठ और पाँच-पाँच के स्तवक बनाकर अष्टम और पंचम-शैलियों की पुनः प्राण प्रतिष्ठा की। गीत और पद शैली भी चलती रही। प्रेमघन, सत्यनारायण कविरत्न तथा वियोगी हरि ने सुन्दर पदों की रचना की। सूक्ष्म कथा काव्य (Short story poetry) की जो परिपाटी प्राचीन कवियों ने मुक्तक काव्य के क्षेत्र में प्रारंभ की थी उसी परिपाटी पर इस काल में भी सुन्दर रचनायें हुयीं। हाँ! किसी ने कूट काव्य और चित्र काव्य की रचना का सफल प्रयास नहीं किया। कुछ लोगों ने वर्णनात्मक और कथात्मक काव्य भी सफलता पूर्वक लिखे परन्तु इसका आगे विकास न हो सका। प्रेमघन और प्रताप नारायण मिश्र ने स्त्री-समाज और गायक समाज में गाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के रागों और रागिनियों वाले जिन गीतों की रचना की थी उसे आगे चलकर किसी ने बढ़ाया नहीं। इस समय लगभग सभी रसों पर थोड़ी बहुत रचना होती रही परन्तु प्रधानता वीर, शान्त और शृंगार रसों की ही रही। प्राचीन काल में शृंगार, भक्ति और नीति की कविताओं के लिये सतसई शैली का उपयोग किया जाता था, इस काल में भी उसी का पृष्ट-पोषण हुआ। वियोगी हरि की वीर सतसई, राम चरित उपाध्याय की ब्रज सतसई, तथा दुलारे लाल भार्गव की दोहावली प्राचीन परिपाटी को ही सूचिका हैं। इस बार सबसे प्रमुख प्रवृत्ति जो दिखलायी पड़ी वह भाव, भावना और कल्पना को नये ढंग से प्रकाशित करने की।

भारतेन्दु ने अपने समय में भाषा का जो संस्कार कर दिया था, उसके पश्चात् उसमें साहित्यिक सौष्ठव तथा समुत्कर्ष लाने तथा उसकी भाव-व्यंजकता बढ़ाने की ओर किसी ने रुचि न दिखायी। उसमें एक रूपता लाने तक का किसी ने प्रयास नहीं किया। इस युग के कवियों ने ब्रज भाषा में सरलता स्पष्टता और सुबोधता लाने का विशेष प्रयास किया। इसी समय ब्रज भाषा में संस्कृत शब्दों की पर्याप्त योजना की गयी जिससे वह उत्कृष्ट और साहित्यिक हो गयी। उसमें गंभीरता और गूढ़ता आ गयी। उसकी व्यापकता बढ़ गयी। अब उसे अन्य प्रान्त के लोग भी आसानी से समझ सकते हैं। श्रीधर पाठक, हरिऔध, और रत्नाकर की भाषा इसी प्रकार की है। भाषा मिश्रण की परिपाटी भी कवियों के एक विशिष्ट समुदाय में प्रचलित रही। इससे ब्रज भाषा विशद तो हुई परन्तु उसकी विशुद्धता को आघात पहुँचा। भाषा मिश्रण परिपाटी के दो रूप देखने

को मिलते हैं। पहले रूप में खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग स्वतंत्रता पूर्वक होता है। बचनेश, सनेही और हरनाथ शर्मा की भाषा इसी प्रकार की है। दूसरे रूप में ब्रज भाषा के साथ अवधी तथा अन्य प्रान्तीय बोलियों के पद व्यवहृत होते हैं। द्विजेश, द्विजश्याम, तथा अम्बिकेश इसी तरह की भाषा लिखते हैं। भाषा प्रयोग की दृष्टि से भी कवियों के तीन दल दिखलायी पड़ते हैं। बिजावर के राजकवि बिहारी, सीतामऊ नरेश, झालावाड़ नरेश, तथा रीवां के रामाधीन आदि कवियों की भाषा में प्राचीनता की झलक के साथ प्रान्तीयता का प्रभाव और रजवाड़ी प्रयोगों की प्रधानता पायी जाती है। श्रीधर पाठक, रत्नाकर, रसाल और डा० त्रिपाठी जैसे उच्च आंग्ल-शिक्षा प्राप्त कवियों का एक दूसरा दल भी है जिसकी भाषा साहित्यक, समुत्कृष्ट, और सौष्ठव समन्वित है। पंडिताऊ पद्धति से पढ़े लिखे लोगों के तीसरे समुदाय में दोनों दलों की विशेषता पायी जाती है।

अच्छे व्याकरण के अभाव में आधुनिक ब्रजभाषा में क्रियाओं और कारकों के रूपों और प्रयोगों के सम्बन्ध में आज तक मन मानी हो रही है। रत्नाकर जी ने व्याकरण की व्यवस्था बनाये रखने की बड़ी कोशिश की थी। यद्यपि उनकी कविताओं में कहीं-कहीं पूर्वी प्रयोग भी मिलते हैं। परन्तु यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि उनकी भाषा एक साँचे में ढली हुयी है। आजकल तो व्याकरण में कुछ ऐसे भी प्रयोग होने लगे हैं जो पहले नहीं होते थे। उदाहरण के लिये कर्त्ता कारक के चिन्ह 'ने' को लिया जा सकता है। प्राचीन काल में शुद्ध साहित्यक ब्रज भाषा में 'ने' का प्रयोग नहीं होता था पर अब होता है। इसी प्रकार द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, षष्ठी तथा अधिकरण के चिन्हों के स्थान पर खड़ी बोली के प्रचलित रूप इच्छानुसार प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत तथा फारसी के शब्दों को अब ब्रज भाषा पद्धति के अनुसार देशज रूप नहीं दिया जाता बल्कि उसके तत्सम रूपों का ही प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार आधुनिक ब्रजभाषा अपने प्राचीन रूप से बहुत कुछ भिन्न होती जा रही है।

——

आधुनिक खड़ी बोली काव्य-धारा

[ब]

खड़ी बोली की प्रस्तावना

आधुनिक काल की प्रमुख साहित्यिक भाषा का नाम खड़ी बोली है। साहित्य में इसकी प्रतिष्ठा के पूर्व ब्रज भाषा ही सत्काव्य की भाषा मानी जाती थी। ब्रज भाषा में गद्य का विकास न हो सका था। वह कहीं-कहीं उपदेशों अथवा सूचनाओं के रूप में ही दिखलायी पड़ता है। अंग्रेजों के आगमन से अनेक नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयीं, नयी आवश्यकतायें बढ़ीं। आंग्ल सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव भारतीय जन जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पड़ने लगा। तत्कालीन परिस्थितियों के कारण दिल्ली और मेरठ की भाषा का प्रचार बढ़ा। यहाँ का परम्परागत साहित्य तो ब्रज भाषा में था, इसलिये जब खड़ी बोली में कुछ साहित्यिक रचना होने लगी तो कुछ लोगों को यह भ्रम हुआ कि साहित्य में कोई नयी भाषा गढ़ी जा रही है। यहाँ तक कि ग्रियर्सन जैसे भाषातत्वविद् भी भ्रमित हो गये। 'लाल चन्द्रिका' की भूमिका में उन्होंने लिखा—"इस प्रकार की भाषा भारत वर्ष में पहले कभी नहीं थी, इसलिये जब लल्लू लाल जी ने प्रेम सागर लिखा उस समय उन्होंने एक बिल्कुल नयी भाषा ही गढ़ डाली।"[1] भाषाओं की जाँच (Linguistic Survey) में उन्होंने फिर वही भूल दोहरायी।

मगर ऐसी बात नहीं थी। खड़ी बोली का अस्तित्व बहुत पहिले से था। विक्रम की ११वीं शताब्दी का एक अपभ्रंश खड़ी बोली के रूप में विकसित हो रहा था। यह पता तब चलता है जब हम चन्द्रसूरि के व्याकरण में दिये गये विभिन्न अपभ्रंशों के उदाहरण पढ़ते हैं। उन्होंने एक अपभ्रंश के उदाहरण में यह दोहा पेश किया है—

भल्ला हुआ जो मारिया बहिनु हमारा कंतु।
लज्जे जंतु वयंसिअह, जइ भग्गा घरु एंतु॥

---

1. Such a language did not exist in India before...when, there fore Lallu ji Lal wrote his Premsagar in Hindi he was inventing an altogether a new language.

खड़ी बोली मुख्यतः अपने आकारान्त प्रवृत्ति के ही कारण दूसरों से भिन्न मालूम पड़ती है। उपर्युक्त दोहे में प्रयुक्त 'भल्ला' 'हुआ' 'मारिया' 'महारा' 'भग्गा' आदि आकारान्त शब्द इस बात की ओर इंगित करते हैं कि उस समय कोई न कोई अपभ्रंश खड़ी बोली के रूप में बदल रहा था। इसके अतिरिक्त हिन्दी की प्रथम प्राप्य पुस्तक "बीसलदेव रासो" की भाषा देखिये। यद्यपि वह डिंगल भाषा में लिखी गयी है परन्तु उसमें भी अनेक स्थल पर खड़ी बोली की आकारान्त वाली प्रवृत्ति दिखलायी पड़ जाती है। 'चित्त फाटया' 'मन उचटया' 'भराया' 'पहुँचा' 'परवाल्या' आदि शब्द रूप तो इसी का समर्थन करते हैं। १३वीं शताब्दी में लिखी गयी खुसरो मियाँ की भाषा तो आधुनिक खड़ी बोली का कान काटती है। देखिये न,

जल का उपजा जल में रहै।
आँखों देखा खुसरो कहै॥

उनकी अधिकांश मुकरियों को प्रक्षिप्त माना जाता है किन्तु उसमें कुछ न कुछ सच्चाई तो है ही। इसके पश्चात् कबीर दास का समय आता है। उनके पदों और साखियों की भाषा भी एकदम खड़ी बोली, से मिलती जुलती है। एक उदाहरण लीजिये—

कबीर किया कछू न होत है, अब कीया सब होइ।
जे किया कछू होत है, तौ करता औरे कोइ॥

दादू, नानक, आदि संत कवियों ने भी कुछ इसी तरह की भाषा में उपदेश किया है। १६वीं शती में भूषण की 'शिवा बावनी' में "अफजल खान को मैदान मारा" जैसे प्रयोग मिलते हैं। आगे चलकर सीतल, रघुनाथ, तोष, तथा सूदन की रचनाओं में भी खड़ी बोली के यत्र-तत्र दर्शन होते हैं। इसके पश्चात् तो आधुनिक काल ही आता है जिसमें खड़ी बोली क्रमशः विस्तृत होती जाती है। अंग्रेज देशी भाषा का परिचय प्राप्त करने के लिये कुछ आधार चाहते थे इसलिये फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष जान गिल क्राइस्ट ने लल्लू लाल और सदल मिश्र से देशी भाषा की गद्य पुस्तकें प्रस्तुत करवायीं। यदि डाक्टर ग्रियर्सन के अनुसार उसे एक कृत्रिम भाषा ही मान लिया जाय तो यह बात समझ में नहीं आती कि एक कृत्रिम भाषा के द्वारा विचार अथवा भाव-विनिमय

खड़ी बोली का अपना इतिहास है। मुसलमानों का प्रभुत्व इस देश में सर्व प्रथम दिल्ली के आस-पास ही स्थापित हुआ था। उनके सामने जो सबसे पहिले कठिनाई आयी, वह भाषा की थी। वे न तो यहाँ की भाषा से ही परिचित थे और न अपनी भाषा को ही इतनी जल्दी यहाँ के लोगों को सिखा सकते थे। परन्तु बिना विचार और भाव विनिमय के व्यावहारिक जीवन का निर्वाह और साम्राज्य संचालन असंभव सा मालूम पड़ने लगा। इसलिये उन लोगों ने दिल्ली के आस-पास की भाषा को ही अपनाना शुरू किया। अनेक वर्षों के बाद स्थानीय भाषा में अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द मिल गये। परकीयों के व्याकरण का भी प्रभाव यहाँ की भाषा पर पड़ा। यह देशी बोली खड़ी ही थी जो मुसलमानों की सेना में बोली जाती थी। पहले उसे उर्दू-हिन्दी कहते थे परन्तु कालान्तर में विशेषण विशेष्य के स्थान पर आ बैठा और लोग उस भाषा को उर्दू ही कहने लगे। जिसे आजकल उर्दू कहा जाता है, उसे ही 'नूरनामा' पुस्तक के लेखक ने हिन्दी कहा है। उसकी निम्नांकित पंक्तियाँ इस तथ्य पर पूरा प्रकाश डालती हैं—

जुबाने अरब में य, था सब क़लाम।
किया नज्म हिन्दी में मैने तमाम॥

ज्यों-ज्यों मुसलमानों का साम्राज्य फैलता गया त्यों-त्यों यह भाषा भी भारत के विभिन्न प्रान्तों में फैलती गयी। रेखता और दक्खिणी इसी के भेद हो गये थे। अपने को सभ्य और संस्कृत प्रमाणित करने के लिये विजितों द्वारा विजेताओं की वेशभूषा, रीति नीति, आचार विचार, तथा भाषा का अनुकरण करना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसी आधार पर हिन्दू भी इस भाषा का व्यवहार करते थे। फारसी का अध्ययन तो होता ही था क्योंकि यही कचहरियों की भाषा थी और उसके जानकार समाज में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। कुछ समय के बाद हिन्दुओं के सहयोग से यह भाषा समस्त उत्तरापथ में फैल गयी। औरंगजेब के समय में ही उर्दू में काव्य रचना प्रारम्भ हो गयी थी। भावाभिव्यंजना की सुगमता को ध्यान में रख कर ही विदेशी शब्दों का प्रयोग किया जाता था। आधुनिक उर्दू कवियों की तरह उन लोगों पर देशी शब्दों के बहिष्कार की धुन सवार न थी। दूसरे शब्दों में यह

कहा जा सकता है कि फारसी छन्दों में प्रयुक्त वह हिन्दी को छोड़कर और कोई दूसरी भाषा नहीं थी। यह दशा लगभग सौ वर्षों तक रही।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल साम्राज्य की नींव थरथराने लगी। वातावरण अशान्त होगया। व्यापार के लिये जिस सुरक्षा और सुविधा की आवश्यकता होती है वह अब नहीं रही। इसलिये दिल्ली की वैश्य आदि व्यापारिक जातियाँ पूर्व की ओर बढ़ने लगीं। पूर्व की ओर से अंग्रेजों का साम्राज्य तो बढ़ ही रहा था। उनके राज्य में व्यापारियों को सुविधायें मिल रही थीं। पूर्व के बाजारों में ज्यों-ज्यों उनका आधिपत्य जमता गया त्यों-त्यों वहाँ की बाजारू बोली भी खड़ी होती गयी। इस खड़ी बोली के भी दो रूप थे। मुसलमानों की खड़ी बोली में विदेशी शब्दों का आधिक्य था हिन्दुओं की भाषा में कम। दरबारों में मुसलमानों द्वारा खड़ी बोली का प्रचार बढ़ रहा था, बाजारों में बनियों द्वारा।

मुसलमान उर्दू में काव्य-रचना करते थे हिन्दू ब्रजभाषा में। उर्दू शासकों की भाषा थी अतः हिन्दू लोग उसमें काव्य रचना करने में अपनी प्रतिष्ठा समझते थे। हरिश्चन्द्र के समय तक के अधिकांश हिन्दी कवि उर्दू में ही लिखते थे। हरिश्चन्द्र जी का तखल्लुस 'रसा' था, प्रेमघन जी का 'अब्र'। बाद को जब राष्ट्रीयता की भावना हृदय में घर करने लगी तब अपनी भाषा में धूम-धाम से साहित्य सर्जन होने लगा।

अंग्रेजी राज्य में भाषा का प्रश्न फिर उठा। कचहरियों का काम किस भाषा में चलाया जाय? शिक्षा का माध्यम कौन सी भाषा हो? हिन्दुओं ने संस्कृत का समर्थन किया, मुसलमानों ने फारसी का। कुछ समय तक तो कम्पनी ने दोनों की उन्नति के लिये आर्थिक सहायता दी परन्तु दोनों व्यावहारिकता से बहुत दूर थीं। उसके विरुद्ध राजा राममोहन राय प्रभृति प्रभावशाली व्यक्ति अंग्रेजी के अध्ययन-अध्यापन का जोरदार प्रचार कर रहे थे। उन्होंने अपने मित्रों की सहायता से इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कलकत्ते में हिन्दू कालेज की स्थापना भी कर दी थी। यद्यपि सं० १८५४ में ही चार्ल्स ग्रान्ट ने अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार का आदेश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों को दे दिया था परन्तु लगभग एक शताब्दि तक उसका विस्तृत रूप में पालन न हो सका। बेंटिङ्क (सं० १८८३) के समय में मेकाले ने अँग्रेजी को बड़े जोर शोर से

समर्थन किया। अंग्रेजी राजभाषा मान ली गयी। उसकी शिक्षा के लिये स्थान-स्थान पर पाठशालायें खोली गयीं। उच्चकोटि का दरबारी काम भी अंग्रेजी में होने लगा। इसके अतिरिक्त कचहरियों में साधारण जनता से सम्पर्क स्थापित करने के लिये एक और भाषा की आवश्यकता थी। अंग्रेजों के मुंशी और खानसामें उर्दू का ही प्रयोग करते थे, अतः उन लोगों ने उसी को देशभाषा समझकर उसे ही कचहरियों के लिये मान्यता दे दी। कुछ लोग इसके पीछे अंग्रेजों की राजनैतिक चाल भी देखते हैं। जो कुछ हो तब से उर्दू का महत्त्व और भी बढ़ गया। समाज में हिन्दी का नाम लेना अपनी गँवारता प्रकट करना था। घर के भीतर धार्मिक भावना से प्रेरित होकर तुलसी का रामायण अवश्य पढ़ा जाता था। मीरां और सूर के भजन भी गा लिये जाते थे। परन्तु बाहर उर्दू का ही बोल बाला था। ऐसी अवस्था में राजा शिवप्रसाद सं० १९१३ में शिक्षा विभाग में इन्सपेक्टर नियुक्त हुये। इस समय तक खड़ी बोली गद्य की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। मुंशी इंशाअल्ला खाँ, लल्लू लाल, तथा सदल मिश्र की विभिन्न शैलियाँ प्रचलित थीं। किसी की शैली में पंडिताऊपन की गंध आती थी किसी में पूर्वीपन का रंग गाढ़ा था। अभी तक गद्य का एक स्टैन्डर्ड रूप निश्चित नहीं हो सका था। राजा शिवप्रसाद इस समस्या को सुलझाना चाहते थे। उस समय शिक्षा के उच्च अधिकारी अधिकतर मुसलमान ही थे जिनके बीच में रह कर हिन्दी का नारा देना पानी में रह कर मगर से बैर करने से कम न था। इसलिये उन्होंने हिन्दी का जो रूप निश्चित किया उसमें फारसी के तत्सम शब्दों की भरमार थी। आगरे के राजा लक्ष्मण सिंह को उनकी शैली बिल्कुल पसन्द नहीं आयी। उन्होंने सितारे हिन्द का विरोध किया और एक नयी शैली का उदाहरण पेश किया। राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा सितारे हिन्द साहब की भाषा के बिल्कुल विपरीत थी। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक मात्रा में थे। यह संघर्ष बहुत दिनों तक चला और भारतेन्दु ने अपने समय में खड़ी बोली गद्य को एक निश्चित रूप दिया जिसे दोनों राजाओं के बीच का रूप कहा जा सकता है। अभी तक कविता ब्रजभाषा में ही लिखी जाती थी। लेकिन खड़ी बोली में बिल्कुल ही रचना न होती हो ऐसी बात नहीं। आधुनिक गद्य के प्रमुख प्रयोगकर्त्ता मुंशी इन्शाअल्ला खाँ ने रानी केतकी की कहानी में खड़ी बोली के ही गाने लिखे थे—

रानी को बहुत बेकली थी। कब सूझती कुछ बुरी भली थी।
चुपके चुपके कराहती थी। जीना अपना न चाहती थी।
कहती थी कभी मदन बान। है आठ पहर मुझे वही ध्यान।

उसी समय नागरी दास भी इश्क चमन लिख रहे थे—

कोई न पहुँचा वहाँ तक आशिक नाम अनेक।
इश्क चमन के बीच में आया मजनू एक॥

उन लोगों से चालीस वर्ष पहले नजीर अकबरा बादी सं० (१८७७-१९९७) ने कृष्ण भक्ति सम्बन्धी बड़ी सुन्दर कवितायें खड़ी बोली में लिखी थीं—

यारो सुनों य दधि के लुटैया का बालपन
औ मधु पुरी नगर के बसैया का बालपन
मोहन सरूप नृत्य करैया का बालपन
बन बन में ग्वाल गौवें चरैया का बालपन

बाद को तो अनेक लोगों ने लिखना प्रारम्भ कर दिया था। लखनऊ के शाह कुन्दनलाल 'ललित किशोरी' और फुदन लाल 'ललित माधुरी' (रचना काल सं० १९१३-१९३०) नामक कृष्ण भक्तों ने भी खड़ी बोली में झूलना छन्द लिखा था—

जंगल में अब रमते हैं दिलबस्ती से घबराता है
मानुष गंध न भाती है, सँग मरकट मोर सुहाता है।
चाक गरेबाँ करके दमदम आहें भरना आता है
ललित किशोरी इश्क रैन दिन ये सब खेला जाता है॥

भारतेन्दु के समय में ही लोगों ने खड़ी बोली और ब्रजभाषा के सम्बन्ध मे सोचना प्रारम्भ कर दिया। गद्य एक भाषा में लिखा जाय और पद्य दूसरी बोली में, यह बात लोगों को खटकने लगी। उर्दू में तो गद्य और पद्य लिखने की एक भाषा थी। हिन्दी पढ़ने के लिये खड़ी बोली और ब्रजभाषा का ज्ञान अपेक्षित था इसलिये दोहरी मिहनत बचाने के लिये विद्यार्थी समुदाय भी उर्दू की ओर झुकने लगा था। भारतेन्दु बाबू को इससे बड़ा दुःख हुआ था। "भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रन्थन "नीर डुबाइये" जैसी पंक्तियाँ ही इस बात की गवाही देती हैं। सं १९३३ में उन्होंने प्रयोग के लिये खड़ी बोली

में तीन कवितायें लिखीं। 'बसंत' 'बर्सात' और 'दशरथ विलाप'। 'बसंत' की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

फागुन के दिन बीत चले, अब ऋतु-बसंत आई।
बदला समा चली झोंके से झकी पुरवाई।
गर्मी के आगम दिखलाये, रात लगी घटने
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने॥

बसंत

और—

बादल की पालैं, धुएँ की जालैं छोड़े दौड़ा जाता है
पावस नभ सागर, सब गुन आगर, जोर जहाज दिखाता है॥

बर्सात

और—

कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे। किधर तुम छोड़ कर हमको सिधारे
बुढ़ापे में ये दुख भी देखना था। इसी को देखने को मैं बचा था।

दशरथ विलाप

क्रिया में दीर्घ मात्रा होने के कारण उन्हें ये कवितायें भोंड़ी सी लगीं और उन्होंने इस ओर प्रयत्न करना छोड़ दिया। ब्रजभाषा की मिठास खड़ी बोली में भारतेन्दु भी न ला सके। दूसरी ओर मिर्जापुर के कुछ जन कवि भी खड़ी बोली में लिख रहे थे। तुनक गिरि गोसाईं ने लावनी की लय इस बोली में चलायी, बाद को इनके शिष्यों में दो दल हो गये। 'तुर्रा' और 'कलगी' नामक लावनी के ढंग भी निकल गये। रिसाल गिरि के ढंग को तुर्रा कहा जाता था जिसमें ब्रह्म ज्ञान सम्बन्धी कवितायें पढ़ी जाती थीं। देवी सिंह के गाने के ढंग को 'कलगी' कहा जाने लगा। इसमें भक्ति और प्रेम का प्राधान्य था।

हरिश्चंद्र जी का हिन्दी के साहित्यकारों पर इतना प्रभाव था कि उनके जीवन काल में किसी ने ब्रजभाषा के विरुद्ध मुँह खोलने की हिम्मत नहीं की। सं. १९४१ में उनकी मृत्यु हो गयी और ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली का सवाल फिर उठने लगा। उस समय तक खड़ी बोली में जो कवितायें लिखी गयी थीं वे मुख्यतः तीन प्रणालियों पर आधारित थीं। हिन्दी-कवित्त-सवैया की प्रणाली, उर्दू छन्दों का तरीका और लावनी का ढंग। १९४३ में पं० श्रीधर पाठक ने गोल्ड

स्मिथ के 'हरमिट' का अनुवाद "एकांत वासी योगी" के नाम से खड़ी बोली में किया। और उसमें उन्हें बहुत हद तक सफलता भी मिली। फिर क्या था खड़ी बोली का आन्दोलन शुरू हो गया। यह आन्दोलन खड़ी बोली क्षेत्र के ग्राम गीतों की परम्परा से भिन्न था।*

मुज्जफरपुर के बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री इसके प्रमुख नेता थे। सं० १९४५ में उन्होंने एक पुस्तक प्रकाशित की जिसका नाम था "खड़ी बोली आन्दोलन"। वह भाषा विज्ञान से अनभिज्ञ थे। कदाचित् इसी से उन्होंने यह बताने की भूल की थी कि ब्रज भाषा और अवधी तो हिन्दी हैं ही नहीं। केवल खड़ी बोली ही हिन्दी है। इस लिये अब हिन्दी (खड़ी बोली) में भी काव्य रचना होनी चाहिये। उन्होंने खड़ी बोली पद्य की चार शैलियाँ निर्धारित कीं। मौलवी स्टाइल, पंडित स्टाइल, मुंशी स्टाइल और मास्टर स्टाइल। और उस पर खत्री जी ने अनेक लोगों से अनुरोध करके कवितायें लिखवायीं। पाठक जी के "एकान्तवासी योगी" को भी उसमें स्थान मिला। भारतेन्दु के मित्र चम्पारन के वैद्य तथा संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान पं० चन्द्रशेखर धर मिश्र से भी उन्होंने खड़ी बोली की कतिपय कवितायें लिखवायीं। खड़ी बोली के समर्थन में प्रभावशाली व्यक्तियों के विचार भी उस पोथी में दर्ज किये गये। यह आन्दोलन उग्र रूप धारण करने लगा। जगह-जगह सभायें होने लगीं। व्याख्यान दिये जाने लगे। पत्र पत्रिकाओं में लेख लिखे जाने लगे।

खत्री जी की इन करतूतों से कानपुर के 'ब्राह्मण' सम्पादक पं० प्रताप नारायण मिश्र बहुत नाखुश हुये। उन्होंने खड़ी बोली के विरोध में लिखा—"जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावण्य कवियों की उस स्वतंत्र भाषा में है जो ब्रज भाषा, बुन्देल खण्डी, बैसावारी, और अपने ढंग पर लायी गयी संस्कृत व

---

*मेरठ के आसपास तो इस प्रकार के ग्राम गीत सुनने को मिलते हैं—

मुनि कहते जनकपुर होते चलो।
जनकपुरी में धनुष धरा है जरा उसको भी अजमाए चलो।
जनकपुरी में राजा आये जरा उनका भी मान नवाए चलो॥
जनकपुरी में सीता रानी जरा उनको भी ब्याहे चलो।
मुनि कहते जनकपुर होते चलो॥

फ़ारसी से बन गयी है, जिसे चन्द्र से लेकर हरिश्चन्द्र तक प्रायः सब कवियों ने आदर दिया है, उसका सा अमृतमय, चित्तचालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके, यह किसी कवि के बाप की मजाल नहीं। 'ब्राह्मण' में इस प्रकार का लेख लिख कर भी उन्होंने हवा का रूख पहिचान लिया। बाद को वह भी मान गये कि खड़ी बोली में अच्छी कवितायें हो सकती हैं। उसी समय कानपुर से राय देवीप्रसाद पूर्ण भी खड़ी बोली का विरोध कर रहे थे। उन्होंने भी एक बार लिखा था—"जब तक हिन्दी में तुलसी, सूर, केशव आदि कवियों की कविता का आदर है तब तक, और जब तक खड़ी बोली में, उनको कविता के समान सरस, सुन्दर और सर्वमान्य वृहत्काव्य-कलाप प्रस्तुत होकर जगत् प्रचलित नहीं होता, तब तक पद्य भाषा का न मान घटेगा न खड़ी बोली पद्य में बैठने पावेगी।" आगे चलकर वे भी नम्र हो गये और स्वयं खड़ी बोली में उत्तम कवितायें कीं* बहुत दिनों तक पत्र पत्रिकाओं में खड़ी बोली के समर्थकों और विरोधियों की ओर से टीका टिप्पणी चलती रही परन्तु बाद को जब ब्रज भाषा के कवियों ने भी खड़ी बोली में रचनायें करना शुरू किया तब विरोध के स्वर मौन हो गये। आगे चलकर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसे व्याकरण की दृष्टि से व्यवस्थित किया और उसे संस्कृत के अनेक छन्दों में ढालने का प्रयास किया। नवयुग में पं० सुमित्रा नन्दन पंत, महादेवी वर्मा, तथा बच्चन के हाथों इसमें ब्रज भाषा का मिठास भी आ गया। उन लोगों ने उसमें लाक्षणिकता और चित्रोपमता की शक्ति विकसित की। और यह उन्हीं लोगों की साधना का फल है कि आज खड़ी बोली ही जन प्रिय सत्काव्य की भाषा है।

---

*"मेरा अभिप्राय कदापि नहीं है कि खड़ी बोली में उत्तम कविता हो ही नहीं सकती। जब अंग्रेजी, फारसी आदि संसार भर की भाषाओं में कवि की शक्ति के अनुसार उत्तम कविता हो सकती है, तो खड़ी हिन्दी में भी हो सकती है। किन्तु अभिप्राय केवल इतना है कि यदि 'साहित्य-सेवियों' का "रैडिकल" दल पद्य-भाषा को पदच्युत करने का साहस न करेगा तो उसकी मातृभाषा पर बड़ी कृपा होगी।"

भारतेन्दु-युग

(सं० १९२४—सं० १९६०)

भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नवीन पृष्ठ जोड़ता है। यह युग भाषा के परिवर्तन, उसके संस्कार तथा प्रवृत्तियों की नूतनता के लिए प्रसिद्ध है। हरिश्चन्द्र के आविर्भाव के साथ ही साथ कविता के विषयों और उसके प्रकाशन की शैली में क्रान्ति हो गयी। इसीलिये हिन्दी के अनेक आलोचक इसे हिन्दी कविता का क्रान्तियुग मानते हैं। "शताब्दियों से हिन्दी कविता भक्ति, शृङ्गार के रङ्ग में रङ्गी चली आ रही थी। केवल चुम्बन और आलिङ्गन, रति और विलास, रोमांच और स्वेद, स्वकीया और परकीया की कड़ियों में जकड़ी हुयी हिन्दी कविता को भारतेन्दु ने सर्व प्रथम लाला-कुञ्जों से बाहर निकाल कर लोक जीवन के राजपथ पर खड़ा कर दिया। हिन्दी कविता में भारतेन्दु ने सर्व प्रथम समाज के वक्षस्थल की धड़कन को सुनाया। आर्थिक जीवन में मँहगी और अकाल, टैक्स और धन का विदेश प्रवाह, धार्मिक क्षेत्र में बहु देव पूजा और मत-मतान्तर के झगड़े, सामाजिक क्षेत्र में जाति-पाँति के टेटे और खान पान के पचड़े, और बाल विवाह, नैतिक क्षेत्र में पारस्परिक कलह और विरोध, उद्यम हीनता और आलस्य, भाषा भूषा-वेश की विस्मृति तथा राजनैतिक क्षेत्र में पराधीनता और दासता, जीवन के ये भिन्न-भिन्न स्वर उनकी वेणु से प्रसूत होने लगे थे। अपनी कह मुकरिनियों में, अपने भारत दुर्दशा नाटक में आयी हुयी कविताओं में, अपनी राज प्रशस्तियों में, अपनी होलियों और लोक-गीतों में भी भारतेन्दु इन विषयों को नहीं भूले हैं। राजसी सभ्यता और राजभक्ति के संस्कार में पालित पोषित होकर भी भारतेन्दु का स्वर जनता का स्वर है, यह हमें गर्व के साथ स्वीकार करना पड़ेगा। काव्य में यह रङ्ग परिवर्तन हिन्दी ने पहली बार देखा। ब्रज भाषा में यह विषय की क्रान्ति थी। शताब्दियों से रुग्ण, हिन्दी कविता कामिनी को यह संजीवनी मिली।*

---

*हिन्दी कविता का क्रान्तियुग प्रो० सुधीन्द्र एम० ए०

अंग्रेजी राज्य की स्थापना से उत्पन्न विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों को ही क्रान्ति का मूल कारण नहीं माना जा सकता। सामाजिक कुरीतियों, बाल विवाह, शिक्षा का अभाव, तथा विधवाओं की दुर्व्यवस्था के प्रति देश के बुद्धि जीवी वर्ग के विचारों की प्रतिक्रिया भी इस परिवर्तन के लिये उत्तर दायिनी है। इसी के आधार पर बङ्गाल में ब्रह्म समाज तथा युक्तप्रान्त आदि प्रदेशों में आर्य समाज का आन्दोलन उग्र रूप धारण कर रहा था। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से हमारे नवयुवकों के मस्तिष्क पर दूसरे प्रकार के संस्कार पड़ रहे थे। स्काट आदि अंग्रेजी कवियों की रचनाओं के अध्ययन से राष्ट्र की व्यापकता का बोध होने लगा था। इससे पूर्व हमारे यहाँ राष्ट्र की इतनी व्यापक भावना कहाँ थी? यहाँ प्रताप और शिवा जी की देश भक्ति अवश्य प्रसिद्ध हैं, किन्तु प्रताप की दृष्टि मारवाड़ी और चित्तौड़ से आगे कहाँ जा सकी? शिवा के लिये तो महाराष्ट्र शब्द ही अत्यन्त गौरव पूर्ण था। देश भक्ति की वास्तविक भावना तो हमें विदेशियों से मिली। अंग्रेजी साहित्य ने हमें जाति-पाँति की सीमाओं को पार कर हिमालय से कन्या कुमारी और कच्छ से पुरी तक के विस्तृत भारतवर्ष का बोध कराया, और हमने अपने देश की भक्ति शुरू कर दी।

अंग्रेजों के राज्य में समाज के उच्च और मध्यम वर्ग को थोड़ी साँस मिली। धर्म के नाम पर वसूल किये जाने वाले 'जजिया' जैसे कर तो कम से कम बन्द ही कर दिये गये। लेकिन कुछ समय के बाद ही भारतेन्दु जैसे देश भक्त यह महसूस करने लगे—"अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी, पर धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।" और बाद को हिन्दी कविता में भी इस तरह के स्वर सुनायी पड़ने लगे। भारतेन्दु बाबू ने अपने समय के साहित्यकारों का नेतृत्व किया और अपने युग को भावनाओं की वाणी का दान दिया। उन्होंने देशभक्ति, समाज-सुधार, मातृभाषोद्धार, आदि पर सुन्दर कवितायें लिखी। सं० १६१८ में "स्वर्गवासी श्री अलवरत वर्णन अन्तर्लापिका" शीर्षक लिखी गयी कविता के द्वारा उन्होंने हिन्दी कविता को नयी मोड़ दी। उनके समकालिकों में सर्व श्री प्रेमघन, बालमुकुन्द गुप्त, प्रताप नारायण मिश्र, श्रीधर पाठक प्रभृति कवि हैं, जिन्होंने इस समय अपने उत्तर दायित्व को महसूस किया और देशभक्ति तथा समाज सुधार आन्दोलनों पर कवितायें लिखीं। इसके कारण उनकी रचनाओं में प्रचारात्मकता अवश्य आ गई परन्तु हिन्दी को उस समय उसी की आवश्यकता थी।

पाश्चात्य विचार धारा से प्रभावित शिक्षित सुहृद समाज को शृङ्गार का परम्परागत आदर्श भी खटकने लगा था। उस समय की कवितायें इसके प्रमाण में पेश की जा सकती है। देखिये न,

विषयारत भारत की कुदशा न निहारत रोज बरोज ही की
यहाँ बिक्रम, बिक्रम के समैसों कथा मात्र है भोज के भोज ही की।
रजधानी बिलानी सुऐश में सारी कहाँ वह आज कनौज ही की
भव सिन्धु गोविन्द तू पारभयो जौं हनौज है मौजमनोज ही की॥

—पं० यज्ञदत्त तिवारी

और भी,

भारत चारहु ओर दुखी दुख भोगत बीतिगे वर्ष हजारन
ध्यान रतीक दियो चहिये, दुख कौन उपाय सों होय निवारन।
सो सब दूरि रहै मकरन्द समैं इन बातन में किहिं कारन
होय सो होय इहाँ नहिं नहिं भूलनो" राधिका रानी कदम्ब की डारन॥

—पं० मदन मोहन मालवीय मकरन्द लांछन।

उपर्युक्त रचनायें "राधिका रानी कदम्ब की डारन" वाली कविताओं के प्रति असंतोष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसके बाद तो हिन्दी कविता धीरे-धीरे पुरानी लीक को छोड़कर नये रास्ते पर आने लगी और उसमें नये-नये विषय मुखरित होने लगे। इन रचनाओं में पीड़ित भारतीय जनता की पुकार, देश भक्ति तथा सामाजिक सुधार के स्वर ऊँचे थे।

मुग़ल साम्राज्य के अंतिम दिनों में भारतीय जन जीवन की व्यवस्था अत्यन्त ढीली हो गयी थी। अंग्रेजों ने राजनीति, शासन प्रणाली तथा शिक्षा के क्षेत्रों में जिस ढंग से सुधार किये थे, उसे यहाँ के निवासियों से काफी पसन्द किया था। इसका कारण यह था कि बहुत दिनों के बाद इस प्रकार की व्यवस्था में उन्हें मानसिक और भौतिक उन्नति करने का अवसर प्राप्त हुआ था। उस समय के कुछ साहित्यिक ब्रिटिश साम्राज्य को जन तांत्रिक रूप देना चाहते थे। भारत की इन आकांक्षाओं से सहानुभूति रखने वाले चार्ल्स बैडला जैसे अंग्रेज भी उनकी श्रद्धा के पात्र बन गये थे। अंग्रेजी सरकार देश के उत्थान के लिये कुछ भी काम करती तो उस पर हमारे इस समय के साहित्यिक हार्दिक—"हर्षादर्श" प्रकट करते थे। सुधारक कवियों के भी दो दल थे। भारतेन्दु, बाल मुकुन्द गुप्त तथा

प्रताप नारायण मिश्र उग्र विचारों के थे, वे सरकार पर जोर डाल कर तत्काल सुधार कराना चाहते थे। प्रेमघन जी उदार विचारों के थे। वह सुधार के लिये सरकार से विनम्र प्रार्थना किया करते थे। इस सुधार वादी आन्दोलन का मुख्य कारण केवल आर्य समाज की ही स्थापना नहीं थी। उसके पूर्व भी हिन्दी में सुधार की ध्वनि सुनायी पड़ती है। भारतेन्दु के पिता, और महाराज रघुराज सिंह हिन्दू समाज में धार्मिक और सामाजिक सुधार करना चाहते थे। भारतेन्दु आर्य समाजी तो नहीं थे परन्तु थे बड़े प्रगतिशील विचारों के। वह अविद्या, जूआ, नशे बाजी, वर्ण भेद, स्त्री अशिक्षा, वैवाहिक अपव्यय, बहु विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, बाल-हत्या आदि कुरीतियों की जड़ में माठा डाल देना चाहते थे। उन्होंने उपर्युक्त विषयों पर कुछ बड़ी ही मार्मिक रचनायें प्रस्तुत की हैं। इस समय कोई प्रसिद्ध आर्य समाजी कवि नहीं हुआ। अधिकांश लोग भजन ही लिखा करते थे जिसमें प्रचारात्मकता और अकलात्मकता स्पष्ट झलकती है। धर्म के अधः पतन पर इस काल के कुछ कवि बहुत ही दुखी थे। अयोध्या सिंह उपाध्याय ने तो "ब्राह्मो समाज, आरज समाज मत वालों" को यूरोप के ढंग पर बात कहने तथा कलह फूट फैलाने वाला कहा। सामाजिक सुधार पर इस समय के कुछ कवियों ने उपयुक्त रचनायें कीं। बाल मुकुन्द गुप्त की निम्नांकित पंक्तियाँ आधुनिक प्रगतिवादी रचनाओं की नाक काटने की क्षमता रखती हैं। देखिये न,

हे धनिकों, क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार
जिसका मरे पड़ोसी भूखा, उसके भोजन को धिक्कार।
भूखों की सुधि उसके जी में कहिए किस पथ से आवे
जिसका पेट मिष्ट भोजन से ठीक नाक तक भर जावे ॥

× × ×

हे बाबा ! जो यह बेचारे भूखों प्राण गँवायेंगे
तब कहिये क्या धनो गला कर अशर्फियाँ पी जावेंगे।

सामाजिक सुधारों पर इतनी उत्कृष्ट कवितायें लिखी गयीं परन्तु कुछ अत्यन्त प्रमुख राजनैतिक उलट फेर पर इस समय के साहित्यकारों का ध्यान तक न जा सका। सन् १९१४ का सिपाही विद्रोह भारतवर्ष के इतिहास में एक अत्यन्त प्रमुख घटना है परन्तु इस समय के किसी कवि ने तनिक भी उसे महत्व नहीं दिया।

भारतेन्दु बाबू ने तो इसका जिक्र तक नहीं किया। उनके समकालिकों में कुछ ने अवश्य एक दो कवितायें कहीं हैं परन्तु वह भी अंग्रेजी इतिहासकारों की बातों का ही समर्थन करती हैं। प्रेमघन जी तो नम्र विचारों के थे किन्तु प्रताप नारायण मिश्र जैसे उग्र पथिकों की भी वही दशा है। एक उदाहरण लीजिये

सन् सत्तावन मांहि जबहिं कुछ सेना बिगरी
तब राजा दिशि रही, सुदृढ़ ह्वै परजा सिगरी।
दुष्ट समुझि अपने भाइन कहं साथ न दीन्हों
भोजन बिन बिद्रोहिन कर दल निरबल कीन्हों॥
ठौर ठौर निज घर लुटवाय अरु फुँकवाये
प्रान खोय बहु ब्रिटिश वर्ग के प्रान बचाये॥

इस विषय पर हिन्दी-साहित्य के एक नये इतिहास लेखक ने डा० हरदेव बाहरी के विचारों की भी दोहाई दी है—"जो कवि रंग महलों और दरबारों को छोड़कर, झोपड़ियों और गलियों में, आदर्श को छोड़कर जीवन के यथार्थ साक्षात्कार में, कृत्रिमता को छोड़कर स्वाभाविकता में, बन्धन को छोड़कर स्वच्छन्दता में, शृंगार को छोड़कर वीर रस में और नायिका प्रेम को छोड़कर देश-प्रेम में अनुरक्त हुए हों और जहाँ जिन्होंने देश के अतीत गौरव का मान किया, तब वे देश के उन वीरों की याद न करते जो स्वतंत्रता के संग्राम में सर्व प्रथम बलिदान हुये थे यह कदापि सम्भव नहीं।"

लेकिन यह सत्य है। इतिहास की आँखों में धूल नहीं झोंका जा सकता। भारतेन्दु तथा उनके अनुयायियों ने सिपाही विद्रोह का समर्थन नहीं किया, उसका भी कारण है। उस समय के सभी प्रसिद्ध साहित्यिक उच्च वर्गीय और मध्य-वर्गीय समाजों के प्रतिनिधि थे। और यह विद्रोह था निम्न वर्ग का जिसके सदस्य गरीबी में जन्म लेते हैं, अभावों में पलते हैं, और कुत्तों की तरह मर जाते हैं। इस समाज के प्रतिनिधि लोक गीतकारों ने इस विद्रोह का समर्थन किया है और उसमें शहीद हुये लोगों का गुण गान किया है। उस समय के एक लोक गीत का उदाहरण लीजिये—

खूब लड़ी मरदानी, अरे झाँसी वाली रानी
बुरजन बुरजन तोप लगाइ दई, गोला चले असमानी

अरे झाँसी वाली रानी। खूब लड़ी मरदानी।
सगरे सिपाही को पेड़ा जलेबी, आपने चबाई गुड़ धानी
अरे झाँसी वाली रानी। खूब लड़ी मरदानी।
छोड़ मोरचा लश्कर को भागी, ढूढ़हू मिलै नहि पानी
अरे झाँसी वाली रानी। खूब लड़ी मरदानी

मालूम पड़ता है जैसे सुश्री सुभद्रा कुमारी चौहान को आगे चलकर इसी कविता ने 'खूब लड़ी मरदानी" लिखने को वाध्य किया।

उच्च तथा मध्यवर्ग के शिक्षा प्राप्त व्यक्ति, विचार स्वातंत्र्य चाहते थे और इस प्रकार परोक्ष रूप में भारत की स्वतंत्रता का उन्हें सदा ध्यान रहता था। वे इस काम को अकेले नहीं कर सकते थे। अपने नीचे के आदमियों के सहयोग की भी उन्हें अपेक्षा थी, लेकिन उन्हें उनके चारों ओर अज्ञान, अविद्या, निर्धनता, नैतिक दुर्दशा, तथा कुप्रवृत्तियों का दलदल भी दिखायी पड़ता था। अपनी स्वतंत्रता के लिये वे अंग्रेजों से खुल कर लड़ भी नहीं सकते थे, इसीलिये प्रेमघन आदि कवि बड़े आदर और भक्ति के सहित सरकार के सामने अपनी माँगे रखते थे। सामाजिक सुधारों के साथ हिन्दी की मान्यता दिलाने का प्रश्न भी इस समय के साहित्यकारों के सामने था। अदालतों की भाषा उर्दू थी। हिन्दी का आन्दोलन शुरू करके उन लोगों ने उसके समर्थन में सैकड़ों कवितायें लिखीं। सं० १९३१ में भारतेन्दु ने "उर्दू की स्थापना" लिखा। उन्होंने सं० १९३४ में "हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान" दिया और प्रयाग की हिन्दी वर्द्धिनी सभा की अध्यक्षता की। इसके अतिरिक्त भी इस विषय पर अनेक कवितायें लिखी गयीं। प्रताप नारायण मिश्र का तृप्यन्ताम (सं० १९४८) राधाकृष्ण दास का मैकडानेल पुष्पाञ्जलि (सं० १९५४) महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत नागरी तेरी यह दशा (सं० १९५५) आशा (सं० १९५५) प्रार्थना (सं० १९५५) नागरी का विनयपत्र (स० १९५६) कृतज्ञता प्रकाश (सं० १९५७) बालमुकुन्द गुप्त का उर्दू को उत्तर, (सं०१९५७) श्यामबिहारी तथा शुकदेव बिहारी मिश्र कृत हिन्दी अपील (सं० १९५७) आदि अपना ऐतिहासिक महत्व रखती हैं। पं० गौरीदत्त, दीनानाथ पाठक, मौलवी बाकरअली, मिर्जासाहब प्रभृति हिन्दी प्रेमियों ने मातृ भाषा का पक्ष ग्रहण कर सरकारी नीति का विरोध किया। पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध में यह आन्दोलन जोर पर था। इस समय उर्दू लिपि की त्रुटियाँ

बतायी गयीं। समस्त हिन्दी भक्तों ने डा० हंटर के पास प्रार्थना पत्र भेजकर उनसे निवेदन किया कि हिन्दी को उसका छीना हुआ पद वापस दिया जाय। भीषण आन्दोलन और उद्योग के फलस्वरूप पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेन्ट गर्वनर ऐंटनी मेकडानेल ने अदालतों में नागरी प्रवेश की घोषणा कर दी पर उसे व्यावहारिक रूप न दिया जा सका।

भारतेन्दु ने जिस राष्ट्रीयता का बीज लगाया था वह उनकी मृत्यु के बाद ही अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा (सं० १९४२) के रूप में अंकुरित होने लगा। मुसलमानों ने इसका विरोध किया। तत्कालीन मुसलिम नेता सर सैयद अहमद खाँ अंग्रेजों से मिलकर हिन्दुओं पर शासन करने का स्वप्न देख रहे थे। उनके कारण देश के हितों पर तुषारापात हो रहा था। बालमुकुन्द गुप्त उग्र विचारों के प्रगतिवादी थे उन्होंने बड़ी निर्भीकता से सं० १९४७ में "सर सैयद का बुढ़ापा" लिखकर उन्हें चेतावनी दी। बुड्ढे की खिल्ली उड़ायी गयी। गुप्त जी की रचनाओं में ही नहीं उस काल में लिखी गयी सभी राष्ट्रीय कविताओं में मुसलमानों के प्रति विरोध की भावना भी इसीलिये पायी जाती है। इस समय की हिन्दी कविताओं में जीवन व्यापी भिन्न-भिन्न विषयों व्यापारों और प्रणालियों का अनुकरण होने लगा था। तत्कालीन ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थिति का ये कवितायें उचित प्रतिनिधित्व करती हैं। श्रीधर पाठक जैसे कवि नायक नायिकाओं की प्रेमलीला का चित्र उतारने के बजाय मानव जाति के दुःख, दारिद्र, प्रेम तथा सहानुभूति का ही वर्णन करना अच्छा समझते थे। इसके अतिरिक्त उस समय के साहित्यकारों ने हमारी हिन्दी को अनेक नये विषय दिये। श्रीधर पाठक कृत जगत सचाई सार (सं० १९४५) रत्न सहाय और वजइन का "अलिफनामा" (सं० १९४६) माधवदास का "अद्वैत सिद्धम्" (सं० १९५६) रामचन्द्र त्रिपाठी का विद्या के गुण और मूर्खता के दोष शीर्षक रचनाओं में दार्शनिक विवेचना, भारतेन्दु कृत "दगाबाजी का उद्योग" आदि में ऐतिहासिक सत्य की खोज, श्रीनिवास दास कृत "ब्रूसेल्स की लड़ाई" में अन्तर्राष्ट्रीय विषय तो पहले से ही आने लगे थे।

व्यंग तथा हास्य के लिये भी इस काल में नये आलम्बन प्रयुक्त हुये। रीतिकाल में कंजूसों पर ही हास्य के छीटें कसे जाते थे परन्तु इस समय नये फैशन के गुलाम, पुरानी लकीर के फकीर, मूर्ख और खुशामद पसन्द रईस,

रुपया पैसा नोचने वाले अदालत के कर्मचारी, थोड़ा सा चन्दा देकर देशभक्तों की सूची में नाम लिखाने वाले चालाकों पर भी व्यंग के बाण छोड़े गये।

इस काल के पूर्व हमारे साहित्य में संस्कृत की प्रणाली पर ही प्रकृति का वर्णन होता था। वह भी संस्कृत कवियों की विशेषताओं के साथ नहीं। शृंगार के अंतर्गत उद्दीपन की दृष्टि से प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का नाम भर गिना दिया जाता था। इस प्रकार की कविताओं में न तो प्रकृति का वास्तविक चित्र ही सामने आ पाता है न तो उसके प्रति कवि की भावनाओं का ही पता चलता है। हमारे कवियों की दृष्टि राजमहल के बागों और उपवनों तक ही सीमित थी। वे केवल परम्पराओं का ही पालन करते थे। इस समय के कवियों ने प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करके उसका अत्यन्त सुन्दर उद्‌घाटन किया। प्रकृति वर्णन का यह स्वतन्त्र रूप बाल मुकुन्द गुप्त प्रताप नारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह आदि की रचनाओं में तो मिलता ही है परन्तु यह विशेषता श्रीधर पाठक की कविताओं में खूब उभर कर आयी है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

बीता कातिक मास शरद का अन्त है
जौ गेहूँ के खेत सरस सरसों घनी।
दिन दिन बढ़ने लगी, बिपुल शोभासनी॥
सुवर सौंप सुन्दर कसूम की क्यारियाँ।
सोआ, पालक आदि विविध तरकारियाँ॥
अपने अपने ठौर सभी ये सोहते।
सुन्दर शोभा से सबका मन मोहते॥

इसी तरह के स्वाभाविक चित्र उनके बसंतागमन (सं० १६५८) बसन्त राज्य (सं० १६५८) बसन्त (सं० १६४०) हिमालय (सं० १६४१) मेघागमन (सं० १६४२) सरस बसंत (सं० १६४२) घनाष्टक (सं० १६४३) हेमंत (सं० १६४४) शरद समागम स्वागत (सं० १६५६) घन विजय (सं० १६५६) गुणवंत हेमंत (सं० १६५७) आदि रचनाओं में भी देखने को मिलती है। पाठक जी ने मानव को भी प्रकृति का ही एक अंग मान लिया है। मेघागमन में प्रकृति वर्णन के भीतर छिपी हुयी उनकी भावनायें उनके व्यक्तित्व पर पूरा प्रकाश डालती हैं। मालूम होता है, इन कविताओं की रचना करते समय उनके मस्तिष्क में गोल्डस्मिथ कृत 'हरमिट' और 'डेजरटेड विलेज' के प्राकृतिक दृश्य घूम रहे थे। गोल्ड स्मिथ की शैली पर

लिखे गये प्रकृति वर्णन में उन्होंने मानव अनुभूतियों का पर्याप्त ध्यान रखा है। पाठक जी संस्कृत के भी अच्छे विद्यार्थी थे, इसलिये 'ऋतुसंहार' की प्रणाली पर भी उन्होंने प्रकृति के अच्छे तस्वीर उतारे हैं।

इस काल में कुछ महत्व पूर्ण अनुवाद भी किये गये जिससे हिन्दी कविता को कुछ नयी चीजें प्राप्त हुयीं। पाठक जी ने गोल्ड स्मिथ के हरमिट, का एकान्त वासी योगी (सं० १६३७) डेजरटेड विलेज का ऊजड़ ग्राम (१६४६) ट्रैव-लर का 'श्रान्त पथिक', लांग फेलों की इवंजलाइन का 'गड़रिया और आलम' (सं० १६४१) के नाम से अनुवाद किया। विषय और शैली की दृष्टि से उपर्युक्त पुस्तकें नमूने की वस्तुयें थीं। सं० १६३३ में हरमिट को भारतीय वेष भूषा में मानपुरा, मुज्जफरपुर के बाबू लक्ष्मण प्रसाद ने भी उपस्थित किया था। आबू के विद्यारसिक जी ने 'ग्रे' की एलेजी का सं० १६५४ में "ग्रामस्थ शवागार लिखित शोकोक्ति" शीर्षक के अन्तर्गत सुन्दर रूपान्तर किया। इसके पश्चात् एलेजी की प्रणाली पर हिन्दी में अनेक शोक पूर्ण रचनायें शुरू हो गयीं। हरिश्चन्द्र श्रीधर पाठक, महाबीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय, बाल मुकुन्द गुप्त तथा श्रीनगर के राजा कमलानन्द सिंह ने मार्मिक और शोक पूर्ण रचनायें कीं रत्नाकर ने पोप के 'ऐसेज आन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद 'समालोचनादर्श' के नाम से किया। इस प्रकार हिन्दी कविता का भण्डार भरा जाने लगा।

भारतेन्दु युग में ऐसा कोई कवि देखने को नहीं मिलता जिसने केवल खड़ी बोली में ही कवितायें लिखी हों। हरिश्चन्द्र जी की मृत्यु के पश्चात् खड़ी बोली का आन्दोलन शुरू हुआ और धीरे-धीरे उसके पाँव भी जमने लगे। अयोध्या प्रसाद खत्री, महाबीर प्रसाद द्विवेदी तथा श्रीधर पाठक खड़ी बोली के समर्थकों में से थे। प्रताप नरायण मिश्र और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' विरोधी दल के नायक थे। राधाकृष्ण दास आदि लोगों का एक तीसरा दल भी था जो इस झगड़े को व्यर्थ की चीज समझता था। यह दल रसात्मक और अनूठी रचना में विश्वास रखता था और चाहता था कि खड़ी बोली में ब्रजभाषा के तथा ब्रजभाषा में खड़ी बोली के उपयुक्त शब्द ग्रहण किये जाँय। श्रीधर पाठक, प्रताप नारायण मिश्र, प्रेमघन, अयोध्या सिंह उपाध्याय प्रभृति कवियों ने खड़ी बोली की रच-नाओं में ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया है। हाँ! भारतेन्दु, रत्नाकर तथा महा-बीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा में यह घपले बाजी नहीं है। इस समय ब्रजभाषा

का प्रभाव एकदम लुप्त न हो सका और न उसकी एक छत्र सत्ता ही रह गयी। खड़ी बोली का प्रभाव बढ़ने लगा। श्रीधर पाठक, पूर्ण, और नाथूराम शंकर शर्मा ने खड़ी बोली में भी सुन्दर रचनायें कीं। पाठक जी के "एकान्त वासी योगी" में सर्व प्रथम खड़ी बोली अपने मजे हुये रूप में सामने आयी। इसमें ब्रजभाषा का सा माधुर्य है। शब्द भी बोलचाल की भाषा के हैं। 'श्रांत पथिक' में खड़ी बोली को और प्रौढ़ता प्राप्त हुयी। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का खूब प्रयोग किया गया। भाषा नित्य के व्यवहार से ऊपर उठी हुयी है। खड़ी बोली के व्याकरण की उपेक्षा अवश्य खटक जाती है। दिखाय पावै, बिलखै, हरसै, आदि प्रयोग भी मिलते हैं।

नाथूराम जी आर्य समाजी थे इसलिए उनकी रचनाओं में उपदेशों की प्रधानता है। जहाँ वे भावुक कवि के रूप में आये हैं, वहाँ उनकी कृति अपने उत्कृष्ट रूप में दिखलायी पड़ती है। वे शब्दों के जादूगर थे। उनकी भाषा में एक प्रकार का अक्खड़पन मालूम पड़ता है। 'लगने पर' के लिये 'लगे', घूमता है के लिए 'घूमे', बहता है के लिए 'बहे' रूपों का प्रयोग किया गया है। कुछ अप्रचलित प्रान्तीय प्रयोगों के कारण रचनाओं में अस्पष्टता-सी आ गयी है। पूर्ण जी की भाषा भी शुद्ध खड़ी बोली नहीं है।

पहले मुक्तक तथा कथात्मक एवं वस्तु वर्णनात्मक प्रबन्धों की चाल थी परन्तु इस समय छोटे-छोटे भाव प्रधान तथा इतिवृत्तात्मक पद्यात्मक निबन्ध लिखे गये। प्राचीन काल में दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, सोरठा, रोला, छप्पय आदि छन्द ही विशेषकर प्रयुक्त होते थे। इस समय उनके स्थान पर कवियों ने रोला, छप्पय, द्रुत बिलम्बित, शिखरणी एवं अष्टपदी लावनी, रेखता, ग़जल आदि छन्दों पर भी ध्यान दिया। इस प्रकार प्राचीन छन्द प्रणाली में भी कोई विशेष परिवर्तन दृष्टि गोचर नहीं होता। इसीलिये इस युग की सम्पूर्ण गति विधि की सम्यक विवेचना करते हुये डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने अपने आधुनिक हिन्दी साहित्य (सन् १८५०–१९००) में स्पष्ट लिखा है—"इस काल में कविता की प्राचीन धारा का प्राधान्य रहा। राधाकृष्ण की प्रेम लीला और भक्ति के घने जंगल में नवीनता, स्वच्छ और चमकती हुयी पतली जल धारा के समान है। उसमें प्रचारात्मकता रहते हुये भी सरलता, स्पष्टता, स्वाभाविकता, हृदय की सच्ची अनुभूति, शैली की मनोहरता और

सर्वोपरि आधुनिक विचारधारा को जन्मदात्री भी होने की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास में उसका स्थान सदैव ऊँचा रहेगा।"

भारतेन्दु युग की सामान्य प्रवृत्तियाँ

भारतेन्दु युग में मुख्यतया पाँच प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं।

१. **प्राचीन परम्परा का अंशत: परिपालन**—इस युग के अधिकांश कवियों ने परम्परा से चली आती हुयी राधा कृष्ण की युगुल जोड़ी पर थोड़ी बहुत शृंगारिक कवितायें भी लिखी हैं जो रीति कालीन कविताओं से कुछ हद तक शिष्ट हैं।

२. **देशभक्ति, और भारत की पराधीनता तथा तत्कालीन अधोगति पर क्षोभ**—सम्प्रति युग के अधिनायक भारतेन्दु बाबू तथा उनके समकालिनों की रचनाओं में देश के प्रति अगाध श्रद्धा की भावना दिखलायी पड़ती है। उन्होंने भारत की पराधीनता पर आँसू बहाये हैं और तत्कालीन अधोगति पर क्षोभ प्रकट किया है। देश के दुःख दारिद्र और अंग्रेजों द्वारा उसके आर्थिक शोषण पर उन्होंने सिर धुना है।

३. **राजनैतिक एवं शासन सम्बन्धी सुधारों और जन सत्तात्मक प्रणाली की स्थापना की मांग**—इस युग के कवि ब्रिटिश साम्राज्य को जनतंत्र के रूप में बदल देना चाहते थे। वे अनेक प्रकार के सुधार चाहते थे। अपनी माँगों की पूर्तियों पर वे प्रसन्नता भी प्रकट करते थे। इन माँगों के लिये सब लोग आपसी भेदभावों को भूल कर लक्ष्य पूर्ति के लिये संगठित भी दीख पड़ते हैं।

४. **ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों का प्रयोग**—इस काल के लगभग अधिकांश कवियों ने भाषा के दोनों रूपों का प्रयोग किया है। पहले तो सब लोग ब्रज भाषा में ही लिखा करते थे परन्तु खड़ी बोली का आन्दोलन प्रारम्भ होने पर बहुत से लोग उसी में लिखने लगे। फिर भी न तो इस युग में ब्रज भाषा का एक छत्र साम्राज्य ही रह सका न तो खड़ी बोली ही अच्छी तरह जम सकी। कुछ लोगों ने ब्रज भाषा की रचनाओं में खड़ी बोली के शब्दों का तथा अनेक ने खड़ी बोली में ब्रज भाषा के शब्दों का प्रयोग किया है।

५. **प्राचीन छन्दों में नये भावों का समावेश**—भारतेन्दु युगीन कवियों ने प्राचीन छन्द प्रणाली का पल्ला पूर्ण रूप से कभी नहीं छोड़ा। उन्होंने प्राचीन छन्दों में नये भावों के आसव ढाले हैं। वही दोहा और चौपाई, कवित्त और सवैया, छप्पय और रोला यहाँ भी दीख पड़ता है।

द्विवेदी-युग

(सं० १९०६—१९८५)

नामकरण और महत्व

हिन्दी साहित्य के इतिहास में सं० १९६० एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और युगान्तर कारी तिथि के रूप में स्मरणीय है जब पं० महाबीर द्विवेदी ने प्रयाग से निकलने वाली 'सरस्वती' मासिक के सम्पादन का उत्तरदायित्व का भार अपने ऊपर लिया। भारतेन्दु युग के अंतिम वर्षों में खड़ी बोली का जो आन्दोलन उठा वह जोर पकड़ता ही गया और इस युग के आते-आते वह काव्य की भी सर्वमान्य भाषा मान ली गयी। इस भाषा में सर्व प्रथम पं० श्रीधर पाठक ने कुछ फुटकर पद्य लिखे और अंग्रेजी के कतिपय ग्रंथों का सफल अनुवाद किया। इस प्रकार पाठक जी को ही खड़ी बोली का वास्तविक उन्नायक कहा जा सकता है। वे जन साधारण की सामान्य भावनाओं को अपनी कविताओं में बाँध देने के लिये लोक गीतों का आधार लेते थे। उन्होंने भाषा, भाव, तथा छन्द के क्षेत्रों में परम्पराओं तथा रूढ़ियों का विरोध किया। पं० माधव प्रसाद मिश्र जैसे आलोचकों ने उन पर व्यंग के बाण भी छोड़े परन्तु उन्होंने उनकी रंच मात्र भी परवाह नहीं की। पाठक जी ने लावनी के लय पर 'एकान्तवासी योगी' के नाम से गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का अनुवाद किया और कहीं कहीं पर अर्द्धशिक्षित साइयों के सद्धकड़ी ढंग पर—"जगत है सचा, तनिक न कचा, समझो बचा, इसका भेद"—जैसी पंक्तियाँ भीं लिखीं। 'स्वर्गीय बीणा' बजाकर उन्होंने उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्य पूर्ण संकेत किया जिसकी ताल सुर पर सारी संसृति नृत्य कर रही है। हिन्दी में वे स्वच्छन्दताबाद (Romanticism) की नींव दे रहे थे कि पं० महाबीर द्विवेदी के आगमन से उनकी शक्ति क्षीण हो गयी।

भारतेन्दु युग में अंग्रेजी साहित्य की चकाचौंध से घबराकर लोग साहित्य का भण्डार भरने में लग गये थे। हिन्दी में विषयों की अनेक रूपता दिखलायी पड़ने लगी। इस चक्कर में पड़कर कुछ लोगों ने खूब मनमानी की। नये-नये प्रयोग करने के कारण लोगों ने साहित्य के स्वरूप को बिगाड़ दिया। यह

अवस्था लगभग सं० १९५७ से ६३ तक रही। इसलिये इन सात वर्षों को अराजकता का काल कहा जा सकता है। अराजकता काल में हमारे साहित्यकारों का ध्यान अनुवादों और नये प्रयोगों पर अधिक था। उन लोगों ने भाषा की रंच मात्र भी चिन्ता नहीं की। अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया गया। व्याकरण के नियमों को अगूँठा दिखा कर लोग नाक की सीध बढ़ने लगे। आचार्य द्विवेदी ने इस समय पतवार सम्हाल ली। उन्होंने तत्कालीन साहित्य को स्थायित्व प्रदान किया और साहित्यकारों को मनमानी करने से रोक दिया। सं० १९६५ से ७३ तक की अवधि में हिन्दी सुव्यवस्थित हो गयी। गद्य में अंग्रेजी और पद्य में संस्कृत का आदर्श स्वीकार कर लिया गया। इसीलिये उपर्युक्त नौ वर्षों को व्यवस्था काल कहा जाता है।

सरस्वती के सम्पादन का भार-ग्रहण करते ही उन्होंने हिन्दी की कमियों की ओर ध्यान दिया। उनके ऊपर संस्कृत और मराठी का प्रभाव अधिक था इसलिये उन्होंने खड़ी बोली में संस्कृत के छन्दों का प्रयोग करना शुरू किया। उन्होंने खड़ी बोली और संस्कृत के छन्दों में कविता लिखने के लिये नवयुवकों को ललकारा। राजा रवि वर्मा और ब्रज भूषण राय चौधरी के चित्रों को 'सरस्वती' में प्रकाशित कर नये लेखकों से उनपर कवितायें लिखने का आग्रह किया। आचार्य महोदय ने नये विषयों की ओर संकेत किये। काव्य में संस्कृत की प्रतिष्ठा की। 'साकेत' के प्रणयन की प्रेरणा की। अनेक कवियों को प्रोत्साहित किया। उनकी रचनायें शोधीं। भाषा की अस्थिरता दूर कर उसे एक स्थिर रूप दिया। व्याकरण के दोष दूर किये। विभक्तियों का प्रचार किया और पैराग्राफ पद्धति से लिखने पर जोर दिया। सं० १९७४ से १९८२ तक का काल तो बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इस समय तक गद्य और पद्य दोनों में अंग्रेजी का अनुकरण होने लगा था। काव्य में गीति का तत्व बढ़ रहा था। कला की उन्नति हो रही थी। प्रतिभा की दृष्टि से यह काल केवल भक्ति काल से पीछे है। कुछ अर्थों में बढ़कर भी है। इसी अवधि में प्रेमचन्द के सबसे अच्छे उपन्यास 'रंग भूमि' और 'प्रेमाश्रम', प्रसाद के नाटकों में अजात-शत्रु और कामना, काव्य में आँसू तथा पंत और निराला के कुछ सुन्दर गीत प्रकाश में आये। गुप्त जी का खण्ड-काव्य एवं आख्यानक काव्य 'पंचवटी', 'शक्ति गुरुकुल' तथा उनके सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य 'साकेत' के अधिकांश भाग इसी समय लिखे गये। एक भारतीय

आत्मा और सुभद्रा कुमारी चौहान की देश भक्ति और वीर रस पूर्ण कविताओं के सर्जन का भी यही काल है। प्रेमचन्द, प्रसाद, और सुदर्शन की उत्कृष्ट कहानियाँ भी इसी समय प्रकाशित हुयीं। शुक्ल जी की सुन्दर वैज्ञानिक आलोचनायें तथा दास जी के साहित्यालोचन का दर्शन भी इसी समय हुआ। इस युग के नायक आचार्य द्विवेदी थे। सं० १९६० से ८५ के बीच पद्य रचना अथवा गद्य शैली में ऐसा एक भी साहित्यिक आन्दोलन नहीं है जिस पर उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव न पड़ा हो। वे एक सफल अनुवादक थे। उन्होंने कुमार सम्भव सार में कविता की विशुद्ध और टकसाली भाषा का सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया था। उनकी मौलिक रचानाओं का कोई साहित्यिक महत्व नहीं है। वे शक्ति और शाशकत्व के प्रतीक थे। इसीलिए सं० १९६० से १९८५ तक के काल को द्विवेदी युग कहा जाता है।

जीवनी

हिन्दी के जानसन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म वैशाख शुक्ल ४ सं० १९२१ को एक कान्य कुब्ज ब्राह्मण परिवार में रायबरेली जनपदान्तर्गत दौलतपुर नामक एक गाँव में हुआ था। उनके पिता रामसहाय जी नौकरी पेशा वाले एक साधारण ब्राह्मण थे। द्विवेदी जी की शिक्षा-दीक्षा गाँव से ही आरम्भ हुयी। वहीं पर रहकर उन्होंने थोड़ी बहुत उर्दू और संस्कृत पढ़ी। बाद को अंग्रेजी का अध्ययन करने के लिये उन्हें रायबरेली भेज दिया गया। उनकी आर्थिक दशा अच्छी न थी। भोजन की व्यवस्था के लिये उन्हें अपने घर से गल्ले की गठरी बाँध कर राय बरेली पैदल जाना पड़ता था। इस प्रकार उनको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। ऐसी अवस्था में रहकर अपने अध्ययन क्रम को वे आगे न बढ़ा सके। उन्हें पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। इसके पश्चात् वे चले गये अजमेर जहाँ उन्हें १५) मासिक की एक नौकरी भी मिल गयी। वहाँ पर उन्होंने केवल एक वर्ष तक काम किया। दूसरे वर्ष अपने पिता के पास बम्बई चले गये। बम्बई में उन्होंने तार का काम सीखा। काम में निपुणता प्राप्त कर लेने के बाद उन्हें २५) महीने की नौकरी मिल गयी। नौकरी करते हुये भी उन्होंने अध्ययन का क्रम जारी रखा। वहीं पर उन्होंने गुजराती और मराठी साहित्यों का अध्ययन किया। परिश्रमी तो थे ही अतः शीघ्र ही अपने विभाग के प्रधान क्लर्क हो गये। उस पद पर रहकर उन्होंने अंग्रेजी

में तार के ऊपर एक किताब लिखी। कुछ वर्षों के बाद उनका स्थानान्तरण झाँसी में हो गया। वहाँ वे बंगालियों के सम्पर्क में आ गये। उनके साथ रह कर उन्होंने बंग साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। उनकी साहित्य साधना में रेलवे की नौकरी बाधक हुयी। यद्यपि उन्हें इस स्थान पर एक अच्छी सी तनख्वाह भी मिल जाती थी परन्तु साहित्य के प्रति अत्यधिक अनुराग की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया। सं० १९६० में प्रयाग से प्रकाशित होने वाली 'सरस्वती' मासिक के द्विवेदी जी सम्पादक होकर साहित्य के क्षेत्र में अवतरित हो गये।

इस स्थान पर २० वर्षों तक काम करके उन्होंने हिन्दी की अपूर्व सेवा की। सं० १९७८ में उन्होंने 'सरस्वती' से अवकाश ले लिया। फिर भी वे सं० १९८५ तक उसके लिये बराबर लिखते रहे। उनके व्यक्तित्व में प्रतिभा और परिश्रम का मणिकाञ्चन संयोग हो गया था। लगातार परिश्रम करने के कारण उनका स्वास्थ्य चौपट हो गया था इसलिये उन्होंने लेख भी लिखना बन्द कर दिया। इसके पूर्व लेखों से उन्हें अच्छी खासी आमदनी हो जाया करती थी परन्तु अब वह मार्ग भी अवरुद्ध हो गया। ऐसी अवस्था में रामगढ़ नरेश उनकी थोड़ी बहुत सहायता कर दिया करते थे।

द्विवेदी जी का रहन-सहन बड़ा सादा था। हृष्ट-पुष्ट शरीर और लम्बे-चौड़े कद पर भारतीय वेश-भूषा खूब जँचती थी। वे बड़े ही निर्भीक और स्वाभिमानी थे। अपने धर्म के प्रति उनके हृदय में अगाध-श्रद्धा की भावना थी। खान-पान में वे बड़े चौकन्ने रहते थे। प्रत्येक बात में नियम का पालन करते थे। उनसे एक-एक पैसे का हिसाब लिया जा सकता था। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वे कंजूस थे। सच पूछा जाय तो वे एक अत्यन्त उदार व्यक्ति थे। उन्होंने अपने खर्च से कई लड़कों को बी० ए०, एम० ए० तक की शिक्षा दिलवायी थी। गाँव के ग़रीब घरों की अनेक लड़कियों का बिवाह करा दिया था। अनेक विधवाओं को मासिक वृत्तियाँ दिया करते थे। ६४०० रुपये हिन्दू विश्वविद्यालय को छात्र वृत्तियों के लिये दिये थे। नागरी प्रचारिणी सभा को १००० रुपये तथा अपने पुस्तकालय की हजारों पुस्तकें दान कर दी थीं।

हिन्दी संसार ने उनकी सेवाओं की मुक्त कण्ठ से सराहना की। सं० १९८८ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया था।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन के वे स्वागताध्यक्ष तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष भी रह चुके थे। साहित्य सम्मेलन उन्हें 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित कर स्वयं और गौरवान्वित हुआ था। प्रयाग में महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा के सभापतित्व में द्विवेदी-मेला भी सम्पन्न हुआ था जिसमें देश भर के हिन्दी सेवियों ने एक स्थान पर एकत्र होकर अपने आचार्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी। इससे पूर्व किसी हिन्दी लेखक का इतना बड़ा सम्मान नहीं किया गया था।

पंडित जी के जीवन में जितनी सफलता मिली उसका मूल कारण उनका परिश्रम है। आलस्य तो उनसे कोसों दूर भागता था। कठिन परिश्रम करने के कारण वे कभी-कभी बीमार पड़ जाया करते थे। सं० १९९५ में जलोदर रोग के कारण निःसंतान द्विवेदी जी ने अपने सैकड़ों मानस पुत्रों को बिलखता हुआ छोड़कर अनन्त की राह ली।

रचनायें

उनकी रचनायें अनेक रूपों में मिलती हैं। वे एक अत्यन्त सफल अनुवादक थे। उन्होंने विभिन्न भाषाओं के उच्च कोटि के ग्रन्थों का हिन्दी में उल्था किया था। उनके पद्य-अनूदित पुस्तकों में विनय-विनोद, स्नेह माला, विहार बाटिका, ऋतु रंगिणी, तथा कुमार सम्भव की गणना की जाती है। यद्यपि वे कवि नहीं थे फिर भी उन्होंने तत्कालीन कवियों के पथ-प्रदर्शन के लिये अनेक पद्यों की सृष्टि की थी। उनके मौलिक पद्यों का संग्रह 'सुमन' के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है। देवी स्तुति शतक भी उनका स्वतंत्र काव्य संग्रह है।

कविता—

वे कविता को केवल मनोरंजन की वस्तु न समझते थे। उनके अनुसार कवि के ऊपर समाज का दायित्व भी रहता है। इसीलिये उन्होंने गंभीरता पूर्वक सामाजिक समस्याओं को छन्दबद्ध किया। बली बर्द शीर्षक कविता में उनके विचार देखिये—

तुम्हीं अन्न दाता भारत के सचमुच बैलराज! महराज
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना दाना को मुहताज
तुम्हें षण्ड कर देते हैं जो महानिर्दयी जन सरताज
धिक उनको उन पर हँसता है बुरी तरह यह सकल समाज॥

इसी प्रकार की इत्तिवृत्तात्मकता उनके सभी पदों में दिखलायी पड़ती है। उन्होंने शृंगार का बहिष्कार किया और अपनी कविताओं के द्वारा समाज सुधार का संकेत किया। उन्होंने मातृभूमि प्रेम तथा देश-गौरव पर भी सुन्दर पद्य लिखे। उनका सारा काव्य अभिधा मात्र है। न तो उसमें लक्षणा दीख पड़ती है न चित्रोपमता न अलंकारों की इन्द्र धनुषी छटा। इस प्रकार द्विवेदी जी की कविता में रीति कालीन शृंगारिक रचनाओं के प्रतिवर्तन का प्रतिनिधित्व करती हैं।

भाषा-शैली

अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ की तरह पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का भी विश्वास था कि कविता की भाषा गद्य की ही व्यावहारिक भाषा होनी चाहिये। इसीलिये उन्होंने गद्य की भाषा खड़ी बोली को कविता का माध्यम बनाया। पहले खड़ी बोली की कविताओं में अवधी और ब्रज भाषा के शब्दों की बेमेल खिचड़ी पका दी जाती थी परन्तु अपने समय में उन्होंने भाषा की सरलता और शुद्धता की ओर ध्यान दिया। वे व्याकरण की कसौटी पर तत्कालीन कवियों की भाषा कसा करते थे। फिर अपनी रचनाओं की बात ही क्या पूछनी है? आचार्य महोदय ने संस्कृत और मराठी छन्दों का हिन्दी में बड़ी सफलता से प्रयोग किया। उनके सम्पूर्ण काव्य का अध्ययन करने पर उसमें एक बंधी हुयी प्रणाली दीख पड़ती है जिसके चारों ओर उनके पद्य दौड़ते हैं। उनके पद्य में दो प्रकार की भाषायें प्रयुक्त हुयी हैं। एक में संस्कृत के तत्सम शब्दों की भरमार है और दूसरे में साधारण प्रचलित शब्दों का आधिक्य। इसलिये हम कह सकते हैं कि उनकी भाषा और शैली भी अपने ढंग की है।

सरस्वती के सम्पादन काल में उन्होंने अनेक कवियों और पद्य लेखकों को पैदा किया। उनके काव्यादर्श से प्रभावित होकर अनेक कवि मैदान में आये और उनके संकेतों पर आगे बढ़ने लगे। सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय के अतिरिक्त भारतेन्दु युग के हरिऔध जैसे कवियों की प्रतिभा का भी इसी युग में पूर्ण विकास हुआ।

हरिऔध का प्रिय-प्रवास

सं० १९७१ में हरिऔध जी का प्रिय-प्रवास प्रकाशित हुआ। इस महा काव्य में पावन-चरित्र श्री कृष्ण चन्द्र का ब्रज से मथुरा का प्रवास तथा उनका

दूसरे पर प्रभाव आदि घटनायें वर्णित है। इससे पूर्व के कवियों ने कृष्ण को शृंगार की नालियों में खूब गोते खिलाये थे परन्तु इस महाकवि ने पुराणों के आदर्श पुरुषोत्तम कृष्ण के चरित्र को अत्यन्त सँवार निखार कर लोगों के सामने प्रस्तुत किया। उनके पावन व्यक्तित्व पर गोपिकायें ही नहीं प्रत्युत ब्रज का आबाल वृद्ध समाज भी आकर्षित हो उठा है। उनके गुण भी तो कुछ विचित्र प्रकार के हैं—

विचित्र ऐसे गुण हैं ब्रजेन्द्र में
स्वभाव उनका ऐसा अपूर्व है।
निबद्ध सी है जिनमें नितान्त ही
ब्रजानुरागी जन की विमुग्धता॥

गोवर्धन धारण की कथा को उन्होंने जिस रूप में उपस्थित किया है उससे उनकी आधुनिक बुद्धिवाद के प्रति जागरूकता ही सिद्ध होती है। ब्रज में इतनी वर्षा हुयी कि लोगों को लगा जैसे प्रलय काल आया और अब आया। कृष्ण ने इधर-उधर दौड़कर लोगों की ऐसी सहायता की कि लोग कहने लगे भई वाह! कृष्ण ने तो ब्रज को उँगलियों पर उठा लिया। देखिये न,

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में
ब्रज धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे
रख लिया है उँगली पर श्याम ने।

इसके अतिरिक्त प्रिय प्रवास में मानव जीवन की सामान्य भावनाओं की भी बड़ी सफल व्यंजना हुयी है। स्नेह का एक उदाहरण लीजिए। कृष्ण के मथुरा जाने की खबर ब्रज भर में फैल गयी है। प्रिय के बिछुड़ने की भावना से सभी लोग दुखी हैं। वेदना से आकुल एक बूढ़ा अहीर अक्रूर से कोई ऐसी युक्ति पूछ रहा है जिससे प्रिय-प्रवास टाला जा सके—

रोता होता विकल अति ही एक आभीर बूढ़ा
दीनों के से बचन कहता पास अक्रूर आया।
बोला—कोई जतन जन को आप ऐसा बतावें
मेरे प्यारे कुँवर मुझसे आज न्यारे न होवें॥

तभी एक बुढ़िया भी आ जाती है—

आई प्यारे निकट श्रम से एक वृद्धा प्रवीणा
हाथों से छू कमल-मुख को प्यार से ले बलायें।
पीछे बोली दुखित स्वर से तू कहीं जा न बेटा
तेरी माता उधर कितनी बावली हो रही है।

राधा-कृष्ण के अत्यन्त सुकुमार प्रेम के वर्णन की भी एक बानगी देखिये। राधा वायु के द्वारा कोई मौखिक समाचार भेजना नहीं चाहतीं। वह कहती है कि तू किसी सूखी लता को कृष्ण के पास जाकर डाल देना उन्हें मेरा स्मरण स्वयं हो जायेगा।

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो
तो तू पांवों निकट उनको श्याम के ला गिराना।
यो सीधे तू प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो
मेरा हो अति मलिन औ सूखते नित्य जाना॥

यदि यह भी असंभव हो तो राधा इतने से भी संतोष करने के लिये तैयार है कि कृष्ण का स्पर्श करके आती हुयी वायु उसको छू ले जिससे वह उसके आलिंगन की कल्पना में एक मिठास शीतलता का तो अनुभव कर लें—

पूरी होवें न यदि तुझसे अन्य बातें हमारी
तो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली जा।
छू-के प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आजा
जी जाऊँगी हृदय तल में मैं तुझी को लगा के॥

प्रसंगानुसार अनेक पंक्तियों में बिरह वेदना साकार हो उठी है परन्तु प्रेम की गम्भीरता और तन्मयता में भी राधा को लोक-कल्याण का बराबर ध्यान रहा है। उनके प्रेम में स्वार्थ का लेश मात्र भी नहीं दीख पड़ता। त्याग की यह आदर्श भावना उनके सम्मुख सदा ही उपस्थित रहती है। "प्यारे जीवें जगहित करें, गेह चाहे न आवें" इससे बढ़ कर भी एक प्रेमिका के त्याग का उदाहरण दिया जा सकता है, हमें नहीं मालूम। कहीं-कहीं मोह की भावना भी दीख पड़ती है तो त्याग के साथ। राधा तथा अन्य गोप कन्यायें नंद नंदन के दर्शन को अत्यन्त लालायित हो रही हैं परन्तु वे यह कभी नहीं चाहतीं कि अनिष्ट की आशंका में

भी कृष्ण मिले हीं। "संभावना यदि किसी कुप्रपंच की हो, तो श्याम मूर्ति व्रज में न कदापि आवें" जैसी पंक्तियों में यही भाव है।

उपाध्याय जी ने प्रकृति को अपने पात्रों के दुःख-सुख में ही रँग कर देखा है। ऐसे वर्णन कहीं पर हेतूत्पेक्षा अलंकार की सहायता से किये गये हैं और कहीं आलंकारिक युक्तियों का आश्रय ग्रहण किये बिना ही। प्राकृतिक वर्णन में कहीं-कहीं केशवदास का भी प्रभाव पड़ा-सा मालूम पड़ता है। यह क्या है?

जंतू अंब कदंब निंब फलसा जंबीर औ आँवला
लीची दाड़िम नारिकेल इमिली-औ शिंशपा इंगुदी।
नारंगी अमरूत बिल्ब बदरी सागौन शालादि भी
श्रेणी बद्ध तमाल ताल कदली औ शाल्मली थे खड़े॥

ऐसी केशवशाही कहीं-कहीं पर ही दिखलायी पड़ती है। प्रिय प्रवास में उन्होंने बिजली के चमकने, मेघों के गरजने तथा पानी बरसने के दृश्यों और ध्वनियों का भी बड़ा सफल चित्रण किया है। उन्होंने केवल चमत्कार प्रदर्शन के लिये अलंकारों का प्रयोग कभी नहीं किया। सादृश्य पर निर्भर रहने वाले उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों का ही प्रायः प्रयोग हुआ है।

यद्यपि प्रिय प्रवास की भाषा संस्कृत गर्भित है फिर भी उसकी मधुरता और प्रवाह देखते ही बनता है। इसमें क्रियापद ब्रजभाषा के अनुरूप ही रख लिये गये हैं। पूर्व कालिक क्रियाओं का प्रयोग संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार हुआ है। कहीं-कहीं पर विभक्तियों का लोप भी कर दिया गया है। मुहाविरों का प्रयोग इसमें नहीं दीख पड़ता। सब मिलाकर प्रिय-प्रवास इस युग की सब से पहली अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की सृष्टि है।

पूज्य द्विवेदी जी के आह्वान पर खड़ी बोली के माध्यम से माता सरस्वती की सेवा के लिये कूद पड़ने वाले कवियों में आचार्य जी के सुयोग्य शिष्य बाबू मैथिलीशरण गुप्त को कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनका जन्म श्रावण शुक्ला द्वितीया चन्द्रवार स० १९४३ को चिरगाँव झाँसी में हुआ था। उनके पिता सेठ रामचरण एक पक्के वैष्णव तथा अच्छे कवि थे। उनका उपनाम था "कनकलता"। कनकलता जी नित्य एक छन्द बनाकर तब जलपान करते थे। उनके यहाँ लेन देन का काम होता था। इसलिये वे आर्थिक दृष्टि से भी सम्पन्न थे।

श्री मैथिली शरण गुप्त जीवन-चरित

बाल्यावस्था में हमारे गुप्त जी बड़े खेलवाड़ी थे। उनके पढ़ने के लिये झाँसी भेजा गया परन्तु वे वहाँ से भाग आये। इसलिये उनकी शिक्षा का प्रबन्ध घर पर ही करना पड़ा। पिता के सम्पर्क से वे भी कविता की ओर झुकने लगे। कहा जाता है कि सेठ रामचरण एक कापी में अपनी कवितायें लिख लिया करते थे। एक दिन अवसर पाकर मैथिलीशरण ने उसमें एक छप्पय लिख दिया। दूसरे दिन जब सेठ जी ने कविता लिखने के लिये कापी उठाई तो एक नयी रचना देख कर आश्चर्य में पड़ गये। अक्षर तो मैथिलीशरण जी के ही थे। पितृ हृदय गद्-गद् हो उठा। उन्होंने पुत्र को एक सफल कवि होने का आशीर्वाद दिया। उनकी भविष्य वाणी सत्य निकली। आज गुप्त जी हिन्दी के प्रतिनिधि राष्ट्रकवि के आसन पर विराज मान हैं।

उन्होंने पहले पहल जो रचनायें कीं वह कलकत्ता से निकलने वाली जातीय पत्रिका में प्रकाशित हुयी। कुछ समय के बाद वे द्विवेदी जी के सम्पर्क में आ गये और उनकी कवितायें सरस्वती में नियमित रूप से प्रकाशित होने लगीं। पंडित महावीर प्रसाद जी आवश्यकतानुसार उनकी भाषा और भावों का निरन्तर परिशोधन करते रहे। थोड़े ही वर्षों के बाद वह एक जन प्रिय कवि हो गये। आजकल वे भारतीय लोक सभा के मनोनीत सदस्य हैं।

कृतियाँ

उनकी रचनायें दो रूपों में मिलती हैं। मौलिक और अनूदित। मौलिक काव्य ग्रन्थों में रंग में भंग, जयद्रथ वध, पद्य-प्रबन्ध, भारत भारती, शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक, पद्यावली, किसान, अनघ, पंचवटी, स्वदेश-संगीत, गुरु तेग बहादुर, हिन्दू, शक्ति, सौरन्ध्री, बन वैभव, बक संहार, साकेत और झंकार। बाद को यशोधरा, सिद्धराज और नहुष की भी रचना हुयी। विकट भट, कुणाल गीत, काबा और कर्बला, अर्जन और विसर्जन—मौर्य विजय, मंगलघट, त्रिपथगा, तथा गुरुकुल भी उनके काव्य ग्रन्थ है। अनघ, चन्द्रहास और तिलोत्तमा पद्य बद्ध रूपक हैं। इसके अतिरिक्त 'मधुप' उपनाम से उन्होंने प्रसिद्ध बंगला-कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के कुछ ग्रन्थों का बीरांगना, मेघनाद बध, तथा पलासी-युद्ध के नाम से अनुवाद किया। फारसी के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कवि उमर खैय्याम की रूबाइयों के अंग्रेजी कवि फिटज्जेराल्ड कृत अनुवाद का भी उन्होंने

हिन्दी रूपान्तर किया। संस्कृत के कवि भासकृत स्वप्नवासवदत्ता का भी उन्होंने अनुवाद किया।

उपर्युक्त पुस्तकों में से अधिकांश तो द्विवेदी युग में ही प्रकाशित हो चुकी थीं वैसे तो वृद्धावस्था में भी हमारा राष्ट्रकवि काव्य की सृष्टि करता जा रहा है।

काव्य-साधना

गुप्त जी अपने काव्य में जीवन और जगत की परिभाषायें लिखा करते हैं। उनकी समस्त काव्य सामग्री हमें दो रूपों में मिलती हैं। वस्तु सम्बन्धिनी और भाव सम्बन्धिनी। प्रथम वर्ग की रचनाओं में उनके खण्ड काव्य और महाकाव्य को लिया जा सकता है। इसमें भी उनकी कृतियों के छः रूप दिखलायी पड़ते हैं। १. राष्ट्रीय, २. महाभारत की कथायें ३. रामचरित की कथायें ४. बौद्ध कालीन कथायें ५. ऐतिहासिक कथायें ६. पौराणिक कथायें।

भारत भारती उनकी प्रथम राष्ट्रीय रचना है। राष्ट्रीयता के दो रूप होते हैं। सामाजिक और राजनैतिक। सामाजिक पक्ष में उनका दृष्टिकोण हिन्दू दृष्टिकोण है। धर्म के क्षेत्र में वे रामोपासक वैष्णव है। अपनी उपासना के अनुसार ही वह समाज का नियंत्रण और सुधार चाहते हैं। यह सब होते हुये भी वह अन्य मतों के प्रति भी अत्यन्त उदार हैं। राजनैतिक क्षेत्र में वे हिन्दुओं और मुसलमानों को एकता की ठोस भूमि पर खड़ा कर देना चाहते हैं। महाभारत सम्बन्धी रचनाओं में जयद्रथ बध, बक संहार, बन वैभव, द्वापर, सैरन्ध्री, आदि कृतियाँ हैं। राम कथा सम्बन्धी काव्य ग्रन्थों में पंचवटी, और साकेत अति प्रसिद्ध हैं। बौद्ध कालीन रचनाओं में यशोधरा, और अनघ का प्रमुख स्थान है। पलासी का युद्ध, गुरुकुल पत्रावली, काबा और कर्बला ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित ग्रन्थ हैं। चन्द्रहास, तिलोत्तमा, शकुन्तला और नहुष पौराणिक रचनायें हैं।

भाव सम्बन्धिनी रचनाओं में फुटकल प्रगीतों की गणना की जा सकती है। इस प्रकार की रचनायें झंकार में संग्रहीत हैं।

साकेत और यशोधरा दो कृतियाँ ऐसी हैं जो गुप्त जी को अमर कर देने के लिये पर्याप्त है। साकेत तो महाकाव्य है जिस पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से मंगला प्रसाद पुरस्कार भी दिया जा चुका है।

साकेत

साकेत प्रणयन की प्रेरणा आचार्य द्विवेदी ने ही की थी। एक समय हमारे

देश के विभिन्न साहित्यकारों का ध्यान काव्य की उपेक्षिताओं की ओर भी गया था। कवीन्द्र रवीन्द्र का ध्यान सबसे पहले रामायण की उपेक्षिता उर्मिला की ओर गया। बाद को द्विवेदी जी ने इसे अपनी शक्तिशालिनी लेखनी से ऊपर उभार दिया। गुप्त जी ने अपने पूज्य गुरु देव की आज्ञा सर माथों पर चढ़ा ली और साकेत-सृष्टि में लग गये। लक्ष्मण और उर्मिला की कथा राम-कथा से अनस्यूत है। यदि इस ग्रन्थ का साकेत नाम न रखकर कोई ऐसा नाम करण किया जाता जिसमें उर्मिला की ही प्रधानता रहती तो राम-सीता की महत्ता कम हो जाने की भी आशंका रहती। साकेत एक ऐसा नाम है जिसके भीतर राम, सीता, लक्ष्मण, उर्मिला सभी का समावेश हो जाता है। काव्य में वर्णित सारी घटनायें भी तो साकेत में ही घटी हैं। कुछ घटनायें ऐसी अवश्य हैं जिनका उस स्थान से सम्बन्ध नहीं है परन्तु कवि ने बड़ी कुशलता से उसकी व्यवस्था कर ली है। विवाह के पूर्व की बातों को उर्मिला याद कर लेती है। साकेत के बाहर बनवास और युद्ध की कथा कुछ हनुमान जी से कहलवा दी गयी है कुछ वशिष्ठ जी प्रदत्त दिव्य दृष्टि द्वारा साकेत वासियों को प्रत्यक्ष रूप से दिखा दिया गया है। एक बार चित्रकूट में राम-समाज के विचार विमर्श की घटना घटी है लेकिन वहाँ उर्मिला समेत ही साकेत विद्यमान था। इन विन्दुओं पर विचार करने के पश्चात् साकेत नामकरण की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

प्रबन्ध कल्पना में गुप्त जी पर तुलसीदास का बहुत अधिक प्रभाव है। कैकेयी-मन्थरा संवाद से तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। कहीं-कहीं पर वाल्मिकि के रामायण की छाप भी दिखलायी पड़ जाती है। उनकी कुछ अपनी उद्भावनायें भी हैं। रामायण में उर्मिला के चरित्र के लिये जो संकेत-सूत्र मिले हैं उसी से उसका भव्य चित्र अंकित किया गया है। हाँ ! लक्ष्मण का चरित्र आवश्यकता से कुछ अधिक उग्र हो गया है। अयोध्या के राज प्रसाद में कम से कम इतनी उग्रता तो अशोभनीय ही है। तुलसी के लक्ष्मण रामचन्द्र जी का संकेत मात्र पाकर अपने क्रोध को वश में कर लेते हैं। जिससे राम की मर्यादा पूर्णतः रक्षित रहती है। लेकिन साकेत के लक्ष्मण तो कुछ दूसरी ही तरह के हैं। जब बन में भरत पहुँचते हैं तो लक्ष्मण कहते हैं—

उनको इस शर का लक्ष्य चुनूँगा क्षण में।
प्रति बेध आपका भी न सुनूँगा रण में ॥

अब आप ही बताइये कहाँ रह गयी राम की मर्यादा ? वे तो मर्यादा पुरुषोत्तम हैं न ? कम से कम लक्ष्मण को इतना तो अवश्य ही ध्यान में रखना चाहिये था। इतनी ही बात हो तो कहने को। एक बार आप कैकेयी पर भी बिगड़ खड़े होते हैं। गुरुवर्ग के अपराधों का न्याय करने का अधिकार हिन्दू संस्कृति ने पुत्रों को तो नहीं दिया है। कैकेयी के प्रति कहे गये उनके उग्र वचन तो कानों को फोड़े डालते हैं—

अरे मातृत्व तू अब भी जताती
उसका किसको है भरत की बताती
भरत को मार डालूँ और तुझको
नरक में भी न रखूँ और तुझको
खड़ी है माँ बनी जो नागिनी यह
अनार्या की जनी हत भागिनी है
अभी विषदन्त इसके तोड़ दूँगा
न रोको तुम अभी मैं शान्त हूँगा

इसी प्रकार राम चन्द्र के मारीच बध के लिये जाने पर विपत्ति की आशंका से सीता जब उन्हें जाने की आज्ञा देती है तब भी वह लाल पीले होने लगते हैं। रण भूमि में वे वीरता का परिचय अवश्य देते हैं परन्तु गुरु वर्ग के निकट उनके चरित्र की इतनी उग्रता बहुत खलती है।

कैकेयी के चरित्र को 'साकेत' में ऊपर उठाने का प्रयत्न दीख पड़ता है। पहले वह राम से बड़ा स्नेह रखती थीं। राम भी उनसे खूब हिल मिल गये थे। कौशल्या के पास लेटे हुये बालक राम जब स्वप्न में कैकेयी को देखते थे तब रोने लगते थे और तब तक चुप नहीं होते थे जब तक उन्हें कैकेयी के पास न पहुँचा दिया जाता था। इस बात की याद कैकेयी की बार बार आ रही है।

होने पर बहुधा अर्ध रात्रि अंधेरी
जीजी आकर करती पुकार थीं मेरी।
लो कुहुकिनी अपना कुहुक राम यह जागा
निज मझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा ॥

उनके चरित्र का तो आकस्मिक पतन हो गया था। मन्थरा ने उन्हें बहुत बहकाया परन्तु उनके ऊपर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। लेकिन जब उन्हें

सुझाया गया कि भरत को जान बूझ कर मामा के यहाँ भेजा गया है तब कैकेयी के हृदय में यह बात चुभ गयी। उनके हृदय में यही बात बार बार-उठती है "भरत से सुत पर भी संदेह, बुलाया तक न उन्हें जो गेह।" वह क्षुब्ध होकर सारा काण्ड कर डालती हैं। जब अनिष्ट हो जाता है तब आँखें खुलती हैं। तुलसी की कैकेयी को इस घटना के बाद हम मौन पाते हैं परन्तु गुप्त की कैकेयी में यह चीज नहीं दिखलायी पड़ती। चित्रकूट में तो वह पश्चाताप की साक्षात प्रति मूर्ति ही दीख पड़ती हैं। उनकी आत्मग्लानि इन पंक्तियों में साकार सी हो उठी है—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा
धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा ॥

राम चरित मानस की कैकेयी उपेक्षिता सी है परन्तु साकेत के कवि ने उसके कलंक को धो देने के लिए रामचन्द्र जी से भी कहलवा दिया है—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई ॥

इस प्रसङ्ग योजना के द्वारा प्रबन्ध काव्य के आदर्श की कितनी रक्षा की है गुप्त जी ने।

भरत का पावन चरित्र भी दर्शनीय है। भगवान की पादुकाओं के पास बैठे हुये पुजारी भरत का चित्र इन पंक्तियों में देखिये—

केवल पाद पीठ, उस पर है, पूजित युगल पादुकायें
स्वयं प्रकाशित रत्न दीप है, दोनों के दायें बायें।
उटज अजिर में पूज्य पुजारी उदासीन सा बैठा है
आप देव विग्रह मन्दिर से बिकल लीन सा बैठा है
मिले भरत में राम हमें तो मिले भरत को राम कभी
वही रूप है, वही रङ्ग है, वही जटायें, वही सभी

गुप्त जी ने कल्पना की कूचियों को करुणा के रंग में डुबो-डुबो कर उर्मिला के चरित्र की रेखायें खींची है। उसका त्याग अपूर्व है। चौदह वर्षों के लम्बे

वियोग को वह इस धैर्य के साथ काट रही है कि उसके त्याग से उसके प्रियतम का गौरव बढ़ रहा है—

प्रियतम के गौरव ने
लघुता दी है मुझे, रहे दिन भारी।
इस कटुता में भी,
मधुर स्मृति की मिठास मैं बलिहारी॥

चित्त ठिकाने न रहने के कारण उसे स्वप्न में ऐसा लगा जैसे उसके प्रिय वन से लौट आये हों। वियोग की प्रधानता में लक्ष्मण के मिलन से उसे आनन्द होना चाहिये था लेकिन ऐसा हुआ नहीं। उसे बड़ा दुःख हुआ कि लक्ष्मण, राम-सीता को बन में ही छोड़कर चले आये हैं—

च्युत-हुए अहो नाथ, जो यथा
धिक! वृथा हुई उर्मिला व्यथा।
समय है; अभी हा! फिरो फिरो
तुम न यों यश, स्वर्ग से गिरो॥
प्रभु दयाल है, लौट के मिलो
न उनके कुटी द्वार से हिलो॥

उसका तो सिद्धांत ही है "तुम व्रती रहो मैं सती रहूँ।" उसे प्रसन्नता हो रही है कि उसके प्रिय कठोर तपस्या का पालन कर रहे हैं परन्तु कभी-कभी अपने को भूल कर वह प्रियतम से नम्र निवेदन करना चाहती है—

मन को यों मत जीतो
बैठी है यह यहाँ मानिनी, सुध लो इसकी भी तो

कहीं-कहीं पर तो गुप्त जी ने उर्मिला के बहुत ही सुन्दर चित्र खींचे हैं। उसमें उसके जीवन की सारी करुणा जैसे उभर-सी आई है। लक्ष्मण बन से लौट कर उर्मिला से मिलने आ रहे हैं। उर्मिला अपनी सखी से यह कह कर फूल लाने का अनुरोध करती है कि बनवासी के लिये भी फूलों की माला ही अच्छी होती है। तब तक लक्ष्मण आ जाते हैं। वह चौंक कर उनके पैरों पर गिर जाना चाहती है, कि बीच में उसके प्रियतम उसे हाथों में ले लेते हैं—

टपक रही वह कुंज शिला वाली शेफाली
जा नीचे, दो चार फूल चुन ले आ आली।

बन वासी के लिये सुमन की भेंट भली वह
किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये अली यह
देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने सखी किधर थी
पैरो पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी ॥

मुद्राओं के चित्रण में तो गुप्त जी बड़े ही सिद्धहस्त हैं। एक चित्र देखिये,

तरु-तले विराजे हुए शिला के ऊपर
कुछ टिके-धनुष की कोर टेक कर भूपर
निज लक्ष्य सिद्धि-सी तनिक घूमकर तिरछे
जो सींच रही थी, पर्ण कुटी थी विरछे

साकेत में आधुनिक राजनैतिक आन्दोलन तथा प्रजातंत्र शासन के विचारों की भी स्पष्ट छाया है। सत्याग्रह आधुनिक राजनीति को बापू की नयी देन है। राम के समय में कदाचित ऐसी बात नहीं थी। लेकिन जब राम बन को जाने लगते हैं तब प्रजा सत्याग्रह करती है। लोग मार्ग में लेट जाते हैं और कहते हैं हे राम आप कुचल कर ही आगे बढ़ सकते हैं।

राजा हमने राम तुम्हीं को चुना
करो न तुम यों हाय ! लोक मत अनसुना।
ओ, यदि जा सको रौंद हमको यहाँ
यों कह पथ में लेट गये बहु जन वहाँ ॥

इतना ही नहीं कहीं-कहीं उपयोगिता वाद और साम्यवाद की भी दोहाई दी गयी है। कहीं-कहीं वर्णनों में अनावश्यक विस्तार भी हो गया है। लक्ष्मण की जान जा रही है। हनुमान संजीवन बूटी लेने आये हैं परन्तु वे अपना बहुत सा समय राम कथा सुनाने में ही नष्ट कर देते हैं। एक आध स्थल पर तो साहित्य के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी बहुत खटकता है। नीचे लिखी पंक्तियों को कितने लोग समझ सकते हैं, कदाचित गुप्त जी भूल गये।

बैठी नाव-निहार लक्षणा व्यंजना।
गंगा में गृह वाक्य सहज वाचक भना ॥

साकेत का प्रधान रस करुण है। जिसमें वियोग की करुणा के साथ शृंगार की रति और आशा का भी परिपाक हुआ है। वीर और रौद्र भी करुण रस के सहायक होकर आये हैं। इस महाकाव्य में अलंकारों की अनुपम योजना की

गयी है। एक अप्रस्तुत विधान देखिये। सूर्यास्त के पश्चात् तारागण आकाश को धीरे-धीरे अच्छादित करने लगते हैं। कवि कल्पना करता है कि सूर्य के समुद्र में डूबने से जो छींटे उड़े हैं वही तारे हैं।

लिखकर लोहित लेख डूब गया है दिन अहा।
व्योम-सिन्धु सखि देख तारक बुद-बुद दे रहा॥

व्यतिरेक का एक उदाहरण लीजिए—

किन्तु सुर सरिता कहाँ सरयू कहाँ
वह मरों को मात्र पार उतारती
यह यहीं से जीवितों को तारती

तद्रूप, भ्रान्ति और रूपकातिशयोक्ति का—

नाक का मोती अधर की कान्ति से
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से।
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है॥

यह महाकाव्य भारतीय-संस्कृति का उद्घाटन करता है। भगवान राम के मुख से कवि कहलवाता है—

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया
जन सम्मुख धन को तुच्छ बताने आया
× × × ×
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया

साकेत वास्तव में सब दृष्टियों से एक उच्चकोटि का प्रबन्ध काव्य है। भला कौन हिन्दी-प्रेमी माण्डली के स्वर में स्वर मिलाने के लिये न तैयार होगा—

खेतो के निकेत बनते हैं और निकेतों के फिर खेत।
वे प्रसाद रहे न रहें, पर अमर तुम्हारा यह साकेत॥

यशोधरा

उर्मिला के पश्चात् यशोधरा पर भी गुप्त जी ने कृपा दृष्टि की। गौतम एक दिन उसे सोती छोड़ कर चल देते हैं। यह कसक उसके हृदय में बार-बार उठती है—"सखि! वे मुझसे कह कर जाते।" मानवता के कल्याण के लिये

वह भारतीय नारी अपने प्रियतम का भी त्याग कर सकती थी परन्तु उसे तो यही दुःख है कि भगवान ने उसे पहचाना तक नहीं। इस प्रकार उसे उर्मिला के त्याग का गौरव भी न मिल पाया। फिर भी उसे संतोष है कि वे एक महान कार्य के अनुष्ठान के लिये गये हैं इसीलिये वे उसे पहले से भी प्रिय लग रहे हैं—

जाँय सिद्धि पावें वे सुख से
दुखी न हों इस जन के दुख से
उपालम्भ मैं दूँ किस मुख से
आज अधिक वे भाते
सखि ! वे मुझसे कह कर जाते।

वह बड़ी मानिनी भी है किन्तु उसके मान में अभिमान के प्रति पूरी श्रद्धा है। वह सोचती है कि जब भगवान उसे बिना सूचित किये ही चले गये हैं तब वह किस मुँह से आगे बढ़ कर मिले। उसका मान तो तभी पूरा होगा जब वह स्वयं उसके पास आकर अपना दर्शन देने की कृपा करें। उसकी इच्छा पूरी होती है। इतना ही नहीं गौतम जी उसे यह भी बताते हैं कि 'मार' के मायाजाल से उसके ध्यान ने ही उनकी रक्षा की थी।

आया जब मार मुझे मारने को बार बार
अप्सरा अनीकिनी सजाये हेम हीर से।
तुम तो यहाँ थी धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ
जूझा मुझे पीछे कर, पंच-शर वीर से ॥

इससे उसका महत्व और भी बढ़ जाता है।

गौतम पुत्र राहुल की भोली क्रीड़ायें, अटपटी बोली और अपनी माता के साथ बात-चीत का भी बड़ा स्वाभाविक चित्रण किया गया है। वह "अंब–अंब" पुकारता है। यशोधरा चाहती है कि पुत्र कम से कम 'पिता पिता' तो पुकारे जिसकी ध्वनि से सारा गृह पावन हो जाय। भला वह उनका नाम कैसे ले। भारतीय नारी है न ? अधोलिखित पंक्तियों में तो नारी जाति की ही वेदना साकार हो उठी है—

आ, मेरे अवलम्ब बता क्यों अंब अंब कहता है ?
पिता-पिता कह बेटा जिनसे घर सूना रहता है।

दहता भी है बहता भी है, यह जी सब सहता है
फिर भी तु पुकारता किस मुँह से हा! मैं उन्हें पुकारूँ
इन दाँतों पर मोती वारूँ
"अबला-जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आंचल में है दूध और आँखों में पानी"

के ऊपर ही यशोधरा का चरित्र आधारित है। गुप्त जी ने उर्मिला और यशोधरा के त्यागमय चरित्र को अपनी कुशल लेखनी से चित्रित करके नारी जाति के प्रति अपनी गहरी श्रद्धा का परिचय दिया है। वह मुख्यतया कथात्मक वृत्ति के ही कवि हैं वैसे वे समय के साथ हमेशा रह कर जनता की मनोवृत्तियों का बराबर प्रतिनिधित्व करते रहे हैं। द्विवेदी युग की इत्तिवृत्तात्मकता (Matter of fact) के प्रति वर्तन के रूप में जब रहस्यवादी गीत लिखे जाने लगे तब उन्हें भी अपने हृत्तंत्री की 'झंङ्कार' सुनायी पड़ने लगी। कवि ने उन्हें छन्दों में बांध कर हिन्दी संसार को भेंट किया। उनके इसी गुण के कारण उन्हें प्रतिनिधि कवि कहा जाता है।

भाषा और शैली

गुप्त जी खड़ी बोली के कवि हैं। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है। कहीं-कहीं पर अप्रचलित शब्द भी मिलते हैं। अरंतुद, त्वंप, विष्णु जैसे शब्द इसका प्रमाण देते हैं। इन शब्दों के प्रयोग से तुक तो अवश्य मिल गया है परन्तु भाषा के प्रवाह में वाधा पड़ी है। अनेक स्थलों पर तद्भव और तत्सम को जोड़कर भाषा के स्वाभाविक सौन्दर्य पर पानी फेर दिया गया है। तुक के आग्रह के कारण एकाध उर्दू फारसी के शब्द भी प्रयुक्त मिल जाते हैं। प्रान्तीयता का भी कम प्रभाव उनकी भाषा पर नहीं है। भरके, झीमना, छींटना, अफर, धड़ाम आदि ऐसे ही शब्द हैं।

काव्य के क्षेत्र में वे हमारे सामने प्रबन्ध कार, गीतिकार और नाट्यकार के रूप में आते हैं। इस आधार पर उनकी शैली भी तीन प्रकार की हुयी। प्रबन्ध शैली, गीति शैली और नाट्य शैली। प्रबन्ध शैली में तो कथा वर्णन की प्रधानता रहती है परन्तु अन्य शैलियों का भी उसमें प्रयोग किया गया है। उनकी तीनों शैलियों में स्पष्टता, प्रभावोत्पादकता, शिष्टता, संयम, गंभीरता तो है ही, प्रसंगानसार प्रसाद, ओज, और माधर्य गुणों का भी समावेश हुआ है। हरि-

औध की तरह उनकी शैली में नियम बद्धता नहीं है। वे अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं जिस पर उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप पड़ी हुयी है।

अन्य कवि

इसी समय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी खड़ी बोली में कुछ फुटकल कवितायें लिखीं। उनके प्रकृति वर्णन बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। गठी और परिष्कृत भाषा में कवित्तों का बड़ा सफल प्रयोग हुआ है।

द्विवेदी युग में स्वर्गीय रामचरित उपाध्याय को भी नहीं भुलाया जा सकता। वे संस्कृत के विद्वान थे और आचार्य महोदय के प्रोत्साहन से हिन्दी में कवितायें लिखने लगे थे। उन्होंने राष्ट्र भारती, देवदूत, देव सभा, देवी द्रौपदी, भारत शक्ति, विचित्र विवाद जैसी अनेक कविता पुस्तकें लिखीं। रामचरित-चिन्तामणि उनका प्रसिद्ध प्रबंध काव्य है जिस पर तत्कालीन बुद्धिवाद और देश भक्ति की भावना का प्रभाव स्पष्ट है।

संस्कृत के दूसरे विद्वान पं० गिरधर शर्मा नवरत्न की फुटकल कवितायें भी 'सरस्वती' में निकला करती थीं। उनकी रचनाओं में कवित्व नाम मात्र को भी नहीं है। उनको तो पद्यकार कहना ही उचित है। उन्होंने रविबाबू की प्रसिद्ध कृति गीताञ्जलि का अनुवाद किया। माघ के शिशुपाल बध के दो सर्गों का हिन्दी माघ, के नाम से रूपान्तर करके उन्होंने हिन्दी की श्री वृद्धि की। पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय भी इस समय छोटी-छोटी बड़ी सरस कवितायें लिखा करते थे। मृगी-दुख-मोचन उनकी प्रसिद्ध रचना है।

इन कवियों के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने ऐसे अनेक पद्य लेखकों को प्रोत्साहित कर दिया था जिनकी रचनाओं में कवित्व नाम मात्र को भी नहीं था। वे केवल तुक बन्दी ही किया करते थे। इसीलिये इस समय की अधिकांश कवितायें काव्य-तत्वहीन और सामयिक हैं। सारे हिन्दी काव्य साहित्य में ऐसी नीरस, काव्यगुणहीन रचनायें ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगी। इन्हीं के कारण कुछ समय के बाद इसका परिवर्तन हुआ और हिन्दी साहित्य में रहस्यवादी तथा छायावादी कविताओं के झरने फूट पड़े।

इस समय कुछ ऐसे लोग भी साहित्य सर्जन कर रहे थे जिन पर आचार्य महोदय का अप्रत्यक्ष प्रभाव काम कर रहा था। उनमें से कुछ लोग तो भारतेन्दु युग से ही लिखते आ रहे थे और कुछ लोगों ने इसी समय लिखना शुरू

किया था। पहले प्रकार के लोगों में दीन और सनेही हैं दूसरे वर्ग में रामनरेश त्रिपाठी और रूप नारायण पाण्डेय।

दीन जी की कविता का प्रधान विषय वीर रस रहा। वीर क्षत्राणी, वीर बालक, वीर माता, वीर पत्नी और वीर प्रताप उनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं जिनका संग्रह वीर पंचरत्न में किया गया है। 'वीर पंचरत्न' का प्रचार तो जन साधारण तक में है। उनकी खड़ी बोली में व्रज भाषा के अतिरिक्त प्रान्तीय बोलियों के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। वे काव्य में चमत्कार का आदर्श मानने वालों में से थे। उनकी फुटकल रचनायें 'नवीन वीन' में संगृहीत हैं।

सनेही जी की कविता का मुख्य विषय प्रेम है। वह भी वियोग पक्ष प्रधान। विरह में मौन रहने में ही वे एक प्रकार के सुख का अनुभव करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें सामाजिक प्रश्नों के प्रति भी हम आशावादी के रूप में ही पाते हैं। जीवन संग्राम में अग्रसर होने वालों के लिये उन्होंने ईश्वर पर विश्वास करने तथा अपने पर भरोसा रखने की शिक्षा भी दी है। हिन्दी में आने के पहले वे उर्दू में 'त्रिशूल' नाम से लिखा करते थे। इसीलिये उनकी रचनाओं पर उर्दू-काव्य शैली का प्रर्याप्त प्रभाव है। उनकी भाषा में नित्य के बोल चाल के शब्द हैं। व्यावहारिक शब्दों और मुहावरों का प्रयोग उनकी भाषा की विशेषतायें हैं।

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने श्रीधर पाठक के स्वच्छन्दतावाद को नया जीवन प्रदान किया। उन्होंने पथिक, मिलन तथा स्वप्न नामक काव्य ग्रन्थों की रचना की जिसमें देशभक्ति की भावना को काव्योचित ढंग से व्यक्त किया गया है। काव्य के लिये गोचर पदार्थों की प्रतिष्ठा ही अधिक लाभप्रद होती है। उपर्युक्त काव्यों के नायकों को भी कोई न कोई महात्मा देश-भक्ति का उपदेश करता है। इनमें आये हुये चरित्र तत्कालीन प्रचलित भावनाओं के प्रतीक रूप में आये हैं। तीनों काव्यों का अंत मंगल मय है। कवि के हृदय में मातृभूमि के भविष्य का जो उज्ज्वल स्वरूप अंकित है उसी की झलक हम इन काव्यों में भी देखते हैं। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में उन्हें अभूत पूर्व सफलता मिली है। व्यक्तियों की विभिन्न मुद्राओं का सफल चित्र खींचने में तो त्रिपाठी जी एक ही हैं। अलंकारों का प्रयोग भी बड़ी सफलता पूर्वक किया गया है। भाषा शुद्ध खड़ी बोली है।

माधुरी के भूतपूर्व सम्पादक पं० रूपनारायण पांडेय ने भी इस समय काव्य-रचना में योग दिया। उनकी कविता के विषय हैं देश भक्ति, अछूतोद्धार, तथा

स्वदेशी वस्त्र व्यवहार आदि। उन्होंने जो भक्ति मूलक रचनायें भी की हैं उनमें भी देश की दुर्दशा को प्रभु के कानों तक पहुँचाने की कोशिश की गयी है। उनकी करुणा वृत्ति का प्रसार पशु पक्षियों में भी है। प्रकृति वर्णन करने में भी पांडेय जी अत्यन्त कुशल हैं। चाँदनी रात, ग्रीष्म इत्यादि पर लिखी गयी कवितायें इसके प्रमाण में प्रस्तुत की जा सकती हैं। उन्होंने प्रेम के ऊपर जो कवितायें लिखी हैं उनमें लौकिकता की मात्रा कम है। उनकी रचनायें 'पराग' में संकलित हैं। खड़ी बोली को जहाँ तक हो सकता है उन्होंने व्याकरण सम्मत रखने का प्रयत्न किया है।

हिन्दी काव्य के भाव और कला पक्ष पर द्विवेदी जी अधिक दिनों तक शासन नहीं कर सके। वे स्वयं कवि नहीं थे इसलिये इस युग में उत्पन्न स्वच्छन्द कवि हृदयों पर उनकी बातों का प्रभाव न पड़ सका। उन्होंने भाषा को संयत और व्याकरण सम्मत बनाने तथा साहित्य को उत्थान की चरम सीमा पर फेंक देने के लिये एड़ी चोटी का पसीना एक किया था इसलिए लोग उन्हें अत्यन्त आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनके विरुद्ध मुँह खोलने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी फिर भी उनकी देख रेख में निकलने वाली कविताओं की शुष्कता से लोग ऊब चुके थे। सच पूछा जाय तो वह सरस्वती के सम्पादन काल के प्रारम्भिक दस बारह वर्षों तक ही हिन्दी कविता में अपने प्रभाव का उपयोग कर सके थे। बाद को उसकी प्रतिक्रिया धीरे-धीरे सर उठाने लगी और नये कवियों ने काव्य में हृदय तत्व की ओर ध्यान देना शुरू किया। यह सब होते हुये वे लगभग सं० १९८२ तक अन्य साहित्यिक आन्दोलनों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नेतृत्व करते रहे। इसीलिए सं० १९८२ तक के काल को द्विवेदी युग की संज्ञा दी गयी है।

द्विवेदी-युगीन कविताओं की मुख्य प्रवृत्तियाँ

द्विवेदी युगीन का कविताओं की छानबीन करने पर मुख्यतः चार प्रकार की प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं।

१. शृङ्गार का त्याग तथा देश प्रेम एवं देश गौरव की अभिव्यञ्जना—इस युग के कवियों ने शृङ्गार की उपेक्षा कर देश प्रेम तथा देश गौरव के गीत गाये हैं। मैथिली बाबू की 'भारत-भारती' में देश के प्राचीन गौरव के प्रति गर्व तथा वर्तमान के प्रति चिन्ता एवं तत्कालीन बुराइयों को सुधार देने की आकुलता

दिखलाई पड़ती है। रामनरेश त्रिपाठी के तीनों काव्य ग्रंथ तत्कालीन देशभक्ति की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस काल की देशभक्ति मूलक कविताओं में भारतेन्दु युगीन रचनाओं की तरह राजभक्ति का मिश्रण नहीं है। हाँ। शासन के प्रति असंतोष की भावना अवश्य झाँकती सी दिखलाई पड़ती है।

२. उपदेशात्मकता और सामयिकता—द्विवेदी युग की कविता काव्य गुण विरोधिनी उपदेशात्मकता से परिपूर्ण है। कवि पाठकों से स्वदेशी वस्त्र धारण करने, अछूतों को गले लगाने तथा देश पर मर मिटने की अपील करते हैं जिससे उसमें सामयिकता भी आ गयी है।

३. शैली की इतिवृत्तात्मकता—उपदेशात्मक कविताओं में शैली की प्रगल्भता और विचित्रता कहाँ आ सकती है? इस समय सामयिक विषयों पर छोटे छोटे पद्यात्मक निबन्ध लिखे गये हैं जो शुष्क नीरस और इत्तिवृत्तात्मक हैं।

४. व्याकरण सम्मत खड़ी बोली और छन्द में संस्कृत के वर्ण वृत्तों का प्रयोग—द्विवेदी जी की देख रेख में कवियों ने भाषा की शुद्धता पर पर्याप्त ध्यान दिया। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया। उसे व्याकरण सम्बन्धी भूलों से बचाने की कोशिश की और छन्दों में संस्कृत के वर्ण वृत्तों का उपयोग किया।

तत्कालीन हिन्दी कविता का विकास और उसके कर्णधार

व्यवस्था काल में पद्य के सामने संस्कृत का ही आदर्श था। आंग्ल साहित्य के स्वच्छन्दतावाद की जो स्वाभाविक सरस तथा सुरुचिपूर्ण धारा पं० श्रीधर पाठक ने बहाई थी वह द्विवेदी जी के अत्यधिक प्रभाव के कारण दब सी गयी। आचार्य महोदय द्वारा चालित कविताओं ने लगभग दस बारह वर्षों तक तो हो हल्ला मचाया, परन्तु रागात्मक तत्व के अभाव में वे रचनायें लोगों की हृत्तन्त्री को झंकृत न कर सकीं। ऊँची कक्षाओं में आंग्ल साहित्य का अध्ययन अध्यापन प्रारम्भ हो चुका था। साहित्य के विद्यार्थी वर्डसवर्थ, शेली, कीटस, बायरन तथा टेनीसन की कविताओं के पद लालित्य, कल्पना की उड़ानें, भावों की वेगवती व्यंजना, वेदना प्रसूत टीस और सिहरन, तथा शब्द प्रयोगों की विचित्रताओं पर मुग्ध थे। अंग्रेजी कविता की यह लाक्षणिकता, व्यंजक चित्र विन्यास, तथा रुचिर अन्योक्तियाँ बंग साहित्य में भी आ गयी थीं। सं० १९६७ के लगभग जीतन सिंह ने अंग्रेजी से तथा पारसनाथ सिंह ने बङ्गला से सुन्दर कविताओं के अनुवाद

का प्रकाशन सरस्वती में प्रारम्भ कर दिया था। इसी समय सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुट धर पांडेय, तथा बदरी नाथ भट्ट प्रभृति कवि खड़ी बोली की कविता को इत्तिवृत्तात्मकता की कीचड़ से निकाल कर उसे अंतर्भाव व्यंजक बनाने तथा कल्पना के विविध रङ्गों से रङ्गने का उद्योग कर रहे थे। ये कवि प्रकृति के सभी रूपों पर प्रेम पूर्वक दृष्टि पात करके उसके रहस्य भरे संकेतों को सजीव, मार्मिक और चित्रमयी भाषा में बाँधकर हिन्दी कविता के लिये स्वच्छन्द तथा स्वाभाविक मार्ग का निर्माण कर रहे थे। भक्ति के क्षेत्र में भी उपास्य की सार्वभौमिकता की प्रतिष्ठा करके उन्होंने उससे सुन्दर रहस्यात्मक संकेत लेने शुरू किये थे। इसी समय पाश्चात्य ढङ्ग के आध्यात्मिक रहस्यवाद पर आधारित गुरुदेव की गीताञ्जलि ने भारतीय साहित्य संसार में धूम मचा दी। दूसरे कवियों ने उसका तेजी से अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार पुराने इसाई संतो के छायाभास (Phantasmata) तथा यूरोपीय काव्य क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीक वाद (Symbolim) के अनुकरण पर रची जाने के कारण इस प्रकार की रचनाओं को बंगाल में छायावाद कहा जाने लगा। बंगला का यही छायावाद, हिन्दी में भी आ टपका। उसे लोक लेने के लिये सभी हिन्दी कवि एक बारगी दौड़ पड़े। कुछ दिनों तक अजीब भावों वाली छोटी बड़ी लम्बी चौड़ी पंक्तियों में लिखी जाने वाली इन कविताओं ने बूढ़े साहित्यकारों को डरवाया और उनके ललाटों पर चिन्ता की रेखायें खींच दीं परन्तु बाद को इसके अंतर्गत चित्र भाषा वाद की शैली में बड़ी सुन्दर रचनायें की गयीं। इसी से रहस्यवाद का भी विकास हुआ और प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी के हाथों उपर्युक्त वादों ने अपनी पूर्णता पा ली।'

एक ओर यह हाल था दूसरी ओर काव्य की अन्य धारायें भी प्रवाहित हो रही थीं। खड़ी बोली काव्य भाषा के लिये निरन्तर मजती चली जा रही थी। विविध वस्तु भूमियों पर तीव्रता पूर्वक प्रवाहमान इस काव्य की गतियाँ सर्व श्री ठाकुर गोपाल शरण सिंह, अनूपशर्मा, पुरोहित प्रताप नारायण, जगदम्बा प्रसाद हितैषी, तथा श्याम नारायण पाण्डेय जैसे कवियों की रचनाओं में मुखरित हो उठीं। इसमें खड़ी बोली की प्रौढ़ प्रगल्भता तथा निखार के दर्शन होने लगे। अभिव्यंजना की प्रणालियों में भी आवश्यक सजीवता, सरसता, तथा वक्रता दिखलायी पड़ने लगी।

ठाकुर गोपाल शरण सिंह ने सं० १६७१ से ही लिखना आरंभ कर दिया था। उनकी प्रारम्भिक रचनायें तो साधारण कोटि की ही हैं परन्तु आगे चलकर उन्होंने मार्मिक उद्भावनाओं तथा अभिव्यंजना की विशिष्ट पद्धतियों के प्रयोग से उसे बहुत ऊँचा उठा दिया। ठाकुर साहब की छोटी छोटी गेय रचनाओं में जीवन की अनेक दशाओं की झलक मिलती है। उनकी कृतियों के नाम हैं, माधवी, मानवी, संचिता, ज्योतिष्मती, कादम्बिनी, तथा सागरिका। माधवी की अधिकांश कविताओं में प्रकृति के सुन्दर चित्र हैं। मानवी में उन्होंने नारी को दुलहिन, देवदासी, उपेक्षिता, अभागिनी, भिखारिनी, वीरांगना आदि रूपों में देखा है। ज्योतिष्मती में तो प्रायः छायावादी भावों की व्यंजना है। हाँ! ढंग रहस्यवादियों सा न होकर भोले-भाले भक्तों सा है। कहीं-कहीं अत्यन्त लाक्षणिक और रमणीय प्रयोगों से रचनाओं में चार चाँद लग गये हैं। कुछ प्रगीत मुक्तकों में यत्र तत्र छायावादी कविता के ढंग के बिल्कुल खुले रूपक आये हैं। बाबू साहब ने खड़ी बोली में बड़ी सफलता पूर्वक कवित्त और सवैये लिखे हैं। उनकी भाषा में ब्रज भाषा का मिठास है।

अनूप शर्मा ने 'सुनाल' नामक खण्ड काव्य तथा सिद्धार्थ महाकाव्य की रचना की। उनकी फुटकल कवितायें सुमनाञ्जलि में संग्रहीत हैं। शर्मा जी बड़े व्यापक दृष्टिकोण के कवि हैं। उन्होंने विभिन्न विषयों को अपनी अनूठी कल्पना के रंग में रंग कर उसे अत्यन्त मार्मिक बना दिया है। भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। छन्दों में संस्कृत के वर्ण वृत्तों का प्रयोग किया गया है।

पुरोहित प्रताप नारायण ने हरि गीतिका, तथा रोला आदि छन्दों में 'नल नरेश' महाकाव्य लिखा है। सम्पूर्ण कथा १६ वर्गों में वर्णित है। महाकाव्य की प्राचीन रूढ़ियों का अनुकरण किया गया है। अलंकारों की अच्छी योजना की गयी है। इतिवृत्तात्मक शैली में रची गयी उनकी फुटकल कविताओं का संग्रह 'नव निकुञ्ज' तथा 'मन के मोती' नाम से प्रकाशित हुआ है।

जगदम्बा प्रसाद हितैषी ने खड़ी बोली के कवित्त और सवैये लिखे हैं जिनमें ब्रजभाषा की मिठास और लचक है। उन्होंने अनेक काव्योपयुक्त विषय लेकर फुटकल कवितायें रची हैं जिनका संग्रह 'कल्लोलिनी' और 'नवोदिता' नाम से निकला है। उनकी अन्योक्तियाँ मार्मिक हैं। भाषा चलती हुयी है।

श्याम नारायण पाण्डेय ने वीर रस की फड़कती हुयी कवितायें की। 'त्रेता

के दो वीर' लक्ष्मण मेघनाद युद्ध के प्रसंग पर लिखा गया है। 'माधव' और 'रिमझिम' छोटी रचनायें हैं। उनकी प्रतिभा का विकास 'हल्दी घाटी' और 'जौहर' नामक प्रबन्ध काव्यों में हुआ है। इन काव्य ग्रन्थों में उत्साह के अनेक अंतर्दशाओं की व्यंजना हुयी है। युद्ध की भयानक परिस्थितियों के चित्र पन्ने-पन्ने में बिखरे पड़े हैं। 'आरती' में विभिन्न विषयों पर लिखे गये गीतों का संग्रह है। भाषा चलती हुयी खड़ी बोली है।

अनेक वादों के साथ स्वाभाविक रूप से चलने वाली स्वच्छन्दता की जिस धारा का आभास श्रीधर पाठक, और राम नरेश त्रिपाठी ने दिया था वही बाद को मुकुट धर पाण्डेय की रचनाओं में एक नये रूप में दिखलायी पड़ी थी। उनकी कवितायें मानवेतर प्राणियों की गतिविधि का राग रहस्य पूर्ण परिचय देकर स्वाभाविक स्वच्छन्दता की ओर झुकी थीं। प्रकृति प्रांगण का, चर-अचर प्राणियों का राग पूर्ण परिचय उनकी गतिविधियों पर आत्मीयता व्यंजक दृष्टिपात, तथा सुख दुःख में उनके प्रति साहचर्य की भावनायें सारी बातें स्वच्छन्दता वाद की विशेषतायें हैं। इस विस्तृत अर्थ भूमि पर चलने वाले कवियों में सर्व श्री सियाराम शरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, गुरु भक्त सिंह भक्त, तथा उदयशंकर भट्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने प्रसंगानुसार पुराने छन्दों का व्यवहार और नये ढंग के छन्दों तथा चरण व्यवस्थाओं का विधान किया। वे लोग व्यंजक चित्र विन्यास, लाक्षणिक वक्रता और मूर्तिमत्ता तथा सरस पदावली का सहारा लेकर भी उन्हीं को सब कुछ नहीं समझते। उनकी कल्पना इस व्यक्त जगत और जीवन की अगणित शाखाओं से तादात्म सम्बन्ध स्थापित करने के लिये छटपटाती सी दीख पड़ती है।

समाप्ति

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी युग के प्रारम्भिक वर्षों में इत्तिवृत्तात्मक शैली में उपदेशात्मक तथा सामयिक कवितायें लिखी गयीं। कविता का सम्बन्ध विचारों से भी होता है परन्तु जब तक हृदय के परिचित भावों से उनका सामंजस्य नहीं बैठता तब तक हमारी रागात्मिकता वृत्ति उसे स्वीकार नहीं करती। इसी मनोवैज्ञानिक सत्य के आधार पर इसकी प्रतिक्रिया हुयी और धीरे-धीरे चित्रात्मक भाषा में विभिन्न विषयों पर हृदय के तारों को हिला देने वाली कवितायें लिखी जाने लगीं। रेल तार तथा डाक की व्यवस्थाओं ने संसार को

एक सूत्र में बाँध दिया था इसलिये विदेशी साहित्यिक गतिविधियों का प्रभाव भी हिन्दी पर पड़ने लगा। पाश्चात्य साहित्यों में सबसे पहले आंग्ल साहित्य के स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) का प्रभाव हिन्दी पर पड़ा। प्रान्तीय साहित्यों में बंगला के छायावाद और रहस्यवाद ने हिन्दी काव्य-धारा को मोड़ने का काम किया। सर्व प्रथम रविबाबू के अनुकरण पर इस तरह की रचनायें की जाती थीं परन्तु बाद को 'प्रसाद' ने अपनी प्रतिभा के बल पर उसे अपने ढंग से लिखना शुरू किया। इसी समय उनका 'आँसू' प्रकाशित हुआ जिसमें उस अज्ञात सत्ता के प्रति वासना प्रेरित विरह निवेदन किया गया है। अंत में शेली और कीटस की भावनाओं का भारतीयकरण हुआ। निराला ने अमेरिकन कवि वाल्ट ह्विट मैन (Walt whitman) के अनुकरण पर अतुकांत छंद का प्रयोग कर हिन्दी पिंगल शास्त्र में क्रान्ति के बीज बोये। इस युग में अनेक प्रतिभायें अंकुरित हुयीं जिन्होंने आगे चल कर हिन्दी कविता कानन को अपने फूलों से गौरवान्वित किया और जग कल्याण की घोषणा की।

नवयुग

(सं० १६८२—आज तक)

नाम करण और महत्व

आचार्य द्विवेदी के अत्यन्त विरोधों के पश्चात् भी हिन्दी-काव्य क्षेत्र में छायावाद एवं रहस्यवाद की प्रतिष्ठा हो ही गयी। पंत रचित वीणा के प्रकाशित होते ही उन्होंने 'सुकविकिंकर' के नाम से छायावादी कवियों की धज्जियाँ उड़ाने की कोशिश की परन्तु नयी पीढ़ी ने अपने पथ से विचलित होने का नाम तक न लिया। आरंभ में ये रचनायें भाषा, भाव और छंद के क्षेत्रों में अत्यधिक नवीन होने के करण जनप्रियता का लाभ न उठा सकीं परन्तु जब नये आलोचकों ने अभिनव कविता कामिनी के घूंघट सरका दिये तब रसिकों का समाज उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठा। इस युग को कोई अकेले अपने इशारों पर नचा न सका इसलिये किसी व्यक्ति-विशेष के नाम पर इस काल का नाम-करण नहीं किया जा सकता। इस युग में हिन्दी काव्य के भाव पक्ष में अनेक नूतन प्रवृत्तियाँ दीख पड़ीं, कला पक्ष में नव्य-भव्य काँट-छाँट और तराश के दर्शन हुये। इसीलिये सं० १६८२ से आज तक की अवधि को नवयुग की संज्ञा दी गयी है।

इसके पूर्व गद्य और पद्य दोनों में अंग्रेजी आदर्शों की आवश्यकता स्वीकार करली गयी थी परन्तु इस युग तक पहुँचते-पहुँचते पश्चिमी और पूर्वी साहित्यादर्शों से समन्वित आधारों पर काव्य रचना प्रारंभ हुयी। नवयुग में प्रकृति, मनुष्य जीवन के अनेक क्षेत्र, अंतर्मन और समाज सब को कविता का विषय बनाया गया। परम्परा पालन का स्थान मौलिकता ने ले लिया, शास्त्र ज्ञान का स्वानुभूति ने। इसलिये हम कह सकते हैं कि यह युग काव्य विषयों की व्यापकता, शीर्षक की नवीनता, भाषा संस्कार तथा छंदों की विविधता के लिये हमेशा याद किया जायेगा।

वैसे तो सं० १६६६ में ही छायावाद का बीज-बपन हो गया था परन्तु उसका वास्तविक विकास सं० १६८२ के पश्चात् ही हुआ इसके बाद ही काव्य क्षेत्र में मौलिक और महत्वपूर्ण रचनायें हुयीं। द्विवेदी युग के अनन्तर छाया-

वादी शैली में लिखी गयी प्रसाद की कामायनी प्रकाशित हुयी । उन्होंने अपने इस अनमोल काव्य ग्रन्थ के द्वारा विश्व को समरसता का संदेश देकर हिन्दी को विश्व साहित्य के सम्मुख सीना तान कर खड़ा होने के योग्य बनाया । पंत, निराला और महादेवी के रहस्य वादी प्रगीतों ने इसी युग में पूर्णता पायी । सं० १६८६ के राष्ट्रीय आन्दोलनों की असफलता के कारण नवयुवक कवियों का मन पीड़ा से खेल करने लगा । कुछ लोग विद्रोह के भी गीत गाने लगे । बच्चन जी ने हिन्दी कविता को छायावादी शब्द जाल तथा रहस्यवादी कुहेलिका से बाहर खींचकर स्वाभाविकता और सरसता की आधार भूमि पर ला खड़ा किया । सं० ९३ के पश्चात् रहस्यवादी भावनाओं के झरने झरते रहे किन्तु आगे चल कर उसका प्रवाह निरन्तर शिथिल होता गया । इसका कारण यह था कि राजनैतिक परिस्थितियों की विषमता के कारण विश्व का आर्थिक संतुलन डगमगाने लगा । लोगों का जीना दूभर होने लगा । राजनीति के रंग मंच पर जनतंत्र का उभरता हुआ स्वरूप अब कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगा । जनता अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने लगी । जनता—जिसे अपने धरती प्यारी होती है, धरती के गीत प्यारे होते हैं—जीवन से भागकर आकाश मात्र पर मंडराने वाली कविताओं को पसन्द न कर सकी ।

लोग कहने लगे कि अभी तक का साहित्य उच्च वर्गों का साहित्य रहा है । और उसमें उन्हीं की मनोभूमि मिलती है, एतदर्थ हिन्दी कविता को शत-शत हृदयों में उतार देने के लिये हमारे कवियों को जनता का साथ देना होगा । शोषितों और दलितों की ओर ध्यान देना होगा, जीवन के गीत गाने होंगे और धरती के छंद रचने होंगे । हमारे अनेक कवियों ने हवा का रूख भी पहचान लिया । वे झट रहस्यवादी एवं छायावादी चोंगा फेंक, किसान और मजदूरों की दुनियाँ में आ गये । प्रगतिवादी रागिनी बजने लगी । जीवन का यथार्थ चित्रण शुरू हो गया और कविता की स्रोतस्विनी जन-जन के मन में प्रवाहित होने लगी । शोषकों के प्रति आक्रोश व शोषितों के प्रति करुणा के भाव, उन्हें मानवी अधिकारों के प्रति जागरूक करना, तथा साम्राज्यवादी, पूँजी वादी आधारों पर टिके हुये समाज में आग लगा देने की उत्तेजना इस प्रकार की कविताओं की पहिचान रही है । प्रगतिवादी कवियों की भी दो कोटियाँ दीख पड़ीं । पहले प्रकार के कवि तो वे थे जिनकी समाजवादी भावनाओं का स्वाभाविक

विकास हो रहा था। दूसरे वामपन्थी राजनैतिक पार्टियों के वे कवि-सदस्य जो अपनी कविताओं के द्वारा एतद् विषयक विचारों का प्रचार करना चाहते थे। पहले प्रकार की कविताओं में मार्मिकता है तो दूसरे में प्रचारात्मकता। एक ओर घोर प्रगतिवादी कवियों ने कम्यूनिस्टपार्टी के नारों को छंदों में ढाल दिया* तो दूसरी ओर मानवतावादी प्रगतिवादी कवियों ने आध्यात्मिक और प्राकृतिक जीवन का समन्वय कर समाजवाद और मार्क्सवाद के आगे की स्वर्ण-भूमि की ओर संकेत किया।

इस क्षेत्र में अभी तक कुछ इने-गिने कवियों ने ही चंद मार्मिक रचनायें की थीं कि श्री सच्चिदानन्द, हीरानन्द, वात्सायन 'अज्ञेय' 'तारसप्तक' बजाते

बाघिन बन कर गुर्राती है कांग्रेस की बुढ़िया गाय
कम्युनिस्टों को भून रहे हैं कलकत्ते में बी. सी. राय।
तीन किसानों की हत्या कर दी है राय बरेली में
अभी क्या हुआ पियें पंत जी चाँदी की प्याली में चाय॥

× × ×

सड़ा गला घुन लगा पुराना राम राज्य यह मुर्दाबाद।
काली गोरी भूरी जोंकों का समाज यह मुर्दाबाद॥ आदि

—नागार्जुन

भाव कर्म में जहाँ साम्य हो संतत
जग जीवन में हों विचार जन के रत।
ज्ञान वृद्ध निष्क्रिय न जहाँ मानव मन
मृत आदर्श न बंधन, सक्रिय जीवन।
रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हो आधारित
श्रेणि वर्ग में मानव नहीं विभाजित।
धन-बल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण
पूरित भव जीवन के निखिल प्रयोजन
ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित।
नव मानव संस्कृति किरणों के ज्योतित

—पंत

हुए दल-बल के साथ कवि कर्म क्षेत्र में कूद पड़े। उनका दल प्रयोगवाद के नाम पर काव्य की परम्परागत लीक से हट, समष्टि से नाता तोड़, अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग अलापने लगा। कलाकार नित्य नूतन सृष्टि करना चाहता है, वह अधिक दिनों तक पुरानी लकीर नहीं पीट सकता। वह अपनी कला में अपने व्यक्तित्व को देखना चाहता है और चाहता है अपनी अभिव्यजना शक्ति को एक विचित्र ढंग से मुखरित करना। आज का प्रयोगवादी कवि भी आधुनिक काव्य धारा में एक मोड़ देना चाहता है। वह प्रत्येक वस्तु को नये दृष्टि कोण से देखता है। इसीलिये उसकी कविताओं में एक गहरी अस्पष्टता, धुंधलापन, और विचित्रता पायी जाती है। 'उनकी प्रत्येक पंक्ति में प्रयोग गत और व्यंजना गत चमत्कार जीवन-दर्शन में विरोधाभास और अस्पष्टता, शब्द रचना पद विन्यास और शैली शिल्प की गुम्फित भावनाओं में एक भ्रमित चेतना दृष्टि-गोचर होती है'। कविता निरन्तर गद्य के निकट आती जा रही है। दूसरा सप्तक भी बज गया परन्तु आजतक प्रयोग वाद का स्वरूप और जीवन दर्शन स्पष्ट नहीं हो सका। अतः नवयुग-काव्य धारा का अध्ययन प्रवृत्तिओं की अनेक रूपता तथा कलारूपों की विविधता के कारण बड़ा ही मनोरंजक और महत्व पूर्ण है।

ब्रह्म-समाज की स्थापना भारतवर्ष के इतिहास में एक युगान्तरकारी पृष्ठ जोड़ता है। इस संस्था ने पूर्व और पश्चिम की कल्याणकारी धार्मिक मान्यताओं का समन्वय कर मनुष्य मात्र के लिये एक नये धार्मिक पंथ का निर्माण किया। इस धर्म में दीक्षित कवि पुराने इसाई संतों के छाया भास (Phantas mata) तथा १९वीं शताब्दी के फ्रेंच रहस्यवादी कवियों द्वारा प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर गाने के लिए जिन भजनों की रचना किया करते थे उसी को बंगला में 'छायावाद' कहा जाता था।

छायावाद नाम की व्युत्पत्ति तथा हिन्दी में प्रवेश

द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध में सर्व श्री मुकुटधर पाण्डेय, मैथिली शरण गुप्त तथा बदरीनाथ भट्ट प्रभृति कवि हिन्दी कविता को इत्तिवृत्तात्मकता की सीमा से बाहर निकाल कर उसे अंतर्भाव व्यंजक, कल्पनामय, तथा चित्रमय बनाने का अनवरत प्रयास कर रहे थे। उनकी तत्कालीन कविताओं में मानव की चिरपरिचिता प्रकृति के प्रति उनकी मार्मिक अनुभूतियों के दर्शन हो ही रहे थे कि रवि बाबू के आध्यात्मिक गीतों की धूम मच गयी। फिर क्या था, उनके

अनुकरण पर नये-नये प्रतीकों का सहारा लेकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में काल्पनिक भावानुभूतियों पर आधारित कविताओं का हिन्दी में भी प्रचार होने लगा। साहित्यिक रूढ़ियों और प्राचीन परम्पराओं के अंधभक्तों को इस प्रकार की रचनायें ईशा और मूसा की लिखावट से कम नहीं मालूम पड़ीं। बंगला साहित्य से परिचित किसी पुरातन पंथी साहित्यिक को उनमें बंगला-गीतों की छाया देख पड़ी होगी और कदाचित व्यंग की भावना से ही प्रेरित होकर उसने नयी कविताओं को 'छायावाद' कहना शुरू किया होगा। बाद को ज्यों-ज्यों उस कोटि की मौलिक रचनायें हिन्दी में लिखी जाने लगी होंगी त्यों-त्यों व्यंग का भाव भी दूर होता गया होगा और आगे चल कर 'छायावाद' को भी एक पारिभाषिक शब्द की मान्यता मिल गयी होगी।

आलोचना के क्षेत्र में

आरम्भ में इस शब्द को लेकर हमारे साहित्य में एक भारी वितण्डावाद उठ खड़ा हुआ। समीक्षकों ने इसकी मनमानी व्याख्या शुरू की। किसी ने कहा जो समझ में न आये वही छायावाद है। किसी ने उसे रहस्यवाद का दूसरा रूप कह कर उसे लाक्षणिक प्रयोगों, अप्रस्तुत विधानों तथा अमूर्त उपमानों पर स्थित कविता कहा। किसी ने मनोविकारों की भावात्मक व्याख्या को छायावाद की संज्ञा दी। किसी ने प्रकृति में मानवीय भावों के आरोप को, और किसी ने स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह को ही छायावाद बताया। बहुत से महापुरुषों ने तो सूक्ष्म भाव समन्वित सभी आधुनिक कविताओं को उसकी चाहार दीवारी में ला घसीटा। इस प्रकार दूर की कौड़ी लाने का बराबर प्रयत्न होता रहा परन्तु छाया, किसी के हाथ न लगी।

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने तथा उन्हें तर्क की कसौटी पर कसने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें से अधिकांश तो परिभाषा न होकर दिल्लगी मात्र हैं और कुछ छायावाद के एक अंग पर ही प्रकाश डाल कर रह जाती हैं। छायावाद को अभिव्यंजना की एक प्रणाली विशेष के रूप में स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति जोरों पर है। परन्तु बात कला पक्ष की ही नहीं भाव पक्ष की भी है। प्रश्न यह है कि उसके दार्शनिक आधार का क्या रूप है? छायावाद क्या है? उसकी सीमायें क्या हैं और रहस्यवाद में तथा उसमें क्या अन्तर है?

छायावाद का उद्गम और विकास

हमारी ससीम चेतना का उद्गम स्थल एक असीम चेतना है। प्रकृति में भी वही चेतना प्रवाह मान है। इस प्रकार जीवन के साथ जगत का अविच्छिन्न सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। ससीम चेतना असीम चेतना को प्यार करती है। उससे मिलना चाहती है। वह परस्पर प्रणय-सूत्र में बँधी हुयी है। इस सम्बन्ध को वही पहचान सकता है जिसकी आत्मा पर स्वार्थ का काला पर्दा नहीं पड़ा रहता। बाल्यावस्था में लगभग सभी की आत्मा स्वच्छ रहती है। कदाचित इसी लिये उस समय आदमी तितलियों के पीछे दौड़ता है। आमों की झुरमुट में बैठी हुयी काली कोयल को चिढ़ाने लगता है। फूलों को खिलखिलाता हुआ देखकर वह उसे कलेजे में छिपा लेना चाहता है। आकाश के चंदा से वह मामा का सम्बन्ध जोड़कर उससे दुद्धू (दूध) माँगने लगता है। परन्तु ज्यों-ज्यों उसकी अवस्था बीतती जाती है, स्वार्थ का पर्दा उसकी आत्मा को ढकता जाता है यह सब होते हुये भी जीवन में कभी-कभी ऐसे क्षण आ जाते हैं जब प्रकृति का अनिर्वचनीय सौन्दर्य मानव को अपनी ओर आकर्षित करके उसे जीवन और जगत के रागात्मक सम्बन्ध की याद दिला देता है। उस समय प्रकृत के नाना रूपों में आत्मा को उस चेतना की अनुभूति होने लगती है। हृदय के पारा वार में भावनाओं के तूफान उठने लगते हैं। वे अभिव्यक्ति का चाँद छू लेना चाहते हैं। शब्द उनका भार वहन करने में असमर्थ मालूम पड़ने लगते हैं। तब वह उस मानवेत्तर आध्यात्मिक भावनाओं को प्रकट करने के लिये रूपकों पर उतर आता है। उसका यही प्रयत्न छायावाद की नींव देने लगता है फिर तो दीवाल आसानी से जोड़ दी जाती है। इसीलिये पं० गंगाप्रसाद पाण्डेय ने छायावाद पर प्रकाश डालते हुये लिखा है—"मेरा विश्वास है कि जिस मानवेत्तर आध्यात्मिक तत्व का निरूपण शब्दों की संकुचित सीमा में सम्भव नहीं है, उसकी सर्व व्याप्त छाया को प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण कर उसके अव्यक्त व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण कर यदि उस पूर्ण तत्व के प्रकाशन का प्रयास किया जाय तो वही छायावाद होगा।"

परिभाषा

छायावाद का सम्बन्ध जीवन और प्रकृति से तो है ही, प्रकृति और पुरुष से भी है क्योंकि वही असीम चेतना है जो जीवन और जगत का उद्गम

स्थल है। उसकी सीमान्त रेखा है क्षितिज। क्षितिज के पार तो रहस्य का लोक है। छायावाद की प्रेरक शक्ति का नाम सौन्दर्य है। सौन्दर्य के कारण ही हृदय में प्रेम की भावनायें अंकुरित होती तथा प्रसारित होती हैं। अस्तु, इन मूल तत्वों को दृष्टि में रखते हुये हम कह सकते हैं कि प्रकृति में चेतना की अनुभूति तथा परस्पर प्रणय-व्यापार का नाम ही छाँयावाद है। इस परिभाषा के आधार पर हम हिन्दी के छायावादी कवियों की कोटियाँ भी निश्चित कर सकते हैं।

छायावादी कवियों की कोटियाँ

प्रकृति में चेतना की अनुभूति पन्त जी के 'पल्लव' में अनेक स्थलों पर स्पष्ट दिखलायी पड़ती है, विशेष कर उनकी वीचि बिलास, बसन्त श्री, विश्ववेणु, और छाया आदि रचनाओं में। बसन्त श्री, की इन पक्तियों पर ध्यान दीजिए—

रूप, रङ्ग रज सुरभि मधुर मधु
भर भर मुकुलित अङ्गो में
माँ! क्या तुम्हें रिझाती है वह?

उपरिकथित प्रणय व्यापार के भी दो रूप दिखलायी पड़ते हैं। पहले में प्रकृति की वस्तुओं का एक दूसरे के प्रति आकर्षण रहता है और दूसरे में प्रकृति का पुरुष के साथ प्रेम व्यापार। पहले की अभिव्यक्ति 'प्रसाद' जी की अनेक रचनाओं में हुयी है। उदाहरण के लिये 'लहर' की इन पंक्तियों को ले लीजिये—

जिस निर्जन सागर में लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो।...

दूसरे प्रकार का प्रतिनिधित्व महादेवी जी के अधिकांश गीत करते हैं—

जाने किसकी स्मिति झूम झूम
जाती मेघों को चूम चूम
वे मंथर जल के बिन्दु चकित
नभ को तज ढल पड़ते विचलित
विद्युत के दीपक ले चञ्चल
सागर सा गर्जनकर निष्फल
घन थकते उनको खोज खोज
फिर मिट जाते ज्यों विफल घूम।

इसकी सीमा के पश्चात ही रहस्यवाद का राज्य है।

रहस्यवाद की भूमिका

ज्यों ही आत्मा को यह बोध हो जाता है कि वह अपने प्रिय से बिछुड़ गयी है, त्यों ही वह धरती आकाश के कुलावे एक करने लगती है। इस दौड़ धूप के पीछे सौन्दर्य-भावना-प्रसूत प्रणय की प्रेरणा होती है। सौन्दर्य की भावना के साथ ही साथ सौन्दर्योपासना भी प्रत्येक प्राणी में पायी जाती है। इसीलिये आषाढ के महीने में आकाश पर उमड़ते हुये कजरारे बादलों को देखकर पपीहा पिया पिया पुकारने लगता है, मोरनी पिहकने लगती है, मोर नाचने लगता है। चाँदी की रातों में चाँद के चारों ओर विह्वलता से चक्कर काटते हुये चकोर को देखा है आपने ? प्रिय और प्रेयसि दोनों अपना पृथकत्व नही देख सकते। वे एक दूसरे में समा जाना चाहते हैं, लीन हो जाना चाहते हैं। पृथकत्व को एकत्व में परिणत कर देना चाहते हैं। पतंग द्वारा दीपक को चूमने के पीछे भी यही सत्य काम करता है।

प्रेम की यह भावना स्थूल आलम्बन को पकड़ कर चलती है इसीलिये उसमें वासना का मिश्रण आवश्यक है। परन्तु ज्यों ज्यों यह भावना ऊपर की ओर उठती जाती है त्यों त्यों आलम्बन भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है। और उसमें से वासना का अंश भी शनैः शनैः दूर होता जाता है। आत्मा और परमात्मा के इस प्रणय सम्बन्ध को चिन्तन अथवा दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद कहते हैं परन्तु भावना के क्षेत्र में यही अद्वैतवाद रहस्यवाद के रूप में परिणत हो जाता है। इसलिये हम कह सकते हैं कि आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक प्रणय सम्बन्ध की काव्योचित अभिव्यक्ति को रहस्यवाद कहते हैं।

परिभाषा

कुछ लोग अद्वैतवाद को योग की एक प्रक्रिया मानते हैं परन्तु सच पूछा जाय तो योग की क्रियाओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। रहस्यवाद तो अद्वैत-वाद पर आधारित है न ? और अद्वैतवाद शुद्ध विवेक का मार्ग है, इसलिये उसमें गुह्यता आदि की रंचमात्र भी गुंजाइश नहीं है। यही कारण है कि इसमें अपनी वृत्ति के प्रति सजगता और उसका समुचित निर्वाह ही कवि की सच्ची साधना बन जाती है।

उड़ रहे यह पृष्ठ पल के
अंक मिटते श्वास चल के ।।
किस तरह लिख सजल करुणा की कथा सविशेष भेजूं ?
अलि कहाँ संदेश भेजूं ?

इसके बाद का मार्ग अभिसार का मार्ग है। अभिसार—पथ की बाधाओं की चिन्ता न करके, दुनियाँ की नजरें बचाकर, किसी से चोरी चोरी मिल आना। आह ! इसकी कल्पना भी कितनी मीठी है ! यहाँ भी देवी जी को नहीं भुलाया जा सकता। नयनों में अगणित युगों की प्यास लेकर, शरीर को विविध आभूषणों से सजा कर, मधु की भींगती हुयी रातों में, लोगों की आँखें बचाकर प्रिय से मिलने के लिये अज्ञात पथ पर पाँव डालना—"और हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे" जैसी पंक्तियों की लेखिका के लिये ही संम्भव है। देखिये भी,

शृंगार करले री सजनि
तू स्वप्न सुमनों से सजा तन।
बिरह का उपहार ले
अगणित युगों की प्यास का
अब नयन अंजन सार ले
अज्ञात पथ है दूर प्रिय,
चल, भींगती मधु की रजनी,

विरह का अंत मिलन में होता है। इतने दिनों से प्रियतम के विछोह में तड़पती हुयी, विह्वल होकर ढूढ़ती हुयी आत्मा को परमामा की प्राप्ति हो जाती है। रहस्यवाद इसी चिर मिलन में पूर्ण होता है। यही लीनता सीमा का अन्त है। मिलन के अनेक पक्ष होते हैं। यथा वाह्य प्रकृति में अनुभूति, हृदय में अनुभूति, स्वप्न मिलन और स्पष्ट मिलन। स्पष्ट मिलन का आभास 'प्रसाद' जी की इन पंक्तियों में स्पष्टतः मिलता है—

चंचला स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी ।।

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को।

लेकिन यह मिलन गूंगे के गुड़ से कम नहीं है। इस मूक आस्वाद की अभिव्यक्ति अन्योक्तियों और रूपकों द्वारा सांकेतिक रूप में ही होती है।

छायावाद और रहस्यवाद

छायावाद कोरे वस्तुवाद से आगे बढ़ कर प्रकृति में चेतना का अनुभव करता तथा एक दूसरे को प्रणय सम्बन्ध के सूत्र में बँधा हुआ देखता है। रहस्यवाद उसके आगे की वस्तु है। वह ससीम चेतना के साथ असीम चेतना को एक भावात्मक सम्बन्ध में जोड़ देता है। उसके मूल में अद्वैत भावना ही है परन्तु वह साधनात्मक अनुभूति प्रधान न होकर संकल्पात्मक अनुभूति प्रधान है। ईश्वर की रहस्यमयी सत्ता, उसके प्रति विरह, मिलन और आत्म समर्पण उसके मुख्य विषय हैं।

हिन्दी में छायावादी एवं रहस्यवादी कविता की परम्परा और कवि

छायावाद का नाम और रूप हिन्दी के लिये नया अवश्य है परन्तु रहस्यवाद हमारे साहित्य के लिये बहुत पुराना है। यह भावना सर्व प्रथम संत कवियों में दीख पड़ी थी। कबीर ने लाल की लाली को देखने का प्रयत्न किया था और वे स्वयं लाल* हो गये थे।

इसके पश्चात् सूफी कवियों का प्रेमात्मक रहस्यवाद आता है। जायसी इसके प्रसिद्ध कवि हैं। कबीर और जायसी दोनों निराकार ब्रह्म के उपासक थे इसलिये उनकी रचनाओं में यह भावना खूब उभर कर आयी है। बाद को हिन्दी काव्य क्षेत्र में सगुण उपासना की धारा बहने लगी। राम और कृष्ण के कीर्तनों के बीच यह धारा कुछ दिनों के लिये अवरुद्ध सी हो गयी। रीति काल भक्ति काल की प्रतिक्रिया लेकर आया। कवियों ने वस्तुगत भाव धारा की चिन्ता न करके केवल कला पक्ष की ही ओर ध्यान दिया। इसके पश्चात् आता है आधुनिक काल। इस काल में ऐतिहासिक सामाजिक तथा धार्मिक सभी तरह की परिस्थितियों में परिवर्तन उपस्थित होने लगा। अंग्रेजी राज्य की

---

*लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं गयी मैं हो गयी लाल॥

स्थापना हुयी। पश्चिम की वैज्ञानिक विचारधारा ने सभी प्रकार की अलौकिकता को चुनौती दी। आर्य समाज ने अवतार वाद के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठा लिया। राम और कृष्ण पर लिखने के लिये पूर्ववर्ती कवियों ने तो कुछ छोड़ा ही नहीं था। कुछ वर्षों के बाद जब रवि बाबू की रहस्यवादी कवितायें प्रकाशित हुयीं तब हिन्दी के कवि भी उसी ओर मुड़ गये। इस समय तक सर्वश्री मैथिली शरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय तथा बदरीनाथ भट्ट ने खड़ी बोली को इस कविता का भार वहन करने के योग्य बना दिया था। यह बात सं० १९६६ या ६७ की है। आगे चल कर हिन्दी के कुछ कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल पर इस पथ का निर्माण कर लिया। इस बात को प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि स्वर्गीय श्री जयशंकर प्रसाद तक मानते हैं। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—"—वर्तमान हिन्दी में इस' अद्वैत रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास हुआ है। इसमें अपरोक्ष सहानुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का हृदय में पर्यवसान का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ! विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित होता है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें संदेह नहीं।"

प्रसाद : जीवन चरित

इस परम्परा में सबसे पहले श्री जयशंकर प्रसाद का नाम उल्लेखनीय है। उनका जन्म माघ शुक्ल दशमी सं० १९४६ को काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य कुल में हुआ था। उनके पितामह स्वर्गीय साहु शिवरत्न जी 'सुंघनी साहु' के नाम से विख्यात थे। प्रसाद जी श्री देवी प्रसाद के कनिष्ट आत्मज थे। उनका बचपन बड़े लाड़ प्यार में बीता था। उनका परिवार धार्मिकों और दानियों का परिवार था, जहाँ भाँति भाँति के कलाकार प्रोत्साहन पाते थे। प्रसाद जी ने भी अपनी माँ के साथ धारा क्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, ब्रज और अयोध्या आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा की थी। अमरकण्टक पर्वत माला के बीच नर्मदा की नौका यात्रा से वह आजीवन प्रभावित रहे। इस यात्रा के कुछ वर्षों बाद उनके जीवन का इतिहास ही बदल गया। माता पिता की मृत्यु हो गयी। बड़े भाई घर के मालिक हुये। कवि को क्वीन्स कालेज की सातवीं श्रेणी की पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। अब घर पर ही उनके अध्ययन का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। कोई उन्हें वेद पढ़ाता, कोई उपनिषद और कोई साहित्य। इस समय उनके

जिम्मे तीन काम थे। पढ़ना, डण्ड बैठकी लगाना और दुकान दारी करना। पढ़ना और कसरत करना तो उन्हें भाता था परन्तु बनियागिरी से चिढ़ थी। दूकान पर बैठे बैठे वह बही के पन्नों पर कवितायें लिखा करते थे।

उनके स्वभाव में अमीरी थी। दानशीलता उनकी पैतृक सम्पत्ति थी जिसे वह छोड़ने का नाम तक न लेना चाहते थे। फलस्वरूप ऋण का पहाड़ उनके सिर पर टूट पड़ा। अतः उन्हें अपने बाप दादों की सम्पत्ति का थोड़ा सा भाग बेचकर ऋण मुक्त होना पड़ा। इसके बाद उन्होंने साहित्य की साधना आरम्भ की और व्यवसाय का ध्यान छोड़ दिया। उनके समय में हिन्दी का प्रकाशन क्षेत्र अत्यन्त निम्न स्तर पर था। सत्साहित्य की कमी थी। उनकी राय से उनके भांजे श्री अम्बिका प्रसाद ने 'इन्दु' का प्रकाशन आरम्भ किया। इसी पत्र के प्रकाशन के साथ वह भी प्रकाश में आये।

प्रसाद जी सरल तथा अत्यन्त उदार व्यक्ति थे। स्पष्ट किन्तु मृदु भाषण तथा साहस उनके चरित्र की विशेषतायें थीं। कसरत करने का उन्हें बचपन से अभ्यास था। भोजन तो बड़ा ही अच्छा बनाते थे। फूलों से उन्हें प्रेम था। नौका विहार में बड़ी रुचि दिखाते थे। दानशीलता उनमें कूट कूट कर भरी थी। वे हिन्दी के निष्णात पंडित तथा बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिये किसी से एक पैसा तक न लिया था। पुस्तकों पर जो कुछ भी पुरस्कार मिला उसे भी उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा को दान कर दिया। उनका जीवन बड़ा ही सात्विक और स्पष्ट था। इतना संयम रखने पर भी संग्रहणी के कारण कार्तिक शुक्ल एकादशी सं० १९९४ को उनका देहावसान हो गया।

कृतियाँ

अपने जीवन के अत्यन्त अल्प काल में ही उन्होंने हिन्दी को बहुत कुछ दिया। यद्यपि उन्होंने गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में बड़े अधिकार के साथ लेखनी चलाई है परन्तु सभी जगहों पर वे अपने कवि हृदय को छिपा नहीं सके हैं। उनके काव्य ग्रन्थों के नाम हैं प्रेम-पथिक, चित्राधार, आँसू, कानन-कुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्व, झरना और कामायनी।

काव्य-साधना

बचपन में उन्हें पारिवारिक वातावरण से कविता करने की प्रेरणा मिली।

उनके यहाँ समस्या पूर्तियाँ करने वालों की गोष्ठियाँ जमा करती थीं, जहाँ बैठकर वह भी कविता का आनन्द लिया करते थे। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं पर इसकी छाप स्पष्ट है। आगे चलकर उन्होंने तीर्थ यात्रायें की, प्राकृतिक दृश्यों को देखा। विभिन्न साहित्यों का गम्भीर अध्ययन किया। निरन्तर अभ्यास से उनकी प्रतिभा ने नवीन रूप धारण कर लिया। उन्होंने तत्कालीन विकृत शृंगार के प्रति विद्रोह किया और उसे स्वस्थकर तथा व्यापक रूप दिया। प्रारम्भ में उन्होंने प्रेम, भक्ति पौराणिक आख्यानों तथा प्रकृति पर कवितायें लिखीं। इनमें विषयों की नवीनता तो है परन्तु भावों की निगूढ़ता नहीं दिखलायी पड़ती। उनके काव्य में यौवन और प्रेम की बड़ी सफल व्यंजना हुयी है इसलिये उन्हें यौवन और प्रेम का कवि कहा जाता है। उनका प्रेम न तो एक दम अलौकिक है, न एकदम लौकिक बल्कि दोनों के बीच का ही है। वह लौकिक प्रेम में भी आध्यात्मिक संकेत पाते हैं। उनके प्रेम सम्बन्ध पर रवि बाबू की निम्नांकित पंक्तियाँ खूब लागू होती हैं—

मोह मोर मुक्ति रूपे उटिबे ज्वलिया।
प्रेम-मोर भक्ति रूपे रहिबे फलिया॥

उनका लौकिक प्रेम कब दैवी रूप धारण कर लेता है नहीं कहा जा सकता। बाद को वही भक्ति के रूप में भी बदल जाता है।

उनके भाव सौन्दर्य की झाँकी तो आँसू, लहर, झरना, कामायनी तथा नाटकीय गीतों में ही मिलती है। उन्होंने सौन्दर्य के भौतिक आकर्षण की उपेक्षा नहीं की परन्तु उसे ऐन्द्रियकता के भार से बोझिल भी नहीं होने दिया। शारीरिक सौन्दर्य का एक सुन्दर चित्र देखिये—

चपला सी है ग्रीवा हँसी से बढ़ी।
रूप जलधि में लोल लहरियाँ उठ रहीं॥

प्रेम में विरह की करुणा भी पर्याप्त मात्रा में है। उत्कण्ठा की तीव्रता भी है परन्तु साथ ही साथ आशावादिता का कोमल माधुर्य भी छलका पड़ता है। देखिये न,

कभी चहल कदमी करने को, काँटों का कुछ ध्यान न कर।
अपना पाईं बाग़ बना लोगे, प्रिय इस मन को आकर॥

ये विषय उनकी रचनाओं में गौण रूप में आये हैं। उनका मुख्य विषय तो प्रेम ही है जो ईश्वरोन्मुख होता हुआ प्रकृति-प्रेम के साथ मिल कर रहस्यवाद का रूप धारण करने लगता है। प्रकृति के मनोरम दृश्यों में उन्हें उस अज्ञात चेतना के दर्शन होते हैं जिसके इंगित पर प्रकृति नटी नृत्य कर रही है। इससे उनके मन में कौतुक की भावना जाग उठती है। उनके प्रीतम पहिचाने से तो अवश्य लगते हैं परन्तु लुके छिपे से ही दिखलाई पड़ते हैं—

तृण वीरुध लहलहे हो रहे, किसके रस में सिंचे हुये
सिर नीचा कर किसकी सत्ता करते हैं स्वीकर यहाँ।
सदा मौन हो प्रवचन करते, जिसका वह अस्तित्व कहाँ?
हे अनन्त रमणीय! कौन तुम यह मैं कैसे कह सकता॥

उसकी एक झलक मिली नहीं कि वह हर्षोल्लास से फूट पड़ते हैं—

अन्तरिक्ष विशाल में है मिल रही
चन्द्रमा पीयूष वर्षा कर रहा।
दृष्टि पथ में सृष्टि है आलोकमय
विश्व वैभव से भरा यह धन्य है॥

इस प्रकार के राशि राशि उदाहरण उनकी कृतियों में बिखरे पड़े हैं। उनकी अमर कीर्ति का अक्षय-भण्डार कामायनी है जिसके द्वारा उन्होंने सारे संसार को समरसता का संदेश दिया है।

कामायनी

प्रसाद जी प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के गंभीर अध्येता थे। कामायनी की कथा वस्तु आदिम युग के जलप्लावन के पश्चात् की है। उसके नायक हैं मानव सभ्यता के प्रवर्तक वैवस्वत मनु। नायिका है श्रद्धा, जिसे काम गोत्रा होने के कारण कामायनी भी कहते हैं।

कथा यों चलती है। देवताओं के अवधित विलास और सुखभोग के के कारण देव-सृष्टि में एक भयंकर बाढ़ आयी। सारी भूमि जल से भर गयी। मनु महाराज अपनी नौका में बच गये थे। कुछ दिनों के बाद उनकी नौका हिमालय के पास लगी। धीरे-धीरे जल भी हटने लगा। धरती निकलने लगी। मनु ने अग्निहोत्र आरम्भ किया। अग्निहोत्र का जो अन्न बच जाता था उसे दूसरे प्राणियों के कल्याण के लिये वह कुछ दूर पर रख आया करते थे। इस

अवशिष्ट अन्न को देख कर श्रद्धा समझती है कि उसकी ही भाँति कुछ प्राणी और भी बच गये हैं। वह ढूँढ़ती-ढूँढ़ती मनु के पास पहुँचती है। उनके प्रति आकर्षित होती है। मनु और श्रद्धा का वार्तालाप शुरू हो जाता है।

मनु जीवन से निराश हो गये हैं और सोचते हैं निवृत्ति की ओर जाना। श्रद्धा उन्हें ढ़ाढ़स बँधाती है और उन्हें जीवन सागर में प्रवेश कराकर कर्त्तव्य की ओर ले जाती है। वह उनमें जीवनेच्छा को उत्पन्न करती है। मनु समर्पित कर देते है अपने को। इस अवसर पर दूरागत ध्वनि के रूप में आकर कामदेव भी कामायनी का परिचय देते हुए कन्यादान की रीति अदा करते हैं। श्रद्धा, काम और रति के योग से उत्पन्न हुयी थी। इसलिये उसमें कामना के साथ तृप्ति भी थी। मनु उसे अच्छी तरह न समझ सके। उनमें वासना का प्राधान्य हो गया। वह वासना बढ़ते बढ़ते इतनी बढ़ गयी कि वह श्रद्धा पालित पशु से भी ईर्ष्या करने लगे। श्रद्धा एक बच्चे की माता बन चुकी थी। बच्चे का नाम था मानव। मानव मृग छौनों के साथ खेलता था। श्रद्धा देख देखकर पुलकित होती थी परन्तु मनु को यह सब अच्छा न लगता था। वह पशुबलि पर उतर आते हैं। इस दिशा में असुरों के पुरोहित किलात और आकुलि उनकी सहायता करते हैं। काम्य कर्म में श्रद्धा कहाँ रह जाती है? उनकी वासना इतनी बढ़ जाती है कि वह अपने पुत्र मानव से भी ईर्ष्या करने लगते हैं। उन्हें केवल अपनी ही चिन्ता खाये डालती है। श्रद्धा और मानव से असन्तुष्ट होकर एक दिन वह चुपके से भाग जाते हैं सारस्वत प्रदेश। वहाँ जाकर वह इड़ा के यहाँ रहने लगते हैं। इड़ा का सौन्दर्य बड़ा ही आकर्षक है। मनु उससे भी वासना की तृप्ति चाहते हैं। इड़ा की प्रजा विद्रोह करती है। मनु लड़ते हैं। लड़ते हैं और आहत होते हैं। यह सारा काण्ड श्रद्धा स्वप्न में देख लेती है। वह मानव को लेकर ढूँढ़ती-ढूँढ़ती वहाँ पहुँचती है और मनु की रक्षा करती है। श्रद्धा मानव को इड़ा के हवाले कर देती है। वह मनु को कैलाश तक ले जाती है जहाँ उन्हें शिव की ज्योति का दर्शन होता है।

यह तो रही कथा। वर्णन की कला तो अभूतपूर्व है। प्रारम्भ में ही वातावरण एवं वर्ण्य विषय की गम्भीरता का पता चल जाता है—

हिम गिरि के उत्तुङ्ग शिला पर बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष भींगे नयनों से देख रहा था प्रलय प्रवाह॥

नीचे जल था ऊपर हिम था एक तरल था एक सघन।
एक तत्व की ही महानता उसे कहो जड़ या चेतन ॥

मनु और श्रद्धा का ऐतिहासिक व्यक्तित्व तो है ही दोनों मानवीय वृत्तियों के मनन और भावना वृत्ति का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। कवि ने मनु, श्रद्धा, इड़ा आदि के द्वारा विभिन्न मानसिक शक्तियों का रूपक बाँध दिया है। मनु के पौरुष का वर्णन करने के पश्चात् वह श्रद्धा के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करता है। हिमालय की तराई के वातावरण के अनुकूल वह नील रोम वाले मेषों के चर्म से सुसज्जित हैं। नीला रंग प्रेम का रंग है। राधा के सौन्दर्य वर्णन में सूर ने भी उन्हें नीले वस्त्रों में ही चित्रित किया है। श्रद्धा मनु को देखते ही लुट जाती है। वह उनसे प्रश्न करती है—

कौन तुम संसृति जल निधि तीर।
तरंगों से फेकी मणि एक ॥
कर रहे निर्जन का चुपचाप।
प्रभा की धारा से अभिषेक ॥

श्रद्धा और मनु की बातों में पलायनवाद की एक स्वस्थ प्रतिक्रिया दीख पड़ती है। मनु जीवन से ऊब गये हैं। उनके लिये जीवन एक पहेली बन गयी है। जिसका सुलझाना उनके बूते की बात नहीं है। वह निवृत्ति को ही अपनाने की सोचते हैं। वह कहते हैं—

पहेली सा जीवन है व्यस्त।
उसे सुलझाने का अभिमान ॥
बताता है विस्मृति का मार्ग।
चल रहा हूँ बनकर अनजान ॥

यह त्याग नहीं, संन्यास नहीं बल्कि जीवन से भागकर शान्ति और नीरवता की गोद में मुँह छिपा लेना है। यह तो साफ कायरता है। यही मोह अर्जुन को भी हुआ था जब भगवान कृष्ण ने उन्हें कर्म योग की शिक्षा दी थी। यही शिक्षा श्रद्धा भी मनु को देती है। जीवन संग्राम में प्रवेश करने के लिये जीवन में अनुरक्ति आवश्यक है न, इसीलिये वह मनु की निराशा को दूर करने के उद्देश्य से कहती है—

नीचे जल था ऊपर हिम था एक तरल था एक सघन।
एक तत्व की ही महानता उसे कहो जड़ या चेतन ॥

मनु और श्रद्धा का ऐतिहासिक व्यक्तित्व तो है ही दोनों मानवीय वृत्तियों के मनन और भावना वृत्ति का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। कवि ने मनु, श्रद्धा, इड़ा आदि के द्वारा विभिन्न मानसिक शक्तियों का रूपक बाँध दिया है। मनु के पौरुष का वर्णन करने के पश्चात् वह श्रद्धा के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करता है। हिमालय की तराई के वातावरण के अनुकूल वह नील रोम वाले मेषो के चर्म से सुसज्जित हैं। नीला रंग प्रेम का रंग है। राधा के सौन्दर्य वर्णन में सूर ने भी उन्हें नीले वस्त्रों में ही चित्रित किया है। श्रद्धा मनु को देखते ही लुट जाती है। वह उनसे प्रश्न करती है—

कौन तुम संसृति जल निधि तीर।
तरंगों से फेकी मणि एक ॥
कर रहे निर्जन का चुपचाप।
प्रभा की धारा से अभिषेक ॥

श्रद्धा और मनु की बातों में पलायनवाद की एक स्वस्थ प्रतिक्रिया दीख पड़ती है। मनु जीवन से ऊब गये हैं। उनके लिये जीवन एक पहेली बन गयी है। जिसका सुलझाना उनके बूते की बात नहीं है। वह निवृत्ति को ही अपनाने की सोचते हैं। वह कहते हैं—

पहेली सा जीवन है व्यस्त।
उसे सुलझाने का अभिमान ॥
बताता है विस्मृति का मार्ग।
चल रहा हूँ बनकर अनजान ॥

यह त्याग नहीं, संन्यास नहीं बल्कि जीवन से भागकर शान्ति और नीरवता की गोद में मुँह छिपा लेना है। यह तो साफ कायरता है। यही मोह अर्जुन को भी हुआ था जब भगवान कृष्ण ने उन्हें कर्म योग की शिक्षा दी थी। यही शिक्षा श्रद्धा भी मनु को देती है। जीवन संग्राम में प्रवेश करने के लिये जीवन में अनुरक्ति आवश्यक है न, इसीलिये वह मनु की निराशा को दूर करने के उद्देश्य से कहती है—

दुःख की पिछली रजनी बीच।
विकसता सुख का नवल प्रभात॥
एक परदा यह झीना नील।
छिपाये हैं जिसमें सुख गात॥
जिसे तुम समझे हो अभिशाप।
जगत की ज्वालाओं का मूल॥
ईश का वह रहस्य वरदान।
कभी मत इसको जाओ भूल॥

वह नवीन जीवन क्रम के लिये मनु को प्रोत्साहित करती है। "ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे" वाली कविता पढ़कर जो लोग प्रसाद जी पर पलायनवादिता का दोष लगाते हैं वह श्रद्धा की इस उक्ति को क्यों भूल जाते हैं!

प्रकृति के यौवन का शृँगार।
करेंगे कभी न वासी भूल॥
मिलेंगे वे जाकर अतिशीघ्र।
आह उत्सुक है उनकी धूल॥
पुरातनता का यह निर्मोक,
सहन करती न प्रकृति पल एक।
नित्यनूतनता का आनन्द,
किये हैं परिवर्तन में टेक॥

उस ने मनु को जीवन में रुचि लेने का उपदेश किया और अपने को उनके चरणों में डाल दिया।

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ॥

वह सच्ची भारतीय नारी के आदर्शों का पालन करती है। नारी को हमारे यहाँ उपदेश करने का अधिकार दिया गया है।

नायक मनु मन का प्रतीक है। एक साधारण मनुष्य की कमजोरियाँ उसमें भी विद्यमान हैं। इसी लिये उसे निरुत्साह और अकर्मण्य दिखाया गया है।

वह श्रद्धा को पहचान नहीं पाता। अपने कर्त्तव्य का पालन न करके पत्नी और पुत्र को छोड़कर सारस्वत प्रदेश भाग जाता है। वहाँ जाकर वह इड़ा से मिल जाता है। इड़ा बुद्धि और कर्म का प्रतीक है। उसके रूप वर्णन में विचार और कर्म का कितना सुन्दर संकेत दिया है प्रसाद जी ने। उदाहरण लीजिये—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल,
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संस्कृति के सब विज्ञान ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा-जीवन रस लिये...
दूसरा था विचार ॥

मन बुद्धि के साथ बलात्कार करना चाहता है। उसकी शेष शक्तियाँ उसी को हानि पहुँचाने लगती है। तब श्रद्धा आती है। वह मानव को इड़ा के पास दे देती है। श्रद्धा मानव को भावना और ज्ञान के समन्वय की शिक्षा देती है—

हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा भार।
वह तर्क मयी तू श्रद्धा मय
तू मननशील कर कर्म अभय ॥

इसका तू सब संताप निचय
हर ले, हो मानव भाग्य उदय।
सबकी समरसता का प्रचार
मेरे सुत सुन माँ की पुकार ॥

इसी समरसता का प्रचार कामायनी का उद्देश्य है। यह शैव-दर्शन का एक शब्द है जिसका अर्थ होता है दुनिया के सुख-दुख को बराबर करके मानना। यही समन्वयवाद भारतीय संस्कृति की विशेषता है। तुलसी ने ज्ञान और भक्ति, वैष्णव और शैवमतों का समन्वय किया था और आज प्रसाद की कामायनी ज्ञान, इच्छा और क्रिया को समन्वित करने का संदेश देकर मानव मात्र को कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होने का संकेत कर रही है।

भाषा और शैली

प्रसाद जी ने सर्व प्रथम ब्रज भाषा में कविता करना प्रारम्भ किया था। परन्तु बाद को खड़ी बोली में लिखने लगे। आरम्भ में उनकी भाषा सरल थी

बाद को ज्यों-ज्यों उनके विचार परिपक्व होते गये, भावनायें प्रौढ़ तथा गम्भीर होती गयीं त्यों त्यों भाषा सम्बन्धी गम्भीरता दिखलायी पड़ने लगी। यद्यपि उनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है फिर भी प्रवाह में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। भाषा में स्वाभाविकता है कृत्रिमता नहीं। वह उनकी भावनाओं के पीछे हाथ बाँध कर चलती है। उनका शब्द चयन अनुपम है। उन्होंने अधिकतर प्राचीन विषय ही अपनाये हैं इसलिये संस्कृत गर्भित भाषा एक प्रकार से विषयानुकूल बन जाती है। वह प्राचीनता का एक वातावरण उपस्थित कर देती है। वह परिमार्जित तथा चित्रोपम है। उनके ही कारण खड़ी बोली की लाक्षणिकता बढ़ सी गयी है। हाँ! मुहाविरों का अभाव है। कहावत तो बिल्कुल नहीं मिलती है।

उनकी शैली अपनी है। हजारों के बीच में वह आसानी से पहिचाने जा सकते हैं। वह ठोस, स्पष्ट और परिष्कृत है। छोटे-छोटे वाक्यों में गम्भीर भाव भर देना फिर उनमें संगीत और लय का विधान कर देना उनके बाँये हाथ का खेल है। "कलरव से उठकर भेंटो तो" तथा "छाती लड़ती हो भरी आग" आदि लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा उन्होंने वाक्य को सजीव और मूर्त तो बना ही दिया है, उसमें भावनाओं का सागर भी दिया है। एक उदाहरण लीजिए—

चञ्चला स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी॥

यहाँ पर बिजली को चाँदनी में स्नान करा, शरीर की उज्ज्वलता के साथ चापल्य का भी बोध करा दिया गया है। पर्व शब्द में पवित्रता और बाहुल्य की व्यंजना है। फिर सौन्दर्य की पवित्रता को पावन शब्द से और भी गहरा बना दिया गया है। आलोक मधुर में तेज तथा माधुर्य का समन्वय है। प्रकाश भयं-कर भी हो सकता है इसीलिए मधुर शब्द का प्रयोग किया गया है।

प्रसाद ने उपर्युक्त चार पंक्तियों में जो कह दिया है लोग उसे लम्बी चौड़ी सैकड़ों पंक्तियों भी नहीं कह सकते। जय शंकर जी की यही विशेषता है।

उन्होंने अलंकारों का भी बड़ा स्वाभाविक प्रयोग किया है। असंगति, और विभावना तो जगह जगह बिखरे पड़े हैं। असंगति का एक उदाहरण लीजिये—

पी ली मधु मदिरा किसने, थी बन्द हमारी पलकें

प्रभाव साम्य के आधार पर मूर्त वस्तुओं का अमूर्त वस्तुओं से उपमा की एक बानगी देखिये—

'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल'

जाल शब्द में फँसने की व्यंजना है जो अलकों और तर्क दोनों पर लागू होता है।

विशेषण विपर्यय की भी कमी नहीं है—"तुम्हारा आँखों का बचपन खेलता है जब अल्हड़ खेल में" अल्हड़, खेल का विशेषण न होकर बचपन का विशेषण हैं।

उन्होंने प्रकृति का कई स्थलों पर बड़ा ही सुन्दर मानवीकरण किया है। "अम्बर पनघट में डुबो रही, तारा घर ऊषा नागरी"-वाला गीत इसका प्रसिद्ध उदाहरण है।

प्रसाद जी ने अतुकान्त छन्दों के आयोजन तथा अप्रचलित और अछूते छन्दों के प्रयोग से काव्य-साहित्य को जिस ढंग से अलंकृत किया है वह आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में नितान्त नवीनता की मुहर लगाता है।

निराला : जीवन-चरित

इस परम्परा के दूसरे कवि हैं पं० सूर्य कान्त त्रिपाठी 'निराला'। निराला जी का जन्म माघ शुक्ल ११ सं० १६५३ को बंगाल प्रान्तान्तर्गत मेदनीपुर के महिसा दल राज्य में हुआ था। उनके पिता उन्नाव से जीविका कमाने उस जगह चले गये थे। उनकी शिक्षा वहीं प्रारम्भ हुयी। बचपन से ही वह स्वतन्त्रता प्रिय थे। इसी से पाठशाला के निश्चित पाठ्यक्रम के बंधन भी उन्हें बाँधने में असफल सिद्ध हुये। बाद को उन्होंने घर पर ही विविध विषयों का अध्ययन आरम्भ किया। इसके अतिरिक्त उन्हें कुश्ती लड़ने तथा घोड़सवारी करने का भी शौक था। संगीतज्ञों के सम्पर्क में आकर वह संगीत के प्रेमी भी हो गये थे।

वे धनी परिवार के थे। बचपन में किसी बात की चिन्ता नहीं थी। तेरह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हो गया था। उसके बाद उन्हें उसी राज्य में

नौकरी भी मिल गयी थी। और जीवन के दिन बड़ी अच्छी तरह कट रहे कि आया सम्वत् १९७६ और उनके जीवन की धारा ही बदल गयी।

इस समय तक वह हिन्दी-साहित्यिकों के सम्पर्क में आगये थे। द्विवेदी जी से उन्हें बराबर प्रोत्साहन मिल रहा था। उन्हीं के प्रयत्नों से सं० १९७८ में निराला जी को राम कृष्ण मिशन के प्रधान केन्द्र बैलूर मठ से प्रकाशित होने वाले 'समन्वय' की सम्पादकी मिल गयी। वहाँ रहकर उन्होंने परमहंस रामकृष्ण और विवेकानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन किया। कुछ वर्षों के बाद वह कलकत्ता से निकलने वाले हास्य व्यंग प्रधान 'मतवाला' के सहायक सम्पादक होकर चले गये। वहीं से उनकी ख्याति बढ़ी। त्रिपाठी जी वहाँ भी एक वर्ष तक ही रहे। उसके बाद अपने गाँव गये। गाँव से लखनऊ चले आये और वहीं स्थायी रूप से रहने की सोचने लगे परन्तु मन ही तो है, वहाँ भी नहीं लगा। वहाँ से कवि निराला प्रयाग चले आये और आज भी उस नगर को सुशोभित कर रहे हैं। सं० २००३ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी जयंती बड़े धूम धाम से मनायी थी और हाल में ही कलकत्ता निवासियों ने उनका शानदार स्वागत करके उनके प्रति अपनी अगाध श्रद्धा का परिचय दिया है। महाप्राण निराला शरीर से तो स्वस्थ हैं परन्तु कभी कभी उनका मस्तिष्क असंतुलित हो जाता है।

रचनायें

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी द्विवेदी युग के द्वितीय खेवे के साहित्यकार थे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया था और आज तो वे दर्जनों ग्रन्थों के ख्याति प्राप्त प्रणेता हैं। उन्होंने गद्य के क्षेत्र में भी अच्छा प्रयास किया है। वैसे वह कवि रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके काव्य ग्रन्थों के नाम हैं—परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अनामिका, कुकुरमुत्ता, अणिमा, वेला, नये पत्ते और अपरा।

काव्य-साधना

वह युग प्रवर्तक एवं क्रान्तिकारी कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनका काव्य बंगला से प्रभावित अवश्य है परन्तु उन्होंने उस पर अपने पौरुष तथा गम्भीर दार्शनिक विचारों की छाप डाल दी है। वह अद्वैतवाद की संस्कृतमयी विचार-

धारा के कवि हैं। उसकी विशद व्यंजना उनकी रचनाओं में हुयी है। प्रभावोत्पादकता उसकी जान है।

निराला जी का काव्य साहित्यिक वर्णनात्मक और गीतात्मक दोनों प्रकार का है। वर्णनात्मक कविताओं मे 'राम की शक्ति पूजा' बड़ी ही प्रौढ़ और महत्वपूर्ण कृति है। परिमल के गीत बड़े ही मार्मिक हैं। उनके भावों में तीव्र वेग है तन्मयता है और है तल्लीनता। भक्ति और प्रेम की कोमलतम भावनाओं की बड़ी सरस अभिव्यक्ति उनकी कुछ रचनाओं में हुयी है। उनका सौन्दर्य दर्शन बड़ा ही सूक्ष्म और रसात्मक है। 'जुही की कली' में इन विशेषताओं के दर्शन कीजिये—

विजन बन बल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी
स्नेह-स्वप्न मग्न-अमल-कोमल-तनु-तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांङ्क में वासंती निशा थी......आदि

उनकी संध्या-सुन्दरी में छायावाद की विशेषतायें पूर्णतः परिलक्षित होती हैं। संध्या की शान्ति और निस्तब्धता इन पंक्तियों में जैसे मूर्त सी हो उठी हैं—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुन्दरी परी सी धीरे, धीरे, धीरे।
तिमिराञ्चल में चञ्चलता का नहीं आभास
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर
किन्तु जरा गम्भीर—नहीं है उसमें हास विलास॥

× × ×

नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप।
नुपुरों में भी रुन झुन रुन झुन नहीं
सिर्फ एक अव्यक्त-शब्द सा चुप, चुप, चुप॥

उनके गीतों में संगीत के साथ विषय की सम्पन्नता भी है। उन्होंने सभी तरह के गीत लिखे हैं, प्रेम के, प्रकृति के, राष्ट्रीय चेतना के और दर्शन की तो कोई

बात ही नहीं। "तुम और मैं" के द्वारा उन्होंने भेद और अभेद को देखने की चेष्टा की है। उनका हृदय उपेक्षितों की ओर भी द्रवीभूत हुआ है। 'भिखारी', 'विधवा' तथा 'वह तोड़ती पत्थर' जैसी रचनायें इसका प्रमाण देती हैं।

भाषा-शैली

भाषा की दृष्टि से निराला जी को शब्द रसायनिक कहा गया है। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से परिपूर्ण खड़ी बोली है। वाक्यविन्यास पर बंगला-शैली का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने खड़ी बोली की कर्कशता दूर करके उसे संगीत मय बनाया है। विषय के अनुसार उनकी भाषा भी बदलती जाती है। जहाँ विषय गंभीर है, वहाँ संस्कृत के तत्सम शब्दों से बनी हुई वह जटिल और दुरूह हो गई है। जहाँ हृदयतत्व की प्रधानता है वहाँ कोमलकान्त पदावली से सजी हुयी भाषा के दर्शन होते हैं। उनकी भाषा में अभिधा शब्दों की भर-मार है। बंगला के अनेक शब्दों का बड़ा सफल प्रयोग किया गया है। कहीं कहीं पर उर्दू और फारसी के शब्दों के भी बड़े जानदार प्रयोग मिलते हैं।

उनकी अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट प्रणाली में नहीं बँध सकी है। शैली भी बंगला से प्रभावित है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में लम्बी लम्बी समस्त पदावली तथा क्रिया पदों का लोप, जगह जगह पर दिखलायी पड़ता है। पर गंभीर विषय जहाँ इस शैली में लिखे गये हैं वहाँ भाषा भी बड़ी क्लिष्ट हो उठी है। भाव भी समझ में नहीं आता। इस प्रकार के दो उदाहरण पर्याप्त होंगे एक गीतिका से—

गंध-ब्याकुल-कूल-उर-सर
लहर-कच कर कमल मुख पर
हर्ष अलि हर स्पर्श शर सर
गूँज बारम्बार (रे कह)

दूसरा 'राम की शक्ति पूजा' से—

राक्षस-विरूद्ध-प्रत्यूह-क्रुद्ध कपि-विषम-हूह
विच्छुरित-वह्नि-राजीव-नयन-हतलक्ष्यवाण
लोहित-लोचन-रावण-मद-मोचन-महीयान
राघव-राघव-रावण वारण-गत युग्म प्रहर
उद्धत-लङ्कापति-मर्दित-कपिदल-बल-विस्तर

अनिमेष-राम-विश्वजिद-दिव्य-शर-भङ्ग-भाव-
विद्धाङ्ग-बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि-खर-रुधिर-स्राव
रावण-प्रहार-दुर्वार-विकल-बानर-दल-बल

उन्होंने इसी प्रकार अपनी बुद्धि विशिष्ट रचनाओं को अभिधा शैली और स्वच्छन्द छन्द में लिखा है। वे अंनुप्रास के सफल प्रयोगकर्ता हैं। शैली ओज-मयी और पठन कला युक्त है। शब्द चित्र उपस्थित करने में वह अपना सानी नहीं रखते। संङ्गीतमय सङ्गोपाङ्ग रूपक बाँधने में भी वह एक ही हैं।

छन्द के क्षेत्र में वह बड़े भारी क्रान्तिकारी हैं। उनकी छन्द योजना विस्तृत और विशाल है। उनके मुक्तक अतुकान्त छन्द हिन्दी में एक नये युग का विधान करते हैं। उन्हीं के नाम पर लोग उसे निराला छन्द कहते हैं। उन्होंने मार्मिक छन्दों का विशेष प्रयोग किया है। वे संगीतमय और नाटकीय हैं। गजलों में उन्हें सफलता नहीं मिली। इस प्रकार उनके काव्य में साहित्य और सङ्गीत का अभूतपूर्व समन्वय हुआ है।

पंत जी : जीवन-चरित

तीसरे प्रमुख कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत हैं। उनका जन्म अल्मोड़ा के कौसानी नामक एक रमणीय प्रकृति सौन्दर्य पूर्ण पर्वतीय ग्राम में हुआ था। उनके पिता कौसानी राज्य के कोषाध्यक्ष तथा एक बड़े जमींदार थे। अपने चार भाइयों में वह सब से छोटे हैं।

सात वर्ष की अल्पावस्था में ही उनकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव पर प्रारम्भ हुई। चार पाँच वर्षों के पश्चात् उनका नाम अल्मोड़ा के राजकीय हाईस्कूल में लिखा दिया गया। उन्होंने वहाँ नवीं कक्षा तक अध्ययन किया। बाद को बनारस चले गये और वहीं के जयनारायण हाई स्कूल से 'स्कूल लीविंग' की परीक्षा पास की। सं० १९७६ में वह प्रयाग चले आये, वहीं म्योर सेंट्रल कालेज में पढ़ने लगे। उनको विकासोन्मुख प्रतिभा को विकसित करने का यहाँ अच्छा अवसर मिला। अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध काव्य मर्मज्ञ पं० शिवाधार पाण्डेय के सम्पर्क में आकर उन्होंने अंग्रेजी और संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध कवियों की कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। इससे उनकी रुचि साहित्य और काव्य-रचना की ओर प्रवृत्त हुई।

असहयोग आन्दोलन में उन्होंने कालेज त्याग दिया और घर जाकर स्वतंत्र

रूप से अध्ययन आरम्भ कर दिया। यहाँ उन्होंने अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी साहित्यकारों की रचनायें पढ़ीं। संस्कृत तथा बंगला के साहित्य का अध्ययन किया। उपनिषद, दर्शन तथा आध्यात्मिक साहित्यों का मनन किया। संगीत की ओर भी उनकी रुचि रही। उन्होंने उदयशङ्कर के प्रसिद्ध चलचित्र 'कल्पना' के गीत लिखे। वह बड़े अच्छे प्रबन्धक भी हैं। लोकायन-संस्कृति पीठ का निर्माण और संघटन करके उन्होंने अपनी इस शक्ति का भी परिचय दिया है। आज कल वह अखिल भारतीय आकाशवाणी की प्रयाग शाखा के साहित्य-परामर्श-दाता हैं।

रचनायें

विद्यार्थी जीवन से ही काव्य-रचना करने के कारण उनकी रचनाओं का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। यद्यपि उन्होंने गद्य और पद्य दोनों को अपनी लेखनी से धन्य किया है परन्तु मुख्यतः वह कवि ही हैं। उनकी कृतियाँ हैं—उच्छ्वास, पल्लव, वीणा, ग्रन्थि, गुञ्जन, युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्णधूलि, स्वर्ण-किरण, उत्तरा, मधुज्वाल और युग पथ।

कविता

हिन्दी में उनका प्रवेश सं० ७४ या ७५ के लगभग से होता है। उनकी प्रारम्भिक रचनायें 'वीणा' में संग्रहीत हैं। 'वीणा' ने प्रकाश में आते हुये ही क्रान्ति का आभास दिया था। पुराने-पंथियों ने बड़ा हो हल्ला मचाया परन्तु नवयुवकों ने उसका स्वागत किया और कुछ ही दिनों के बाद पंत जी नयी धारा के जागरूक और प्रतिनिधि कवि मान लिये गए। प्रकृति की गोद में पलने, वर्ड्सवर्थ, शेली और कीट्स की रचनाओं का अध्ययन करने तथा उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्तियों से प्रभावित होने के कारण उनकी कविताओं में सौन्दर्य और सुकुमार कल्पनाओं का प्राधान्य है। प्रारम्भिक रचनाओं में वह प्रकृति से घुले मिले से मालूम पड़ते हैं। तितलियों से उनके हृदय का आदान-प्रदान भी चलता है। तभी तो वह कहते हैं—

सिखा दो ना हे मधुप कुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो तुम मुझको मधु पान॥

प्रकृति भी उनसे प्रभावित है—

विजन वन में तुमने सुकुमारि, कहाँ पाया यह मेरा गान।
मुझे लौटा दो विहग कुमारि, सजल मेरा सोने का गान ॥

कहीं-कहीं प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद भी दिखलायी पड़ जाता है और वह उसके प्रति आश्चर्य प्रकट कर जाते हैं। "मौन निमंत्रण" की इन पंक्तियों को देखिए—

देख वसुधा का यौवन भार, गूँज उठता है जब मधुमास
विधुर उर के से मृदु उद्‌गार, कुसुम जब खिल पड़ते सोच्छ्वास
न जाने सौरभ के मिस कौन सँदेशा मुझे भेजता मौन।

पंत जी प्रकृति और जीवन की व्यापक चेतना के कवि हैं। उन्होंने जीवन के प्रत्येक रूप को प्रकृति की प्रत्येक छवि को आत्म विभोर होकर देखा है। विफल प्रेम की करुणा 'ग्रंथि' और 'पल्लव' से फूट फूट पड़ती है। करुणा को ही वह कविता का मूल मानते हैं—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

सं० १९८९ से उनकी काव्य धारा दूसरी दिशा में मुड़ जाती है। वह जीवन के यथार्थ तथा उसकी प्रमुख समस्याओं के सम्बन्ध में सोचना शुरू करते हैं। पहली प्रकार की रचनाओं में उन्होंने काव्य, चित्रकला और संगीत का दिव्य समन्वित रूप उपस्थित किया था और परवर्ती कविताओं में भाव, विचार तथा कला की पावन त्रिवेणी प्रवाहित की है। पहले वह प्रकृति सौन्दर्य के कवि थे और जीवन की सुन्दरता के उपासक। गुंजन में सुख, दुःख के समन्वय से वह एक सुन्दर जीवन मीमांसा उपस्थित करते हैं। जीवन की सम्पूर्णता तो सुख और दुःख के समन्वय में ही है—

सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परि पूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि
फिर शशि में ओझल हो घन।

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित है अति सुख से।
मानव जग में बँट जाये
सुख दुख से औ दुख सुख से ॥

ग्राम्या और 'युगवाणी' में वह स्वाभाविक प्रगति की ओर झुकते हैं। ज्ञान विज्ञान के इस युग में वह मानवता को आर्थिक दृष्टि से ही विकसित नहीं देखना चाहते। वह साम्य चाहते हैं परन्तु वाह्य नहीं, आन्तरिक।

वाह्य नहीं आन्तरिक साम्य।
जीवन में मानव को प्रकाम्य ॥

उनका विश्वास है कि सरल, सुन्दर और उच्चादर्शों पर चल कर ही लोग सुख और शान्ति का उपभोग कर सकते हैं। मानव जीवन में वह वैराग्य के पक्षपाती नहीं हैं। कर्म में उनकी आस्था है। वह भी गीता प्रतिपादित निष्काम कर्म में। उनकी समदृष्टि का उदाहरण लीजिए—

पीले पत्ते टूटी टहनी कङ्कड़ पत्थर
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर लगता सुन्दर

'स्वर्णधूलि', 'स्वर्ण किरण' में वह फिर उपनिषदों की संस्कृति की ओर आकर्षित होते हैं। उनकी लालसा है—

उसी सर्व गत पर ज्यों केन्द्रित
रहे मनुज जग में मयूर औ
वायस रहें परस्पर।
सबके साथ अपाप विद्ध
स्थिति प्रज्ञ रहे जग में नर ॥

इस प्रकार उनकी कविताओं में सौन्दर्यानुभूति, सरस कल्पना, सुकुमार भावना, दार्शनिक चिन्तन, कल्याणकारी विचार तथा कलामय अभिव्यक्ति सभी कुछ है। उन्होंने नवीन तथा प्राचीन अलंकारों से कविता देवी का शृंगार किया है।

भाषा और शैली

उनकी भाषा स्वनिर्मित खड़ी बोली है। संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल होते हुये भी वह ताल, लय और संगीत के निकट है। वह उनके भावों को वहन करने में पूर्णतः सक्षम है। शब्द चयन पर उनका अपूर्व अधिकार है।

इसी कला के द्वारा वह एक से एक सुन्दर शब्द चित्र भी उपस्थित करते हैं। ब्रज भाषा, उर्दू आदि शब्दों को भी काव्योचित साँचे में ढालकर उन्होने उसे कोमल, चित्रमय तथा कर्णप्रिय बना दिया है। ब्रज भाषा के अजान, दई, दीठ, काजर, कारे तथा फारसी के नादान और चीज़ आदि शब्दों के प्रयोगों से उनकी हृदय-विशालता, रसिकता तथा भाषा-कला का अच्छा परिचय मिलता है। उन्होंने कुछ नये शब्द भी गढ़े हैं। कुछ अंग्रेजी वाक्य खण्डों से अनुवाद कर लिये हैं। स्वप्निल, सिंगार, अजान-नयन आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। कहीं कहीं पर शब्दों का भी बड़ा विचित्र प्रयोग मिलता है। 'मनोज' शब्द का प्रयोग कामदेव के अर्थ में रूढ़ है परन्तु उसकी व्युत्पत्ति के अर्थ में करके उसे 'बापू' के लिये सार्थक बना दिया है। उनके पर्यायवाची शब्द भी एक निश्चित अर्थ का ही बोध करते हैं—प्रहसित, विहसित, स्मित, पुराचीन, प्राचीन ऐसे ही शब्द हैं। भावों के लिये उनकी स्थानापन्नता एवं सुधार मितव्यता उनके भाषा सौष्ठव की विशेषता है।

भावों का प्राधान्य स्वीकार करके कहीं-कहीं पर उन्होंने व्याकरण के नियमों की उपेक्षा की है। इसीलिये उनकी रचनाओं में विभिन्न स्थानों पर पुल्लिङ्ग के लिये स्त्रीलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के लिये पुलिङ्ग के रूप मिलते हैं। संस्कृत के सन्धि-नियमों में भी उन्होंने परिवर्तन कर दिया है। उनकी भाषा में मुहाविरों और कहावतों का अभाव है।

छन्द में भी उन्होंने अनेक प्रयोग किये हैं। शैली उनकी अपनी है।

महादेवी : जीवन-चरित

छायावादी और रहस्यवादी कवियों में महादेवी जी का व्यक्तित्व सबसे अलग है। विरह-साधना और करुणा से सने हुये उनके मार्मिक गीत हिन्दी संसार की अनमोल निधि हैं। देवी जी का जन्म सं० १९६४ वि० में फर्रुखाबाद में हुआ था। उनके पिता भागलपुर के एक कालेज में हेडमास्टर थे। उनकी माँ एक भक्त और विदुषी महिला थीं। नाना ब्रज भाषा के कवि थे। इस प्रकार उन्हें बचपन में ही कविता के योग्य वातावरण मिल गया था।

उनकी प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर में हुई थी। घर पर उन्होंने चित्रकला और संगीत का अभ्यास किया था। माँ तुलसी, सूर और मीरां की कवितायें पढ़ाया करती थीं। इस प्रकार उनका झुकाव साहित्य की ओर बचपन से ही

होने लगा था। सं० १९७३ में उनका विवाह डा० स्वरूप नारायण वर्मा के साथ कर दिया गया। उनके श्वसुर नारी शिक्षा के पक्षपाती नहीं थे अतः ससुराल में जाकर उन्हें अपने अध्ययन का क्रम तोड़ देना पड़ा। कुछ वर्षों के बाद जब उनका देहान्त हो गया तब महादेवी जी की पढ़ाई पुनः शुरू हो गयी। उनका विद्यार्थी जीवन बड़ा ही सफल रहा। मिडिल तथा हाईस्कूल की परीक्षाओं में तो वह प्रान्त भर में सर्व प्रथम उत्तीर्ण हुई थीं। छात्रवृत्ति पाकर उन्होंने आगे पढ़ाई को जारी रखा। सं० १९८३ और ८५ में उन्होंने प्रयाग के क्रास्थ-वेट कालेज से क्रमशः इंटर और बी० ए० की परीक्षा पास की। बी० ए० में उन्होंने दर्शन भी ले रक्खा था अतः उन्होंने उसी समय भारतीय दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। संस्कृत में एम० ए० कर लेने के बाद वह प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाध्यापिका नियुक्त हुईं। आज तक वह पद उन्हीं के द्वारा सुशोभित है।

विद्यार्थी जीवन से ही उन्होंने कवितायें लिखना प्रारम्भ किया था। 'चाँद' के द्वारा सर्व प्रथम उन्होंने हिन्दी संसार को अपना परिचय दिया। बहुत दिनों तक उन्होंने उस पत्र का बड़ी सफलता से सम्पादन भी किया था। इधर उन्होंने साहित्यकार-संसद की स्थापना की है, जिसके द्वारा हिन्दी लेखकों की सहायता की जाती है। उनकी नीरजा पर ५००) का जो सेकसरिया पुरस्कार मिला था उसे उन्होंने विद्यापीठ को दे दिया था। आज कल उत्तर प्रदेशीय सरकार ने उन्हें लेजिस्लेटिव कौन्सिल की सदस्या भी नियुक्त कर लिया है।

काव्य-ग्रन्थ

देवी जी गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में बड़े अधिकार के साथ लिखती हैं। पद्य उनका प्रिय क्षेत्र है। वह प्रधानतः कवि ही हैं। उनके नीहार, नीरजा तथा सांध्यगीत का संग्रह 'यामा' के नाम से प्रकाशित हुआ है। 'दीपशिखा' उनकी नवीनतम कृति है।

काव्य-साधना

विद्यार्थी जीवन से ही उनकी काव्य-साधना प्रारम्भ हो गयी थी। ज्यों ज्यों उनका अध्ययन गम्भीर होता गया, त्यों त्यों उनकी कविताओं में प्रौढ़ता भी परि-लक्षित होने लगी। अपने गीतों के द्वारा उन्होंने अपने को वेदना की उपासिका के रूप में उपस्थित किया। बौद्ध दर्शन के दुःख वाद का उन पर पर्याप्त प्रभाव

पड़ा है। स्थूल जगत की अपूर्णता से विक्षुब्ध होकर अव्यक्त पूर्णता को खोजने वाली आत्मा तो सदैव विरहिणी ही रही है। उन्होंने अपना परिचय दिया है, अपना इतिहास बताया है और उस पर उन्हें गर्व भी है—

मैं नीर भरी दुख की बदली
विस्तृत नभ का कोई कोना
उनका न कभी अपना होना

परिचय इतना, इतिहास यही, उमड़ी थी कल मिट आज चली।

इसी प्रकार उनके प्रत्येक स्वर में चिरन्तन विरह का भाव निहित रहता है। वेदना उनके लिये एक गम्भीर चेतना है। सारे संसार में वह व्याप्त है।

उन्होंने प्रेमाख्यानक कवियों के भावात्मक रहस्यबाद को मधुर भाव के साथ अपनाया है। स्थूल को छोड़ कर सूक्ष्म की ओर ही वह प्रवृत्त हुई हैं। उनके सूक्ष्म में संवेदनशील जीवन का सत्य निहित है। वह प्रकृति के विविध रूपों एवं व्यापारों में उसकी झलक पाती हैं और उससे चिर मिलन के लिये उत्कंठित हैं। यही उत्सुकता उनके काव्य का पाथेय बन गयी है। उनका यह आकर्षण वासना प्रसूत नहीं है। बिल्कुल पवित्र और लोकोत्तर है। छायावादी कवि के अनुकूल प्रकृति के सौन्दर्य दर्शन में उन्हें उस विराट का दर्शन होता है। उदाहरण लीजिए—

आलोक तिमिर सित असित चीर
सागर गर्जन रुन झुन-मँजीर

× × ×

रवि शशि तेरे अवतंस लोल
सीमन्त जटित-तारक अमोल
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्रधनुष
हिमकर बन झरते स्वेद निकर
अप्सरि! तेरा नर्तन सुन्दर।

मर मिटने की साध तो है ही, साथ ही उपनिषदों के एकात्मवाद के प्रभाव के कारण वह अपना व्यक्तित्व भी सुरक्षित रखना चाहती हैं। वह एक स्थल पर इसे स्पष्ट करती हैं—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
दूर तुमसे हूँ, अखण्ड सुहागिनी भी हूँ॥

असीम की व्यापकता उन्हें स्वीकार है परन्तु अपनी सीमा का भी उन्हें गर्व है—

विश्व में वह कौन सीमाहीन है
हो न जिसकी खोज सीमा में मिला।
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो?

विरह उनका साध्य और साधना दोनों है। वह इसका अनुभव भी करती हैं—"हो गयी आराध्यमय, मैं बिरह की आराधना से" जैसी पंक्तियाँ इसका प्रमाण पेश करती हैं। उनकी प्रतिभा में काव्य, संगीत और चित्रकला का सुन्दर समन्वय हुआ है। भारतीय साहित्य में उनकी टक्कर की दूसरी प्रतिभा देखने में नहीं आती।

भाषा और शैली

प्रारम्भ में वह ब्रजभाषा में ही लिखा करती थीं परन्तु बाद को खड़ी बोली में लिखने लगीं। उन्हें गीतों के लिये भाषा का निर्माण नहीं करना पड़ा। उनके काव्य में प्रवेश करने के समय तक खड़ी बोली को प्रसाद की प्राञ्जलता, निराला का स्वर और ताल युक्त संगीत तथा पंत की कोमलता और मधुरिमा मिल चुकी थी। देवीजी ने इससे लाभ उठाया है, यह निर्विवाद सत्य है। उपर्युक्त तीनों कवियों की भाषा गत विशेषताओं का उन्होंने अपनी भाषा में समन्वय कर लिया है।

उनकी भाषा अत्यन्त मधुर और कोमल है। कर्कशता और शुष्कता कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ती। उसमें पर्याप्त प्रवाह है। इस भाषा पर उनका पूरा अधिकार है। इसमें न तो प्रसाद की तरह बचन की गड़बड़ी है, न पंत की तरह लिंग सम्बन्धी दोष और न तो निराला की तरह समस्त पदों की भरमार। हाँ, कहीं-कहीं मात्राओं की पूर्ति के लिये अथवा तुक मिलाने के लिए शब्दों का अंग-भंग अवश्य किया गया है। बतास, अधार, कर्णधार ऐसे शब्द उनकी इस प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। उन्होंने ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है, जो अपनी कोमलता के लिये पुराने समय से काव्यभाषा में प्रयुक्त होते आये हैं। नैन, बयार, और बैन इसी प्रकार के शब्द हैं। 'वह' का प्रयोग वह एक और

बहुवचन दोनों में करती हैं। कहीं-कहीं पर उर्दू शब्द भी मिल जाते हैं। उनकी भाषा भावप्रवण, संगीतमय, प्रसाद गुण युक्त प्रवाह पूर्ण, कोमल तथा श्रुति मधुर है।

उनकी शैली निरन्तर विकसित होती रही है। वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था में 'नीहार' में छिपी हुई है। उस समय भावों की कमी और शब्दों का आधिक्य लक्षित होता है। 'नीरजा' में भाव और भाषा के पलड़े बराबर हैं। दीप शिखा में भाव, भाषा को बहुत पीछे छोड़ देते हैं। उन्होंने लाक्षणिक शब्दों का बड़ी सावधानी से प्रयोग किया है। उनके प्रयोगों में प्रतीकों, समासोक्तियों लाक्षणिक एवं व्यंजक प्रयोगों की अधिकता है। कहीं-कहीं तो बिलकुल अपरिचित प्रयोग पाये जाते हैं। ऐसे स्थल दुरूह और जटिल हो गये हैं। उन्होंने लौकिक भावों के लिये 'तारे' आत्मा के लिये 'दीपक' संसार के लिये 'सागर' जीवन के लिये 'तरी' आदि रुपकों का प्रयोग किया है। जो लोग इससे अपरिचित हैं उनकी समझ में महादेवी जी की कविता नहीं आ सकती। इस प्रकार उनकी शैली भी अत्यन्त सांकेतिक हो गयी है।

छाया वादी एवं रहस्यवादी परम्परा के अन्य कवि—

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त इस धारा में बहने वाली अनेक प्रतिभायें भी हैं, जिनकी कविताओं ने सं० १९६७ से १९९३ तक की अवधि को ढक सा लिया है। इस परम्परा में पं० माखन लाल चतुर्वेदी एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। "मेरे गीतों के राजा तुम मेरे गीतों में बास करो" जैसे मधुर एवं कोमल गीतों के संग्रह 'हिम तरंगिणी' में मिलते हैं। उनमें करुण अनुभूति की तीव्रता है। सरसता और रसाद्रता उसकी जान हैं। बाद को उन्होंने राष्ट्रीय कवितायें लिखनी शुरू कीं और अब तो वे उसके महाकवि माने जाते हैं। हिम-किरीटिनी में राष्ट्रीय कवितायें संगृहीत हैं।

चतुर्वेदी जी के पश्चात् वर्माद्वय आते हैं। सर्व श्री भगवतीचरण वर्मा और रामकुमार वर्मा। भगवतीचरण जी ने आरम्भ में नैराश्य और अतृप्ति मूलक मार्मिक कवितायें लिखीं, जिनमें कहीं-कहीं पर वर्तमान व्यवस्था के प्रति विद्रोह के भी दर्शन हो जाते हैं। 'मधुकण' और 'प्रेम-संगीत' उनके कविता संग्रह हैं जिन पर अंग्रेजी और उर्दू काव्य का स्पष्ट प्रभाव दिखलायी पड़ता है। इस तरह की रचनायें लिखने के बाद वह प्रगतिवाद की ओर मुड़ गये। डा०

रामकुमार वर्मा ने जिस मार्ग का निर्माण किया था उस पर वह आज तक चल रहे हैं। उनकी रचनाओं में कहीं असीम और ससीम के सम्बन्धों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, कहीं निराशा प्रसूत वैराग्य की। उनके गीतों का संग्रह अंजलि रूपराशि, चित्रलेखा, चन्द्रकिरण और हिमहास के नाम से प्रकाशित हुआ है। उनकी भाषा में प्रवाह है, अलंकारों में स्वाभाविकता।

मोहनलाल महतो 'वियोगी' की कविता पुस्तकों के नाम हैं निर्मला, एक तारा, कल्पना और जीवनपुस्तक, जिनमें प्रेम, करुणा और भक्ति को लेकर सुन्दर कवितायें लिखी गयो हैं। सरस कल्पना, प्रसादगुण युक्त प्रवाहमयी भाषा उनकी रचनाओं की विशेषता है।

गुरुभक्तसिंह 'भक्त' ने छायावादो प्रकृति-काव्य में नए प्राण डाल दिये। उनकी इस प्रकार की रचनायें 'सरस सुमन' कुसुम-कुञ्ज, वंशीध्वनि और वनश्री में संग्रहीत हैं।

नरेन्द्र शर्मा की प्रारम्भिक छायावादी कविताओं पर दुःखवाद का विशेष प्रभाव है। उनकी शृंगार मूलक रचनाएँ भी अत्यन्त मार्मिक एवं मधुर हैं। कर्ण-फूल, शूल-फूल, प्रभात फेरी, प्रवासी के गीत, पलाशवन और रक्त चन्दन में इस तरह की रचनायें मिलती हैं। बाद को वह भी प्रगतिवादी हो गये।

शुरू-शुरू में बच्चन जी ने भी बड़ी सफल छायावादी रचनायें की थीं। तत्पश्चात् उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर एक स्वच्छन्द मार्ग का निर्माण कर लिया। उन्होंने एक मधुशाला खोल दी, जिसमें पं० कृष्णकान्त मालवीय तथा मोहनलाल महतो 'वियोगी' की दम तोड़ती हुई हालावादी रचनाओं में प्राण फूँके जाने लगे। इसके बाद वह स्वयं मधु बाँटने लगे। आरम्भ में उन्हों क्षणिक आनन्दवाद के गीत गाये परन्तु बाद को निराशा की रजनी ने उनक बस्ती को घेर लिया। इस समय कवि बच्चन ने निशानिमंत्रण और एकान्त संगीत जैसी कविता पुस्तकें लिखीं जिनमें दुःख, करुणा, और निराशा को छोड़कर और कुछ नहीं मिलता। चाहे जो कुछ हो, किन्तु इस बात को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि कवि का जीवन जिन-जिन संघर्षों से होकर गुजरा है, उसकी अभिव्यक्ति उसने बड़ी ईमानदारी से की है। मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, हलाहल, सतरंगिनी, आकुल अन्तर, एकान्त संगीत, निशानिमंत्रण, और मिलनयामिनी उनके गीत-संग्रह हैं उनकी भाषा

सरल है, छन्द सरल हैं, भाव सरल हैं, बिल्कुल दर्पण की तरह। उनमें बच्चन जी को अच्छी तरह देखा जा सकता है। उनके भावों को समझने के लिये माथापच्ची नहीं करनी पड़ती इस तरह की रचनाओं का प्रणयन करने के पश्चात् उन्होंने 'बंगाल का काल' और 'सूत की माला' लिखकर प्रगतिवाद और गाँधीवाद के प्रति भी अपनी सहानुभूति का प्रदर्शन किया है। उनके नवीनतम गीतों का संग्रह कदाचित् 'प्रणय-पत्रिका' के नाम से प्रकाशित होने जा रहा है।

इसी परम्परा को श्री रामनाथ सुमन की 'विपंची' सियाराम शरण गुप्त के 'पाथेय' 'आद्रा' और 'विषाद', मैथिली शरण गुप्त की 'झङ्कार', प्रेमी का 'अनन्द के पथ पर', दिनकर की 'रेणुका' और 'रसवन्ती' तथा इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती' ने आगे बढ़ाने में अपना महत्वपूर्ण योग दिया है।

इसके अतिरिक्त सर्व श्री मंगला प्रसाद विश्वकर्मा, नवीन, तारा पाण्डेय, आरसी प्रसाद सिंह तथा उदयशंकर भट्ट की प्रारम्भिक रचनाओं के अध्ययन के बिना छायावादी एवं रहस्यवादी आन्दोलन का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा।

छायावादी एवं रहस्यवादी कविता की सामान्य प्रवृत्तियाँ—

छायावादी एवं रहस्यवादी कविताओं का मंथन करने के पश्चात् हमें छः मुख्य सामान्य वृत्तियों के दर्शन होते हैं—

(१) **सौन्दर्याकर्षण**—रीतिकाल की स्थूल ऐन्द्रिकता और द्विवेदी युगीन बौद्धिक शुष्कता के विरुद्ध इन कवियों में अशरीरी सौन्दर्य भावना की प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है। सौन्दर्य का आकर्षण उन्हें अव्यक्त सत्ता की ओर से मिलता है। वे उसकी कल्पना कर लेते हैं। इसलिये उनकी कविताओं में वैष्णव कविमनीषियों की सौन्दर्य भावना के अनुकूल न तो देवताओं का आलम्बन है, न तो रीतिकालीन रसिक कवियों के मनोनुकूल नारी की सुन्दरता का सहारा। बल्कि अव्यक्त सत्ता के एक अलौकिक सौन्दर्य की काल्पनिक भावानुभूति की व्यंजना अवश्य मिलती है।

(२) **प्रेम भावना**—सौन्दर्य ही प्रेम भावना का आधार है। अव्यक्त और अशरीरी सौन्दर्य भावना पर आधारित प्रेम का भी वही रूप होगा इसलिये उनका प्रेम अत्यन्त व्यापक, पवित्र और सूक्ष्म है। व्यापक प्रेम की यही साधना साध्य की ओर उन्हें ले जाती है।

(३) दुःखवाद से प्रभावित अन्तर्मुखी अभिव्यक्ति—इस प्रकार को कविताओं के मूल में ही दुःख का भाव है। आत्मा परमात्मा से बिछुड़ गयी है, यही दुःख का कारण है। इसी की सफल व्यंजना उनकी रचनाओं में मिलती है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी इसके लिये उत्तरदायी हैं। उन परिस्थितियों से सामजस्य न बैठा सकने के कारण, उनकी सौन्दर्य की भावना को ठेस लगी और वे सिसक उठे।

(४) पुरातन के प्रति प्रेम और वर्तमान के प्रति असंतोष—इन वर्तमान सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं के कारण उन्हें अतीत की याद आने लगी। अतीत वैसे भी बड़ा मोहक लगता है, फिर इन कल्पनाजीवी कवियों के लिए उसकी बात ही क्या पूछनी है? पुरातन काल का रहस्य उन कवियों के अद्भुत-प्रेम की कामना को उलझाये रहता था। प्रसाद जी को तो पुरातन के प्रति अत्यन्त मोह रहा है। वर्तमान से लगभग सभी छायावादी एवं रहस्यवादी कवि असंतुष्ट हैं। उसके दुःख को भुलाने के लिए कोई मधुशाला खोलकर 'हाला' की शरण लेता है, कोई नाविक से भुलावा देकर धीरे-धीरे इस दुनिया से बहुत दूर ले चलने की प्रार्थना करता है, कोई भयङ्कर प्रलयङ्कर से ताण्डव करने के लिये अनुनय विनय करता है और कोई "एक बार बस और नाच तू श्यामा" की पुकार लगाता है।

(५) प्रबन्ध काव्य का लोप और मुक्तक प्रगीतों का आधिक्य—वे अन्तर्मुखी व्यक्तिवादी कवि थे इसलिये प्रबन्ध काव्य का सर्जन करना उनकी प्रवृत्ति के प्रतिकूल था। अन्तर्मुखी भावों की अभिव्यक्ति के लिये प्रगीतों का माध्यम ही उत्तम होता है। ये प्रगीत इस वैज्ञानिक युग के अनुकूल भी हैं।

(६) भाषा और छंद के प्रति विद्रोह तथा नवीनता का आग्रह—इस धारा के कवियों ने ब्रजभाषा के प्रति विद्रोह किया। पुरानी खड़ी बोली के प्रति अपना विरोध प्रकट कर इस पीढ़ी ने उसे नये ढंग से विकसित किया। उसे प्राञ्जल, मधुर तथा कोमल बनाया। अधिक शब्दों को त्यागकर लाक्षणिक, वक्रता युक्त तथा चित्र उपस्थित करनेवाले शब्दों का प्रयोग किया। सभी लोगों ने पुरातन पिंगल शास्त्र की उपेक्षा की, व्याकरण के बन्धनों को शिथिल किया। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार किसी ने अंग्रेजी के सानेट को अपनाया, किसी

कवि तो मुक्तक छन्द पर ही उतर आये। इस प्रकार इस क्षेत्र में उन्होंने एक नयी दुनिया बसा दी।

प्रगतिवाद अर्थ और जीवन—दर्शन

प्रगति प्राकृतिक गति है। वह परिवर्तनशील वस्तु व्यापार का आवश्यक परिणाम है। कदाचित इसीलिये विश्व के प्रख्यात इतिहासकार टायनबी ने कहा है कि इतिहास के रथ का पहिया उत्तरोत्तर अग्रसर होता है। हमारे साहित्य में इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। व्यापक अर्थ में यह शुद्ध मानवतावाद और सुधारवाद का नाम है और संकुचित अर्थ में यह मार्क्सवादी जनवादी क्रान्तिकारी जीवनदर्शन को व्यक्त करता है। व्यापक अर्थ में यह मनुष्य को सर्वोपरि मानता है किन्तु सामाजिक विषमताओं को सुधारना चाहता है। संकुचित अर्थ में यह मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ प्राणी मान कर वर्ग विहीन, शोषण हीन समाज का निर्माण करना चाहता है। यह जीवन दर्शन एक ऐसे वातावरण की नींव डालना चाहता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने मानवीय अधिकारों का उपभोग कर सके।

प्रगतिवाद मार्क्स के द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक वस्तुवाद पर आश्रित है। कार्ल मार्क्स साम्यवाद के जनक के रूप में सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। उनके पूर्व भी आविन और फोरियर, लुईब्लाक और लासेली जैसे समाजवादी थे जो आदर्शवादी व्यवस्था में विश्वास रखते थे। मार्क्स और एंगिल्स लिखित 'कम्यूनिस्त मेनिफेस्टो' के प्रकाशन के पश्चात् फैवियनिज्म, रिवीजनिज्म, सिन्डिकलिज्म आदि अनेक मतवाद सामने आये परन्तु मार्क्स के क्रान्तिकारी समाजवाद के आगे किसी की एक न चली। आज उन्हीं के सिद्धान्त का बोल-बाला है। उसी से सारे ज्ञान विज्ञान प्रभावित हो रहे हैं। आज का साहित्य फिर कैसे अछूता रह सकता है ?

संसार के सभी दार्शनिकों ने जीव और जगत पर विचार किया है। कोई इसका कारण विचारों (Ideas) को बतलाता है और कोई किसी अवाङ् मनसगोचर परब्रह्म परमेश्वर नामक एक अज्ञात अव्यक्त शक्ति की ओर इंगित कर श्रद्धा से झुक जाता है। मार्क्स के पूर्व हेगेल, कांट और फेबरबाख जैसे दार्शनिक विचारों के संसार को ही सत्य मानते थे। जगतगुरु शंकराचार्य ने तो 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति, जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः' का प्रतिपादन करते हुये संसार को मिथ्या

घोषित कर दिया था। कुछ लोग मार्क्सवादी दर्शन को हेगेल और फेवरबाख से प्रभावित बतलाते हैं। यह सत्य है कि हेगेल ने ही द्वन्द्वात्मवाद की विद्वता पूर्ण रूप रेखा खींची थी और फेवरबाख ने ही वस्तुवाद का योग्यता पूर्वक प्रतिपादन किया था परन्तु मार्क्स का द्वन्द्वात्मक वस्तुवाद तो उन दोनों के सिद्धान्तों का उलटा मतवाद है। मार्क्स ने दोनों दार्शनिकों के 'तार्किक नियमों' को अपना कर उनके विचारवादी धार्मिक एवं नैतिक खोलों को उतार फैंका और एक नवीन मतवाद की स्थापना की।

द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक वस्तुवाद

सृष्टि का मूल भूततत्व (Matter) है। यह जगत उसी से विकसित हुआ है। जगत उत्तरोत्तर बदलता जा रहा है। यह परिवर्तन ईश्वर अथवा किसी परोक्षसत्ता के कारण न होकर स्वयं ही घटित होता रहता है। प्रस्तुत अवस्थान (थीसिस) के भीतर आन्तरिक असंगतियाँ (इनर कान्ट्राडिक्शन) उत्पन्न हो जाती हैं। इनके भीतर विनाश का बीज रहता है। ये असंगतियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती हैं। कुछ समय के बाद एक ऐसी अवस्था आती है जब पूर्व अवस्थान (थीसिस) नष्ट हो जाता है और प्रत्यवस्थान (एन्टी थीसिस) प्रादुर्भूत हो उठता है। लेकिन असंगतियों के उत्तरोत्तर विकसित होने का क्रम नहीं टूटता। आगे चलकर प्रत्यवस्थान (एन्टी थीसिस) में भी असंगतियाँ उत्पन्न होकर बढ़ने लगती हैं। इसलिये प्रत्यवस्थान भी नष्ट हो जाता है। उसके स्थान पर फिर एक समवस्थान (सिन्थेसिस) का निर्माण होता है। इसी प्रकार प्रगति का क्रम चलता रहता है।

दूसरे शब्दों में यह सृष्टि दो विरोधी तत्वों के पारस्परिक द्वन्द्व से स्वयं गतिशील होती रहती है। कुछ समय तक उसमें दोनों विरोधी तत्व बराबर-बराबर रहते हैं परन्तु उनमें से एक बढ़ जाता है। इस स्वतः क्षोभ से दोनों में द्वन्द्व होता है और एक नूतन अवस्थान का प्रादुर्भाव होता है। इस अवस्थान में फिर दोनों शक्तियों की कुछ काल बाद साम्यावस्था आती है। इसी प्रकार परिवर्तन का क्रम चलता रहता है। इन दो विरोधी शक्तियों की द्वन्द्वावस्था में एक ऐसी स्थिति भी आती है जब मात्रा के साथ ही साथ पदार्थ के गुण में अत्यन्त वेग पूर्वक (क्रान्ति की दशा में) परिवर्तन हो जाता है। "जब समाज के जीवन के

साथ, समाज और उसके इतिहास के अध्ययन के साथ द्वन्द्वात्मक वस्तुवाद के सिद्धान्त लागू होते हैं तब उसे ऐतिहासिक वस्तुवाद कहते हैं।"[1]

इतिहास की आर्थिक व्याख्या और प्रगतिशील साहित्य

जिस प्रकार संसार का निर्माण भौतिक पदार्थों से हुआ है उसी प्रकार इस समाज का संघटन भी आर्थिक व्यवस्था के कारण ही संभव हो सका है। इसलिये वस्तु के उत्पादन की शक्तियाँ जिस प्रकार विकसित होंगी उसी प्रकार मानव समाज भी उत्थान की सीढ़ियों पर अग्रसर होगा। उत्पादन शक्ति की प्रगति की प्रत्येक सीढ़ी प्रयोग के लिये एक नयी व्यवस्था को जन्म देती है। आर्थिक सम्बन्ध ही अपने अनुरूप राजनैतिक व सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इन सम्बन्धों से फिर आर्थिक व्यवस्था प्रभावित होती है और मानव समाज वर्गों में विभक्त हो जाता है। इन वर्गों में पारस्परिक संघर्ष होता है। जब यह संघर्ष अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाता है तब एक वर्ग विहीन व्यवस्था प्रकाश में आती है। उसके पश्चात् वर्ग युद्ध समाप्त हो जाता है और प्रकृति के साथ मानव का संघर्ष और तीव्रता से होने लगता है।

विश्व का इतिहास इस बात की घोषणा करता है कि समय-समय पर महान व्यक्तियों का जन्म होता है जिनके प्रभाव और प्रयत्नों से युग की धारा मुड़ा करती है। यह आंशिक सत्य है। सच बात तो यह है कि वे व्यक्ति भी समाज में ही जन्म लेते हैं वहीं पल पोस कर बढ़ते हैं तथा वहीं से अनन्त की यात्रा करते हैं, जिसका निर्माण भौतिक परिस्थितियाँ करती हैं। समाज शास्त्रियों का कहना है कि इतिहास के निर्माण में वर्ग युद्ध, नियम स्थापन, दार्शनिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक योजनाओं का बड़ा हाथ रहता है। किन्तु ये भी आर्थिक आधार पर ही खड़ी हैं। इस प्रकार आर्थिक संघर्ष ही इतिहास का निर्माण करता है। समाज को बदलने की प्रेरणा भी आर्थिक परिस्थितियों से ही मिलती है। कोई दैवी शक्ति समाज को नहीं बनाती, बिगाड़ती। समाज का उत्थान और पतन उत्पादन, विनिमय तथा वितरण के साधनों पर निर्भर करता है। आर्थिक संघर्ष में एक वर्ग का वस्तु पर अधिकार हो जाता है और दूसरा उस लाभ का साधन

---

[1] द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक वस्तुवाद-स्तालिन

मात्र बन कर रहता है। इस प्रकार दोनों श्रेणियों में संघर्ष होता रहता है और इतिहास आगे बढ़ता रहता है।

इसी तरह आदि काल की साम्यावस्था से समाज क्रमशः आखेट युग, कृषि-युग, सामंतयुग से होता हुआ वर्तमान समय में पूँजीवाद युग तक पहुँच गया है। सभ्यता की विकासावस्था में यह संघर्ष स्पष्ट नहीं था परन्तु इस पूँजीवादी व्यवस्था में अब वह बिल्कुल स्पष्ट हो गया है। उत्पादन के समस्त साधनों पर थोड़े से पूँजी-पतियों ने अधिकार कर लिया है। अब समाज शोषित और शोषक नामक दो वर्गों में बँट गया है। शोषित वर्ग को सर्वहारा वर्ग भी कहते हैं। अब यही वर्ग सभी वर्ग संघर्षों को मिटाकर श्रेणी विहीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करेगा। प्रगतिशील साहित्य इसी वर्ग संघर्ष को तीव्र करता है। वह सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति के लिये प्रस्तुत कर श्रेणी विहीन समाज-व्यवस्था के निर्माण की प्रेरणा देता है। इससे मानव संस्कृति को पूर्णता का लाभ होता है। जो साहित्य मानव-वादी परम्परा से आँखें मूँद कर किसी अलौकिक सत्ता की प्राप्ति पर जोर देता है उसे प्रतिक्रियावादी साहित्य कहते हैं। प्रगतिशील साहित्य तो द्वन्द्वात्मक वस्तु-वाद के सहारे प्रगतिशील तत्वों को पहिचानता और उसे क्रान्ति के लिये आयो-जित करता है।

पूँजीवाद ने उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार कर लिया है। उसको कायम रखने के लिये वह जनतंत्र का अभिनय करता है। इस तथाकथित जनतंत्र की व्यवस्थापिका सभाओं में पूँजीपतियों के एजेन्ट घुस कर अपने स्वार्थ की रक्षा के लिये कानून बनाते हैं। इससे वे सर्वहारा क्रान्ति का विरोध करते हैं। पूँजीपतियों का इस प्रकार सरकार पर कब्जा हो जाता है। पूँजीवाद इतना ही नहीं करता। वह जनता का हर प्रकार से शोषण करता है। इस सामाजिक व्यवस्था में अधि-कांश जनता असंस्कृत, विषमता से पीड़ित, निर्धन, अशिक्षित एवं अज्ञ रहती है। पूँजीवाद इस ओर ध्यान नहीं देता। वह जानता है कि यदि वह जनता को शिक्षित करेगा तो वह उसी के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने लगेगी और उसके अस्तित्व को मिटाकर ही दम लेगी। वह वर्ग चेतना को पथ भ्रष्ट करने के लिये प्रत्येक प्रकार का प्रयत्न करता है। कहीं वह ईश्वर का कीर्तन करवाने लगता है। कहीं वह भाग्यवाद का प्रचार करता है। कहीं अंधविश्वास को प्रोत्साहन देता है। जब जनता के ईमानदार नेता उसकी पोल खोलते हैं तब वह फिर जनतंत्र

का नाटक रचता है। चुनाव कराने लगता है। अखबारों और सम्पादकों को खरीद कर अज्ञ जनता में अपने अनुसार जनमत पैदा करता है। उसके सरकार की सारी 'मशीनरी' प्रयत्न करती है कि कोई जन नेता जीतने न पावे। थोड़े से पैसों को खर्च करके वह मन्दिर मस्जिदों का निर्माण करा देता है। मुख्य-मुख्य तीर्थ स्थानों पर धर्मशालायें बनवाकर वह भोली-भाली जनता को बँहकावे में डाल देता है। इस प्रकार वह अपनी उदारता का विज्ञापन करके मध्यम वर्गीय जनता को क्रान्ति की ओर से विमुख कर देता है।

मार्क्सवाद इस प्रकार की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करके सम्यवाद की स्थापना करना चाहता है। यह परिवर्तन सुधार करने से नहीं होगा। पूँजीपतियों का न तो हृदय परिवर्तित किया जा सकता है और न दया तथा कृपा की भीख माँगने से ही काम चल सकता है। यह तो शोषितों के असन्तोष कों दबाने के साधन मात्र हैं। मार्क्सवाद क्रान्ति के द्वारा राज सत्ता को हस्तगत करना चाहता है और उस शक्ति के द्वारा एक ऐसे शोषणहीन समाज का निर्माण करना चाहता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। इस क्रान्ति के प्रेरक मजदूर होते हैं। किसानों पर वह विश्वास नहीं करता क्योंकि उनकी कोई अपनी विचार धारा नहीं होती। वे सुधारों से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे देवी देवताओं के अन्ध भक्त होते हैं। रुढ़िवादिता की सीमा लाँघने की शक्ति उनमें नहीं होती। पुरानी राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन करने के पक्ष में वे नहीं होते। मजदूरों में ही वर्ग संघर्ष की चेतना को जगानी होगी और उन्हीं को क्रान्ति की ओर प्रेरित करके श्रमिकों का राज्य स्थापित करना होगा। तब जाकर कहीं वर्ग हीन समाज बन सकता है। इसी व्यवस्था को जगती पर लाने के लिये प्रगतिवाद कटिवद्ध है।

प्रगतिवाद का उद्देश्य

आज के साहित्यकार को यह निश्चित करना पड़ेगा कि वह पूँजीवाद का समर्थन करेगा या उन लोगों के पक्ष में अपनी आवाज उठायेगा जिनको युगों से चूसा जा रहा है। अस्तु; प्रगतिवादी साहित्य का उद्देश्य है कि वह पूंजीवाद के विरुद्ध मजदूरों को उभाड़े। पूंजीवाद के अन्तर्विरोधों तथा असामाजिक-कृत्यों का पर्दा फाश करे। रूढ़िवादिता और अन्ध विश्वासों पर प्रहार करके यथार्थवादी विचार धारा का प्रचार करे। अपने विरुद्ध लगाये गये आरोपों का खंडन

करके वर्गहीन समाज की दिव्य संस्कृति का मनोहारी चित्रण करे। पण्डे पुजारियों, मौलवियों, पादरियों आदि धर्म के तथाकथित ठेकेदारों की पोल खोले और जनता की श्रद्धा मूलक विचार धारा को समाप्त कर उसके स्थान पर उनमें जनवादी संस्कारों की प्रतिष्ठा करे। जगत के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण को खतम करके जनता को यथार्थवादी ढंग से सोचना तथा करना सिखाये। मानवीय मूलप्रवृत्तियों की गंदगियों को साफ कर उसके स्थान पर उसे स्वस्थ दिशाओं की ओर मोड़ दे। सभी प्रगतिशील तत्वों को प्रोत्साहन दे। आज प्रगतिवाद के नाम पर लोग नाक भौं इसलिए सिकोड़ते हैं कि उसके विरोधियों ने उसे अत्यन्त बदनाम कर दिया है। आज वह अश्लीलता का पर्याय बना हुआ है। किन्तु ऐसी बात नहीं है उसका मूल उद्देश्य है जन कल्याण करना। सत्यं शिवं और सुन्दरम् की प्रतिष्ठा करना।

साहित्यकार समाज का निर्माण कर्ता होता है। इसलिए यहाँ पर उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह साहित्य के माध्यम से प्रतिक्रियावादी पूंजीवादी मनोवृत्ति का विरोध करे। वह अपने साहित्य में राजा रानी के स्थान पर मजदूर किसान का चित्रण करे। श्रृङ्गार प्रधान कविताओं एवं आकाशगामी दार्शनिकता के चंगुल में न फँस कर भूखी और नंगी जनता की सुधि ले। समाज के यथार्थ को वाणी दें। एक चतुर माली की तरह वह समझे कि किस पौधे को उसे सींचना है और किसे उखाड़ कर फेंक देने से ही उद्यान का कल्याण होगा। जो साहित्यिक जन चेतना पर पड़ी हुयी निराशा, अन्ध विश्वास, पश्ती, और कर्त्तव्य च्युतता की राख को फूँक कर उड़ाता नहीं, जो साहित्यिक जनचेतना में नयी आशा एवं नये उत्साह नहीं भरता वह जनता का शत्रु है। जो साहित्यकार व्यक्ति वाद को मुख्य और समाजवाद को गौण स्थान देकर युग संघर्षों से बच कर कल्पना के हवाई महलों में जाकर श्रृङ्गार की साधना तथा तटस्थता का अभिनय करता है वह मानवता का शत्रु है। साहित्य साहित्य के लिए नहीं जीवन के लिये है।

आज साहित्य को न तो तथाकथित रसराज की आवश्यकता है न भक्ति मूलक कविताओं की। आज व्यक्तिगत राग् विराग, अश्रु हास को चित्रित करने वाला साहित्य नहीं चाहिये। आज का युग उस साहित्य की माँग करता है जो कोटि कोटि नंगों और भूखों की दीनता को वाणी दे सके। आज ऐसे साहित्य

की आवश्यकता नहीं है जो व्यक्ति को जाति, धर्म, सम्प्रदाय और देश की सीमाओं में बाँध दे। आज तो उस साहित्य की आवश्यकता है जो गदगद कंठों से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की शंख ध्वनि करे।

प्रगतिवादी साहित्य का आविर्भाव

साहित्य में प्रगतिशील भावनाओं का सर्व प्रथम प्रयोग इटली में हुआ। सन् १९०७ में मारनेत्ति ने भविष्यवाद नामक एक नये मतवाद की सृष्टि की। उन्होंने कहा कि संसार अब बदल चुका है। समाज अब एक नये साँचे में ढल चुका है। इसलिए साहित्यिक मानदण्डों एवं मान्यताओं को भी बदलना अत्यन्त आवश्यक है। उसने रूढ़िगत विचारों के प्रति विद्रोह किया। छन्द और व्याकरण के नियम तोड़ डाले! उसने कहा कि सौन्दर्य दर्शन अब चन्द्रमा एवं कमल में न होकर मशीनों में होना चाहिए। उसकी विचार धारा ने तत्कालीन साहित्य में एक ऐसा वितण्डा वाद खड़ा कर दिया जिससे प्राचीन साहित्यिक मान्यताओं की नींव हिल उठी। आगे चलकर भविष्य वाद के दो भेद हो गये। एक का नाम पड़ा 'क्यूबो फ्यू चरिज्म' और दूसरे का 'ईगो फ्यू चरिज्म। पहले सिद्धान्त के अनुयायियों का कहना था कि वर्तमान समाज में ही भविष्य का दर्शन करना चाहिये। दूसरे मतवाद के समर्थक मानव को ही सर्व श्रेष्ठ प्राणी मानकर मानव महत्तावाद की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। सन् १९१४ तक मारनेत्ति के विचारों का बड़ा बोल बाला था। तीन चार वर्षों के पश्चात् उसने स्वतः इस आन्दोलन को बन्द कर दिया।

सन् १९१४ का समय विश्व के इतिहास में संक्रमण काल के नाम से प्रसिद्ध है। उसके बाद ही संसार में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना घटती है। सन् १९१९ में रूसी जनता ज़ार शाही को समाप्त कर मार्क्स वादी बोलशेविक पार्टी की सत्ता को स्थापित करती है। इसके पूर्वकाल से लेकर लगभग सन् १९२१ तक रूस में फार्मेलिज्म का ही प्रचार था। काव्य में रूप को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। उसके विरोध में कुछ समय के बाद रियलिज्म का प्रादुर्भाव हुआ। यही दशा फ्रान्स की भी थी किन्तु उसकी प्रतिक्रिया में वहाँ प्रकृतिवाद का प्रचार हुआ। गाइ दे मोपॉसा तथा एमिले ज़ोला ने जीवन का यथातथ्य चित्रण किया। अन्य लेखकों की प्रवृत्ति भी विरोधात्मक एवं संघर्षात्मक ही रही। रूस की क्रान्ति से सारे देशों के साहित्यिक ज्ञात तथा

अज्ञात रूप से प्रभावित होने लगे। इसके पूर्व रूस के साहित्यिक मानव मूल प्रवृत्तियों को बिना प्रयास विशेष के कविता में व्यक्त करना, काव्य का एक लक्षण समझते थे। क्रान्ति के पूर्व से लेकर क्रान्ति के कुछ वर्षों बाद तक वहाँ के साहित्य की यही दशा थी। परन्तु थोड़े ही वर्षों बाद देश के संचालकों ने राजनीति को सुदृढ़ बनाने के लिये काव्य सर्जन को इसी दिशा में लगाने का आदेश दिया। यद्यपि इससे उसमें प्रचारवादिता आ गयी किन्तु इतना तो अवश्य ही हुआ कि उसने जन समाज को राजशक्ति प्राप्त करने तथा उसे दृढ़ बनाने की प्रेरणा दी। समाज की आर्थिक विषमताओं को दूर कर वर्ग विहीन समाज की स्थापना का प्रचार किया। सन् १९३२ के आस-पास रूसी साहित्यकारों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सरकार की आज्ञा के विरुद्ध वे एक अक्षर नहीं लिख सकते थे। उनको प्रेरणा देनी थी श्रमिक समाज को, क्योंकि समाज का सबसे क्रान्तिकारी अङ्ग वही होता है। क्रान्ति के पश्चात् एक नयी व्यवस्था आ गयी। इस व्यवस्था से सहमत साहित्यकारों ने एक नया वाद खड़ा किया। उसका नाम रखा गया सामाजिक यथार्थवाद। उनका कहना था कि समाज की प्रगतिशील शक्तियों को पहचान कर उसकी अभिवृद्धि में साहित्य एवं समाज को योग देना चाहिए। मार्क्स वादी विचार धारा ही प्रगतिशील तत्व है। इसके प्रचार में कवि जुट गये।

आर्थिक उन्नति के लिये रूस में पंचवर्षीय योजनायें, सामूहिक कृषि कार्य संघटन आदि की व्यवस्थायें हुईं। साहित्यकारों से आग्रह किया गया कि वे इन योजनाओं को सफल बनाने के लिये अपनी रचनाओं के द्वारा इन योजनाओं के स्वरूप तथा लाभों से समाज को अवगत करावें। इन व्यवस्थाओं को देखने के लिये साहित्यकारों को आमंत्रित किया गया। मार्क्स वादियों के अनेक साहित्यिक सघ बने। साहित्यिक मोर्चा बना। इन संघों का काम था नवीन व्यवस्था की प्रशंसा करना। ये मोर्चे लेखकों से मार्क्सवादी विचारों की व्यंजना करने का आग्रह करते। रूस के शासक इन साहित्यिक संघों को आवश्यक निर्देश भी करते रहते थे। लेखकगण उन्हीं के अनुसार अपनी नीति निर्धारित करते। इस प्रकार यहाँ का साहित्य राजनीति का अनुगामी हो गया। उसमें प्रचारवादिता आ गयी। अनेक अच्छे-अच्छे कवियों ने इसमें भाग लिया। मार्क्सवादी कवियों में सर्व श्रेष्ठ कवि मायकोवास्की है। भावों का उत्कर्ष

और मनोहारी कल्पना उसकी अनेक कविताओं में देखने को मिलती हैं। साहित्य पर प्रतिबन्ध लगाये जाने के पश्चात् उसने भी वही पथ ग्रहण किया। अपनी एक कविता में उसने कहा—"मैं कविता की उच्च भूमि से साम्यवाद के बीच कूद रहा हूँ। इसका कारण यह है कि प्रेम की भावना मुझे और कहीं नहीं मिलती......मैं सोवियत संघ के लिये सुख का उत्पादन करने वाला कारखाना हूं।" × तत्कालीन रूसी काव्य से क्रान्ति काल का काव्य है इसलिए उसमें प्रचार

+I hure my self into communism,
From the heights of poetry above,
because without it,
for me,
There is no love.

× ×

I am a Soviet factory
manufacturing happiness

× ×

I want the pen
to equal the gun
to be listed
with iron
in industry
And the Polit Bureau's agenda item I
to be stalin's report on
"The out put of poetry"
"It is like this......
and that...... out of burrou,
The working class
has climbed right up
to the top of the tree
in the Union republics
the pre-war lavel's
been for surpassed
In the under standing
of poetry......"

—From "Home ward"
Translated by Herbart Marshall

वादिता का आ जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त आज की रूसी कवितायें काव्य के प्रकृत रूप का आभास देती हैं। कुछ समय के बाद जब दिशा नियंत्रित हो गयी तब साहित्यकारों पर से प्रतिबन्ध हटा दिया गया उसके बाद द्वितीय महायुद्ध आ गया।

अब अंग्रेजी साहित्य की ओर आइये। महायुद्ध के पूर्व का काव्य उच्चवर्ग की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता था। उन्हीं के लिये उनमें मनोरञ्जन की सामग्री थी। उसके बाद लोग अनुभव करने लगे कि साहित्य को मनोरञ्जन की सामग्री बनाना, मानवता का अहित करना है। अब युग की आवश्यकता को देखना होगा। साहित्य को जीवन के उस यथार्थ को भी देखना होगा जो कठोर एवं कटु सत्य के रूप में है।

सन् १६३० के लगभग अंग्रेजी में भी मार्क्सवादी विचार धारा का प्रचलन हुआ। साहित्य काल्पनिक संसार से हटकर पार्थिव जीवन के अधिकाधिक निकट आने लगा। सुप्रसिद्ध कवि डब्लू० एच० आडेन, सेसिल, डेलिविस, स्टेफिन स्वेडर आदि ने युग की आवश्यकता का अनुभव किया। सामाजिक शोषण के विरुद्ध अपनी आवाज उठाकर रूसी साहित्यकारों की ही भाँति उन्होंने श्रमिक वर्ग में नवीन चेतना से पूर्ण विद्रोहात्मक भावनाओं का प्रचार किया।

हिन्दी में प्रगतिवाद

प्रगतिवाद को लेकर हिन्दी साहित्य में भयंकर विवाद होते रहे हैं। इस शब्द को व्यापक रूप में ग्रहण करने वाले आलोचक कबीर और तुलसी, भूषण और लाल, सुभद्रा कुमारी चौहान तथा सियाराम शरण गुप्त जैसे कवियों को भी प्रगतिशील कवि मानते हैं। अपने मत के प्रतिपादन में यह तर्क देते हैं कि कबीर ने तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों एवं धार्मिक पाखंडों के विरुद्ध आवाज उठायी थी। तुलसीदास ने 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी' तथा 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' जैसी पंक्तियों को लिख कर उस समय की सुप्त जन चेतना को झकझोरना चाहा था। भूषण और लाल ने विदेशी सामन्तशाही की जड़ को उखाड़ने के लिये कवित्तों की सृष्टि की थी। इसके पश्चात् वे आगे बढ़ते हैं और कहते हैं कि भारतेन्दु युग भी हमें अनेक प्रगतिशील कवियों का परिचय देता है। स्वयं भारतेन्दु और बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र और प्रेमघन ने अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति समय-समय पर असंतोष प्रकट

किया है। समाज के कोढ़ों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया है। इसके पश्चात् सुभद्रा कुमारी चौहान और सियाराम शरण गुप्त आदि कवियों की ओर इंगित कर कहा जाता है कि उन लोगों की अनेक कविताओं ने समाज के ऐसे दयनीय चित्र उपस्थित किये हैं जिनको देखकर उत्तरदायिनी व्यवस्था पर थूक देने की इच्छा होती है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। प्रत्येक साहित्यकार चाहे वह कितना ही बड़ा एकान्त साधक क्यों न हो अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित अवश्य होता है। मानवता के विरुद्ध जब वह कोई काम देखता है तब उसमें करुणा की भावना उत्पन्न होती है और अपने संस्कार एवं स्वभाव के अनुसार वह उसका समाधान भी प्रस्तुत करता है। कबीर एक निम्न वर्ग के व्यक्ति थे। उन्होंने सामाजिक अत्याचारों को सहन किया था। कबीर के अवचेतन में उसकी प्रतिक्रिया के भाव अवश्वम्भावी थे। इसलिये उन्होंने सामाजिक अत्याचार के विरुद्ध अपनी 'बानियाँ' लिखीं और तत्कालीन पाखंड का ईमानदारी से पर्दाफाश किया। यह सब होते हुये वे सुधारवादी थे। अपनी रचनाओं के द्वारा वे जिन व्यंग्य बाणों की वर्षा करते थे उसके पीछे सुधार की ही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। तुलसी का समय भी संक्रान्ति का समय था। उनका लड़कपन बड़े कष्ट में बीता था। उन्हें भी समाज की ठोकरें खानी पड़ी थीं। इसलिये वह अपने स्वप्नलोक में रामराज्य नामक एक आदर्श राज्य की रचना कर अपनी पीड़ा को भूल जाना चाहते थे। भूषण और लाल को उस समय की दृष्टि से राष्ट्रीय कवि अवश्य कहा जा सकता है। उन लोगों ने विदेशी शक्तियों को उखाड़ फेंकने तथा देशी शक्तियों को प्रोत्साहित करने में कुछ न उठा रखा।

भारतेन्दु काल में अंग्रेजी साम्राज्य की तूती बोल रही थी। यहाँ की सम्पत्ति लन्दन जा रही थी। यहाँ के व्यवसाय को नष्ट किया जा रहा था। कम्पनी के कर्मचारियों तथा अन्य अंग्रेज पदाधिकारियों ने जो कुकृत्य यहाँ पर किया है उसके लिये आज भी पश्चिम लज्जा से झुका जा रहा है। उस समय मँहगी, बेकारी, अकाल, अशिक्षा, धार्मिक पाखंड, अनाचार, अत्याचार, शोषण एवं दोहन की जोंकें भारत का रक्त चूस रही थीं। लगता था जैसे देश अब अन्तिम साँसें ले रहा हो। भारतेन्दु-युगीन कवियों ने इस पर कवितायें लिखी हैं। उनमें भी दो दल थे। भारतेन्दु और प्रेमघन का दल सुधारवादी दल

था। बाल मुकुन्द गुप्त और प्रताप नारायण मिश्र का दल उग्र विचारों का दल था। यह सब होते हुये भी जब अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध १८५७ में भारतीय जनता ने विद्रोह किया तब भारतेन्दु युगीन कवि मौन मूक हो ताकते रहे। कुछ लोगों ने तो इस विद्रोह को बुरा भी बतलाया। विद्रोहियों को दुष्ट कहा गया और उन्हें उचित दंड देने की सिफारिश की गयी। इसका कारण था। और वह यह कि यह विद्रोह निम्न वर्ग का था और उस समय के कवि मध्यम वर्ग के व्यक्ति थे। इसका प्रमाण यह है कि भारतीय लोक गीतों में १८५७ के विद्रोह की बड़ी मार्मिक व्यञ्जना हुयी है। सुभद्राकुमारी चौहान राष्ट्रीय कवियित्री थीं। उनकी कविताओं ने राष्ट्र में प्राण फूँके थे। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में उनसे बड़ी प्रेरणा मिली थी। सियाराम शरण गुप्त ने सामाजिक अत्याचारों के भुक्तभोगियों के करुण चित्र खींचे हैं। उनको पढ़कर मन सामाजिक क्रूरता के प्रति प्रतिशोध की भावनाओं से भर जाता है किन्तु इन सारी कविताओं को प्रगतिवाद के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता। प्रगतिवाद के पीछे मार्क्स का एक विशेष जीवन दर्शन है। अस्तु हम यहाँ पर उसी दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न करेंगे कि उस प्रकार की रचनायें हिन्दी में कब से होने लगीं।

सन् १९१६ ई० में रूस की क्रान्ति का प्रभाव समस्त विश्वपर पड़ा। भारत भी इससे अछूता न रहा। अंग्रेजी शासन की पराधीनता जन जीवन का गला घोट रही थीं। निम्न वर्ग शोषण की चक्की में उत्तरोत्तर पिसता जा रहा था। मध्यम वर्ग की आर्थिक जमीन पाँव तले से निकलती जा रही थी। यहाँ के साहित्यकारों को तो बहुत पहले से यह बतलाया जा रहा था कि लक्ष्मी और सरस्वती में स्वभावतः बैर है। साहित्य की साधना सुख पूर्वक नहीं की जा सकती। संतोष ही सबसे बड़ा धन है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार और प्रसार के पश्चात् भारतीय विद्यार्थियों की आँखें खुलने लगीं। अब यहाँ के साहित्यकार भी सोचने लगे कि वे प्राचीन कथन कितने पानी में हैं।

सन् १९२७ में यहाँ के कुछ नवयुवकों ने भारतीय कम्यूनिस्त पार्टी की स्थापना की। साम्यवादी मत का प्रचार अनेक अड़चनों के बावजूद भी होता रहा। हिन्दी साहित्य में उस समय रहस्यवाद एवं छायावाद की तूती बोल रही थी जिसका प्रधान आधार व्यक्तिवाद था। उसमें सामाजिक यथार्थ के प्रति पलायन के भाव

थे। लेकिन यथार्थवादी संसार में रहकर अधिक दिनों तक काल्पनिक संसार में टिका रहना असंभव था। इसका प्रभाव छायावाद एवं रहस्यवाद के आधार स्तम्भ कवियों पर भी ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में पड़ने लगा। कुछ ही दिनों के बाद प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी के काव्य में व्यक्तिवाद के विरोधी संकेत मिलने लगे। पंत जी अधिक दिनों तक सामाजिक विषमताओं एवं असंतोष के प्रति उदासीन न रह सके। वे भी मार्क्सवाद की ओर झुकने लगे।

हिन्दी में प्रगतिवाद का समारम्भ

सन् १९३५ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुयी। प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक ई० एम० फारेस्टर ने पेरिस में इसके प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता की। सन् १९३६ में डा० मुल्कराज आनन्द तथा सज्जाद जहीर के प्रयत्नों से भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की नींव डाली गयी। उसका पहला अधिवेशन लखनऊ में हुआ। हिन्दी के जनप्रिय उपन्यासकार एवं कहानी लेखक मुंशी प्रेमचन्द्र उसके सभापति चुने गये। सभापति पद से दिये गये भाषण में उन्होंने कहा—"प्रगतिशील लेखक संघ, यह नामकरण ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार मेरे विचार से स्वभावतः प्रगतिशील होता है।...नीति-शास्त्र और साहित्यशास्त्र का एक ही लक्ष्य है। केवल उपदेश विधि में अन्तर है। नीतिशास्त्र तर्कों उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है। साहित्य ने अपने लिये मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।...मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह साहित्य को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ।...फूलों को देखकर हमें इसलिये आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है।

..."हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं-क्यों कि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"

प्रेमचन्द जी के भाषण में उपयोगितावाद का समर्थन तथा नव जागरण का संदेश मिलता है। पहले वे गाँधीवाद के बड़े भारी समर्थक थे। उनकी प्रारम्भिक रचनायें उसी विचार धारा से ओत प्रोत हैं। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद उनकी रचनाओं की आत्मा है। यह सत्य है कि उनके उस भाषण में मार्क्स की

विचार धारा की कोई विशेष बात नहीं मिलती किन्तु उसके बाद उन्होंने यह अनुभव करना शुरू कर दिया कि—"दरिन्दों से लड़ने के लिये हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार होना देवतापन नहीं जड़ता है।* उसी वर्ष उनकी मृत्यु हो गयी।

उनकी मृत्यु के पश्चात् भी नयी पीढ़ी अपना कार्य मनोयोग पूर्वक करती रही। मार्च सन् १९३७ में 'विशाल-भारत' में 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक से ठाकुर शिवदान सिंह चौहान का एक लम्बा चौड़ा प्रबंध प्रकाशित हुआ। उन्होंने मार्क्सवाद, वर्ग-संघर्ष, तथा वस्तुवाद की चर्चा की। वर्तमान साहित्य को पूंजीवाद की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों का द्योतक बताया और साहित्यकारों से वर्गवादी साहित्य सर्जन करने की अपील की। इस प्रबन्ध ने हिन्दी संसार में तहलका मचा दिया और लोग इस विषय पर आपस में विचार विमर्ष करने लगे।

सन् १९३८ में प्रगतिशील लेखक संघ का दूसरा अधिवेशन विश्व कवि रवि ठाकुर की अध्यक्षता में हुआ। भारतीय साहित्यकारों पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उसी वर्ष कालाकाँकर से सर्व श्री सुमित्रानन्दन पंत और नरेन्द्र शर्मा के सम्पादकत्व में 'रूपाभ' नामक नये पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसमें प्रगतिवाद की अनेक रचनायें निकलीं। कुछ दिनों के बाद यह पत्र बन्द हो गया। उसके पश्चात् काशी के 'हस' ने प्रगतिवादियों का साथ दिया। सन् १९४१ में शिवदान सिंह चौहान उसके सम्पादक नियुक्त हुये। 'हंस' प्रगतिवाद का प्रतिनिधि पत्र बन गया। हिन्दी के जागरूक आलोचकों का भी समर्थन इसे मिलने लगा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पूना अधिवेशन में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने काव्य की इस नवीन प्रवृत्ति पर विस्तार से प्रकाश डाला। इसी बीच पं० सुमित्रा नन्दन पंत की 'युग वाणी' गूंज उठी। उसका विज्ञापन बड़ी धूमधाम से निकला। "युग वाणी में मैंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है। यदि युग की मनोवृत्ति का किञ्चिमात्र आभास इसमें मिल सका तो मैं अपने प्रयास को विफल नहीं समझूँगा !" पंत जी ने कहा नव संस्कृति के लिये मानव जग में, पत-

---

*प्रेमचन्द के अंतिम एवं अधूरे उपन्यास 'मंगल सूत्र' के एक पात्र का कथन।

भार आया है। युगान्तर हो रहा है। प्राचीन व्यवस्था नष्ट हो जायगी और उसके स्थान पर 'नवल मुकुल मंजरियों' से विश्व शोभित होगा। परिवर्तन संसार का नियम है। समय के सागर में अनेक लोग समा गये।

रजत स्वप्न साम्राज्यवाद का ले नयनों में शोभन।
पूँजीवाद निशा भी है होने को आज समापन॥

मध्यवर्ग की यह दशा है—

संस्कृति का वह दास, विविध, विश्वास विधायक
यशकामी, व्यक्तित्व प्रसारक परहित निष्क्रिय

कृषक की दशा देखिये—

युग युग का वह भारवाह आकटि नत मस्तक
विश्व विवर्तन शील अपरिवर्तित वह निश्चल
वही खेत, गृह द्वार वही वृष हँसिया औ हल

— — — — — —

वह संकीर्ण समूह कृपण स्वाश्रित पर पीडित

इधर श्रमिक—

लोक क्रान्ति का अग्र दूत वर वीर जनाहत
नव्य भव्यता का उन्नायक शासक शासित।
चिर पवित्र वह भव अन्याय घृणा से पालित
जीवन का शिल्पी पावन श्रम से प्रक्षालित॥

प्रगतिवादी विषय

मार्क्सवादी वस्तु दर्शन के आधार पर पंत जी ने अनेक सुन्दर रचनायें कर सन् १९३८ में हिंदी में प्रगतिवाद का सूत्र पात किया। उनसे प्रभावित होकर अन्य कवि भी इस ओर झुके और उनकी लेखनी समाज की विभिन्न दुर्व्यवस्थाओं के ऊपर छन्दों की रचना करने लगीं। राम विलास शर्मा ने भी 'कलियुग और हड्डियों का ताप' शीर्षक के अन्तर्गत एक जोर दार कविता लिखी। पंत जी के साथ सारे प्रगतिवादी कवि यह अनुभव करने लगे—

आज सत्य शिव, सुन्दर केवल वर्गों में है सीमित।
ऊर्ध्व मूल संस्कृति को होना अधोमूल है निश्चित॥

(पंत, मूल्यांकन, रूपाभ १९३८)

इस प्रकार की घोषणा करते हुये एक अदम्य उत्साह एवं अमिट विश्वास के साथ उन लोगों ने समाज की उस विपन्न अवस्था का चित्र खींचा जिसे उच्च-वर्ग ने अपने स्वार्थ के कारण संभव बनाकर शत शत नैतिक बन्धनों के जाल में जकड़ डाला था।

प्रगतिवादी कवियों ने अपने गाँवों की दशा देखी। उनमें रहने वाले लोगों का नारकीय जीवन देखा और वे उसमें आमूल चूल परिवर्तन देखने के लिये आकुल दिखलाई पड़ने लगे। भगवती बाबू ने 'भैंसा गाड़ी' के माध्यम से ग्रामीणों की दुर्दशा का जो चित्र खींचा है उसकी सजीवता आज भी ज्यों की त्यों है—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों से हैं उठे हुये कुछ कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खंडहर उसको, पर वे कहते हैं उसे ग्राम
जिसमें भर देती निज धुन्धलापन असफलता की सुबह शाम॥
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना, यह है लोगों का एक काम॥

× × ×

चरमर चरमर चूँ चरर मरर जा रही चली भैंसा गाड़ी॥

गाँव के बच्चे जिनको यदि उचित परिस्थितियाँ मिल पातीं तो उनमें विकास की पूरी संभावनायें थीं परन्तु जो आज पूँजीवादी व्यवस्था के चंगुल में पड़े छट-पटा रहे हैं। इसमें कुछ सीमा तक उनका भी दोष है। इसे दूर करने के लिये कवियों ने कुछ अत्यन्त सुन्दर व्यंग्य मूलक कवितायें लिखीं। पंत जी ने ग्राम देवता को प्रणाम किया।

राम राम
हे ग्राम्य देवता, यथा नाम
शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य तुम्हें सविनय प्रणाम
विजया, महुआ, ताड़ी, गांजा पी सुबह शाम
तुम समाधिस्थ नित रहो, तुम्हें जग से न काम
पंडित, पंडे, ओझा, मुखिया औ साधु संत
दिखलाते रहते तुम्हें, स्वर्ग अपवर्ग पंथ

जो था, जो है, जो होगा, सब लिख गये ग्रन्थ
विज्ञान ज्ञान से बड़े, तुम्हारे मंत्र तंत्र

× × × ×

राम राम
हे ग्राम देव लो हृदय थाम
अब जन स्वातन्त्र्य युद्ध की
जग में धूम धाम
उद्यत जनगण युग-
क्रान्ति के लिये बाँध लाम
तुम रूढ़ि-रीति की खा
अफीम, लो चिर विराम !

इस प्रकार गाँवों पर अनेक कवितायें लिखी गयीं। पंत जी ने तो 'ग्राम्या' ही लिख डाला जिससे गाँवों की वर्तमान दशा पर उनको बौद्धिक सहानुभूति का पूरा पता चलता है। इतना होते हुये भी यह कहना पड़ेगा कि किसानों के अधिकांश चित्र गद्यात्मक एवं निर्जीव हैं। इसके पश्चात् जन जागरण गान की बारी आती है। रूस प्रगतिवादी कवियों के लिये आदर्श रहा है। सबसे पहले उसी ने क्रान्ति का पथ प्रदर्शन किया। वहाँ के मजदूरों और किसानों ने 'लाल निशान' खोले और सारी अव्यवस्थाओं को दूर करके अपने राज्य की स्थापना की। इसलिये रूस पर अनेक कवितायें लिखी गयीं। नरेन्द्र शर्मा ने घोषणा की कि रूस का दुश्मन सारी मानवता का शत्रु है।

लाल रूस है ढाल साथियो, सब मजदूर किसानों की
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।
लाल रूस का दुश्मन साथी, दुश्मन सब इन्सानों का
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का।
खोलो लाल निशान
हो सब लाल जहान, खोलो लाल निशान

रूस पर अनेक कवितायें लिखी जाने लगीं। लगता था जैसे प्रगतिवादी बनने के लिये रूस पर रचना करना आवश्यक हो। इस परम्परा में लिखी गयी श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' की 'मास्को अब भी दूर है' बड़ी सशक्त रचना है।

रूस से प्रेरणा ग्रहण करके हमारे कविगण वर्तमान अवस्था का सर्वनाश करने की कामना करने लगे। इसके लिये समाज की प्राचीन रूढ़ियों एवं मान्यताओं पर प्रहार करना उन्होंने आवश्यक समझा। ईश्वर की प्राचीन धारणाओं की घृणा की धूल से सत्कार करने का आयोजन होने लगा। 'अंचल' जी की कविता में यह निश्चय मुखरित हो उठा।

आज भी जन-जन जिसे करबद्ध होकर याद करते
नाम ले जिसका गुनाहों के लिये फरियाद करते
किन्तु मैं उसका घृणा की धूल से फरियाद करता।

नारी सदा से काव्य का विषय रही है। प्रगतिवादी कवियों ने भी अपनी दृष्टि से उसे देखने का प्रयत्न किया है। अभी तक वह पुरुष वर्ग के शोषण का शिकार बनती रही है। पुरुष ने नारी को बाहरी सौन्दर्य प्रसाधनों से सजा कर उसे मूर्ख बना दिया है। आधुनिक नारी तो अपने को इतना भूल गई है कि उसे पहिचानना तक कठिन है। नारी अब नारी नहीं रह गयी। पंत जी के अनुसार उसे 'नारी' छोड़कर और कुछ भी कहा जा सकता है।

तुम सब कुछ हो फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी
आधुनिके तुम नहीं अगर कुछ नहीं सिर्फ तुम नारी

उन्होंने दीन दुनियाँ से अपरिचित केवल हास विलासमयी कुल बधुओं पर भी 'स्वीटपी के प्रति' शीर्षक कविता में व्यंग्य किया है। नारी के प्रति पुरुष का प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक है। सदाचार एवं संयम के कारण इसे गोपनीय बना दिया गया है। किन्तु प्रगतिवादी कवि इस गोपनीयता को अबाध वासना तृप्ति का एक साधनमात्र मानता है। उसके अनुसार पवित्र और स्वाभाविक प्रेम में साहस होना आवश्यक है। इसे खुले रूप में करने का तो जन्म सिद्ध अधिकार है।

धिक रे, मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर?
मन में लज्जित, जन से शंकित चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से कायर॥
क्या क्षुद्र गुह्य ही बना रहेगा बुद्धिमान।
नर नारी का स्वाभाविक स्वर्गिक आकर्षण॥—पंत

उपर्युक्त विचारों का दान करने में पंत जी ने पात्र अपात्र का ध्यान नहीं रखा। चाहे समाज में इससे उछृङ्खलता ही क्यों न पहुँच जाय। यह युग संक्रान्ति का युग है। इसीलिये इस काल की अधिकांश कवितायें सामायिक हैं। फिर भी जब कभी प्रगतिवादी कवियों ने उधर से ध्यान हटाकर प्रकृति की ओर दृष्टि डाली है, उसे शान्ति मिली है। पंत जी ने सरल भाषा एवं सीधी सादी शैली में प्रकृति के अनेक मनोरम चित्र खींचे हैं। प्रभात में ग्राम शोभा पर जरा एक दृष्टि डालिये—

मरकत डिब्बे सा खुला–ग्राम
जिस पर नीलम नभ आच्छादन
निरुपम हिमांत में स्निग्ध शान्त
निज शोभा से हरता जन मन

केदारनाथ अग्रवाल खेत की मेड़ पर बैठ कर पौधों का स्वयंबर देख रहे हैं। स्वयम्बर में सरसों दुलहिन बनी हुयी है।

सरसों की न पूछो
हो गयी सबसे सयानी
हाथ पीले कर लिये हैं
व्याह मंडप में पधारी
फाग गाता मास फागुन
आ गया हो पास जैसे
देखता हूँ मैं स्वयम्बर हो रहा है।

इस प्रकार के स्वतंत्र प्रकृति चित्रों की संख्या कम है। हुआ यह है कि प्रकृति के माध्यम से अधिकांश सामाजिक असंगतियाँ व्यक्त हुयी हैं अथवा प्रकृति कवि की किसी भावना का प्रतीक बन कर कविता में आई है। केदारनाथ अग्रवाल की 'गेहूँ' शीर्षक रचना इसके उदाहरण में पेश की जा सकती है। छायावादी कवियों की तरह प्रगतिवादी कवियों की प्रकृति सम्बन्धी कविताओं में हार्दिक सत्यता एवं स्वानुभूति नहीं है। उन पर बौद्धिकता का प्रभाव अधिक है।

इसी काल में बंगाल का भीषण अकाल भी पड़ता है। यह हिन्दी के सभी कवियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। यहाँ तक कि बच्चन जी तथा महादेवी जी तक का कवि वहाँ की करुणा से द्रवीभूत हो उठता है। सब लोग

उस पर रचनायें करते हैं। प्रगतिवादियों ने इसे पूंजीवाद का अभिशाप कहा। अधिकांश कवियों ने बंगाल की शस्य श्यामला भूमि की तत्कालीन दशा पर सर पीट लिया। मानवता ने दानवता का रूप धारण कर लिया। जनता जूठे पत्तलों पर कुत्तों से होड़ लगाती रही। चोरबाजारी रंगमहलों में विलासिता की आँख मिचौनी खेलते रहे और बाहर क्षुधा की आग में झुलसता हुआ बाप कुछ दानों पर बेटा बेचता रहा। केदारनाथ अग्रवाल ने तत्कालीन दशा का एक मार्मिक विवरण दिया है।

बाप बेटा बेचता है
भूख से बेहाल होकर
धर्म धीरज प्राण खोकर
हो रही अनरीति बर्बर
राष्ट्र सारा देखता है
बाप बेटा बेचता है

माँ अचेतन हो रही है
मूर्च्छना में रो रही है
दाम के निर्मम चरण पर
प्रेम माथा टेकता है।
शर्म से आँखें न उठतीं
रोष से छाती धधकती
और अपनी दासता का
शूल उर को छेदता है
बाप बेटा बेचता है।

बच्चन जी ने भूखों और नंगों को वाणी का चंदा दिया। उन्होने कहा—

मेरे पैसे या दो पैसे
किस मसरिफ के तुमको होते
इसी लिये मैं अपनी वाणी
तुम्हें भेजता हूँ चन्दे में
सम्भव है तुमको कुछ बलदे
और कालिका करे प्रेरणा

निकल पड़ो तुम सहसा कह कर
अपनी रोटी अपना राज
इन्कलाब जिन्दाबाद

इस प्रकार प्रगतिवादी कविताओं के विषय विभिन्न वर्गों की मनोदशा, तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति, नारी, प्रकृति आदि के अतिरिक्त सामयिक समस्यायें भी हैं जिन्हें उत्तेजक शैली में व्यक्त किया गया है।

प्रगतिवादी कवि

श्री सुमित्रानन्दन पंत प्रगतिवादी कविताओं के जनक के रूप में याद किये जाते हैं। सर्व प्रथम उन्होंने ही मार्क्सवाद से प्रभावित रचनायें की। व्यक्तिगत रूप से तो वे गांधीवाद एवं भारतीय आत्मवाद के पोषक हैं किन्तु सामूहिक कल्याण के लिये उनका मार्क्सवाद में विश्वास है। इसीलिये उन्होंने हिंसात्मक क्रान्ति का कभी समर्थन नहीं किया। पंत जी मध्यम मार्ग के अनुयायी है। एक ओर उन्होने रूढ़िवादियों को कड़ी फटकार बतलायी और दूसरी ओर संकीर्ण वस्तुवादियों से दृष्टि विस्तार की कामना की। वे केवल बाहरी आर्थिक समता से ही संतुष्ट नहीं है। उनके अनुसार मानव मानव के बीच आन्तरिक साम्य होना चाहिए। आत्मवाद पर हँसने वालों के लिये वह कहते है—

हाड़ मांस का आज बनाओगे तुम मनुज समाज
आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम

× × ×

मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवारकर चाम

सच पूछिये तो उनका झुकाव आत्मवाद की ही ओर है परन्तु वह यह भी जानते हैं कि भौतिकता की एक सीमा तक ही उपेक्षा की जा सकती है। आधुनिक कवि की भूमिका में वह अपने को बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं—"ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय आध्यात्म दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा। क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के भीतर श्रम जीवियों के संगठन, वर्ग संघर्ष आदि में सम्बन्ध रखने वाले वाह्य दृश्य को जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनैतिक क्रान्तियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया।"

पंत जी पहले केवल कमनीय कल्पनाओं एवं सौन्दर्यानुभूति के कवि थे।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में उनकी प्रतिभा यथार्थ की भूमि पर आ खड़ी होती है। युगवाणी की अधिकांश रचनायें सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं इसलिये उनमें गद्यात्मक शुष्कता का आ जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। इसी को प्रगतिवाद का सर्वप्रथम हिन्दी ग्रन्थ मानना चाहिये। 'ग्राम्या' में उन्होंने ग्राम्यजीवन के नाना चित्र अंकित किये हैं। उसमें रूढ़िवादी मान्यताओं से आच्छन्न ग्रामदेवता, धोबियों, कहारों आदि के नाच, नहान, आदि अनेक विषयों पर सुन्दर कविताओं का संग्रह है। यद्यपि उनकी कविताओं में ग्राम जीवन के प्रति एक बौद्धिक सहानुभूति का ही दर्शन होता है फिर भी उनमें उनका कवि रूप पूर्णतः सुरक्षित है। उन कविताओं की भावसम्पदा न्यून अवश्य है परन्तु मूर्ति विधायिनी कल्पना की प्रचुरता के कारण कमियों की ओर दृष्टि नहीं जाती। वह अपनी रचनाओं में निम्न वर्गीय जनता की करुणोत्पादक दशा का मार्मिक वर्णन करते हैं। 'वे आँखे' में उन्होंने एक ऐसे किसान का वर्णन किया है जो जमींदारों उनके कारकुनों और सूदखोरों के शोषण से उजड़ गया है। 'वह बुड्ढा' में उनकी लेखनी का चमत्कार देखिये—

उसका लम्बा डील डौल है
हट्टी, कट्टी, काठी चौड़ी।
इस खण्डहर में बिजली सी।
उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी॥

वह बुड्ढा अब हाथ जोड़कर भीख मांग रहा है। उसकी कारुणिक दशा किसके कारण हुयी है? हमारा समाज इन विषयताओं का शिकार है जिसे दूर करने के लिये समाजवाद की प्रतिष्ठा करनी होगी। इसके पश्चात् वह आगे बढ़कर मार्क्सवाद के आगे की भूमि की ओर संकेत करते हैं। 'स्वर्ण धूलि' और 'स्वर्ण किरण' का कवि अपनी दिव्य कल्पना चक्षु के द्वारा आध्यात्मिक चेतना जगाने का प्रयास करता है। आज संसार की बहिर्चेतना जाग्रत है। परन्तु अन्तर्चेतना सुप्त। संसार अशान्त है। इसका कारण यह है कि विज्ञान और दर्शन में एकता का अभाव है। समाज में शान्ति स्थापित करने के लिये दोनों में सामञ्जस्य उपस्थित करना पड़ेगा। वही समाज अपनी मान्यता का अधिकारी है जिसमें व्यक्ति की आत्मोन्नति का पूर्ण अवसर मिल सके। यह तभी होगा जब लोग अपने अधिकारों को समझेंगे और अपने कर्त्तव्यों को पूरा करते रहेंगे। वे समाज और

व्यक्ति में समन्वय स्थापित करना चाहते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि भाव सत्य और वस्तु सत्य में सामञ्जस्य स्थापित किये बिना विश्व में आनन्द की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

प्रगतिवादी कवि अपने भावनाओं एवं विचारों को जनता तक पहुँचाना चाहता है। इसलिये रचनाओं में सरलता एवं सुबोधता लाना ही उसका उद्देश्य होता है। वह सरल भाषा का प्रयोग करना चाहता है। अभिव्यञ्जना की सरलतम शैली को अपनाना चाहता है। सरल भाषा का प्रयोग भी दो तरह का होता है। शिष्ट जन प्रयुक्त सरल शब्द योजना द्वारा तथा व्यावहारिक भाषा के शब्दों द्वारा। पंत जी की कविताओं का विश्लेषण करने पर यह बात मालूम होती है कि यद्यपि वे रचनाओं में सरलता एवं सीधापन लाने की आकांच्छा रखते हैं परन्तु फिर भी वे मूल रूप को बदल नहीं पाये हैं। इस प्रकार की रचना करते समय थोड़े बहुत ग्रामीण शब्द एवं राजनीति की परिभाषिक शब्दावलियाँ भी आ ही गयी हैं। अलंकार अपने स्वाभाविक रूप में आये हैं। हाँ! इस ओर आने से व्यंग्योक्ति में अधिक निखार आया है। अन्योक्तियाँ भी सफल बन पड़ी हैं। उदाहरण के लिये 'स्वीटपी के प्रति' रचना दर्शनीय है जिसके माध्यम से उन्होंने मध्यवर्गीय नारी जीवन पर व्यंग्य किया है। उनका व्यंग्य व्यक्तिगत न होकर सामाजिक है। इसलिये वह द्वेष की भावना नहीं बल्कि सुधार की प्रेरणा देता है। आगे चलकर समास प्रियता बढ़ती गई है। वह थोड़े से शब्दों में अधिक से अधिक भाव भरने की चेष्टा में रत दीख पड़ते हैं। अपनी भाषा और शैली के कारण वह हजारों के बीच भी पहिचाने जा सकते हैं।

दिनकर—व्यापक प्रगतिवाद के दूसरे प्रसिद्ध कवि हैं श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'। उनका जन्म बिहार प्रान्त के अन्तर्गत सं० १९६५ वि० में सीतामढ़ी में हुआ था। बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने अर्थोपार्जन के हेतु रजिस्ट्रारी, एवं अध्यापन के कार्य भी किये। विद्यार्थी जीवन से ही उन्होंने कवितायें लिखनी आरम्भ कर दी थीं। आज कल वे अपने प्रान्त में सरकार की ओर से मनोनित विधान सभा के सदस्य हैं। अभी तक दिनकर जी के रेणुका, हुँकार, विद्रोहशिखा, रसवन्ती, कुरुक्षेत्र एवं कलिङ्ग विजय नामक अनेक काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

दिनकर युवावस्था के उल्लास, पौरुष, एवं आवेश के जागरूक राष्ट्रीय

कवि हैं। उनकी राष्ट्रीयता के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। कहीं पर उन्होंने अतीत के गौरव पूर्ण इतिहास का स्मरण दिलाकर जनता को हीन भावना को दूर करने तथा उसमें आत्म विश्वास जमाने का प्रयास किया है। 'हिमालय के प्रति' शीर्षक कविता में उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से यही चित्रित किया है। उदाहरण लीजिए—

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर।
पर फिरा हमें गान्डीव गदा
लौटा दे अर्जुन, भीम वीर॥

कह दे शंकर से करें आज
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे
हर हर बम बम का महोच्चार॥

ले अँगड़ाई हिल उठे धरा
कर तू विराट स्वर में निनाद।
तू शैलराट, हुँकार भरे
फट जाय कुहा भागे प्रमाद॥

तू मौन त्यागकर सिंहनाद
रे तपी आज तप का न काल।
नवयुग शंख ध्वनि जगा रही
तू जाग जाग मेरे विशाल॥

मेरी जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के भव्य भाल।
नवयुग शंख ध्वनि जगा रही
जागो नगपति जागो विशाल॥

उनकी राष्ट्रीयता का दूसरा रूप समाज के शोषितों के प्रति सहानुभूति एवं शोषकों के प्रति आक्रोश वर्षा के रूप में दिखलायी पड़ता है। उन्होंने गरीबों, किसानों और मजदूरों के दलित जीवन का बड़ा सफल चित्र खींचा है। उनकी

आशा, उनकी निराशा, उनका रुदन, उनका आक्रोश दिनकर की रचनाओं में मूर्त सा हो उठा है। साम्राज्यवादी पूँजीवादी शोषक उनकी तीव्र और क्रूर आलोचना के पात्र हैं। देश की असहायता और दरिद्रता जनित पीड़ा को दूर करने के लिये वे क्रान्ति का आवाहन करते हैं। उनकी क्रान्ति जब रौद्र रूप धारण करके विपथगा होने लगी और उसकी ध्वन्सात्मक प्रवृत्ति उभार पर आने लगी तब हिन्दी के कुछ आलोचकों ने दिनकर जी पर अराजकतावादी और अधिनायकवादी होने का दोषारोपण किया। किन्तु बात ऐसी नहीं थी। वह आह्वान तो क्षुब्ध हृदय की व्यापक पुकार थी। जवान कवि का असंयमित हो उठना स्वाभाविक ही था। व्यथित और क्षुब्ध हृदय का वह व्यापक और विस्फोटक उद्गार उनकी बाद की रचनाओं में नहीं मिलता।

दिनकर जी अन्तर्राष्ट्रीयता से अधिक राष्ट्रीयता को महत्त्व देते हैं। उनका कहना है कि 'अंतर्राष्ट्रीयता की अनुचित उपासना से हमारी राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास होगा।' इसका अर्थ यह नहीं है कि वह विश्वबंधुत्व के विरोधी हैं। 'कुरुक्षेत्र', का विश्लेषण करने पर इस बात का पता चलता है कि व्यक्तिगत जीवन में चाहे वह अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार करते हों परन्तु वर्तमान परिस्थिति को अपने शोषण के द्वारा शोचनीय बनाने वाले आततायियों को दमन करने के लिये वह एक मात्र हिंसा का ही समर्थन करते हैं। पराजित जाति को वह सहिष्णुता और क्षमाशीलता की शिक्षा नहीं देना चाहते। उनके अनुसार मानवता का सबसे बड़ा शत्रु युद्ध है। यह कुछ व्यक्तियों के स्वार्थ परता का परिणाम है। युद्ध को रोकने के लिये मनुष्य को पारस्परिक भेदभाव को दूर करना पड़ेगा। विश्व के नव निर्माण के लिये 'समता विधायक ज्ञान' और 'स्नेह सिञ्चित न्याय' को ही आधार बनाना पड़ेगा। वह भारतीय समाजवादी विचारधारा से सहानुभूति रखते हैं परन्तु किसी राजनैतिक वर्ग की दासता को स्वीकार नहीं करते। दिनकर जी जन चेतना को इस सीमा तक जगाना चाहते हैं कि कोई राजनैतिक दल उसके व्यक्तित्त्व का शोषण न कर सके। वह वर्तमान को जीवन का सबसे बड़ा सत्य मानते हैं। इसलिये वह सामयिक समस्याओं के प्रति अत्यन्त जागरूक रहते हैं। साम्प्रदायिकता, अकाल, बापू की हत्या, जनतंत्र पर तो उन्होंने बड़ी जोरदार रचनायें की हैं। साहित्य को एक स्वतंत्र देवता के रूप में मानकर भी वह जनतंत्र का जिन शब्दों में स्वागत करते हैं वह दर्शनीय हैं।

सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।
दो राह समय के रथ का घर्घर नाद सुनो सिंहासन खाली करो कि जनता आती है॥
सदियों से ठंढी बुझी आग सुगबुगा उठी।
मिट्टी सोने का ताज पहिन इठलाती है॥
दो राह समय के रथ का घर्घर नाद सुनो।
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

उनके कवि का दो व्यक्तित्व है। यही कारण है कि एक ओर उनकी कविताओं में दुखी मांनवता कराहती, चीखती और छटपटाती है तो दूसरी ओर अजेय मानवता हुँकारती और आशापूर्ण गर्वोक्ति करती है। निसंदेह दिनकर जी नयी आशा और उत्साह के कवि हैं, शान्ति और निर्माण के कवि हैं।

उनकी भाषा खड़ी बोली है परन्तु उसमें ब्रज भाषा और उर्दू के शब्द भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। उनकी शैली पर उर्दू का अधिक प्रभाव है। उसी का सा ओज और प्रवाह भी उनकी रचनाओं में मिलता है। उनकी सरल और चुभ जाने वाली शैली ने उन्हें नवयुवकों का सर्वप्रिय कवि बना दिया है।

श्री नरेन्द्र शर्मा ने सर्वप्रथम 'प्रवासी के गीत' के द्वारा अपनी रोमांटिक कविताओं का परिचय हिन्दी संसार को दिया था। बाद को पंतजी से प्रभावित होकर वह प्रगतिवाद की ओर मुड़े। उन्हीं की तरह उनका भी विकास हुआ। शर्मा जी सामयिक परिस्थितियों के प्रति सदैव जागरूक रहे हैं। अपनी नीति का प्रतिपादन करते समय उनके समझाने के ढंग को देखते ही बनता है। उन्होंने मज़दूरों के गाने योग्य गीतों की रचना की इसलिये उसमें प्रचारात्मकता अवश्य आ गयी है। सरल खड़ी बोली उनकी भाषा है। शैली में प्रवाह सरलता और गेयता है।

डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन' का प्रगतिवादी कवियों में एक प्रमुख स्थान है। डाक्टर साहब देश विदेश के राजनैतिक एवं सामाजिक घटनाचक्रों पर सदैव ध्यान रखते हैं। सामयिक विषयों पर भी उन्होंने अनेक सुन्दर रचनायें की हैं। 'मास्को अब भी दूर है' उनकी सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है। व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध विषयों पर लिखते समय भी उन्हें लोक कल्याण का सदैव ध्यान रहता है। अपनी रचनाओं के द्वारा वह शक्ति, उत्साह, और आशा का निरन्तर

संदेश देते रहते हैं। परिस्थितियों के सम्मुख माथा टेकना तो उन्होंने सीखा ही नहीं।

उनकी भाषा अत्यन्त सरल खड़ी बोली है। अपनी रचनाओं में बातचीत के शब्दों का भी वह खुल कर प्रयोग करते हैं। मुहाविरों के प्रयोग उनकी कविताओं में चार चाँद लगा देते हैं। कभी कभी वे बड़ी लम्बी लम्बी कवितायें लिखते हैं जिसके कारण अभिव्यंजना का वह कसाव नहीं रह जाता जिसकी अपेक्षा होती है। समय समय पर लिखी गयी उनकी उत्साह वर्धक रचनाओं ने बड़ी प्रशंसा प्राप्त की है। आज भी वह उत्तरोत्तर प्रगति पंथ पर बढ़ते जा रहे हैं।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त सर्व श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' केदारनाथ अग्रवाल, सुरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव, भारतभूषण अग्रवाल, नीरज, रांगेयराघव, गजानन मुक्तिबोध और नेमिचन्द्र जैन प्रभृति कवियों ने भी प्रगतिवाद की परम्परा में अपना योग दिया है। 'अंचल' जी शरीरी प्रेम और यौवन के कवि हैं। जीवन की प्रत्येक दशा का चित्रण वह बड़े आवेश के साथ करते हैं। दलित एवं पीड़ित जनता का दुःख, दर्द, रोष और उत्साह उनकी कविताओं में बड़ी सफलता के साथ व्यंजित हुआ है। समाज की असंगतियों के नाश के स्वर भी उनकी रचनाओं में बोलते हैं। रचना में उर्दू की रवानी देखने योग्य है। केदारनाथ अग्रवाल अपने ढंग के अकेले प्रगतिवादी कवि हैं। सीधी सादी भाषा और साधारण शैली में अपनी भावनाओं को व्यक्त कर देना ही उनकी विशेषता है। किसी भाव या विचार का चित्र खींचने के लिये वह किसी मार्मिक किन्तु संक्षिप्त कथा वस्तु लेकर उस पर मुक्त छंद का बाँध बाँध देते हैं। निम्न वर्ग के दैनिक जीवन बड़े सुन्दर एवं व्यञ्जक रेखा चित्र अग्रवाल जी ने खींचे हैं। किसान, मजदूर, और दरिद्रों का जीवन उनकी रचना का विषय है। अपनी कविताओं के द्वारा उन्होंने उच्च और शासक-वर्ग पर भी सफल व्यंग्य किया है। उनकी रचनाओं में प्रतीकात्मकता नहीं सीधापन है जो पाठकों पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है। अलंकारों के पीछे हाथ बाँधकर दौड़ना उन्हें अभीष्ट नहीं। कविता में भावपक्ष को ही वह अधिक महत्व देते हैं। इधर उन्होंने चिली के प्रसिद्ध कम्यूनिस्ट कवि पाब्लो नेरुदा की जगत प्रसिद्ध कविता—'लेट द रेल स्पिल्टर्स अवेक' का 'रेल भंजकों को जगने दो' शीर्षक से बड़ा सफल अनुवाद

किया है। भाषा बातचीत की खड़ी बोली है जिसमें ग्रामीण भाषा के शब्दों एवं राजनीति की पारिभाषिक शब्दावली का खुलकर प्रयोग हुआ है।

श्री सुरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव ने हिन्दी को 'मज़दूर' और 'जागरण के गीत' नामक दो काव्य ग्रंथ दिये हैं। मज़दूर में समय समय पर लिखी गयी राजनैतिक कविताओं के अतिरिक्त अनेक रोमांटिक गीत भी हैं। मजदूरों की बेबसी का बड़ा सफल चित्रण सुरेन्द्र जी की रचनाओं में हुआ है। 'जागरण के गीत' हिन्दी कविता को अनेक नये विषय देता है। उन्होंने रेलगाड़ी, डाकिया जैसे विषयों के माध्यम से आधुनिक मानवता के मर्मस्थलों को छूने का प्रयास किया है। भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। छंदों में संगीत और प्रवाह पर्याप्त मात्रा में मिलता है। भारत भूषण अग्रवाल, रागेंय राघव, मुक्तिबोध और नेमिचन्द्र की प्रवृत्ति नये-नये विषयों और प्रयोगों की ओर अधिक है। नीरज, दिनकर की परम्परा की कड़ी का विस्तार करते हैं। नागार्जुन में प्रचारात्मकता अधिक है। प्रगतिवाद के अधिकांश कवियों का ध्यान कविता के भाव पक्ष पर ही अधिक है। कला पक्ष की ओर उनका ध्यान कम जाता है। वे छंदों की ओर अधिक सचेष्ट नहीं रहते इसलिये उनका संगीत उनसे उत्तरोत्तर दूर होता जा रहा है और पद्य गद्य के रूप में बदलता जा रहा है।

प्रगतिवादी कविताओं का सम्यक विवेचन करने के पश्चात् निम्नांकित प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं।

प्रगतिवादी कवियों की प्रवृत्तियाँ

१—सामाजिक यथार्थ और सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूकता— प्रगतिवादी कवि विश्व को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखता है। वह नित्य के जीवन में घटने वाली देश एवं विदेश की घटनाओं तथा उनकी संभावी प्रतिक्रियाओं पर दृष्टि रखता है। वह उन पर अपने ढंग से विचार करता है और तत्कालीन समस्याओं का निदान प्रस्तुत करता है।

२—शोषकों के प्रति आक्रोश तथा शोषितों के प्रति सहानुभूति की भावना— शोषण का विरोध करने के लिये ही प्रगतिवाद का जन्म हुआ है। प्रगतिवादियों को किसी प्रकार का शोषण सह्य नहीं है। शोषितों के प्रति उनकी सब प्रकार से सहानुभूति है। वे अपनी रचनाओं के द्वारा उन्हें सचेत करते हैं। उन्हें क्रान्ति के लिये तैयार करते हैं। क्षमा की भावना को दूर करने को कहते

हैं। सारे शोषितों को एकता के सूत्र में बँध जाने की सलाह देते हैं। शोषक उनके व्यंग्य वाण के लक्ष्य हैं। उनके प्रति किसी भी प्रकार का दया का भाव उनके हृदय में नहीं है।

३—प्राचीनता के नाश का आग्रह, नूतन सर्जन की कामना तथा विश्व-बंधुत्व का प्रसार—प्राचीन तथा सड़ी गली सामाजिक रूढ़ियों को नष्ट करके उनके स्थान पर प्रगतिवाद एक नयी सृष्टि करना चाहता है। वह एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता है, जहाँ शोषण न हो, दोहन न हो और जहाँ सबके विकास के लिये समान सुविधाओं की व्यवस्था हो। वह शान्ति की स्थापना कर विश्वबंधुत्व का प्रसार करना चाहता है। प्रगतिवाद 'जीवित रहो और जीवित रहने दो' को थोड़े संशोधन के साथ स्वीकार करता है। वह देश की सीमाओं को नहीं मानता। उसे मानवता एवं अंतर्राष्ट्रीयता में विश्वास है।

४—काव्य के प्रति सामान्य धारणा—प्रगतिवादियों ने सीधी सादी भाषा में अपने मन के भाव पिरो दिये हैं। उन्हें छंदों के प्रति न तो अत्यधिक मोह है न लय और गति की चिन्ता। वे अलंकारों के पीछे भी नहीं पड़ते। जो कुछ कहना हुआ बिना प्रयास के कह दिया।

५—बौद्धिकता एवं व्यंग्य के प्रति मोह—प्रगतिवादी कवियों में बौद्धिकता और व्यंग्य के प्रति मोह दिखलायी पड़ता है। हृदय की भावनाओं को स्वाभाविक अभिव्यञ्जना उनकी रचनाओं में नहीं मिलती। बुद्धि से सोचकर जो व्यंग्य किया जाता है वही ठीक होता है अन्यथा उस पर अंकुश न रखने से उसका उलटा ही प्रभाव पड़ता है। उन्होंने अपनी कविताओं में नये-नये उपमानों के प्रयोग किये हैं जिन पर बुद्धिवाद का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

प्रयोगशीलता की परम्परा

प्रत्येक काल में कुछ न कुछ प्रयोग होते रहते हैं। हिन्दी काव्य के इतिहास में प्रयोगों की एक सुपुष्ट परम्परा है। बीरगाथा काल के पश्चात् कबीर अपने प्रयोगों के कारण जन जीवन पर छा से गये थे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी काव्य शैली और वर्ण्य विषय दोनों में सर्वाधिक प्रयोग किये। सच पूछा जाय तो प्रयोगों की सफलता पर ही साहित्य की सफलता निर्भर करती है। वाद के रूप में इसे आधुनिक काल में ही स्वीकार किया गया है। पंत जी तो प्रयोगशील कविता का जन्म छायावादी युग से ही मानते हैं। उनका कहना है कि प्रसाद ने

'प्रलय की छाया' और 'वरुणा की कछार' लिखकर वस्तु तथा छन्द में नवीन प्रयोग किये थे। उनके बाद निराला जी ने मुक्त छन्द को अनेक रूपों और शैलियों में प्रस्तुत किया। प्रयोगशील काव्य का स्पष्ट विकास उनके 'कुकुरमुत्ता' और 'नयेपत्ते' में देखने को मिलता है।

छायावादी काव्य में घोर वैयक्तिकता और ऐकान्तिकता ही दो ऐसे तत्त्व थे जो उसके विनाश के कारण सिद्ध हुये। सामाजिकता की उपेक्षा के कारण छाया-वाद का ह्रास हुआ और प्रगतिवाद की प्रतिष्ठा हुयी किन्तु उसके अन्तर्गत भी श्रेष्ठ रचनायें न हो सकीं। प्रगतिवादी कवियों में अनुभूति का अभाव था, गद्यात्मकता थी, घोर बौद्धिकता थी और था केवल सिद्धान्तों की घोषणा इसके कारण उनमें अपेक्षित कलात्मकता न आ सकी। यद्यपि वह युग उनके अनुकूल था। उनको वर्ण्यवस्तु की प्रचुरता भी प्राप्त हो सकती थी किन्तु उनमें न तो वैसी प्रतिभा थी और न तो वैसी साधना करने की क्षमता ही। इसके कारण कविताओं में प्रभाव की प्रेषणीयता न आ सकी। उनके नारे पाठकों के रागात्मक वृत्तियों से सम्बन्ध स्थापित करने में असफल सिद्ध हुये।

प्रयोगवाद का जन्म और उसके प्रवर्तक

विश्व की राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से समाज का मध्यम वर्ग टूटने लगा। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-१९४५) के पश्चात् तो दशा और भी शोचनीय होने लगी। आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण लोगों का नैतिक-पतन होने लगा। इस वर्ग के कवियों के लिये यह दशा असह्य हो उठी। वे अपनी राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति में घोर असंतोष का अनुभव करने लगे। उनकी संवेदनायें उलझ गयीं। इनको व्यक्त करने के लिये उन्होंने भाषा की ओर निहारा। वह असमर्थ दीख पड़ी। प्राचीन उपमायें, उत्प्रेक्षायें और रूपक नवयुगीन भावनाओं को मूर्त करने में विवशता का अनुभव करते से मालूम पड़े। आंग्लकवि टी० एस० इलियट उनका पथ प्रदर्शन करने लगा और वे झट प्रयोगों पर उतर आये। हिन्दी में इस प्रकार की कवितायें लिखी जाने लगीं। सन् १९४३ में अज्ञेय जी ने गजानन माधव मुक्तिबोध, गिरजाकुमार माथुर नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे रामविलास शर्मा तथा अपनी प्रतिनिधि रचनाओं का एक संकलन 'तार सप्तक' के नाम से निकाला। उसके प्रकाशन के साथ ही साथ साहित्य में एक वितण्डावाद उठ

खड़ा हुआ। शास्त्रीय आलोचकों ने उन कविताओं को कविता मानने से इन्कार कर दिया। प्रश्न पर प्रश्न उठने लगे। प्रयोगवाद क्या है? क्यों है? किसके लिये है? इन प्रश्नों के उत्तर में अज्ञेय जी को बोलना पड़ा। उन्होंने कहा प्रयोगवाद कविता की एक नूतन शैली है जो कवि द्वारा अनुभूत सत्य को पाठक तक पहुँचाने के लिये विभिन्न प्रयोगों को लेकर चलती है। उन्हें वस्तु का आग्रह नहीं है। वे राहों के अन्वेषी और परस्पर विरुद्ध मत भी रखते हैं।' उसके पश्चात् सन् १९५१ वर्ष में उन्होंने 'दूसरा सप्तक' निकाला। इसमें सर्व श्री भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुबीर सहाय तथा धर्मवीर भारती की चुनी हुयी रचनायें संगृहीत हुईं। इसमें कवियों ने अपना परिचय दिया और अपनी कविताओं के सम्बन्ध में बहुत सी बातें लिखीं।

अज्ञेय जी ने उसकी भूमिका में लिखा—'उनमें (कवियों में) मतैक्य नहीं है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य वस्तु और शैली के छंद और तुक के, कवि के दायित्वों के प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत के ऐसे सर्वमान्य और स्वयं सिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे समान रूप से स्वीकृत नहीं करते जैसे लोकतंत्र की आवश्यकता, उद्योगों का सामाजीकरण, यान्त्रिक युद्ध की उपयोगिता बनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि। केवल 'अन्वेषी का दृष्टिकोण' ही उन्हें एक सूत्र में बाँध देता है।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस वाद का कोई अपना निश्चित जीवन दर्शन नहीं है। परस्पर विरोधी विचारों के होते हुये भी केवल अन्वेषण करने का ध्येय ही इन कवियों को एक सूत्र में बाँध देता है। उन कवियों के वक्तव्यों को पढ़ लेने के पश्चात् उनकी कुछ समस्याओं का परिचय मिल जाता है जिसको हल करने के प्रयत्न में वे रत दिखलाई पड़ रहे हैं। उन समस्याओं में पहली समस्या है काव्य विषय की। दूसरी है सामाजिक उत्तरदायित्व की और तीसरी संवेदनाओं के पुनः संस्कार की। प्रयोगवादी कवि आज की भाषा को ऐसा व्यापक नहीं मानता जो उनकी भावनाओं को वहन कर सकने की क्षमता रखती हो। वह इन शब्दों के साधारण अर्थ में बड़ा अर्थ भरना चाहता है। वह उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहता है जिनको आज तक या तो छुआ ही नहीं गया है

अथवा जिनको अभेद्य मान लिया गया है। वह भाषा को अपय त प क 'विराम संकेतों से अंकों और सीधी तिरछी लकीरों से, छोटे बड़े टाइप से, सीधे उल्टे अर्थों से, लोगों और स्थानों के नामों से अधूरे वाक्यों से उलझी हुयी संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचाना चाहता है।' उनका कहना है कि साधारणीकरण की प्रणालियाँ जमकर रुद्ध हो गयी हैं।

अज्ञेय जी के अनुसार आज का व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुञ्ज है। मानवमन यौन कल्पनाओं से लदा हुआ है। वे दमित और कुण्ठित हैं। इसलिये सौन्दर्यचेतना भी उससे आक्रान्त है। इसे आप मानव का आन्तरिक संघर्ष कह सकते हैं। वाह्य संघर्ष इससे भी जटिल है। व्यक्ति व्यक्ति का। श्रेणी श्रेणी का। इस प्रकार वर्गगत चेतना व्यक्तिगत चेतना को दबा रही है और आन्तरिक संघर्षों के कारण उनकी संवेदनायें उलझ गयी हैं। उसकी अनुभूतियाँ बड़ी तीव्र हैं किन्तु वर्जनाएं भी कम कठोर नहीं हैं। इसलिये वह रागात्मक तत्त्व को भी बौद्धिकता के ही माध्यम से व्यक्त करता है। उपर्युक्त दोनों पुस्तकों के अतिरिक्त अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'प्रतीक' में भी प्रयोगवादी कवितायें नियमित रूप से छपती रही हैं। पटना से प्रकाशित होने वाले 'दृष्टिकोण' और 'पाटल' ने भी इसके इतिहास निर्माण में पर्याप्त योग दिया है।

प्रयोगवाद के विषय

प्रयोगवादी कवियों ने जीवन और समाज के अनेक विषय लिये हैं। उन्होंने शृङ्गार मूलक रचनायें भी लिखी हैं और सामाजिक भी। प्रकृति पर भी उनकी लेखनी उठी है और आत्मचिंतन की भी सीधी टेढ़ी रेखायें उन्होंने खींची हैं। उसके कवि ने 'चाँदनी' का भी दर्शन किया है और 'प्रिया स्पर्श' की सिहरन से भी अनुभव का भण्डार भरा है। प्रेम की अनुभूतियों का यथार्थ चित्र खींचने के साथ ही साथ उन्होंने अपच, तथा 'गदहा' तक को भी नहीं छोड़ा है। डा० रामविलास शर्मा ने खेत में काम करते हुये मजदूरों का चित्र इस प्रकार खींचा है—

छोटा सा सूरज सिर पर वैसाख का,
काले धब्बों से बिखरे वे खेत में
फटे अँगरखो में, बच्चे भी साथ ले
ध्यान लगा सीला चमार हैं बीनते

खेत कटाई की मजदूरी, इन्होंने जोता, बोया, सींचा भी था खेत को।

वैसाख की दोपहरी में खेतों में काम करते हुये मज़दूर काले धब्बों की तरह लग रहे हैं। अधिकांश प्रयोगवादी कवितायें घोर वैयक्तिकता, बुद्धिवादिता और शृंगारिकता से परिपूर्ण है। वैयक्तिकता और शृङ्गारिकता भारती और रघुवीर सहाय की कविताओं में प्रचुर मात्रा में है। बौद्धिकता लगभग सब में। प्रकृति चित्रण में भी यह बौद्धिकता साथ नहीं छोड़ती। एक उदाहरण लीजिए—

फिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका सा
विशद श्वासाहत चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वृक्ष वज्र सा
यदि तड़ित से झुलसा हुआ तन।

अज्ञेय।

उपर्युक्त पंक्तियों के विश्लेषण से उसमें निहित शृङ्गारिकता स्पष्ट हो जाती है। भारती की कुछ कविताओं पर बच्चन का हालीवादी प्रभाव स्पष्ट है। 'दूसरे सप्तक' में लिखी गयी रचनायें उनकी कैशोरावस्था का परिचय देती हैं। देखिये न,

मुझे तो वासना का विष
हमेशा बन गया अमृत।
बशर्ते वासना भी हो तुम्हारे रूप से आलाद
गुनाहों से कभी मैली हुयी बेदाग़ तरुनाई
सितारों की जलन से बादलों पर आँच कब आई।

उनका—"इन फीरोजी होठों पर बरबाद मेरी जिन्दगी" तथा इसी प्रकार की अनेक और पंक्तियों को देखने से यह बात और साफ हो जाती है। रघुबीर सहाय में ये भावनायें ज़रा संयमित रूप में आई हैं।

मुक्ति के सारे नियंत्रण तोड़ डाले
मुक्ति के कारण नियम सब छोड़ डाले
अब तुम्हारे बंधनों की कामना है।
खोल दो अब द्वारा प्रेयसि प्रात का।
मुक्त हो बंदिन अभागिन राह का॥

प्रयोगवादी कवियों ने प्रकृति के कुछ बहुत सुन्दर चित्र खींचे हैं किन्तु उनमें मन

के तारों को झकझोरने की शक्ति नहीं है। उन्हें 'फोटोग्राफिक चित्र' कहा जा सकता है। गिरजाकुमार माथुर को 'गीली राहों पर पड़ी हुई पहियों की लकीरें' माथे पर की सोच भरी रेखाओं जैसी लगती हैं। देखिये—

भींगा दिन पश्चिमी तटों में
उतर चुका है।
बादल ढकी रात आती है
धूल भरी दीपक की लौ पर
गंदे पग धर
गीली राहें धीरे धीरे सूनी होतीं
जिन पर बोझिल पहियों के निशान हैं
माथे पर की सोच भरी रेखाओं जैसे
पानी रँगी दिवालों पर
सूने राही की छाया पड़ती
पैरों के धीमे स्वर मर जाते हैं
अनजानी उदास दूरी में

प्रकृति सम्बन्धी कुछ कविताओं पर छायावादी प्रभाव भी स्पष्ट है—

फूटा प्रभात, फूटा विहान
बह चले रश्मि के प्राण विहग के गान
मधुर निर्झर के स्वर
झर झर झर झर
जागो जगती के सुत बाल
पलकों की पंखुरियाँ खोलो
खोलो मधुकर के अलस गंध।

—भारतभूषण अग्रवाल

इस धारा के कवि हाथ धोकर प्रयोगों के पीछे पड़ गये हैं। इससे हिन्दी कविता का बड़ा अहित हो रहा है। अभी हाल में डा० जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में 'नयी कविता' का प्रकाशन हुआ है। इसमें ३४ प्रयोगवादी कवियों की कवितायें संग्रहीत हैं। उन कविताओं को पढ़ने से ऐसा मालूम होता है जैसे कोई गुट विशेष हिन्दी साहित्य में ऐसा है जो 'कूड़ा करकट'

सब पर कविता की मुहर लगाकर केवल एक दूसरे की प्रशंसा कर के अपने कर्त्तव्यों की इति समझने की भूल कर रहा है। नयी कविता में संगृहीत 'हवा चली' शीर्षक एक कविता देखिये—

मैं कवि हूँ......
स्टेन लेस स्टील के बर्तन जैसा कीमती चमकदार
सदाबहार
जसमें कि हर केमिकल......
हर आग, शराब, तेजाब, पेशाब या कि गुलाब
अपना प्रयोग कर उड़ जाता है,
बर्तन को बे असर छोड़ कर।
मैं भी वैसे ही करता हूँ प्रयोग
बे मतलब, बे प्रयास, बिना ध्यान ध्येय के
और बहलाता हूँ अपनी आम की सूखी गुठली
अहंता प्रेयसी को।

इतना ही हो तो कहने को। अभी और सुनिये प्रयोगवादी जी क्या कहते हैं—

हूँ ऽऽऽऽऽ ऊँ ऽऽ ऽ। ठीक है, लेकिन भई
अब तो चीज कुछ लिखो नई
इसमें भली क्या बात बनी?
तुकों की आपने जुटाई है अनीं!
अरे मियाँ, चेतना को उढ़ाओ गिलाफ
इस पर टेकनीक की चढ़ाओ गिलाफ
वही ऊषा अरुणा, वही चन्द्र यामा
इसमें कहीं भी न ब्रैकेट न कामा!!
इसके तो माने भी हैं बिलकुल साफ!!!
कविता को बनाइये हजरत जिराफ।
लोगों की पहुँच से इसे करो बाहर
ऊँचा काव्य कोपले तभी तो सकोगे चर।

कविता को गद्य करो, गाओ
भोंड़ी आवाज में पढ़ कर सुनाओ।
चौंकाओ, रूंध कर माने भिड़ाओ
श्रोता का शून्यवत् मुँह खुलाओ।

जो कुछ कहा गया है व्यग्य के रूप में नहीं बल्कि उसको कार्य रूप में परिणत करके दिखलाया जा रहा है। न तो गति का ध्यान है न तुक का, न लय का न छन्द का। नीचे की पंक्तियाँ गद्य में नहीं तो किसमें हैं? नीचे जिन पंक्तियों को उद्धृत किया जा रहा है वह केवल शीर्षक मात्र है।

जाड़े की एक सुबह में चारों तरफ कोहरे से लिपटा
हुआ चार बजे के आस पास, चाँदतारा बीड़ी और
कैंची सिगरेट के धुँए से आक्रान्त, प्रयाग स्टेशन से
छुटने वाली रेलगाड़ी का ऐसा डिब्बा जिसकी
खिड़कियों पर शीशा और झिलमिली चढ़ी हुयी है।

यह रहा शीर्षक। अब कविता की पंक्तियों पर तनिक ध्यान दीजिये।

डिब्बे की हर सवारी साबुत होल्डाल सी पड़ी हुई
किसी के मुँह पर यह विरोध करने की हिम्मत नहीं
कि डिब्बे में 'जघा' नहीं बगल जाओ।

इतना ही नहीं। 'इच्छा' शीर्षक के अन्तर्गत जिन महोदय ने कविता लिखी है उस पर हिन्दी साहित्य को गर्व करना चाहिये। उनकी अभिलाषा है—

अगर कहीं मैं तोता होता
तो क्या होता?
तो क्या होता?
तोता होता।
तो तो तो तो ता ता ता ता
होता होता होता होता।

यह तो विषय वस्तु की बात है। आज तक के अलङ्कारों पर भी प्रयोगवादी कवि धावा बोलता है। 'कवियों का विद्रोह' में एक महाशय ने यही भाव व्यक्त किया है।

चाँदनी चंदन सदृश
हम क्यों लिखें ?
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें ?
हम लिखेंगे
चाँदनी उस रुपये सी है कि जिसमें
चमक है पर खनक गायब है
हम कहेंगे जोर से
मुँह घर अजायब है

(जहाँ पर बेतुके अनमोल जिन्दा और मुर्दा भाव रहते हैं) कुछ कवियों ने तो आँखों की उपमा दो जलती हुयी मोमबत्तियों से दी है। इस प्रकार का हास्यास्पद प्रयोग आज कल हिन्दी कविता में चल पड़ा है। भाषा और व्याकरण की तो कुछ पूछिये मत। जो कुछ लिख दिया लिख दिया। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

शक्ति दो, बल दो हे पिता
जब दुःख के भार से
मन थकने आय
पैरों में कुली की सी लपकती
चाल छटपटाय

× × × ×

कैसे सहा होगा पिता, कैसे बचे होंगे ?
तुमसे मिला है जो विक्षत जीवन का हमें दान
उसे क्या करें
तुमने जोरी है अनाहत जिजीविषा उसे क्या करें ?
अपने पुत्रों मेरे छोटे भाइयों के लिये, यही कहो।

रघुवीर सहाय
(प्रतीक फरवरी ५२)

उपर्युक्त पंक्तियों में 'थकने आय' और 'चाल छटपटाय' तो खड़ी बोली की क्रियायें भी नहीं हैं। आज कल स्थानीय बोलियों के कुछ शब्दों का प्रयोग भी हिन्दी कविताओं में चल पड़ा है। लेकिन उनमें भी इस बात का ध्यान

रखना पड़ता है कि उसमें अर्थ गांभीर्य और प्रेषणीयता का तत्त्व हो। इन क्रियाओं में ऐसी कोई बात नहीं दिखलायी पड़ती। इसी प्रकार 'विवृत', 'अनाहत' और 'जिजीविषा' शब्दों का प्रयोग की ठीक स्थान पर नहीं हो सका है। कहीं-कहीं पर तो बिल्कुल सिनेमा के गानों की तरह कवितायें मिलती हैं। जैसे—

काँगड़े की छोरियाँ
कुछ भोरियाँ कुछ गोरियाँ
लालाजी, जेवर बनवा दो
खाली करो तिजोरियाँ
कांगड़े की छोरियाँ।

× × × ×

पुतलियाँ चंचल कालियाँ
काँनों झुमके बालियाँ
सब चौड़े में खड़े लुट गये
बनी न हमसे चोरियाँ
काँगड़े की छोरियाँ

अज्ञेय

इसी लिये इन कविताओं की खूब निन्दा हो रही है। प्रयोगवादी कवि एक दूसरे की प्रशंसा प्राप्त कर चाहे संतोष का अनुभव कर लें किन्तु हिन्दी के पाठकों की सहानुभूति उनकी ओर बिल्कुल नहीं है। यह प्रवृत्ति हिन्दी के लिये अत्यन्त घातक है। अन्य भाषा भाषी अगर इन कविताओं का अनुवाद अपनी भाषा में करके हिन्दी के विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ कर दें तो किस प्रकार हम अपने साहित्य की रक्षा कर सकेंगे। हिन्दी का प्रत्येक जागरूक और उत्तरदायी आलोचक इसके विरुद्ध अपने मतों का प्रकाशन कर रहा है। प्रयोगवादी कविता के सम्बन्ध में पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका कहना है कि—"जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्यधारा मार्क्सवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक आर्थिक तथा राजनीतिक कुतर्कों में फँस कर एक कुरूप सामूहिकता की ओर बढ़ी उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कल-कल छल-छल करती हुयी फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वप्निल फेनिल स्वर संगीतहीन भावनाओं की लहरियों से मुखरित उपचेतन,

अवचेतन की रुद्ध क्रुद्ध ग्रन्थियों को मुक्त करती हुयी दमित कुण्ठित आकांच्छाओं को वाणी देती हुई लोकचेतना के स्रोत में नदी के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक अस्तित्व पर आ गई। अपनी रागात्मक विकृतियों के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य-भावना केचुओं घोंघा, मेढ़कों के उपमानों के रूप में सरी सृपों के जगत से अनुप्राणित होने लगीं।"†

पंत जी ने तो थोड़ी बहुत सहानुभूति भी दिखलायी परन्तु आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र इसका उत्तरोत्तर विरोध करते रहे। बाजपेयी जी ने अपने 'आधुनिक साहित्य' नामक पुस्तक में प्रयोगवादी कविताओं की बड़ी निर्भीक आलोचना की है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि—"प्रयोगवादी रचनायें पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं। वे अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं। प्रयोगवादी रचनायें वैचित्र्य-प्रिय हैं। वृत्ति का सहज अभिनिवेश उनमें नहीं हैं। वे वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तर दायित्व को भी पूरा नहीं करती।...प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति कोई स्वाभाविक क्रम विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्त्व न हो।" शिवदान सिंह चौहान की भी दृष्टि इन पर पड़ी। उन्होंने कहा—"प्रगतिवादी या प्रयोगवादी लेखक नये प्रयोगों—नवीनता, उक्ति वैचित्र्य और मनोवैज्ञानिकता के नाम पर साहित्य में मनुष्य के समग्र व्यक्तित्त्व के पुनर्निर्माण की समस्या को तिलाञ्जलि देकर उसे और भी एकाङ्गी असामाजिक और विकृत बनाने में दत्तचित्त रहे हैं और उनमें से कुछ अनेक सत्याभासों की आड़ लेकर साहित्यिक प्रतिक्रियावाद को प्रश्रय देते रहे हैं।"+चौहान जी ने इन कविताओं पर व्यंग्य करते हुये उसे त्रिशंकुओं का साहित्य कहा है।

नवीनता के पीछे हाथ धोकर पड़ने का परिणाम यह हुआ है कि वे किसी ओर के नहीं रह गये हैं। हम नवीनता का विरोध नहीं करते लेकिन हमें उसका कोई आधार तो मिले ? शून्य में तो कुछ नहीं खड़ा किया जा सकता ? सूर्य, चंद्र, कमल, पेड़, पौधों का सम्बन्ध मानव से लाखों वर्षों का है इसलिये इनसे जो उपमायें दी जाती हैं उनका हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है। हवाई

† उत्तरा जुलाई १९५२ +शिवदान सिंह चौहान पं० सुमित्रानन्दन पंत।

जहाज, रेल, अटैचीकेस, फाउन्टेन पेन, टार्च हमारे लिये अभी नये हैं। उनका हमसे रागात्मक सम्बन्ध अभी नहीं स्थापित हो सका है। इसलिये उनकी उपमाओं से हमारा मस्तिष्क चमत्कृत तो अवश्य होता है परन्तु हृदय के तार बज नहीं पाते। प्रयोगवादियों का कहना है कि वे स्वस्थ व्यक्ति को काव्य चेतना का केन्द्र बनाना चाहते हैं। वे एक ऐसे व्यक्तित्व की रचना करना चाहते हैं जो समाज की कुरूपताओं, कलुषताओं, रूढ़ियों और खोखली परम्पराओं के प्रति विद्रोह करे और स्वस्थ सामाजिक जीवन दर्शन की खोज तथा उसके अनुरूप इतिहास निर्माण का प्रयत्न करे। प्रयोगवाद केवल स्वस्थ व्यक्तियों का समाजीकरण करना चाहता है। सिद्धान्त की घोषणा करना एक बात होती है और उसे कार्य रूप में परिणत करना दूसरी। जब से प्रयोगवाद का हिन्दी काव्य में प्रयोग हो रहा है तब से आज तक किसी प्रगति का दर्शन नहीं हुआ। 'तारसप्तक' में जिस स्तर की रचनायें आयी थीं, 'दूसरे सप्तक' में उससे उत्कृष्ट की आशा की जा सकती थी। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। स्वयं गिरजाकुमार माथुर दूसरे सप्तक की कविताओं को कैशोर एवं अपरिपक्व मानते हैं। इसके अतिरिक्त उसमें कुछ ऐसे लोगों को भी सम्मिलित कर लिया गया है जो प्रयोगवाद का बिल्कुल प्रतिनिधित्व नहीं करते। श्रीमती शकुन्तला माथुर इसी प्रकार की कवियित्री हैं। डा० रांगेय राघव, त्रिलोचन शास्त्री, केदार, गोपेश तथा चन्द्रभूषण की कई कविताओं में मार्मिक एवं नूतन प्रयोग मिलते हैं तथा उनकी सामाजिक चेतना भी पर्याप्त मात्रा में मुखरित हुई है किन्तु उनको 'दूसरा सप्तक' से दूर ही रखा गया। उन लोगों ने अपनी अधिकांश कविताओं को रबड़ छन्द में लिखने का प्रयास किया है किन्तु निराला सा संगठन और प्रवाह उनमें नहीं आ सका है। उनमें न तो संगीतात्मकता है और न तो भाव क्षिप्रता। इसलिये उन्हें अत्यन्त असफलता मिली है।

प्रयोगवादी अपने मन की विकृतियों और कुण्ठाओं का विश्लेषण करते समय भी तटस्थ रहना चाहता है जो असम्भव सा है। यही कारण है कि उनमें अत्यधिक अस्पष्टता आ गयी है। यह सत्य है कि इतने कम समय में ही इसने अपने चारों ओर के वातावरण को चौंका दिया है किन्तु जन मत उसके साथ नहीं है। अभी प्रयोग उत्तरोत्तर होते जा रहे हैं किन्तु किसी अच्छे कवि पर दृष्टि नहीं पड़ रही है। प्रयोगवाद का यह शैशव काल है। हमें निराश नहीं होना चाहिये। हम बड़ी आशा के साथ भविष्य की ओर देख रहे हैं। अभी तक

किसी प्रयोगवादी कवि का अपना स्वतंत्र कविता संग्रह नहीं निकल सका है। ऐसी दशा में हम किसी कवि के सम्बन्ध में सविस्तार नहीं लिख सकते। हिन्दी काव्य के इतिहास में यह धारा प्रवहमान है इसलिये उसकी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में भी कुछ लिखना हमारे लिये उचित नहीं होगा।

स्वच्छन्द काव्यधारा

आधुनिक युग हमें ऐसे अनेक कवियों का परिचय देता है जिन्हें वाद विशेष की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। वे हिन्दी काव्य की स्वछन्द धारा का प्रवर्तन करते हैं। ऐसे कवियों में सर्व प्रथम 'एक भारतीय आत्मा' का नाम लिया जाता है। उन्होंने छायावादी कविताओं के अतिरिक्त ऐसी रचनायें की हैं जिनमें देश के प्रति अनन्य प्रेम की भावना व्यक्त हुई है। 'हिम किरीटिनी' और 'हिम तरंगिनी' में बड़े मार्मिक गीतों का संग्रह हुआ है। इधर उनकी नयी कविताओं का संग्रह 'माता' नाम से प्रकाशित हुआ है। उनकी ये कवितायें रहस्य पूर्ण सांकेतिकता और हृदय की वास्तविक विह्वलता से ओत प्रोत हैं। शुद्ध खड़ी बोली में देहाती शब्दों का प्रयोग भावों की संप्रेषणीयता में सहायक हुआ है। स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाओं ने स्वतंत्रता संग्राम के समय भारतीय जनता को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है। उनकी कविताएँ देश भक्ति से ओत प्रोत हैं। 'झाँसी की रानी' और 'वीरों का कैसा हो वसन्त' इसी कोटि की रचनायें हैं। जहाँ उन्होंने 'शृंगार' और 'वात्सल्य' पर लेखनी उठाई है वहाँ माधुर्य और प्रसाद का संयमित संगम देखने को मिलता है। 'ठुकरा दो या प्यार करो' तथा 'बचपन' जैसी कविताओं पर हिन्दी साहित्य को गर्व है। उनको कविताओं का संग्रह 'मुकुल' नामक काव्य ग्रन्थ में हुआ है।

सियाराम शरण गुप्त मानव संस्कृति के अमर गायक के रूप में सदैव याद किये जायेंगे। उनकी रचनाओं में परदुख कातरता की करुणा और संवेदन-शीलता फूटी पड़ती है। उनमें चिन्तन और अनुभूति का प्राबल्य है, कल्पना और भावावेगों का अभाव। गान्धीवाद का उन पर पर्याप्त प्रभाव है। 'आर्द्रा' दूर्वादल, और विषाद, मौर्य विजय आदि उनकी रचनायें हैं। भगवती चरण वर्मा से हमें 'मधुकण' और 'प्रेम संगीत' के साथ ही साथ विस्मृति के फूल भी मिले हैं। उनका कवि जीवन की मस्ती का गायक है। वर्मा जी ने वाद विशेष के सम्मुख कभी कंधे नहीं डाले और 'अहम्' की उपासना करते रहे। गुरु भक्त सिंह 'भक्त' की कविताओं में मानव हृदय के अंर्तद्वन्द और प्रेम-पीड़ा की सफल

अभिव्यक्ति हुयी है। इसके साथ ही साथ उन्होंने प्रकृति का बड़ी कुशलता से चित्र खींचा है। 'सरस सुमन' 'कुसुम कुंज' 'वंशी ध्वनि' 'नूरजहाँ' और विक्रमादित्य' उनके काव्य संग्रह हैं। उनकी भाषा सशक्त और मुहाविरेदार है। शैली में माधुर्य और प्रवाह है। पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविताओं के दो रूप मिलते हैं।एक ओर उनकी लौह लेखनी अंगारे उगलती है, विप्लव को निमंत्रण देती है, नाश का आवाहन करती है और दूसरी ओर वह जीवन के रोमांस की ओर संकेत करती है। 'रश्मि रेखा' 'अपलक' 'कुंकुम' और 'क्वासि' उनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं। श्री बालकृष्ण राव की काव्य प्रतिभा ने छायावादी युग में ही अपनी आँखें खोली थीं परन्तु समय विस्तार के ही साथ उनके दृष्टि का विस्तार बढ़ता गया। जीवन के अनेक पक्ष उनके काव्य में उभर कर आये हैं। आभास, कवि और छवि तथा रात बीती उनके काव्य संग्रह हैं। उनकी कवितायें जीवन को आशा का संदेश देती हैं। भाषा शुद्ध खड़ी बोली ही है परन्तु कहीं-कहीं विदेशी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। राव महोदय के सानेट हिन्दी काव्य में एक नये प्रयोग की परम्परा का सूत्र पात करते हैं।

पं उदयशंकर भट्ट मानवतावादी और आध्यात्मवादी कवि हैं। जीवन की वेदना और विषमता ने उन्हें गहन दार्शनिक चिन्तन की ओर प्रेरित किया है फिर भी उनके गीत शुष्क नहीं होने पाये हैं। उनमें पर्याप्त कोमलता है। भाषा शुद्ध खड़ी बोली हैं। शैली में प्रवाह और संगीत है। पं० सोहनलाल द्विवेदी गांधीवादी राष्ट्रीय कवि हैं। बापू के ऊपर उन्होंने अमर कविताओं की सृष्टि की है। श्यामनारायण पाण्डेय बीर रस के कवि हैं। 'हल्दी घाटी' और 'जौहर' उनके बीर रस के काव्य ग्रन्थ हैं। 'आरती' में उनकी मुक्तक कवितायें संग्रहीत हैं। गोपेश जी की प्रारम्भिक रचनायें 'धूप की लहरें' में संग्रहीत हैं। अधिकांश गीतों में जीवन के प्रति स्वस्थ आशावादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। उनका सीधापन उनकी रचनाओं में भी है जिसके कारण वे हृदय में सीधे उतरती चली जाती हैं। चलती हुयी भाषा और स्वच्छन्द छन्दों का प्रयोग उनकी विशेषता है। उनके काव्य में प्रयोगवाद की शुष्क बौद्धिकता नहीं है। उन्होंने नये प्रयोगों को अपनी साँसों से सींचा है।

इन कवियों के अतिरिक्त ऐसे अनेक कवि हैं जिनकी कृतियों ने हिन्दी के आधुनिक काव्य को समृद्ध किया है। सर्व श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' ब्रह्मदत्त

दीक्षित 'ललाम', हरिकृष्ण प्रेमी, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, अशेष, विद्यावती कोकिल, श्री नारायण चतुर्वेदी श्रीवर, रामशंकर शास्त्री, बालमुकुन्द पाण्डेय, जानकी बल्लभ शास्त्री, गोपाल सिंह नैपाली श्री कृष्णदास, अटल, श्यामनन्दन किशोर, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' शम्भूनाथ सिंह, रंग आदि कवियों की कविताओं ने भाषा का संस्कार किया है और सांस्कृतिक चेतना की प्रभाती गायी है। हास्यरस के कवियों में सर्व श्री बेढ़ब, बेधड़क, चोंच, भैय्याजी बनारसी, गुरुजी बनारसी, रमई काका गोपालप्रसाद व्यास तथा केशव वर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने हास्य रस की स्वतंत्र कवितायें लिखी हैं। इन्होंने प्रमुख कवियों की कविताओं पर पैरोडी लिख कर हिन्दी काव्य में एक नूतन शैली की नींव डाली है। इस प्रकार हमारे काव्य की धारा विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होती हुयी जीवन के सभी अंगों का स्पर्श करती है। इन कविताओं के परिशीलन के बिना हिन्दी काव्य का अध्ययन अधूरा ही रहेगा।

गद्य

गद्य

प्रस्तावना

विश्व साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पद्य के पश्चात् ही साहित्य में गद्य का आविर्भाव होता है। कविता तो समय-विशेष के भावावेश की पद्यात्मक अभिव्यक्ति को कहते हैं परन्तु गद्य का सम्बन्ध नित्य प्रति के व्यवहार से है। गद्य-रचना सबसे पहले उपयोगिता को दृष्टि में रखकर की जाती है। बाद को उसके सौंदर्य पर भी ध्यान दिया जाने लगता है। यहाँ तक कि गद्य में भी वह सौन्दर्य पैदा कर दिया जाता है जो काव्य का आनन्द देने लगता है। गद्य-काव्य की रचना के साथ ही साथ व्यवहारोपयोगी गद्य की भी रचना होती रहती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का पहला पृष्ठ भी पद्य ही खोलता है। गद्य का चतुर्दिक विकास तो आधुनिक काल की एक अभूतपूर्व घटना है।

आधुनिककाल के पूर्व बहुत खोज करने पर ब्रजभाषा में लिखा हुआ गद्य का अत्यन्त प्राचीन रूप देखने को मिलता है। चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की कुछ ऐसी रचनायें मिली हैं जिन्हें गुरु गोरखनाथ या उनके शिष्यों की रचना कही जाती है। मालूम होता है जैसे निम्नांकित उद्धरण किसी संस्कृत-ग्रन्थ के अनुवाद खण्ड हो।

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द स्वरूप हैं सरीर जिन्हि को नित्य गाए ते सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछन्दर नाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वे मछन्दर नाथ! आत्म ज्योति निश्चल है अंतःकरण जिनके अरु मूल द्वार तैं छहचक्र जिनि नीकी रहत जानै।......स्वामी तुम्ह तो सत गुरू, अम्ह तो सिष। सबद एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करवा रोस।"

इसके पश्चात् सं० १६६० में लिखा हुआ नाभा दास का 'अष्टयाम' मिला है जिसमें राम की दिनचर्या वर्णित है। १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विट्ठलदास जी के आत्मज गोंसाईं गोकुल नाथ प्रणीत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' जैसी साम्प्रदायिक पुस्तकें मिलती हैं जो जनता में भक्ति प्रचार के लिये लिखी गयी थीं। उसकी भाषा शैली इसप्रकार है—

"जो ठाकुर जी तो बालक हैं॥ भोग धरे पाछें बिलम्ब न सहि सकें॥ यातें

भोग धरिये तो दूध तातो न समर्पिये ॥ ऐसी शिक्षा कहि के श्री ठाकुर जी को अनुभव वाकों जतायौ ॥ तब तो वहाँ ते अपने घर आयो ॥ तब यह बात वाने अपनी स्त्री के आगे कही ॥ पाछें वे सावधानता सों सेवा करन लागे ॥ तब श्री आचार्य जी महा प्रभुन्न की कृपा तें श्री ठाकुर जी बिन पद्मा रावल को तथा बाकी स्त्री को सानुभवता जतावन लागे ।"

सं० १७६७ में सूरति मिश्र द्वारा संस्कृति से कथा लेकर लिखा हुआ 'बैताल-पचीसी' नामक गद्य ग्रंथ मिला है जिसका आगे चलकर लल्लू लाल जी ने खड़ी बोली में अनुवाद किया। इसी समय के लगभग सेवक कवि ने वाग्विलास की रचना की थी और पुस्तक में विषय को स्पष्ट करने के लिये गद्य भी लिखा था। गद्य शिथिल है। उसमें सम्यक प्रकार से विषय प्रतिपादन की क्षमता नहीं है। इसी का प्रयोग नारायण और सरदार जैसे कवियों ने भी किया था। यह रही ब्रज भाषा गद्य की बात जिसका प्रयोग धर्म-प्रचार अथवा काव्य ग्रंथों की टीका के रूप में किया जाता था। इसके बाद ब्रज भाषा गद्य का प्रचार एवं विकास न हो सका जो हमारे साहित्य के लिये आगे चलकर अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ।

खड़ी बोली गद्य की कुछ रचनायें अकबर के समय की मिलती हैं। उन्हीं के समय में कवि गंग ने "चन्द छन्द बरनन की महिमा" लिखी थी। सं० १६८० में जटमल ने भी 'गोरा बादल की कथा' लिखी थी। इसके पश्चात् १७९८ में रामप्रसाद निरंजिनी ने 'भाषा योग वाशिष्ठ' नामक ग्रंथ बहुत साफ सुथरी भाषा में लिखा। इसी समय के लगभग दौलत राम ने भी 'पद्म पुराण' का अनुवाद किया किन्तु उनको भाषा निरंजनी जी की भाषा की तरह परिमार्जित नहीं है। इस प्रकार श्री रामप्रसाद निरंजनी खड़ी बोली के प्रथम लेखक तथा "भाषा योग वाशिष्ठ" खड़ी बोली की प्रथम उत्तम पुस्तक है। इसके पश्चात् लगभग २०० वर्षों तक गद्य का क्षेत्र सूना पड़ा रहा।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद अंग्रेजों को व्यवहार की दृष्टि से देशी भाषा सीखने की आवश्यकता हुयी। जान गिलक्राइस्ट ने उनके लिये देशी भाषा की पुस्तकें प्रस्तुत कराने की योजना बनायी। फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक लल्लू लाल जी ने 'प्रेमसागर' और पं० सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इन लोगों के भी पहले इंशा अल्ला खाँ साहब ने 'रानी

केतकी की कहानी' लिखी थी जिसमें मुहाविरों की अजब बहार दिखलायी पड़ती है। वे एक मौजी आदमी थे। उन्होंने 'हिन्दी छुट और किसी भाषा की पुट' न पड़ने देने की प्रतिज्ञा कर ली थी इसलिये उसमें भाषा के तद्‌भव शब्द ही अधिक मात्रा में दिखलायी पड़ते हैं। भाषा विषय के अनुकूल है। शब्दों के बहुवचन और क्रिया पदों पर ब्रजभाषा की छाप पड़ी है। कहीं कहीं पर तो ब्रज भाषा की विभक्तियाँ भी दिखलायी पड़ जाती हैं। इसीलिए उसमें घरेलू भाषा की मिठास है। प्रेम सागर की भाषा मथुरा के आस पास के कथा बाचकों की कथक्कड़ी भाषा है। इसमें ब्रजभाषा की ओकारान्त प्रवृत्ति को छोड़कर शेष प्रवृत्तियाँ दिखलायी पड़ती है। पूर्वकालिक क्रियाओं के रूप, संज्ञाओं के बहुबचन, संकेत बाचक सर्वनामों के रूप सभी ब्रजभाषा के अनुसार है। इसे खड़ीबोली और ब्रजभाषा के बीच की भाषा कह सकते हैं।

पं० सदल मिश्र बिहारी थे। यद्यपि उन्होंने अपनी भाषा का नाम खड़ी बोली ही लिखा है परन्तु वह अपने शुद्ध रूप में उनकी रचनाओं में नहीं दिखलाई पड़ती। उस पर बिहारीपन की पूरी छाप पड़ी हुयी है। पूर्व कालिक क्रियाओं के लिये 'पूजा करिके', 'खाय करिके' जैसे प्रयोग मिलते हैं। इसके अतिरिक्त स्थल-स्थल पर भये, आय, बिस, आवने, होय आदि रूप भी दृष्टिगोचर होते हैं। बहुबचन का प्रयोग भी ब्रजभाषा के अनुसार है। 'और' के लिये कहीं कहीं पर 'वो' मिलता है। बौरी के लिये बौड़ी अर्थात् र के स्थान पर लगभग सभी जगहों पर ड़ ही मिलेगा। इस प्रकार उनकी भाषा पूर्बीपन से भरी पड़ी है। अस्तु हम देखते हैं कि लल्लू लाल जी की भाषा ब्रज रंजित खड़ी बोली है। परन्तु सदल मिश्र की भाषा पर बिहारी का प्रभाव है। इंशा की भाषा में फुदक है लेकिन वह विषय को देखकर ठीक ही कहा जा सकता है। अतः इंशाअल्ला खाँ साहब ही आधुनिक खड़ी बोली के प्रथम लेखक माने जा सकते हैं। हिन्दी के इतिहास-लेखक उपयुक्त तीनों गद्यकारों के अतिरिक्त मुन्शी सदासुख लाल का नाम भी लेते हैं जिनके किसी ग्रन्थ का पता नहीं चलता। इनका प्रवेश स्वर्गीय रामदास गौड़ की कृपा से हुआ था जिनके पास एकाध असंदिग्ध निबन्धों को छोड़कर मुन्शी जी की एक भी कृति नहीं थी। प्रमाण के अभाव में उनके संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता। इस तरह के अटकल पच्चू मत का तो विरोध होना चाहिये।

हमारे इन तीन लेखकों ने गद्य की प्रतिष्ठा तो कर दी थी परन्तु साहित्य का यह क्षेत्र बहुत दिनों तक सूना पड़ा रहा। किसी साहित्यिक ने उसकी ओर फूटी आँखों से भी नहीं देखा। हिन्दी-गद्य के इस विकास का लाभ तब तक इसाई धर्म प्रचारक ही उठा रहे थे। इसी समय बाइबिल का अनुवाद हुआ। धार्मिक खण्डन मण्डन के ग्रन्थ लिखे गये। इसाई मिशनरियों की ओर से चलने वाले स्कूलों के लिये पाठ्य पुस्तकें तैयार करायी गयीं। इसाई धर्म की पुस्तकों में अनुवादों की भाषा, वाक्यों का संगठन कुछ शिथिल सा विचित्र सा मालूम पड़ता है। मूल की यथा साध्य रक्षा करने की चेष्टा के कारण पदावली कुछ संस्कृत गर्भित हो गयी है। भविष्यत, पद्वक्ता, याजक, तथा अध्यापक जैसे तत्सम शब्दों की भी कमी नहीं है। स्थान-स्थान पर 'किरिया, जैसे ग्रामीण शब्द भी प्रयुक्त दिखलायी पड़ते हैं। कहीं-कहीं पर विभक्तियों के चिह्न भी छोड़ दिये गये हैं जिससे भाषा में अप्रौढ़ता आ गयी है। बात यह थी कि वे लोग अपने धर्म का प्रचार करना चाहते थे अतः उनको वैसी भाषा चाहिये थी जिसे जन साधारण अच्छी तरह समझ लेता। कुछ लोगों ने उर्दू मिश्रित भाषा का प्रयोग किया परन्तु जनता में उसका भी अच्छी तरह प्रचार न हो सका।

इसाइयों के इस बढ़ते हुये प्रचार को देखकर हिन्दू धर्म के रक्षकों के कान खड़े होने लगे। राजा राममोहन राय ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इसाई धर्म की तुलना में हिन्दू धर्म को श्रेष्ठ सिद्धि करने के लिये वेदान्त-सूत्रों का हिन्दी भाषा में भाष्य लिखकर प्रकाशित करवाया। सं० १६२० में परकीयों के धर्मों के विरुद्ध स्वामी दयानन्द शास्त्रार्थ भी करने लगे। सं० १६३२ में बम्बई नगर में आर्य समाज की स्थापना हुयी। इस संस्था ने हिन्दी का नाम आर्य भाषा रखा। नये-नये धर्म के उत्साह में आकर लोगों ने खण्डन-मण्डन के अनेक ग्रंथ लिखे। इससे हमारी भाषा का लाभ ही हुआ। दयानन्द ने तथा आर्य-समाज ने जो गद्य के विकास में योग दिया है उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। गुजरात, पंजाब जैसे अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी उन लोगों ने हिन्दी का डंका बजा दिया। पंजाब में उर्दू का बोल बाला था परन्तु स्वामी जी के अध्यवसाय से वहाँ के लोग भी हिन्दी सीखने लगे। आर्य समाज के प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश, वेदाङ्ग प्रकाश, संस्कार विधि, ऋगुवेदादि भाष्य भूमिका, तथा अन्य वेदों के हिन्दी भाष्यों के आधार पर ही आर्य समाजी लेखकों की भाषा शैली पर

विचार किया जा सकता है। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का आधिक्य है और शैली में पंडिताऊपन की गहरी छाप पड़ी है।

आर्य समाजी केवल इसाई और मुसलमानों के धर्म की ही आलोचना नहीं करते थे बल्कि सनातन धर्मियों की पोंगा पन्थी पर भी उनका ध्यान रहता था। सनातन धर्मी भी उनकी आलोचनाओं का उत्तर देते थे। ऐसे लोगों में पंजाब के पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी को कभी भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने वैदिक एकेश्वरवाद के विरुद्ध अनेक लेख लिखे। उदाहरण के लिये—"फिर जो आप कहते हो कि ईश्वर शक्तिमान है, इसमें हमारा एक प्रष्ण है। अर्थात् यदि शक्तिमान है तो मेरी बुद्धि को अनीश्वरवाद से फेर के ईश्वरवाद में क्यों नहीं ले आता। यदि कहो तुम्हारे अनीश्वरवादी होने से उसकी क्या हानि है, तो इससे अधिक हानि उसकी क्या होगी कि मैं सहस्रो जन को अनीश्वरवादी बना दूँगा।"

फुल्लौरी जी की एक पुस्तक प्राप्य है जिसका नाम है 'सत्यामृत प्रवाह'। इसकी भाषा प्रौढ़ तथा परिमार्जित है। सापेक्ष, परिशांति, शोषक जैसे संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया गया है। पंजाबी का प्रभाव भी कम नहीं हैं। कभी को कधी लिखा गया है प्रश्न को प्रष्ण।

यह तो रही धार्मिक क्षेत्र में हिन्दी गद्य की दशा। सं० १६११ में जब चार्ल्स वुड ने गाँवों और कस्बों में शिक्षा प्रसार के लिये देशी-स्कूल खोलने की योजना बनायी तब माध्यम का प्रश्न उठा। कचहरियों की भाषा उर्दू थी इसलिये अधिकांश लोग उसी का समर्थन कर रहे थे। कुछ ही वर्षों के बाद जब राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द शिक्षा विभाग में इन्सपेक्टर होकर आये तब उनके सतत प्रयत्नों से हिन्दी की ओर भी लोगों की दृष्टि गयी। उसे भी एक माध्यम मान लिया गया। राजा साहब ने बड़े परिश्रम से कुछ पाठ्य पुस्तकें तैयार कीं। हिन्दी की रक्षा के लिये उन्होंने आवश्यक समझा कि भाषा का 'आम फहम' औ "खास पसन्द" रूप ही रखा जाय। इसलिये उन्होंने उर्दू मिश्रित हिन्दी लिखनी शुरू की। राजा साहब जानते थे कि समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये तथा आर्थिक लाभ की दृष्टि से उर्दू को एकाएक नहीं त्यागा जा सकता। यही सोच कर सं० १६०२ से ही निकलते हुये 'बनारस अखबार' की भाषा का भी उन्होंने वही रूप रखा। उसके सम्पादक थे पं० गोविन्द रघुनाथ थत्ते परन्तु उसमें राजा साहब के ही मन की बातें निकलती थीं। संयुक्त प्रान्तमें यह दशा थी। पंजाब में

राजा नवीनचन्द्र राय समाज सेवा की भावना से प्रेरित होकर हिन्दी का प्रचार कर रहे थे। उन्होंने स्त्री शिक्षा के प्रसार के लिये 'ज्ञानप्रदायनी' नामक पत्रिका भी निकाली थी। वह राजा सितारेहिन्द की भाषा के समर्थक नहीं थे। उन्होंने न्याय और वेदान्त पर शुद्ध हिन्दी में पुस्तकें लिखी हैं। उन्हीं के प्रोत्साहन से पंजाब प्राच्य महाविद्यालय के अध्यापक, पं० सुख दयाल शास्त्री ने भी 'न्याय बोधिनी' जैसी न्याय की एक पुस्तक लिखी। भाषा भी विषय के अनुरूप है। इसी समय आगरे से विरोध की एक ध्वनि सुनायी पड़ने लगी। विरोध का यह स्वर था राजा लक्ष्मण सिंह का। सं० १९१६ में उन्होंने कालिदास की शकुन्तला का अनुवाद किया। इसमें संस्कृत के अधिकांश तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया। ब्रजभाषा का भी इस पर थोड़ा बहुत प्रभाव है इसलिये उसमें उसकी मिठास है। इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुयी। इंगलैण्ड की सिविल सर्विस परीक्षा में वह निर्धारित की गयी। सितारे हिन्द ने भी उसकी प्रशंसा की और अपने गुटके में उसे स्थान दिया। शकुन्तला अनुवाद के पूर्व भी वह 'प्रजाहितैषी' (१९१८) नामक एक पत्र निकाल रहे थे। पत्र की भाषा भी वैसी ही थी।

भाषा-शैली के सम्बन्ध में सितारे हिन्द और राजा लक्ष्मण सिंह में बड़ी झड़प होती रही। अधिकांश लोग राजा शिवप्रसाद की नीयत पर अविश्वास करने लगे परन्तु यह ठीक नहीं है। उन्होंने जो कुछ किया लोक नीति से प्रभावित होकर ही। वे विद्वान् थे। 'इतिहास तिमिरनाशक' की भूमिका में उन्होंने अपने भाषा-सम्बन्धी मत को स्पष्ट भी किया था। वह संस्कृत गर्भित भाषा लिख सकते थे। उनकी शैली के उत्तम उदाहरण के रूप में "राजा भोज का सपना' पेश किया जा सकता है। उसकी भाषा बड़ी ही चलती हुयी है और प्रवाह में तो इंशा से भी बाजी मार ले जाती है।

भाषा के सम्बन्ध में यह विवाद बहुत दिनों तक चलता रहा परन्तु उसके सर्व सम्मत रूप की तब तक प्रतिष्ठा नहीं हो सकी जब तक भारतेन्दु का हिन्दी साहित्याकाश पर उदय न हुआ। वह एक शक्तिशाली नेता थे। उनके आते ही हवा बदल गयी। परस्पर विरोध के स्वर शान्त हो गये। उन्होंने राजा-द्वय के बीच की भाषा अख्तियार की और सं० १९२५ में 'कवि बचन सुधा' का प्रकाशन करके हिन्दी में एक नये युग का दरवाजा खोल दिया।

भारतेन्दु-युग

(सं० १९२४-१९६०)

उर्दू की प्रतिष्ठा के कारण हिन्दी लेखकों के सामने हिन्दी को एक सर्व सम्मत रूप देने की समस्या थी। उसकी शैली के आदर्श का प्रश्न था। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने तो उर्दू-मिश्रित हिन्दी लिखकर ही उस समस्या का समाधान लोगों के सामने उपस्थित किया था परन्तु राजा लक्ष्मण सिंह ने विदेशी शब्दों को बचाते हुये एक परिष्कृत देशी शैली की ओर संकेत किया। भारतेन्दु ने बीच का मार्ग निकाला। उन्होंने आगरे के राजा साहब की भी बातें सुनीं परन्तु विदेशी प्रचलित शब्दों पर भी ध्यान दिया। अरबी और फारसी के ऐसे शब्द जो हमारी भाषा में घुल मिल गये थे उनको उन्होंने अपनी भाषा में स्थान दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत के तद्भव रूपों का भी प्रयोग किया। जैसे उभरण के लिए उरिण। यहाँ तक की पचड़ा और छिपाव, जैसे घरेलू शब्द भी उनकी भाषा में तत्र यत्र दिखलायी पड़ जाते हैं। हरिश्चन्द्र जी ने मुहाविरों का कभी भी व्यर्थ प्रयोग नहीं किया। नज़र चुराना, आँख लगाना कुछ न गिनना आदि उसके उदाहरण के रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं। क्रिया पदों में करै, कहैगा, और करै है जैसे प्रयोग भी मिलते हैं। 'ने' का प्रयोग भी कहीं-कहीं ठीक नहीं किया गया है। इन सब बातों के होते हुये भी उन्होंने हिन्दी गद्य में भाषा का एक उच्चकोटि का रूप लोगों के सामने रखा। विषयों के अनुसार भिन्न भिन्न शैलियाँ रखीं। गम्भीर विषयों का विवेचन करते समय उनकी भाषा संस्कृत मयी हो जाती थी। साधारण विषयों पर लिखते समय व्याव-हारिक भाषा का भी प्रयोग कर लेते थे। भावावेश की शैली में उनके हृदय की विशालता भाषा का माधुर्य और शैली की मार्मिकता देखते ही बनती थी। उस समय देशी और विदेशी शब्दों की परवाह न करके मर्मस्थल से भावनाओं के पहाड़ी झरने फूट पड़ते थे। चन्द्रावली नाटिका में इस शैली की मधुरिमा दर्शनीय है। यद्यपि उनकी भिन्न भिन्न शैलियाँ हैं परन्तु भाषा-विषयक साधारण

सिद्धान्त का पालन उन्होंने सर्वत्र किया है। 'कवि वचन सुधा' की हिन्दी भी वैसी ही है परन्तु हरिश्चन्द्र चन्द्रिका की भाषा को उन्होंने स्वयं महत्त्व प्रदान किया है। सं० १६३० में उन्होंने 'हरिश्चन्द्र' मैगजीन' नामसे जो पत्रिका निकाली थी एक वर्ष के बाद ही उसका नाम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया। जनता ने उसकी भाषा का स्वागत किया और उसी के लिये हरिश्चन्द्र जी ने स्वयं लिखा— "हिन्दी नई चाल में ढ़ली, सन् १८७३ ई०।" उसकी भाषा का एक उदाहरण लीजिये—

"हम सर्कार से और अपने सब आर्य भाइयों से हाथ जोड़कर निवेदन करते हैं, इसको सब लोग एक बेर चित्त देकर और हठ छोड़कर सुनें। यदि सर्कार कहै कि हम धर्म्म विषय में नहीं बोलते तो उसका हममे पहिले उत्तर सुन ले। सती होना हमारे यहाँ स्त्रियों का परम धर्म्म है इसको सर्कार ने बल पूर्वक क्यों रोका है? क्योंकि यह धर्म्म प्राण से सम्बन्ध रखता है और प्रजा के प्राण की रक्षा राजा को सबके पहिले मान्य है। वैसे ही जो हम कहेंगे उससे भी प्रजा के प्राण से सम्बन्ध है, इससे सरकार को अवश्य सुनना चाहिये। अभी बनारस में बुलानाले पर एक लड़की नल से निकली है।"

इस प्रकार उनको भाषा में एक प्रकार की भावानुरूपता दिखलायी पड़ती है। भाषा में मार्मिकता है और भावों में गम्भीरता। उसमें चमत्कार नाम की कोई वस्तु नहीं है।

अन्य लेखक

हिन्दी गद्य लेखकों में बहुत से ऐसे लोग भी इस समय विद्यमान थे जिन पर भारतेन्दु जी का गहरा प्रभाव था और कुछ ऐसे भी सज्जन थे जो स्वतंत्र रूप से साहित्य सेवा में जुटे हुये थे। यद्यपि भारतेन्दु का निधन सं० १६४२ में ही हो गया था परन्तु उन्होंने इस दिशा में जो स्फूर्ति उत्पन्न की थी वह बहुत दिनों तक काम करती रही। इस समय के लेखकों में प्रेमघन, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० अम्बिकादत्त ब्यास, पं० प्रतापनारायण मिश्र पं० राधाचरण गोस्वामी, तथा लाला श्रीनिवास दास मुख्य हैं। इन लेखकों ने बड़ी लगन और बड़े उत्साह के साथ काम किया। वे हिन्दी की प्रकृति को अच्छी तरह पहिचानते थे और उसको अक्षुण्ण बनाने के लिये एड़ी चोटी का पसीना एक करते रहे।

उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले व्यक्ति थे। अनुप्रास और अनूठे पद विन्यास की ओर ही उनका ध्यान रहा करता था। उनके कुछ वाक्य तो बड़े लम्बे चौड़े होते थे। उन्होंने कई नाटक लिखे हैं। सं० १८८८ में उन्होंने भारत-सौभाग्य नामक एक नाटक लिखा था जिसके विभिन्न प्रान्तीय पात्र विभिन्न भाषा बोला करते थे। वह 'आनन्द कादम्बिनी, तथा 'नागरीनीरद' नामक मासिक और साप्ताहिक पत्र भी निकाला करते थे। समालोचना के क्षेत्र में सबसे पहले चौधरी साहब ही उतरे थे।

पं० बालकृष्ण भट्ट ने सं० १९३३ में हिन्दीप्रदीप, का सम्पादन शुरू किया। उनकी भाषा शैली के तीन रूप मिलते हैं। गम्भीर विषयों के विवेचन में वह अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करते थे। शैली अलङ्कारिक होती थी। दूसरी शैली में भाषा की सरलता देखने योग्य है। वह उर्दू की ओर झुकती हुयी मालूम पड़ती है। इसका उपयोग वह साधारण विषयों पर लेख लिखते समय किया करते थे। मुहाविरों का प्रयोग दर्शनीय है। तीसरी शैली में उन्होंने विदेशी शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है। उनकी इस प्रकार की मिश्रित भाषा में अजहद, नाज नखरा, हिमाकत, जाहिरदारी, एजूकेशन (education) कैरेक्टर (character) आर्ट ऑव कनवरशेशन (Art of conver sation) जैसे अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं। इस शैली में वे संस्कृत के तद्भव रूपों का भी उपयोग खुलकर करते थे। उदाहरण के लिये गुन, औगुन, लिलार तरुनाई आदि। 'नाऊ ब्राह्मण हाऊ जाती देख गुर्राऊ' जैसी देहाती कहावतें भी इनकी रचनाओं में देखने को मिल जाती हैं। भट्ट जी निबन्ध लेखक थे। उनके निबन्ध अपनी विनोदपूर्ण-वक्रता तथा आलङ्कारिक शैली के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महत्त्व पूर्ण स्थान रखते हैं।

पं०. अम्बिका दत्त ब्यास सनातन धर्मी तथा संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान थे। उन्होंने अवतारमीमांसा तथा मूर्तिपूजा जैसी पुस्तकें लिख कर आर्य समाज का विरोध किया। दयानन्द-पाण्डित्य-खण्डन नामक पुस्तक में उन्होंने बड़ी योग्यता से स्वामी जी की भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों की ओर संकेत

किया है। उन्होंने 'आश्चर्यवृत्तान्त' नामक एक उपन्यास तथा ललित नाटिका, और गोसंकट नाटक की भी रचना की है।

उनकी भाषा में उच्च तथा गंभीर विषयों के प्रतिपादन की क्षमता है। वाक्य भी बड़े लम्बे-लम्बे हैं परन्तु उनमें कहीं भी शिथिलता नहीं दिखलाई पड़ती।

पं० प्रताप नारायण मिश्र भारतेन्दु-भक्तों में से थे। वह 'ब्राह्मण' का सम्पादन करते थे और उसके लिये लेख लिखते थे। उनकी शैली में विनोद और मनोरंजक सामग्री अधिकता से पायी जाती है। इस शैली में वह जान बूझ कर प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग करते थे। बैसवाड़ी मुहावरों और कहावतों की तो झड़ी लगा देते थे। घूरे के लत्ता बिनैं कनातन कऽडोल बाँधैं, खरी बात शाह दुल्ला कहैं, सबके जी तें उतरे रहैं, जैसी कहावतें इसके प्रमाण में पेश की जा सकती हैं। यही इनकी भाषा की विशेषता है। कभी-कभी तो मिश्र जी लेखनी के लिये लेखणी, तथा अवगुण के स्थान पर 'औगुण' जैसे शब्द-रूपों का प्रयोग भी कर दिया करते थे। उनके 'ब्राह्मण' पत्र में हास्यविनोद, देशभक्ति, देशीकपड़ा, मातृ-भाषा, इत्यादि अनेक विषयों पर लेख निकला करते थे। उनके लेखों के शीर्षक भी विचित्र हुआ करते थे। 'ट' 'द' दाँत, भौं, मरे का मारैं, शाह, मदार, इत्यादि।

पं० राधाचरण गोस्वामी संस्कृत के एक अच्छे विद्वान् थे। तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर वह समाज सुधार की ओर झुक गये। उन्होंने वृन्दाबन से 'भारतेन्दु' नामक एक पत्र भी निकाला था। इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी ने अनेक नाटक भी लिखे थे। उनमें से सुदामा नाटक, सती चन्द्रावली, अमर सिंह राठौर, तथा 'तन मन धन श्री गो गोसाईं जी के अर्पण' आदि मौलिक नाटक हैं। विरजा, जावित्री, मृगमयी बंग भाषा के अनुवाद हैं। भाषा उनकी गठी हुयी होती थी। शैली में कोई विशेष आकर्षण नहीं है।

लाला श्री निवास दास मातृभाषा के बड़े भक्त थे। वह स्वयं भी लिखते थे और दूसरों से भी लिखवाते थे। उन्होंने 'तत्पासंवरण' 'संयोगितास्वयंबर' तथा 'रणधीर-प्रेममोहिनी' नामक तीन नाटकों की रचना की। 'परीक्षा गुरु' उपन्यास लिखा। तत्पासंवरण तथा रणधीर प्रेममोहिनी ने उस समय बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली थी। तत्पासंवरण का गुजराती अनुवाद बुद्धि-बर्द्धक नामक

पत्र में निकला करता था। उन्हीं के 'संयोगिता स्वयंम्बर' की आलोचना पंडित प्रेमघन ने बड़े जोर शोर के साथ की थी। उनके नाटकों के पात्र अपनी अपनी भाषा बोलते हैं। रणधीर प्रेम-मोहिनी का एक बनिया पात्र मारवाड़ी बोलता है। लाला साहब उर्दू मिश्रित खड़ी बोली बोलते हैं तथा चौबे जी वृन्दाबनी में भाषण करते हैं। उनके उपन्यास की भाषा साहित्यिक नहीं है। उन्होंने स्वयं उसकी भूमिका में लिखा है—"दिल्ली के रहने वालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि रक्खी गई है।" दिल्ली वालों के उच्चारण तक का इस उपन्यास की भाषा में बड़ा ध्यान रखा गया है। उन्के, इन्की, कोन्सा, में के स्थान पर मैं का प्रयोग सभी जगह मिलेंगे। यह सब होते हुये भी उनकी भाषा बड़ी मुहावरेदार है। 'कागज के घोड़े दौड़ाना' 'लट्टू होना' आदि उसके उदाहरण हैं। विदेशी तथा अन्य प्रान्तीय भाषा के प्रयोगों में भी उन्हें बिल्कुल हिचकिचाहट नहीं मालूम पड़ती थी। उर्दू के वाकिफ, रुखसत, शामिल, तामील आदि शब्द के अतिरिक्त अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग बड़े धड़ल्ले के साथ किया करते थे। उनकी खड़ीबोली में दिल्ली और मेरठ की बोली की मिठास है।

ठाकुर जगमोहन सिंह प्रकृति सम्बन्धी कवितायें ही नहीं लिखा करते थे, गद्य के क्षेत्र में भी उनकी वही गति थी। 'श्यामास्वप्न' नामक अपने उपन्यास में ठाकुर साहब ने प्रकृति के बड़े सुन्दर चित्र खींचे हैं। अलंकारों की इन्द्र धनुषी छटा उनकी भाषा में देखने को मिलती है। छोटे-छोटे वाक्यों की रचना की ओर उनकी अधिक रुचि रहा करती थी। उनकी भाषा पर प्रान्तीयता का भी पर्याप्त प्रभाव है। पैर के स्थान पर परग, बोली के लिये चिरौरी, रात्रि के भोजन के लिये ब्यारी जैसे शब्दों का प्रयोग स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। मुझे, बातैं आदि के प्रयोग भी उनके लिये साधारण सी वस्तु थी। बात काटना, मग जोहना, जी टूक टूक होना जैसे मुहाविरों के राशि राशि प्रयोगों से भाषा में चार चाँद लग गये हैं।

बाबू राधाकृष्ण दास ने गद्य में भी हरिश्चन्द्र जी की परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होंने दुःखिनी बाला, महारानी पद्मावती, सती प्रताप, महाराणा प्रताप जैसी जीवनचरित और नाटक की पुस्तकें लिखीं। उनकी भाषा प्रौढ़ और व्याकरण सम्मत है। उसमें च्युत संस्कृति के दोष कहीं भी नहीं दिखलायी पड़ते।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त बाबू तोताराम बी० ए० पं० केशवराम भट्ट, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंडया, पं० भीमसेन शर्मा, पं० दुर्गा प्रसाद मिश्र, पं० सदानन्द मिश्र तथा बाबू रामकृष्ण वर्मा ने अपनी मौलिक रचनाओं, अनुवादों तथा पत्रों के सम्पादन के द्वारा हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में अपनी अमूल्य सेवायें अर्पित कीं।

नाटकों का विकास

नाटकों का विकास रंगमंच की सफलता पर ही निर्भर होता है। हिन्दी का आविर्भाव ही कुछ ऐसी परिस्थितियों के बीच हुआ कि संस्कृत साहित्य की तरह उसकी उत्तराधिकारिणी हिन्दी में नाटक-रचना का बाहुल्य न हो सका। हमारे साहित्य में सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की सबसे पहली नाट्य रचना हृदय राय कृत हनुमन्नाटक है। इससे प्राचीन कदाचित् कोई नाट्य-रचना हिन्दी में नहीं मिलती। इसके पश्चात् नेवाज की सकुंतला और देव के 'देव माया प्रपंच' का नाम लिया जाता है। १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रजवासी दास ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक लिखा था। किन्तु इन सभी नाटकों में पद्य की हा प्रधानता है और नाटक के नियमों का पूरी तरह पालन नहीं किया गया है। इसलिये साहित्य की दृष्टि से उनका कोई महत्व नहीं है।

नाटक के कुछ नियमों को ध्यान में रखकर सबसे पहले भारतेन्दु के पिता गिरधर दास जी ने 'नहुष' नाटक लिखा था। फिर तो नाटक के नियमों का थोड़ा बहुत ध्यान रखा जाने लगा। मौलिक नाटकों का अभाव होने पर भी अनुवादों में मूल का सौन्दर्य लाये जाने की कोशिश की जाती थी। इस दिशा में राजा लक्ष्मण सिंह का प्रयत्न अत्यन्त सराहनीय है। उनका 'शकुन्तला नाटक' कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल का आनन्द देता है।

हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में मौलिक काम करने वाले भारतेन्दु ही सर्व प्रथम व्यक्ति हैं। उन्होंने मौलिक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी से अनुवाद भी प्रस्तुत किये। उनके मौलिक नाटकों में वैदिक हिंसा हिंसा न भवति, चन्द्रावली, विषस्य-विषमौषधम्, भारत दुर्दशा, नील देवी, अंधेर नगरी, प्रेम जोगिनी तथा सती प्रताप (अधूरा जिसे बाद को राधाकृष्ण दास ने पूरा किया) आदि उल्लेखनीय हैं। अनूदित नाटकों के नाम हैं विद्या-सुन्दर, पाखण्ड

विडम्बन, धनंजय विजय, कपूरमंजरी, मुद्राराक्षस, सत्यहरिश्चन्द्र भारत-जननी।

भारतेन्दु ने जीवन के सभी क्षेत्रों से अपने नाटकों के लिये सामग्री ली है। चन्द्रावली में प्रेम का आदर्श, नील देवी में पंजाब के एक हिन्दू राजा पर मुसलमानों की चढ़ाई का ऐतिहासिक वृत्त, भारत दुर्दशा में देश की शोचनीय दशा, विषस्य विषमौषधम् में देशी रजवाड़ों की कुचक्र पूर्ण परिस्थिति और प्रेम जोगिनी में वर्तमान पाखण्ड मय धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच मानव की दशा का चित्र खींचा गया है। उन्होंने संस्कृत नाट्य-नियम, तथा अंग्रेजी नाटकों के नियमों के बीच का रास्ता अख्तियार किया। बड़े-बड़े नाटकों में 'प्रस्तावना' की योजना तो कर लेते थे परन्तु छोटे-छोटे प्रहसनों में उसकी तनिक भी आवश्यकता नहीं समझते थे। उनके कथोपकथन में सजीवता है। उनकी कविता में ब्रजभाषा कविता का एक बहुत बड़ा अंश विद्यमान है जो परम्परा पालन के लिये ही प्रयुक्त किया गया है। उन्होंने स्वगत की भी कम योजना की। उनके नाटकों में लगभग सभी रसों का समावेश किया गया है। भाषा परिष्कृत एवं परिमार्जित है।

हरिश्चन्द्र जी के पश्चात् लाला श्री निवास दास जी का नाम लिया जाता है। उन्होंने 'तप्ता संवरण' 'प्रहलाद-चरित' 'संयोगिता-स्वयंम्बर' तथा रणधीर प्रेम मोहिनी नामक चार नाटक लिखे। तप्ता संवरण में जो प्रेम कथा वर्णित है वह 'रानी केतकी की कहानी' तथा शकुन्तला नाटक की कथा के संमिश्रण से बनी है। इसमें सूत्रधार की भी योजना की गयी है। रणधीर प्रेम मोहिनी में प्रस्तावना की योजना नहीं की गयी है। इसमें अंक और गर्भाङ्क भी रखे गये हैं। इसमें शिष्ट प्रहसन भी अभिनय के योग्य है। नाटक में यत्र-तत्र जिन कविताओं का प्रयोग किया गया है वह दूसरों की रचना है। लाला जी ने प्राचीन नाट्य शास्त्र के नियमों के साथ नवीनता को भी अपनाया है।

इनके बाद आते हैं पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' उन्होंने भारत-सौभाग्य नाटक लिखा जिसमें कुल मिलाकर ६० पात्र हैं। सभी अपनी-अपनी भाषायें बोलते हैं। कोई मराठी तो कोई गुजराती कोई मारवाड़ी तो कोई बैसवाड़ी। 'प्रयाग-राम गमन' नाटक में सीता की भाषा व्रज रखी गयी है। वारांगना रहस्य महानाटक (अथवा वेश्या-विनोद महानाटक) में जगह-जगह शृंगार रस

के श्लोक, कवित्त, सवैये, गजल, शेर इत्यादि रखे गये हैं। विनोद पूर्ण प्रहसन तथा भाषा का चमत्कार देखने योग्य है। रंगमंच की दृष्टि से सभी नाटक असफल सिद्ध हुये हैं।

उपर्युक्त नाट्यकारों के अतिरिक्त सर्वश्री गोकुलचन्द्र, केशवराम, अम्बिका दत्त व्यास, तथा राधाकृष्ण दास का नाम उल्लेखनीय है। गोकुल चन्द्र का 'बूढ़े मुँह मुंहासे लोग चले तमाशे' केशवराम का 'सज्जादसम्बल' और शमशाद सौंसन, गदाधर भट्ट का मृच्छकटिक, अम्बिका दत्त व्यास का लतिका और 'गो संकट'। रविदत्त शुक्ल का 'देवाक्षरचरित्र' तथा राधाकृष्ण दास का 'दुःखिनी बाला' पद्मावती तथा महाराणा प्रताप का उस समय बड़ा प्रचार था।

भारतेन्दु से पूर्व नाटकों में अभौतिक तथा अति भौतिक चरित्रों की योजना की जाती थी। देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि की रंगमंच पर अवतारणा कराकर दर्शकों को चमत्कृत कर दिया जाता था। परन्तु हरिश्चन्द्र जी के समय से इन सब बातों की कमी होने लगी। इसके स्थान पर जीवन के विविध पक्षों का नाटक में उद्घाटन किया जाने लगा। पहले ब्रजभाषा में ही नाटक लिखे जाते थे परन्तु अब पात्रों के संभाषणों की भाषा खड़ीबोली तथा पद्य की भाषा ब्रज होने लगी।

उपन्यास

इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' को हम हिन्दी का पहला उपन्यास कह सकते हैं। उसके पश्चात् इसी काल में हमें उपन्यासों के दर्शन होते हैं। वह भी मौलिक कम और अनूदित अधिक। हिन्दी का सर्व प्रथम मौलिक उपन्यास लाला श्री निवास दास का 'परीक्षा गुरु' है। इसमें हितोपदेश की सी उपदेशात्मक प्रवृत्ति है। चरित्र चित्रण पर भी इसमें ध्यान दिया गया है। इसके पश्चात् ठाकुर जगमोहन सिंह का श्यामा स्वप्न भी एक सुन्दर उपन्यास है परन्तु उसके पात्र धरती के नहीं हैं। इसी परम्परा में पं० अम्बिका दत्त व्यास कृत आश्चर्यवृत्तान्त भी उल्लेखनीय है। लोगों को चकित करने के लिये एक मन गढंत कथा लिखी गयी है जो साधारण कोटि के पाठकों का मनोरंजन कर सकती है। पंडित बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' दो छोटे-छोटे उपन्यास लिखे। इसी समय बंगला उपन्यासों का भी अनुवाद किया गया। पं० प्रताप नारायण मिश्र ने राज सिंह, इंदिरा, राधारानी आदि के अनुवाद बंगला से

किये। बाबू गदाधर सिंह ने बंग बिजेता और दुर्गेश नंदिनी के तथा राधाकृष्ण दास ने 'स्वर्णलता' और 'मरता क्या न करता' के सुन्दर अनुवाद उपस्थित किये।

निबन्ध

हिन्दी का सबसे पहला समाचार पत्र 'उदंत मार्त्तंड' सं० १८८३ में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। निबन्ध का पहला व्यावहारिक रूप हमें उसी में मिलता है। भारतेन्दु ने इस दिशा में भी प्रयोग किया था परन्तु किसी कारण से उनके निबन्ध प्रकाश में न आ सके। डा० राम विलास शर्मा ने वृन्दावन में राधाचरण गोस्वामी के पुत्रों के पास हरिश्चन्द्र जी के निबन्धों को देखकर उन्हें अपने युग का सर्व श्रेष्ठ शैलीकार बताया था। जब तक उनके निबन्ध प्रकाशित नहीं हो जाते तब तक उनके समकालीन पं० बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र को उस समय का उत्कृष्ट निबन्ध लेखक मानना पड़ेगा। भट्ट जी के निबन्ध 'हिन्दी प्रदीप' में और मिश्र जी के 'ब्राह्मण' में प्रकाशित हुआ करते थे। बालकृष्ण जी के निबन्धों में चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है। प्रताप नारायणजी ने हास्य रस के निबन्धों और व्यंग्यात्मक शैली को जन्म दिया। उनके लेखों में सभी जगहों पर चुलबुलापन दिखलायी पड़ता है। दोनों लेखकों की भाषा में विदेशी और प्रान्तीय शब्दों की छाप स्पष्ट है। इस युग के अन्य निबन्ध लेखकों में पं० अम्बिका दत्त व्यास, बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन' बाल मुकुन्द गुप्त, स्वामी दयानन्द तथा राधाकृष्ण दास के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समय के निबन्धों के विषय हैं सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक समस्यायें और उनके निदान-सुझाव। अनेक, निबन्धों में हिन्दू सभ्यता और संस्कृति तथा तीज त्यौहारों के अभूतपूर्व वर्णन है। हिन्दी प्रचार और प्रसार के लिये तथा धार्मिक खण्डन मण्डन के लिये भी अनेक निबन्धों की सृष्टि हुयी थी।

समालोचना

इसी युग में साहित्य के इस क्षेत्र का भी सूत्रपात किया गया। सर्व प्रथम भारतेन्दु के समकालीन प्रेमघन जी ने अपनी आनन्दकादम्बिनी में समालोचना की पद्धति आरम्भ की। उन्होंने श्री निवासदास के 'संयोगिता स्वयंबर' नाटक की बड़ी कड़ी आलोचना की जिसमें बड़े विस्तार से उन्होंने सूक्ष्म से सूक्ष्म दोषों का उद्घाटन किया। इसके अतिरिक्त कभी-कभी किसी पत्र में आलोचनात्मक

प्रबन्ध प्रकाशित हो जाया करते थे। इसका वास्तविक विकास तो आगे चलकर ही हुआ।

पत्र-पत्रिकायें

भारतवर्ष में मुद्रण यंत्र की स्थापना हो जाने के पश्चात् स्थान-स्थान से समाचार-पत्र निकलने लगे। सं० १८८३ में कलकत्ते से 'उदंत्त मार्त्तण्ड' का प्रकाशन आरम्भ हो गया था। उसके पश्चात् राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने सं० १९०२ में 'बनारस अखबार' निकलवाया था। इसका सम्पादन करते थे गोविन्द रघुनाथ थत्ते। यह नागरी लिपि में बहुत ही रद्दी कागज पर लीथों में छपता था। भाषा इसकी उर्दू ही होती थी। अतः यह हिन्दी वालों के किसी काम का नहीं था। सं० १९०७ में बाबू तारामोहन मित्र के उद्योग से 'सुधाकर' नाम का पत्र काशी से निकला। इसके पश्चात् ही कवि-बचन सुधा, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका तथा बालाबोधनी नामक पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हो गया। अल्मोड़ा से सं० १९२८ में पं० सदानन्द के सम्पादकत्व में अल्मोड़ा अखबार निकला था। बिहार प्रान्त से सबसे पहला पत्र सं० १९२९ में बिहारबंधु निकला। इसका सम्पादन करते थे पं० केशवराम भट्ट। कुछ दिनों के पश्चात् यह साप्ताहिक से मासिक हो गया। इसकी भाषा व्याकरण सम्मत तो थी परन्तु पदावली उर्दू की ओर झुकती हुयी मालूम पड़ती थी।

सं० १९३४ में 'भारत मित्र' का प्रकाशन बड़ी धूमधाम से शुरू हुआ। यह पत्र कलकत्ते से निकलता था और इसका सम्पादन करते थे पं० छोटू लाल मिश्र। इस पत्र में भारतेन्दु के लेख भी निकला करते थे। इसी वर्ष लाहौर से पं० गोपीनाथ के सम्पादकत्व में मित्र विलास, नाम का एक धार्मिक विषय प्रधान साप्ताहिक पत्र निकला। ब्रह्मो समाज का प्रचार करने के लिये बाबू नवीनचन्द्र राय ने "ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका" का प्रकाशन आरम्भ किया। इसमें समाज सुधार सम्बन्धी विषय होते थे। इसके द्वारा पंजाब प्रान्त में शुद्ध हिन्दी का प्रचार हुआ। सं० १९३५ में कलकत्ते से पं० दुर्गादत्त मिश्र और पं० सदानन्द मिश्र के सम्पादकत्व में क्रमशः 'उचित वक्ता' और 'सार सुधानिधि' नामक पत्र निकले। 'उचित वक्ता' उस समय का प्रसिद्ध पत्र था। सार सुधानिधि भी भाषा की

शुद्धता के लिये समाचार-पत्र साहित्य के इतिहास में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

पं० बद्रीनारायण चौधरी ने सं० १९३९ में मिर्ज़ापुर से 'आनन्द कादम्बिनी' प्रकाशित किया। बालकृष्ण भट्ट ने प्रयाग से हिन्दी प्रदीप (सं० १९३३) अम्बिका दत्त व्यास ने पीयूष-प्रवाह (सं० १९४१) प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर से ब्राह्मण (सं० १९४०)। इन पत्रों में समाज-सुधार, देशभक्ति, मातृभाषाप्रचार इत्यादि विषयों पर लेख निकला करते थे। अन्य भाषा-भाषी लोगों ने भी पत्रों का प्रकाशन करके हिन्दी की चिरस्मरणीय सेवा की है। सं० १९४७ में बाबू योगेशचन्द्र बसु ने 'हिन्दी बंगवासी' निकालना शुरू किया था। सनातन धर्मावलंबियों का यह पत्र था जिसे अनेक चित्रों से सुसज्जित करके प्रकाशित किया जाता था। यह अपने समय का सब से जनप्रिय समाचार पत्र था। सं० १९५२ में बम्बई से 'वेंकटेश्वर समाचार' निकला था जो अब तक प्रकाशित होता आ रहा है।

भारतवर्ष के बाहर से भी हिन्दी के पत्र निकाले गये। सं० १९४० में राजा रामपाल सिंह ने इंगलैंएड से 'हिन्दुस्तान' नामक पत्र हिन्दी और अंगरेजी में निकाला। कुछ समय के बाद उसमें उर्दू के भी कुछ पृष्ठ जोड़ दिये गये थे। यह अपनी राजनैतिक टिप्पणियों के लिये प्रसिद्ध था। उसके सम्पादक-मण्डल में पूज्य स्व० मदनमोहन मालवीय, अमृतलाल चक्रवर्ती, बालमुकुन्द गुप्त तथा प्रताप नारायण मिश्र जैसे प्रसिद्ध देश-समाज एवं साहित्य सेवी व्यक्ति थे। इस प्रकार उपर्युक्त पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा हिन्दी में गद्य का पर्याप्त विकास हुआ।

हिन्दी आन्दोलन

इस समय हिन्दी की दशा अच्छी न थी। कचहरियों की भाषा उर्दू थी। जन-साधारण को हिन्दी में प्रार्थना-पत्र देने की सुविधा नहीं प्राप्त थी। उर्दू पढ़े-लिखे लोग हिन्दी को गंवारों की भाषा समझते थे। हिन्दी भक्तों के हृदय पर इससे बड़ा आघात पहुँचता था। इसलिये उन लोगों ने हिन्दी को मान्यता दिलाने तथा उसे जन जन तक पहुँचाने का संकल्प कर लिया। उन हिन्दी भक्तों का जब भी स्मरण हो आता है हृदय श्रद्धा और भक्ति के भावनाओं से भर जाता है। कलकत्ते के बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री अपने समाचार-पत्र लोगों को सुनाने जाया करते थे। सं० १९३८ में मेरठ के पंडित गौरीदत्त ने मातृ

भाषा के लिये अपने को ही न्योछावर कर दिया था। सं० १६५१ में दफ्तरों में नागरी के प्रवेश के लिये उन्होंने ही 'मेमोरेन्डम' भेजा था।

हिन्दी प्रचार के लिये भारतेन्दु ने रंगमंच का भार सम्हाला था। राय देवी प्रसाद पूर्ण, प्रताप नारायण मिश्र, तथा हरिश्चन्द्र स्वयं अभिनेता के रूप में मंच पर उतरते थे। उनकी मंडली जगह-जगह हिन्दी प्रचार की पूत भावना से ही प्रेरित होकर अभिनय किया करती थी।

विभिन्न धर्मों के प्रचारक अपने-अपने धर्म के पक्ष में लेख लिखा करते थे। इसाई धर्म प्रचारक "ईसा मसीह मेरो प्रान बचाइयो" गा-गा कर बाइबिल का हिन्दी अनुवाद जनता में बितरित कर रहे थे। हिन्दू धर्म के संरक्षकों की आँखें खुलीं। बंगाल में ब्रह्मोसमाज की स्थापना हुयी। बम्बई में आर्यसमाज की। स्वामी दयानन्द ने पर-धर्म को आलोचना का लक्ष्य तो बनाया ही था सनातन धर्म की पोंगा पन्थी भी उनकी नजरों में कसक उठी। सनातन धर्म के सर्व श्री फुल्लौरी महाशय तथा अम्बिकादत्त व्यास ने स्वामी जी के प्रश्नों का डट कर उत्तर दिया। इससे गद्य में तर्क की शैली का विकास हुआ।

सर विलियम म्योर जब यहाँ के लाट थे तभी हिन्दी को राज भाषा बनाने का उद्योग किया गया। भारतेन्दु जी ने अनेक प्रयत्न इसके सम्बन्ध में किये। इस समय कैंपसन साहब शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर थे। वह राजा शिवप्रसाद को बहुत मानते थे। इसी बीच भारतेन्दु से सितारे हिन्द कुछ नाखुश हो गये। वैमनस्य बढ़ा और राजा साहब ने उनके सारे उद्योगों पर पानी फेर दिया। लगातार जद्दोजेहद करने का परिणाम यह हुआ कि विदेशों में भी हिन्दी की चर्चा फैल गयी। इंगलैण्ड के फेडरिकपिन काट सं० १६५२ में भारत आये। हिन्दी के लिये प्रयत्न करने वालों का साहस बढ़ाया और हिन्दी साहित्य के प्रति अपनी सद्भावना प्रकट की। डा० ग्रियर्सन ने बिहारी सतसई, पद्मावती, भाषा-भूषण, तथा रामचरित मानस का सम्पादन किया। सं० १६४६ में उन्होंने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव नादर्न हिन्दुस्तान' नामक अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। सं० १६५० में बाबू श्यामसुन्दरदास तथा अन्य नवयुवकों के अध्यवसाय से काशी में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुयी। बाबू राधाकृष्णदास उसके प्रथम सभापति चुने गये। सं० १६५२ में सभा ने लार्ड मेकडानेल को दफ्तरों में नागरी प्रवेश के लिये आवेदन पत्र दिया। आन्दोलन चलाया गया। पं० मदन मोहन

मालवीय ने इसका समर्थन करते हुये 'अदालती लिपि और प्राइमरी शिक्षा' नामक पुस्तिका अंग्रेजी में लिख कर यह सिद्ध किया कि नागरी को वह स्थान न मिलने से जनता का कष्ट बढ़ता जा रहा है। सं० १९५५ में एक डेपुटेशन भी मिला। सं० १९५७ में नागरी को कचहरियों में स्थान मिल गया परन्तु उसे व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका। इस प्रकार इस युग में हिन्दी गद्य की जड़ जमाने के लिये उसे सँवारने निखारने के लिये अनेक प्रयत्न हुये।

द्विवेदी-युग

(सं० १९६०—१९८२)

भूमिका

भारतेन्दु युग के लेखक हिन्दी को घर घर पहुँचा देना चाहते थे इसलिये हमारी भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का विकास तो हुआ परन्तु किसी ने व्याकरण की ओर ध्यान न दिया। लगभग सभी लेखकों की भाषा प्रान्तीय प्रयोगों के दोष से बरी नहीं है। अंग्रेजी और बंगला के उपन्यास और नाटकों के जो अनुवाद प्रस्तुत किये जाते थे उनमें भी हिन्दी को दूषित कर दिया जाता था। अनुवाद करने वाले बिना भाव समझे हुये मुहाविरों तथा लाक्षणिक प्रयोगों का भी शाब्दिक अनुवाद कर दिया करते थे। भाषा की इस अव्यस्था को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दूर की। ज्यों ही उनके हाथों में सरस्वती पत्रिका (सं० १९६०) के सम्पादन का उत्तर दायित्व सौंपा गया उन्होने तुरन्त ही इस ओर ध्यान दिया। इसके पश्चात ही अनेक साहित्यिक वाद विवाद चल पड़े।

व्याकरण को लेकर पहला वाद विवाद उठा। सबसे पहले विभक्तियों के उचित प्रयोग पर प्रश्न उठाये गये। प्रश्न उठाने वाले थे पं० सखा राम गणेश देउस्कर। इसी के उत्तर में पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने हितवार्ता पत्रिका में एक लम्बी और विद्वत्तापूर्ण लेख माला प्रकाशित की। बाद को वह "विभक्ति-विचार" शीर्षक के अन्तर्गत एक किताब के रूप में सामने आयी। मिश्र जी का कहना था कि विभक्तियों का प्रयोग संस्कृत के अनुसार करना चाहिए। द्विवेदी जी इसका विरोध करते रहे। उन्होंने गद्य को नये-नये विषयों की ओर लगाया और नये-नये लेखकों को उस दिशा में पाँव बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित किया। इस समय गद्य के विभिन कला रूपों का विकास हुआ। गद्य का यह स्वर्ण काल था। इसी युग ने प्रसाद और वृन्दाबन लाल वर्मा जैसे नाट्यकार, प्रेम चन्द्र और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जैसे उपन्यासकार और कहानीकार, रामचन्द्र शुक्ल श्याम सुन्दर दास तथा गुलाब राय जैसे आलोचक और निबन्ध शैलीकारों का परिचय दिया।

द्विवेदी जी

द्विवेदी जी ने बहुत उच्चकोटि का साहित्य प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने व्यास शैली में नये-नये विषयों का प्रतिपादन किया। ऐसा करने में भी उनको शब्दों के अनावश्यक विस्तार तथा पुनुरुक्ति आदि की शरण नहीं लेनी पड़ती थी। थोड़े से सरल शब्दों में विषय को बिल्कुल स्पष्ट कर देना उनकी विशेषता थी। उनकी शैली में बड़ा भारी संयम दिखलायी पड़ता है। क्या मजाल कि कोई विराम चिन्ह छूट तो जाय। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति नहीं दीख पड़ती। जो विदेशी शब्द हमारी भाषा में घुल मिल गये थे उनको भी उन्होंने अपना लिया। साधारण विषयों को समझाने के लिये वह उसी शैली का प्रयोग करते थे। उस समय वाक्य छोटे-छोटे होते हैं। गंभीर विषयों को समझाने के लिये भाषा भी कुछ गंभीर हो जाती है। तत्सम शब्दों का प्रयोग भी अधिक हो जाता है। उनकी शैली प्रसाद और ओज गुण युक्त है जिसमें सर्वत्र प्रवाह के दर्शन होते हैं। हिन्दी को शुद्ध-शुद्ध रूप में लिखने के लिये उन्होंने जो प्रयास किया वह स्तुत्य है। द्विवेदी युग के लेखकों में माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गोपालराम गहमरी, बालमुकुन्द गुप्त श्यामसुन्दर दास, गोविन्दनारायण मिश्र, अध्यापक पूर्ण सिंह, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, प्रसाद, पद्मसिंह शर्मा तथा बाबू गुलाब राय के नाम उल्लेखनीय हैं।

अन्य लेखक

पं० माधव प्रसाद मिश्र सुदर्शन के सम्पादक थे। उसमें उनके जो लेख निकला करते थे वह तो निकलते ही थे इसके अतिरिक्त उन्होंने विशुद्धानंद का जीवन चरित भी 'विशुद्ध चरितावली' के नाम से लिखा। उनकी भाषा बड़ी गंभीर और शांत होती थी। भावों के अनुसार ही उन्होंने भाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि उन्होंने उर्दू शब्दों का आश्रय नहीं ग्रहण किया फिर भी हमारी रागात्मक वृत्ति को स्पर्श करने वाली उनकी स्वतंत्र शैली हिन्दी में एक महत्व पूर्ण स्थान रखती है। उन्होंने अनेक भावात्मक निबन्ध भी लिखे जिसमें से ओज फूटा सा पड़ता है। उसमें बला का प्रवाह है और स्वाभाविक अनुभूतियों को वहन करने में वह पूर्णतः समर्थ है।

गुलेरी जी संस्कृत के प्रकांड-पंडित थे। उन्होंने भाषा, पुरातत्व तथा भाषा

विज्ञान जैसे गंभीर विषयों को भी अत्यन्त सरल भाषा-शैली में लिखा है। उनकी शैली में वर्ण्य विषय का चित्र उपस्थित कर देने की अपूर्व क्षमता है।

गहमरी जी मुख्यतः उपन्यास और जासूसी कहानी लेखक हैं। उन्होंने उच्च कोटि के भावात्मक निबंध भी लिखे हैं। विषय के अनुसार ही भाषा-प्रयोग की ओर उनकी दृष्टि रहा करती थी। गद्य में चमत्कार उत्पन्न करने के भी वह पक्षपाती थे। भाषा सरल तथा प्रवाह पूर्ण है।

बालमुकुन्द गुप्त पहले उर्दू में लिखा करते थे बाद को हिन्दी में लिखने लगे। इसी कारण से उनकी भाषा में एक संयत चुलबुलापन मिलता है। शिष्ट और ससीम परिहास उनकी रचनाओं में दिखलायी पड़ता है। कुछ दिनों के बाद वह कलकत्ता से निकलने वाले 'भारत-मित्र' का सम्पादन करने लगे। उन्होंने शिवशंभु के नाम से निबन्ध लिखें हैं, जिनमें लार्ड कर्जन के कार्य कलापों का भण्डा फोड़ है।

बाबू श्याम सुन्दर दास ने हमारे साहित्य के आलोचना और भाषा विज्ञान का क्षेत्र समृद्ध-किया है। विषय के अनुरूप उनकी भाषा भी गंभीर है। उसमें कहीं भी सजाव शृंगार की प्रवृत्ति नहीं दीख पड़ती। न तो मुहाविरों का प्रयोग मिलता है न कहावतों का। हाँ! विषय को स्पष्टता तथा प्रौढ़ता से प्रतिपादित करने के लिये रूपक इत्यादि अलंकारों का प्रयोग अवश्य किया गया है। एक ही बात को कईबार दोहराया भी गया है जिससे वह बिल्कुल स्पष्ट हो जाय। ऐसा होते हुए भी शिथिलता कहीं नहीं है। पाण्डित्य पूर्ण ओज सर्वत्र लक्षित होता है। उन्होंने कुछ भावात्मक और विचारात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। फिर भी विचारात्मक विवेचन में शैली जरा उभर के सामने आती है। ऐसे निबन्धों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। जीवनियाँ इत्यादि लिखते समय भाषा सरल चित्रोपम तथा छोटे-छोटे वाक्यों से युक्त रहती है।

श्री गोविन्द नारायण मिश्र संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। उनके लेखों से उनकी विद्वत्ता का पूरा पता लग जाता है। उच्च कोटि के विषय पर लिखते समय भी वह साधारण कोटि से ऊपर उठ जाते थे। साधारण विषयों के प्रतिपादन में भी उनकी वही दशा है। भाषा उनके लिये एक कला थी। प्रत्येक पंक्ति में उनकी चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है। संस्कृत के बाण और दण्डी से उनकी तुलना की जा सकती है। किन्तु कहीं कहीं पर उनकी

पदावली तो बिल्कुल निरर्थक सिद्ध हुयी है। जहाँ पर उन्होंने जनसाधारण के लिये लिखा है वहाँ उनकी भाषा सरल तथा शैली व्यवहारोपयोगी हो गयी है।

अध्यापक पूर्ण सिंह जी ने यद्यपि दो ही चार निबन्ध लिखे परन्तु उस पर उन्होंने अपने व्यक्तित्व की छाप डाल दी। विषय को मूर्तिमत्ता के साथ प्रतिपादित कर देना उनकी विशेषता है। उनकी कला में स्वाभाविकता है, प्रयत्न नहीं इसीलिये वह हमारी रागात्मक वृत्ति को स्पर्श कर पाती है। विषय के बहिरंग और अंतरंग चित्रों को उन्होंने बड़ी सजीवता और मार्मिकता के साथ उतारा है। सिंह जी द्विवेदी युग के अन्यतम भावात्मक निबन्ध शैलीकार हैं।

प्रेमचन्द जी की भाषा अत्यन्त सरल और स्वाभाविक है। आरंभ की शैली पर द्विवेदी जी का बहुत प्रभाव पड़ा था परन्तु धीरे धीरे उन्होंने अपनी शैली माँज ली और उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप डाल दी। वह उर्दू से हिन्दी में चले आये थे इसीलिये उसकी विशेषतायें भी उनके साथ थीं। इसके साथ ही साथ वह हिन्दी की प्रकृति को भी अच्छी तरह पहिचानते थे। उन्होंने अनेक उपन्यास तथा कहानियों की रचना की। इसलिये उन्हें भाव के अनुसार भाषा भी रखनी पड़ी। बीच बीच में अनुभव की कसौटी पर खरी उतरी हुयी बातों को सूक्तियों के रूप में कह दिया गया है। उनके वर्णनों में काव्योचित कल्पना का पुट रहता है और भाषा में मुहाविरों की अत्यन्त स्वभाविक योजना।

पं० रामचन्द्र शुक्ल इस युग के कर्णधारों में से हैं। उन्होंने निबंध और आलोचनायें लिखीं। प्राचीन कवियों के ग्रन्थों का वैज्ञानिक ढंग से सम्पादन किया। उनके प्रारम्भिक लेख 'प्रेमघन' जी की 'आनन्द कादम्बिनी' में निकला करते थे। अंग्रेजी, उर्दू और संस्कृत साहित्यों का उन्होने गम्भीर अध्ययन किया था। लेकिन उनकी शैलियों का शुक्ल जी पर कोई प्रभाव न पड़ा। वह हिन्दी की स्वतंत्र भावाभिव्यंजन शक्ति के पक्षपाती थे। उन्होंने गंभीर विषयों पर लेख लिखना शुरू किया था इसलिये उनकी भाषा और शैली भी गंभीर होती चली गयी थी। उन्होंने पाण्डित्य-प्रदर्शन की वृत्ति से प्रेरित होकर कभी नहीं लिखा। चमत्कार प्रदर्शन को वह बिल्कुल नापसन्द करते थे। भाव क्षेत्र में असंबद्ध रूप से इधर उधर बिखरी हुयी बातों को क्रमबद्ध करने की कला पंडित जी खूब जानते थे। जटिल से जटिल विषयों का प्रतिपादन करते समय भी वाक्यों तथा उपवाक्यों का गठन इतना व्यवस्थित तथा व्याकरणानुकूल होता था कि विचार

धारा विच्छृङ्खलित नहीं होने पाती थी। भाव अच्छी तरह स्पष्ट हो जाते थे। गंभीर से गंभीर विषयों के विश्लेषण में भी शुष्कता और स्पष्टता नहीं आ पायी है। बीच बीच में शिष्ट तथा मार्मिक परिहास का योग कर देने से सम्पूर्ण रचना में चार चाँद लग जाते हैं। व्यंग्य करना तो उनकी आदत सी मालूम पड़ती है। उनकी भाषा में वैयक्तिकता है। साधारण विषयों पर लिखते समय उनकी भाषा लोक-प्रचलित पदावली को लेकर चलती है। इसमें वह कहीं कहीं विदेशी शब्दों का भी प्रयोग कर देते हैं जिससे उसमें से एक प्रकार का सौष्ठव झलकने लगता है।

प्रसाद जी को भी पैदा करने का इसी युग को श्रेय है। वह हिन्दी के प्रथम कोटि के कवि थे। उन्होंने उपन्यास, नाटक, कहानियों और निबन्धों की रचना की। गद्य के क्षेत्र में भी वह अपने कवि को छिपा नहीं सके हैं। उनकी रचनाओं में कहीं कहीं कृत्रिमता आ गई है। साधारण और अपढ़ लोगों से भी उन्होंने साहित्यिक हिन्दी बोलवायी है। कुछ निम्न पात्रों का तो 'दर्शन' पर अधिकार देखकर आश्चर्य भी होता है। उनकी भाषा दो रूपों में मिलती है। व्यावहारिक भाषा और संस्कृतप्रधान भाषा। साधारण विषयों के लिये वह व्यावहारिक भाषा का प्रयोग करते हैं और गंभीर विषयों के लिये संस्कृत गर्भित भाषा का। उनकी व्यावहारिक भाषा में भी संस्कृत के तत्सम शब्दों का यथेष्ट मात्रा में प्रयोग किया गया है। शब्द चयन अच्छा हुआ है। गूढ़ वाक्य सूत्र की तरह खटकते हैं। मुहाविरों का बहुत ही कम दर्शन होता है।

पद्मसिंह शर्मा भी उर्दू से ही हिन्दी की ओर आये थे। उन्होंने द्विवेदी युग में अपनी रचनाओं से बड़ी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। वह जीवन को आशावादी दृष्टिकोण से देखते थे इसलिये उनकी भाषा में एक स्निग्ध सजीवता चंचलता तथा मार्मिकता व्याप्त है। उन्होंने लेखकों और कवियों की जीवनियाँ लिखीं। उनके ग्रन्थों की सहानुभूति पूर्वक समालोचना की और उनकी करुणा पर आँसू बहाये। शर्मा जी की हास्य और व्यंग्य मूलक रचनायें भी मिली हैं। जिनकी पंक्ति पंक्ति में मसखरापन, चुटकी तथा गुदगुदी के अनुभव होते हैं। निसंदेह शर्मा जी 'जीवन' और 'आशा' के लेखक हैं।

बाबू गुलाबराय उच्च कोटि के भावात्मक और विचारात्मक निबंध लेखक हैं उनकी रचना में कला का प्रयत्न नहीं दीख पड़ता। भाषा चलती हुयी तथ

मुहाविरेदार हैं। कठिन से कठिन विषय को सरल भाषा और शैली में व्यक्त कर देना उनकी विशेषता है। भावात्मक निबन्धों में बड़े अच्छे लाक्षणिक प्रयोग मिलते हैं।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त उपन्यास के क्षेत्र में सर्व श्री केशव प्रसाद सिंह, दुर्गा प्रसाद खत्री, कार्तिक प्रसाद तथा किशोरी लाल, और हास्य एवं व्यंग्य में पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का नाम उल्लेखनीय है।

उपन्यास

इस काल के प्रथम चरण में अनूदित उपन्यासों का प्राधान्य रहा। बाबू गोपाल राम गहमरी ने बंगला के गार्हस्थ उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत किए। बड़ा भाई, 'देवरानी' 'जेठानी' और 'दो बहिन' नामक अनूदित उपन्यासों ने काफी पाठक पैदा किए। इस क्षेत्र में पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा, रामचन्द्र वर्मा तथा रूप नारायण पाण्डेय को भी नहीं भुलाया जा सकता। वर्मा जी ने मराठी से 'छत्र-साल' नामक एक अत्यन्त उच्चकोटि के उपन्यास का अनुवाद किया था। बंगला के बंकिम चन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, चण्डी शरण सेन, तथा शरत चन्द्र चटर्जी के अनेक उपन्यास हिन्दी में रूपान्तरित हुये। गंगा प्रसाद गुप्त ने उर्दू के कुछ उपन्यासों का हिन्दी में उलथा किया। अंग्रेजी के दो चार उपन्यास जैसे रेनाल्डस कृत लैला, लंडन रहस्य तथा टाम काका की कुटिया का अनुवाद भी इसी समय किया गया।

कुछ वर्षों तक तो इस क्षेत्र में अनुवाद की ही धूम मची हुयी थी परन्तु बाद को मौलिक उपन्यास भी लिखे जाने लगे। बाबू देवकी नन्दन खत्री हिन्दी के सर्वप्रथम जनप्रिय उपन्यास लेखक हैं। उन्होंने किसी उच्च आदर्श की प्रतिष्ठा करने अथवा चित्त वृत्तियों का विश्लेषण करने की दृष्टि से उपन्यासों की रचना नहीं की। मनुष्य स्वभाव में कथा सुनने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसी को उन्होंने तुष्ट किया। उन्होंने चन्द्रकान्ता के अतिरिक्त 'काजर की कोठरी' 'कुसुम कुमारी' 'गुप्त गोदना' नरेन्द्र-मोहिनी' 'वीरेन्द्र बीर' जैसे तिलस्मी तथा ऐयारी उपन्यासों की सृष्टि की। ये उपन्यास इतने प्रचलित हुये कि अगणित अहिन्दी भाषी लोगों ने भी हिन्दी सीखी। उनका अनुवाद बाद को अंग्रेजी, उर्दू आदि भाषाओं में भी हुआ। उनकी भाषा बहुत ही चलती हुयी तथा व्यावहारिक है। उनके बाद श्री हरिकृष्ण जौहर ने भी इस क्षेत्र में इधर उधर हाथ मारे।

श्री किशोरी लाल गोस्वामी दूसरे मौलिक उपन्यासकार हैं। उनकी रचनाओं का कुछ साहित्यिक महत्व भी है। उन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक, जासूसी, ऐयारी सभी प्रकार के लगभग ६५ उपन्यास लिखे। इनमें 'माधवी माधव' 'अँगूठी का नगीना' लखनऊ की कब्र, चपला, तारा, मल्लिकादेवी, राजकुमारी, प्रणयिनी परिचय आदि मुख्य हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास की दृष्टि से अनेक त्रुटियाँ है। उपन्यासों में उन्होंने अनेक शैलियों के प्रयोग किये हैं। मुसलिम-कालीन उपन्यासों में व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया गया है। मल्लिका देवी आदि उपन्यासों में संस्कृत बहुला भाषा लिखी गयी है। इसी समय बाबू गोपाल राम गहमरी ने अनेक जासूसी उपन्यास लिखे। प्रसिद्ध कवि और गद्य लेखक श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय ने इसी समय 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' तथा 'अधखिला फूल' की रचना की। इनमें औपन्यासिक कौशल का अभाव है। पं० लज्जाराम मेहता के धूर्त रसिकलाल आदर्श हिन्दू, तथा बाबू ब्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' और 'राधाकृष्ण' उपन्यास भी अच्छे हैं। इन उपन्यासों में घटना वैचित्र्य तथा चरित्र चित्रण की अपेक्षा भावावेश अधिक है। इनका यदि साहित्यिक महत्व नहीं तो ऐतिहासिक अवश्य है।

प्रेमचन्द्र जी के इस क्षेत्र में आते ही युग बदल गया। अभी तक केवल मनोरंजन की दृष्टि से ही उपन्यास लिखे जाते थे परन्तु प्रेमचन्द्र जी ने सर्वप्रथम चरित्र चित्रण की ओर ध्यान दिया। उनके उपन्यासों में जीवन के विविध अंगों की झलक पायी जाती है। उन्होंने परिस्थितियों का बड़ा यथार्थवादी चित्रण किया। उनकी कला में तनिक भी कृत्रिमता नहीं है। उन्होंने अपनी प्रारम्भिक अवस्था में 'वरदान' लिखा। दूसरे में सेवा सदन, निर्मला और गबन, जिनमें सामाजिक समस्याओं के कारण और निराकरण का चित्रण किया गया है। 'सेवा सदन' में दहेज प्रथा, निर्मला में बद्धावस्था में दूसरे विवाह और शंका तथा अविश्वास के दुष्परिणाम तथा गबन में गहने की चाह के बुरे फल को दिखलाया गया है। आगे चलकर प्रेमचन्द्र सम्पूर्ण जीवन के दृष्टा बन गये। नवयुग में उनकी प्रतिभा का और विकास हुआ। उन्होंने प्रेमाश्रम, रंगभूमि कर्मभूमि काया कल्प तथा गोदान की रचना की। उनकी भाषा चलती हुई मुहाविरेदार तथा पात्रानुकूल है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने मनुष्य की कमजोरियों का अपने उपन्यासों

में चित्रण किया। चाकलेट, बुधुआ की बेटी तथा दिल्ली का दलाल उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। समाज सुधार का सबसे बड़ा साधन वे उसकी दुर्बलताओं की निवृत्ति और उसपर व्यंग्य को ही समझते हैं। उनके उपन्यासों का हिन्दी साहित्य में बड़ा विरोध हुआ। पं० बनारसी प्रसाद चतुर्वेदी ने उसे 'घास लेटी साहित्य' बताया लेकिन उग्र जी अपने पथ पर अडिग रहे। उनकी शैली अपनी है। भाषा चलती हुयी और व्यंग्य पूर्ण है। बाबू बृन्दाबन लाल वर्मा ने भी ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना आरम्भ की। इतिहास के पात्रों को लेकर उपन्यासों का ढ़ाचा खड़ा करने में वर्मा जी एक ही है। झाँसी की रानी, कचनार आदि उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। आगे चलकर वर्मा जी ने हिन्दी को अनेक ऐतिहासिक उपन्यास दिये। मनोवैज्ञानिक ढंग के उपन्यासों का लेखन जैनेन्द्र जी ने भी प्रारम्भ किया। पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना उनकी विशेषता है। स्त्री स्वतंत्रता के पक्ष की वकालत करने के लिये श्री प्रताप नारायण श्रीवास्तव ने विदा, विकास तथा विजय नामक उपन्यासों की रचना की। इनके अतिरिक्त उन्होंने हास्य मूलक अनेक उपन्यास भी लिखे जिनमें अति नाटकीयता आ गयी है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'हृदय की परख' 'हृदय की प्यास' अमर अभिलाषा तथा आत्मदाह आदि पुस्तकों की सृष्टि की। उनमें प्रतिभा है, मौलिकता है, अनुभव है, भावुकता है परन्तु शैली वही बाबाआदम के जमाने की है। "पाठक ! अब आपको वहां लिये चलते हैं" अथवा प्यारे पाठको ! अब आप ही सोचे", आदि वाक्य उपन्यासों को शोभा नहीं बढ़ाते।

द्विवेदी युग में हिन्दी उपन्यासों के मौलिकता की नींव दी गयी। सर्व श्री खत्री, प्रेमचन्द्र, उग्र, बृन्दाबन लाल वर्मा आदि उपन्यासकारों ने अत्यन्त परिश्रम से उस पर एक सुदृढ़ प्रासाद का निर्माण किया। वह आज भी ज्यों का त्यों है। समय का एक भी धक्का उसकी दीवारों को नहीं हिला सका है।

नाटक

इस युग के प्रारम्भ में अन्य भाषाओं के नाटकों का अनुवाद किया गया। संस्कृत, अंग्रेजी तथा बंगला के अनुवाद सबसे पहले हुये। संस्कृत से अनुवाद करने वालों में पं० सत्यनारायण कविरत्न, लाला सीताराम बी० ए०, बाबू बाल मुकुन्द तथा ज्वाला प्रसाद का नाम उल्लेखनीय है। कविरत्न जी ने भवभूति

के उत्तररामचरित, तथा मालती माधव के अनुवाद प्रस्तुत किये। पद्यों के अनुवाद ब्रज-भाषा में प्रस्तुत किये गये हैं। जिनमें कहीं-कहीं क्लिष्टता आ गयी है। लाला सीताराम ने नागानन्द, मृच्छकटिक, महावीर चरित, उत्तर रामचरित, मालती माधव, तथा मालविकाग्नि मित्र इत्यादि नाटकों का हिन्दी रूपान्तर किया। उन्होंने मूल भावों की रक्षा करने के प्रयत्न में भाषा में अस्पष्टता तथा जटिलता नहीं आने दी। बाल मुकुन्द ने रत्नावली नाटिका तथा ज्वाला प्रसाद ने बेणी-संहार तथा अभिज्ञान शांकुतल का अनुवाद किया। बँगला के नाटकों से अनुवाद करने वालों में रामकृष्ण वर्मा, गोपाल राम गहमरी तथा रूप नारायण पाण्डेय के नाम उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजी का अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में पं० गंगाप्रसाद पाण्डेय, लाला सीताराम तथा पं० गोपीनाथ पुरोहित को कभी भुलाया नहीं जा सकता। पाण्डेय जो तथा लाला जी ने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया। पुरोहित जी ने भी शेक्सपीयर के रोमियों जूलियट, मर्चेंट आव वेनिस, तथा एज़ यू लाइक इट आदि का अनुवाद किया। मथुरा प्रसाद ने मैक्वैथ और हैमलेट का क्रमशः 'साहसेन्द्र साहस' तथा जयंत नाम से अनुवाद किया।

इसके बाद मौलिक नाटकों का सर्जन आरम्भ हुआ। सर्व प्रथम राय देवीप्रसाद पूर्ण ने 'चन्द्रकला भानु कुमार, नामक मौलिक नाटक लिखा। चरित्र चित्रण इत्यादि की दृष्टि से इसका महत्त्व नहीं है। काव्य की दृष्टि से उसका अवश्य महत्व है। ऋतुओं के वर्णन तो बहुत ही पूर्ण हुए हैं। अभिनय की दृष्टि से वह त्रुटि पूर्ण है। कथा वाचक पं० राधेश्याम ने भी 'कृष्ण अवतार' 'अभिमन्यु विजय' अयोध्या सिंह उपाध्याय ने 'रुकमणि-परिचय' और प्रद्युम्न विजय व्यायोग, बलदेव प्रसाद ने प्रयास-मिलन तथा मीराँ बाई आदि नाटकों की सृष्टि की। इसी काल में शिवनन्दन सहाय ने सुदामा तथा किशोरी लाल गोस्वामी ने 'चौपट चपेट' और 'मयंक मंजरी' भी लिखा था परन्तु उनका कोई साहित्यिक मूल्य न होने के कारण वे जल्दी भुला दिये गये। पं० नारायण प्रसाद बेताब ने महाभारत नाटक लिख कर जनता की रुचि को उर्दू-प्रधान पारसी नाटकों की ओर मोड़ दिया। रंगमंच की दृष्टि से बेताब और कथा वाचक जी के नाटक बड़े ही सफल रहे। उन्होंने जनता का खूब मनोरंजन किया परन्तु हिन्दी की साहित्यिकता उनमें न दीख पड़ी। इस कमी को पूरा किया श्री जयशंकर प्रसाद ने। उनके आते ही इस क्षेत्र का कायाकल्प हो गया।

इस युग के पश्चात् उनकी प्रतिभा का खूब विकास हुआ । उन्होंने अनेक ऐतिहासिक नाटक लिखे । उनके नाटकों में प्राचीन भारतीय संस्कृति का उभरा हुआ चित्र देखने को मिलता है । उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ है । संवाद पात्रानुकूल नहीं हैं । रंगमंच की दृष्टि से उनके नाटकों को अत्यधिक असफलता मिली है । आगे चलकर प्रसाद जी की परम्परा में अनके नाटकों की रचना हुयी ।

भारतेन्दु युग में हिन्दी नाटकों का बीजारोपण हुआ था । इस युग में अंकुर फूट आये । प्रसाद जी के हाथों उसका कलात्मक विकास तो हुआ परन्तु रंगमंच की दृष्टि से उन्हें असफलता ही मिली । इसका कारण यह था कि भारतेन्दु के अनुयायियों में इसका जो शौक तथा उत्साह था वह इस युग में आकर ठढ़ा पड़ गया ।

कहानी

हिन्दी में सबसे पहले कहानियाँ अनुवाद के रूप में दीख पड़ीं । बैताल पचीसी, शुकबहत्तरी, सिंहासनपचीसी आदि ग्रंथ संस्कृत तथा अन्य भाषाओं से अनूदित हुए । कहानी संग्रह की दृष्टि से सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखी गई गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' को हम हिन्दी का पहला कहानी-संग्रह मान लेते हैं । इसके पश्चात् जयमल रचित गोरा बादल की पद्यबद्ध कथा का गद्य में रूपान्तर किया गया । इसके अनन्तर अगर ठीक-ठीक पूछा जाय तो १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने 'राजा भोज का सपना लिखा था, किन्तु उपरिकथित सारी रचनाओं में साहित्यिकता का अभाव और मनोरंजन का प्राधान्य है । भारतेन्दु युग में बंगला, मराठी और अंग्रेजी की कुछ कहानियों का अनुवाद हो चुका था परन्तु जिसे शुद्ध कहानी कहा जाता है उसके उद्भव एवं विकास का काल तो यही है । हिन्दी में इस कला रूप का प्रवेश बंगला-साहित्य से हुआ और बंगला में अंग्रेजी से हुआ था । भारतेन्दु बाबू ने सबसे पहले एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न, लिखा था । बाद को सरस्वती के प्रकाशन के पश्चात् कहानियों के एक से एक नमूने सामने आने लगे । सर्व प्रथम पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने सरस्वती में 'इन्दुमती' लिखकर मौलिकता का प्रयास किया । पं० माधव प्रसाद मिश्र ने भी कुछ मौलिक कहानियों का इसी समय प्रणयन किया । बाबू गिरिजाकुमार घोष 'पार्वती नन्दन' भ

इसी युग में अंग्रेजी कहानियों का भावानुवाद करके पाठकों की रुचि का क्षेत्र विस्तृत करते रहे। इस युग के प्रारम्भिक वर्षों में सबसे मौलिक तथा सर्वप्रिय कहानियाँ सामने आयीं। 'बंग महिला' की 'दुलायी वाली' जिसके कथोपकथन में 'स्थानचलन' का भी प्रयोग किया गया है। इसके पश्चात् तो एक से एक मार्मिक और भाव प्रधान कहानियाँ लिखी जाने लगीं। इस दिशा में भी भगवान दास कृत 'प्लेग की चुड़ैल' रामचन्द्र शुक्ल का 'ग्यारह वर्ष का समय' तथा गिरजा दत्त बाजपेयी का 'पंडित और पंडितानी' अपने महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। सं० १६३८ में श्री जयशंकर प्रसाद ने 'इन्दु' पत्रिका में 'ग्राम' नामक कहानी लिखी। आगे चलकर उन्होंने 'आकाश दीप' और प्रतिध्वनि जैसी उत्कृष्ट कोटि की भी कहानियाँ लिखीं। इसी समय जी० पी० श्रीवास्तव ने भी हास्य रस की कहानियों का प्रणयन आरम्भ किया परन्तु उनमें नाटकीयता का प्राधान्य है। सं० १६७० में विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' ने भी कहानियाँ लिखना शुरू किया। इसके पश्चात् राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, पं० ज्वालादत्त शर्मा तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री इस क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। सं० १६७२ में गुलेरीजी ने 'उसने कहा था' लिख कर इस क्षेत्र में युगान्तर कारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। उनकी कहानी को सर्वाङ्ग पूर्ण यथार्थवादी कहानी कहा जा सकता है।

द्विवेदी युग के सर्वप्रिय कथाकार हैं प्रेमचन्द जी। उन्होंने भारत के गाँवों को तथा उसमें बसने वाले ग्रामीणों के जीवन को अपनी कहानियों का विषय बनाया। उन्होंने अपनी कहानियों के द्वारा मूक और दीन किसानों तथा मजदूरों का प्रतिनिधित्व किया जिन्हें पहले साहित्य में कोई स्थान नहीं दिया जाता था। वह भारतीय जीवन की सामूहिक और सामयिक परिस्थितियों के चित्रण में अन्यतम हैं। उन्होंने ग्राम के इतने सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं जिनमें हमारे हृदय के तारों को पूर्णतः झकझोर देने की शक्ति है। कामना तरु, आत्माराम, शतरंज के खिलाड़ी, पंचपरमेश्वर तथा बूढ़ीकाकी उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। मुंशी जी के साथ ही साथ सर्व श्री सुदर्शन, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, तथा शिवपूजन सहाय ने भी सुन्दर कहानियाँ लिखीं। इसके पश्चात् कहानियों का प्रचार काफी तेजी से होने लगा और हिन्दी के सभी लेखकों ने इस ओर कलम आजमाना शुरू किया। यहाँ तक कि आगे चलकर पंत, निराला और महादेवी से भी न रहा गया और उन लोगों ने भी अपनी कहानियों के द्वारा हिन्दी कथा साहित्य

की श्री वृद्धि की। इसी समय हृदयेश जी की रचनाएँ भी प्रकाश में आने लगीं, जिनमें कवित्व का अंश अधिक तथा घटनाएँ और कथोपकथन स्वल्प दीख पड़े। उनमें वाह्य प्रकृति के भिन्न-भिन्न रंगों के सहित परिस्थितियों का विशद चित्रण है। पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने किसी तथ्य का प्रतीक खड़ा करके लाक्षणिक कहानियाँ लिखीं। इस प्रकार की कहानियों के लिये उनका 'भुनगा' प्रसिद्ध है।

कथा वस्तु की दृष्टि से उपर्युक्त कहानियों को अनेक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहली कोटि में उन्हें रखा जा सकता है जिनमें जीवन के किसी एक पक्ष का मार्मिक उद्घाटन किया जाता है। दूसरे प्रकार की कहानियाँ भिन्न-भिन्न वर्गों का संस्कार सामने रखती हैं। उदाहरण के लिये प्रेमचन्द्र की 'शतरंज के खिलाड़ी' तथा ऋषभ चरण जैन की 'दान' नामक कहानियाँ उपस्थित की जा सकतीं हैं। किसी मार्मिक और चुभने वाली ऐतिहासिक घटना को लेकर उसपर कल्पनाओं का रंग फेर कर उसका खंड-चित्र दिखलाने वाली कहानियों में राय कृष्ण दास की 'गोधूलि' तथा प्रसाद की 'आकाश-दीप' नाम की कहानी प्रसिद्ध है। राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेने वाले नवयुवकों के स्वदेश-प्रेम साहस और त्याग का चित्र खींचने वाली कहानियों में उग्र कृत 'उसकी माँ' का उदाहरण पेश किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी युग में ही हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों ने कहानी की नींव दी और उसे कला की चरम कोटि तक पहुँचा दिया। गुलेरी रचित 'उसने कहा था' की टक्कर लेने वाली उसके बाद भी कोई कहानी नहीं लिखी गयी। अतः कहानी की दृष्टि से इस काल को स्वर्णकाल कहा जा सकता है।

आलोचना

इस युग के पहले निन्दात्मक तथा प्रशंसात्मक प्रबन्धों को ही आलोचना समझ लिया जाता था परन्तु इस काल में उसके सैद्धान्तिक पक्ष का भी विकास हुआ। सर्वप्रथम पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने रायबहादुर लाला सीताराम द्वारा अनूदित कालिदास के कुछ काव्य-ग्रन्थों का 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' शीर्षक समालोचना प्रकाशित की। इसके अनन्तर द्विवेदी जी ने विक्रमांक देव चरित चर्चा, और नैषध-चरित चर्चा नाम की दो पुस्तकें लिखीं जिनमें संस्कृत

साहित्य के कवियों का काव्य विवेचन किया गया था। इनके द्वारा हिन्दी-पाठकों को संस्कृत-साहित्य में प्रचलित विवेचन प्रणाली का परिचय प्राप्त हुआ। द्विवेदी जी ने ही हमारे साहित्य में निर्णयात्मक और परिचयात्मक आलोचना की नींव डाली थी। उन्होंने कवियों की रचनाओं का गम्भीर समीक्षा साहित्य उपस्थित नहीं किया।

इस युग के दूसरे आलोचक थे मिश्रबन्धु। उन्हीं से एक प्रकार से हिन्दी साहित्य की आलोचना का आरम्भ होता है। उन लोगों ने अत्यन्त परिश्रम से हिन्दी नवरत्न की रचना की जिसमें चन्द से लेकर हरिश्चन्द तक नौ कवियों का विवेचन किया गया। उनके सम्मुख आलोचना के कुछ सिद्धान्त न थे इसलिये उन्होंने अपनी पुस्तक में कवियों की भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से उनका स्थान निर्धारित किया। यह स्थान निर्धारण क्या था, एक प्रकार से तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात करना था। उन्होंने हिन्दी नवरत्न में देव को बिहारी से ऊँचा सिद्ध किया। इसका परिणाम यह हुआ कि देव और बिहारी के प्रश्न को लेकर हिन्दी आलोचना साहित्य में एक भारी वितण्डावाद उठ खड़ा हुआ। लाला भगवान दीन 'बिहारी' के समर्थक थे। मिश्र बन्धुओं की बात उन्हें ठीक न जंची। उन्होंने पं० कृष्ण बिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी' का उत्तर 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक लिख कर दी और दोनों कवियों की सच्ची समालोचना की। इसके पश्चात् मिश्र-बन्धुओं ने 'मिश्र-बन्धु विनोद' नाम की गवेषणापूर्ण पुस्तक तीन भागों में निकाली। ये पुस्तकें उनके अत्यधिक खोज और परिश्रम की उपज हैं। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालों के लिये यह बड़ी उपयोगी सिद्ध हुयीं। इसी युग में बिहारी के प्रसिद्ध आलोचक पं० पद्मसिंह शर्मा के भी दर्शन हुये। उन्होंने 'आर्या सप्तसती' तथा 'गाथा सप्त सती' के साथ बिहारी के दोहों की तुलना की। उन्होंने हर प्रकार से बिहारी को ऊँचा सिद्ध किया। उनके बाद तुलनात्मक आलोचना सम्बन्धी प्रबन्ध पत्रों में इधर उधर प्रकाशित होते रहे।

हिन्दी भक्तों के प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दी को विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में स्थान मिल गया। बाबू श्यामसुन्दर दास ने काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग की अध्यक्षता स्वीकार कर ली। इन कक्षाओं में पढ़ाये जाने योग्य आलोचनात्मक ग्रन्थों की बहुत कमी थी। एक प्रकार से

यह क्षेत्र शून्य था। बाबू साहब ने आते ही 'कबीर' 'तुलसी' तथा 'हरिश्चन्द्र' के ऊपर गवेषणात्मक प्रबन्धों का प्रणयन किया। अभी तक हिन्दी ने आलोचना के सैद्धान्तिक ग्रन्थ का दर्शन तक नहीं किया था। दास जी ने 'साहित्यालोचन' की रचना करके इस कमी को पूरा किया। उन्होंने अत्यन्त परिश्रम से पूर्वी और पश्चिमी आलोचना सिद्धान्तों का समन्वयात्मक विवेचन उपस्थित किया है। आगे चलकर उन्होंने अपनी अनेक कृतियों से माता भारती का भंडार भरा। उनकी भाषा बहुत ही प्रांजल एवं प्रसाद गुण युक्त है। यद्यपि उनमें तत्सम प्रियता का गुण है परन्तु उसके कारण भाषा में क्लिष्टता एवं अस्पष्टता नहीं आने पाई है। सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को पाठक के मस्तिष्क में बैठा देना आपकी विशेषता है। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक ग्रन्थ में उन्होंने कवियों की कृतियों का उस काल की विशेष परिस्थितियों के साथ विद्वतापूर्ण विश्लेषण किया है।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी इस युग के आलोचकों की प्रथम पंक्ति में आते हैं। उनकी 'हिन्दीसाहित्यविमर्श' तथा 'विश्वसाहित्य' नामक पुस्तकों से हिन्दी के अनेक आलोचकों ने आलोचना करनी सीखी। बख्शी जी भाषा के सम्बन्ध में सतर्क रह कर, इने गिने शब्दों में अपने हृदय की बात कह देते हैं। 'विश्व साहित्य' में उनके परिश्रम करने की क्षमता एवं विद्वता का अच्छा परिचय मिलता है। उसमें उन्होंने अनेक उन्नत साहित्यिकों का विवेचनात्मक परिचय दिया है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के आते ही इस क्षेत्र की काया-पलट हो गयी। उन्होंने भारतीय तथा यूरोपीय समीक्षा साहित्य का गहन अध्ययन किया और साहित्यकारों की विशेषताओं का अन्वेषण तथा उनकी अन्तः प्रकृति की छान-बीन करने वाली उच्च कोटि की समालोचना प्रस्तुत की। सूर तुलसी, और जायसी पर लिखी गयी उनकी आलोचनायें हिन्दी साहित्य की अनुपम निधियाँ बन गयी हैं। उनकी निष्पक्ष, विवेचना तथा सिद्धान्तों की स्थापना स्तुत्य है। उन्होंने व्याख्यात्मक और गवेषणात्मक आलोचनाओं का प्रणयन करके इस क्षेत्र में सदा के लिये अपना स्थान बना लिया।

भारतेन्दु काल में प्रेमघन तथा प्रताप नारायण मिश्र ने जिस समालोचना पद्धति की नींव दी थी वह इस युग में अपनी चरम सीमा छूने लगी।

निबन्ध—

पत्रों के प्रकाशन के साथ ही साथ निबन्धों की आवश्यकता का अनुभव हुआ था। भारतेन्दु तथा उनके साथियों ने इस कला का हिन्दी में सूत्रपात किया। पं० बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, प्रताप नारायण मिश्र की तरह इस युग में व्यक्तिगत और मनोरंजक निबन्धों की कमी दिखलायी पड़ी। इस समय द्विवेदी जी भाषा को सुधार रहे थे, इसलिये मनमानी करने वालों की चुटकी लेने के लिये उन्होंने भी निबन्ध लिखे। 'रसज्ञ रंजन' उनके निबन्धों का संग्रह है जिसमें उन्होंने सुधारवादी और आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। 'कविता' 'कालिदास की निरंकुशता' 'काव्य की उपेक्षिता उर्मिला' उस समय के अत्यन्त ख्याति प्राप्त निबन्ध है। उनकी भाषा संयत् और व्याकरण सम्मत है। विराम चिन्हों एवं पैराग्राफ के ऊपर उन्होंने बड़ा ध्यान दिया है। शैली सरल और आकर्षक है। उनके पश्चात् सर्व श्री श्याम सुन्दर दास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल का समय आता है। बाबू साहब ने आलोचनात्मक और गवेषणात्मक निबन्ध लिखे जिनमें पर्याप्त मौलिकता है। एक ही बात को बार बार समझाने की प्रवृत्ति उनमें इसलिये मिलती है कि वे अध्यापक थे। अध्यापक यह चाहता है कि उसके विद्यार्थी किसी बात को बिना समझे न छोड़ें। यही बाबू साहब भी चाहते थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के इस रूप को भी अमरत्व का दान दिया। भारतेन्दु काल के लेखक नागरी माता के मन्दिर को निबन्ध के पुष्पों से भर देना चाहते थे। भावों और शैली की ओर तो उनका ध्यान गया परन्तु भाषा की शुद्धता पर उनकी दृष्टि न पड़ सकी। बहुत से ग्रामीण प्रयोग और व्याकरण की अशुद्धियों से उनका साहित्य भरा पड़ा है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने व्याकरण पर ध्यान दिया और हिन्दी शब्द कोष को सम्पन्न बनाने में अथक परिश्रम किया। उन्होंने नये निबन्ध लेखकों को आगे बढ़ने के लिये ललकारा और उनकी कला को अपने व्याकरण की खराद पर चढ़ा कर सुन्दर तथा सुडौल बना दिया। द्विवेदी जी निसंदेह आचार्य ही थे। गूढ़ से भी गूढ़ विषयों को उन्होंने बातचीत की तरह सरल और स्वाभाविक बना दिया था। कदाचित् इसी से पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उनके निबन्धों को 'बातचीत का संग्रह' कहा है। द्विवेदी जी हिन्दी के जानसन थे। उन्हीं के प्रयत्नों से हिन्दी को अनेक

निबन्ध लेखक मिले। पं० माधव प्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, अध्यापकपूर्ण सिंह, ब्रजनन्दन सहाय, श्यामसुन्दर दास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, रामचन्द्र शुक्ल तथा गुलाबराय द्विवेदी युग के प्रसिद्ध लेखक हैं।

पं० माधव प्रसाद मिश्र के अधिकांश निबन्ध भावात्मक हैं। प्राचीन भारतीय सस्कृति की दुर्दशा पर वह रो उठे हैं। देश भक्त निबन्धकार की भाषा में मर्मस्थल को स्पर्श करने की शक्ति है और है पहाड़ी झरनों का अदम्य प्रवाह। चन्द्रधर शर्मा के निबन्ध विचारात्मक है। शैली मजी हुयी तथा सुबोध है। पद्म सिंह शर्मा ने बड़े मनोरंजक निबन्ध लिखे हैं। उनकी भाषा चलती हुयी है। शैली चुलबुलाती हुयी। पूर्ण सिंह जी ने नैतिकता से पूर्ण सरल एवं सुबोध भाषा में निबन्ध लिखे हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चिंतामणि के अंतर्गत अनेक मनोवैज्ञानिक निबन्ध लिखे। 'क्रोध' और 'उत्साह' जैसे विषयों पर उन्होंने लेखनी उठायी है और उनके सम्बन्ध में मौलिकता का स्तुत्य परिचय दिया है। अंग्रेजी में बेकन के साथ उनकी तुलना की जा सकती है। स्थान स्थान पर सूक्तियों के भी दर्शन होते हैं। भाषा संस्कृत गर्भित तथा शैली समस्त है। बाबू गुलाबराय उस समय के वास्तविक निबन्धकार हैं। निबन्ध का विषय तो एक सहारा मात्र होता है जिसके माध्यम से लेखक अपने व्यक्तित्व का चित्रण करता है। उन्होंने निबन्ध को इसी अर्थ में ग्रहण किया है। बाबू जी ने अपने ऊपर भी व्यंग्यात्मक निबन्धों को सृष्टि की है। उनका सा शिष्ट हास्य और व्यंग्य निबन्ध लेखक इस युग में पहली बार हिन्दी को मिला। भाषा शुद्ध खड़ी बोली तो है परन्तु उन्होंने उन विदेशी शब्दों का भी प्रयोग किया है जिनका हम नित्य के जीवन में प्रयोग करते हैं और जिन्होंने हमारे व्याकरण के अनुशासन को स्वीकार कर लिया है। शैली में गतिशीलता है जो उनकी सरलता और विद्वत्ता का परिचायक है। इन सब विशेषताओं को ध्यान में रखते हुये यह बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि बाबू गुलाब राय इस युग के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिगत निबन्ध लेखक (personal essayist) है। निःसंदेह द्विवेदी युग हमारे साहित्य के इस अंग की एक बड़ी कमी को पूरा करने का पुण्य कार्य करता है।

पत्र पत्रिकायें—

भारतेन्दु काल में पत्र पत्रिकाओं के सामने पाठक उत्पन्न करने

प्रश्न था। हरिश्चन्द्र एवं उनके समकालीन पत्रकारों ने एड़ी चोटी का पसीना बहाकर हिन्दी भाषी जनता में पत्र पत्रिकाओं को पढ़ने की रुचि उत्पन्न की। कभी-कभी तो हिन्दी पत्रकारों के सामने कठिन आर्थिक समस्यायें आ खड़ी होती थीं। पं० प्रताप नारायण जैसे पत्रकार को अक्सर—'बहुत काल बीते जजमान अब तो करो दच्छिनादान हर गंगा' कह कर ग्राहक बनाने की अपील निकालनी पड़ती थी। इस समय ऐसी दशा नहीं थी। 'सरस्वती' पत्रिका के निकलते निकलते हिन्दी पत्रों की सख्या में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी। रूप रंग भी समुन्नत हो चला था। जातीय पत्रिकाओं के अतिरिक्त कमला, इन्दु, लक्ष्मी, प्रभा, वीणा, प्रतिभा, शारदा, मनोरमा, मर्यादा आदि अनेक पत्रिकायें निकलीं। हास्य विनोद के लिये आरा से मनोरंजन तथा कानपुर से हिन्दीमनोरंजन, निकला करता था। हिन्दीमनोरंजन का सम्पादन कौशिक जी किया करते थे। अपने समय की वह जनप्रिय पत्रिका थी। भाषा और साहित्य का प्रचार करने वाली पत्रिकाओं में लखनऊ से पं० रूपनारायण पाण्डेय द्वारा सम्पादित 'नागरी प्रचारक' तथा आरा से प्रकाशित 'साहित्य' का नाम उल्लेखनीय है। बाबू गोपाल राम गहमरी तथा पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के सम्पादकत्व में हिन्दी आलोचना की सबसे पहली पत्रिका 'समालोचक' जैपुर से प्रकाशित हुयी। गंधौली से पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने भी कुछ दिनों के बाद 'समालोचक' नामक पत्र निकाला जिसने हिन्दी की पर्याप्त सेवा की। 'देव' और 'बिहारी' का युद्ध स्थल यही था। शोध सम्बन्धी रिपोर्ट 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' तथा हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी' में निकलते रहे। आर्य महिला, माधुरी, सुधा, विशाल भारत, विश्वमित्र, आदि साहित्यिक पत्रों ने हिन्दी साहित्य के परिष्कृत रूप को घर-घर पहुँचाने का कार्य कर शिष्ट और कल्याण कारी लोक रुचि उत्पन्न की।

हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयों के भी पत्र निकलने लगे थे। ज्ञानमण्डल यंत्रालय काशी से अर्थशास्त्र सम्बन्धी 'स्वार्थ' निकला। इसका स्तर पर्याप्त उच्च था। वैदेशिक विनिमय आदि पर इसमें पांडित्य पूर्ण लेख निकले। बड़ौदा से 'व्यायाम' का प्रकाशन आरम्भ हुआ जिसने आते ही 'शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्' की शंख ध्वनि की। देशी व्यायाम पद्धति की महत्ता का इसने पर्याप्त प्रचार किया। राजनीति का सबसे सुन्दर पत्र उस समय काशी

से निकला करता था। नाम था उसका 'मालवमयूर' तथा उसका सम्पादन करते थे पं० हरिभाऊ उपाध्याय। काशी विद्यापीठ से डाक्टर भगवान दास तथा नरेन्द्र देव शास्त्री के सम्पादकत्व में विद्यापीठ निकलता था। उसी समय समस्या पूर्ति को लक्ष्य में रख कर अनेक पत्रिकायें निकली। बाबू देवकीनन्दन खत्री ने साहित्य सुधा निधि का सम्पादन किया। जिसमें काशी समस्या पूर्ति का पहला भाग प्रकाशित हुआ। कुछ दिनों तक रत्नाकर जी भी इसके सम्पादक रहे। राय देवीप्रसाद पूर्ण ने कानपुर से 'रसिकमित्र' निकाला। सनेही जी का 'सुकवि' तो अब तक निकल रहा है। प्रयाग से विज्ञान, भूगोल, और सेवा नामक अपने ढंग की अकेली पत्रिकायें निकलीं।

मासिक पत्रिकाओं के अतिरिक्त अनेक साप्ताहिक, पाक्षिक एवं दैनिक पत्रों का प्रकाशन इसी समय प्रारम्भ हुआ। पटना से डा० काशी प्रसाद जायसवाल के सम्पादकत्व में पाटलिपुत्र का प्रकाशन होने लगा था। उसमें गवेषणापूर्ण ऐतिहासिक लेख निकला करते थे। प्रयाग से कर्मयोगी तथा भविष्य नामक पत्र पं० सुन्दरलाल के सम्पादकत्व में निकले। मतवाला, मौजी ऐसे अनेक साप्ताहिक पत्र थे जिनके कारण अनेक लोगों ने हिन्दी सीखी। 'मतवाला' पहले कलकत्ता से निकलता था। बाद को मिरजापुर से निकलने लगा। स्वर्गीय श्रीमहादेव प्रसाद सेठ, शिवपूजन सहाय, निराला, पाण्डेय बेचन शर्म्मा उग्र आदि इसके सम्पादकों में से थे। उग्र के साहित्य को लेकर हिन्दी में जो विवाद उठ खड़ा हुआ था उसमें भाग लेने वाला यह एक प्रमुख पत्र था। मतवाला की सम्पादकीय टिप्पणियाँ अब इतिहास की धरोहर हो गयीं। प्रयाग से पं० मदन मोहन मालवीय की प्रेरणा से अभ्युदय निकला था। लीडर के संचालकों ने 'भारत' नामक एक सुन्दर साप्ताहिक पत्र निकाला। पं० नन्द दुलारे वाजपेयी ने भी बाद में इसका सम्पादन किया। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी का 'प्रताप' राजनीति के क्षेत्र में अपनी सत्यता निष्कपटता के लिये सदैव विख्यात रहा। जबलपुर से माधव राव सप्रे ने 'कर्मवीर' निकाला था। रतौना का कसाईखाना बन्द करने के लिये इसी ने आन्दोलन छेड़ा था। पंडित माखन लाल चतुर्वेदी अब इसका सम्पादन कर रहे हैं।

इन पत्रों के अतिरिक्त इसी समय अनेक दैनिकों का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ। काशी से 'आज' निकला। आरम्भ में ही इसे आशातीत सफलता

मिली। इसका श्रेय उसके सुयोग्य सम्पादक पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर को है। कानपुर से 'वर्तमान' और 'प्रताप' निकला। 'प्रताप' का सम्पादन अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी करते थे। दिल्ली से 'अर्जुन' तथा लाहौर से 'हिन्दी मिलाप' कलकत्ते से विश्वमित्र, भारत मित्र तथा लोकमान्य नामक पत्र निकले। इन पत्रों ने देश में लोक चेतना को जगाया। द्विवेदी युग भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम का युग है। सुधारों का युग है। इस क्षेत्र में उपर्युक्त पत्रों ने पर्याप्त कार्य किया। इसी समय बच्चों के लिये भी लोगों ने साहित्य के अभाव का अनुभव करके प्रयाग से बालसखा, शिशु आदि मासिक पत्र निकाले। बाद को तो इनकी बाढ़ आगयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि पत्र पत्रिकाओं के लिये भी द्विवेदी युग हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक प्रमुख स्थान रखता है।

नवयुग

(सं० १९८२ से आज तक)

भूमिका

द्विवेदी युग में हिन्दी गद्य को प्रत्येक दृष्टि से परिपुष्ट बनाने का सद्प्रयत्न किया गया। भाषा की अभिव्यञ्जना शक्ति को बढ़ाने के लिये अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों को अपने व्याकरण के अनुसार प्रयोग करके उन्हें प्रामाणिकता प्रदान की गयी। विराम चिन्हों का उचित रूपेण प्रयोग भी चल पड़ा। रेडियो एवं समाचार पत्रों के अत्यधिक प्रचार एवं प्रसार के कारण हमारे गद्य लेखकों को अनेक विषय मिले। यह युग संक्रान्ति का युग है। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में तेजी से परिवर्तन हो रहा है, इसलिये हमारे लेखकों को प्रत्येक दृष्टि से बड़ा सचेष्ट रहना पड़ता है। इस समय गद्य के विभिन्न कला रूपों का विकास हुआ तथा उनके अनेक नूतन रूप सूर्य के प्रकाश में आये। इसी समय शब्द चित्र, एकांकी तथा रिर्पोताजों का भी प्रयोग किया गया। शीर्षकों की नवीनता तथा शैली की अनेक रूपता इससे पहले कभी देखने को नहीं मिली थी।

द्विवेदी युग के अधिकांश लेखकों की प्रतिभा का पूर्ण विकास इसी समय हुआ। प्रेमचन्द का 'गोदान' इसी समय प्रकाशित हुआ। इस युग में उनकी विचार धारा में भी महान अन्तर दृष्टिगोचर होने लगा। इस समय गद्य में वृद्ध बाढ़ की अवस्था आ गयी। इसने हिन्दी संसार को लक्ष्मी नारायण मिश्र तथा रामकुमार वर्मा जैसे नाट्यकार, अज्ञेय, कृष्णचंद्र तथा उपेन्द्रनाथ अश्क जैसे उपन्यासकार, जैनेन्द्र, यशपाल, कृष्णचंद्र जैसे कहानीकार, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्द दुलारे बाजपेयी, शान्ति प्रिय द्विवेदी डा० नगेन्द्र नाथ तथा प्रकाश चंद्र गुप्त, अमृत राय औतर शिवदान सिंह चौहान जैसे आलोचक, प्रकाशचंद्र ओंकार 'शरद' रामवृक्ष बेनीपुरी जैसे शब्दचित्रकार तथा अमृत राय और डा० रांगेय राघव जैसे रिर्पोताज लेखक भेंट किये। वस्तु के क्षेत्र में अंग्रेजी आदर्शों की स्थापना हो गयी। अनेक देशी और विदेशी उपन्यासकारों की रचनाओं का भी बड़ी सफलता से अनुवाद किया गया। हमारे हिन्दी लेखक विदेशी गद्य

लेखकों के सम्पर्क में भी आ रहे हैं। वैज्ञानिक युग की सुविधाओं का लाभ उठाते हुये एक देश के लोग दूसरे देश की आधुनिकतम साहित्यिक गति विधियों से भी परिचित हो रहे हैं। इस प्रकार हमारा गद्य साहित्य उत्तरोत्तर विकसित हो रहा है।

उपन्यास

इस काल के पूर्व हिन्दी उपन्यासों की आदर्शवादी परम्परा चलती रही परन्तु इस समय लोग यथार्थवाद की ओर अधिक सख्या में झुकने लगे। प्रेमचन्द ने अपने गोदान में 'होरी' का चित्र खींचकर हिन्दी उपन्यास की धारा को एक गहरी मोड़ दी। इसमें एक ग्रामीण किसान की मार्मिक कहानी है जो सामन्तवादी व्यवस्था का शिकार है। इसके चित्रण का फल यह हुआ कि लोग मध्यवर्ग और मजदूरों के जीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं का निदान पाने के लिये उत्सुक दिखलायी पड़ने लगे। गोदान का नायक होरी असफल होकर भी हमारी श्रद्धा को जीतने की शक्ति रखता है। प्रेमचन्द ने मानव स्वभाव का अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक उद्घाटन किया है। उन्होंने अपनी कथावस्तु के उपकरण जीवन के अनेक क्षेत्रों से लिये हैं। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से आये हुये पद दलितों की वकालत करते हैं। उनका अंतिम अधूरा उपन्यास इस बात को सिद्ध करता है कि वे मनुष्यता को सर्वोपरि तो मानते हैं किन्तु किसी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक अनीतियों को सहन कर लेने के पक्ष में नहीं हैं। ग्रामीण जीवन उनकी कथावस्तु का प्रिय विषय है। नागरिक जीवन की तुलना में वे ग्राम्य जीवन को ही नैतिक दृष्टि से स्वस्थ मानते थे। वह यह भी मानते थे कि स्वच्छता और शिक्षा के क्षेत्र में गाँवों को शहरों से बहुत कुछ सीखना है। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में हमें दुहरे कथानक मिलते हैं। वे प्रत्येक समस्या का बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि से समाधान प्रस्तुत करते थे। उनकी सी सरल भाषा और मनोहारी वर्णन करने की शक्ति अन्यत्र देखने को नहीं मिलती।

प्रेमचन्द जी की प्रेरणा से कवि प्रसाद ने भी उपन्यासों पर लेखनी उठायी। उन्होंने 'कंकाल, और 'तितली' की सृष्टि की। 'कंकाल' में उन्होंने देश के धार्मिक तथा सामाजिक पाखण्डों एवं भ्रष्टाचारों का भंडाफोड़ किया। उनके पात्र समाज द्वारा ठुकराये हुये हैं परन्तु लेखक की सहानुभूति उन्हीं के साथ है।

'तितली' का कथानक भी गाँव के चारों ओर चक्कर काटता है। ग्रामीण समस्या इसमें मूर्त सी होकर अपना समाधान माँगती है। यथार्थ चित्रण होते हुये भी प्रसाद जी का कवि कभी कभी उपन्यासकार को आक्रान्त कर लेता है। मुन्शी जी से ही प्रभावित होकर भगवती प्रसाद बाजपेयी भी इस क्षेत्र में आये। आरम्भ में उनकी रचनाओं पर उन्हीं का प्रभाव था किन्तु बाद को उनमें मनोविज्ञान की प्रमुखता होने लगी। जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में मनोविज्ञान और दर्शन का मणिकांचन योग हुआ है। धीरे-धीरे उपन्यासों में मध्यवर्गीय आर्थिक सामाजिक एवं राजनैतिक समस्यायें उठायीं जाने लगीं। अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' लिखा। उसका नायक शेखर राजनीतिक दृष्टि से आंतक-वादी एवं जीवन में व्यक्तिवादी है। शैली की दृष्टि से यह उपन्यास पिछले खेवे के उपन्यासों से भिन्न है। इसमें अज्ञेय की बौद्धिकता और विश्लेषण करने की शक्ति देखने लायक है। 'नदी के द्वीप' उनका दूसरा उपन्यास है। उसके पात्र अभिजात वर्ग के हैं। इसमें नर नारी से सम्बन्धित जीवन की अनुभूतियों का एकीकरण है। उनका यथार्थ चित्रण कहीं कहीं अश्लीलता का रूप धारण कर लेता है। श्री इलाचन्द्र जोशी ने 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' 'प्रेत और छाया' तथा 'निर्वासित' नामक उपन्यासों की रचना की है। उनके अधिकांश पात्र सुशिक्षित तथा मानसिक दृष्टि से विकारग्रस्त हैं। सामाजिक पृष्ठभूमि में व्यक्ति का निस्संग मानसिक ऊहापोह ही जोशीजी की रचनाओं की विशेषता है। जब कभी मनोविश्लेषण अपनी सीमा पार करने लगता है तब ऐसा मालूम होता है कि यह उपन्यास है अथवा मनोविज्ञान की कोई पुस्तक ?

श्री भगवतीचरण वर्मा ने फ्रेंच लेखक अनातोले फ्रांस के थायस की तरह हिन्दी में चित्रलेखा उपस्थित किया जिसमें उन्होंने पाप और पुण्य की सीमा रेखा की ओर इंगति करने का प्रयत्न किया। कथावस्तु और तंत्र विधान की दृष्टि से यह अत्यन्त सफल रचना है। केवल यही पुस्तक उन्हें अमरत्व प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। इसके बाद उन्होंने 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' लिखकर गाँवों की ओर देखने का प्रयत्न किया। 'आखिरी दाँव' चलचित्र के निर्माताओं की काली करतूतों का चित्रण करता है। यह एक जुआरी की निष्फल प्रेम कहानी है। पं० देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' हिन्दी के प्रमुख गान्धीवादी उपन्यासकार हैं। उनकी रचनाओं में गरीबी की विवशतायें, सामाजिक विडम्बनायें, अमीरों की

वैभव विलासिता का यथार्थ चित्रण हुआ है। उनका कलाकार जीवन की भट्टी में तपकर निखरा हुआ कलाकार है, जो परिस्थितियों के आगे माथा टेकना जानता ही नहीं। उनके उपन्यासों में प्रेम की रंगीनियाँ देखने को मिलती हैं किन्तु वे 'ए ब्वाय मीटस ए गर्ल' के फार्मूलों पर आधारित नहीं रहतीं। उनका एक अपना स्वस्थ आदर्शवादी दृष्टिकोण है। रैनबसेरा, प्यासीआँखें, रङ्गमहल अपनापराया, अनुष्ठान तथा प्रवाह उनकी औपन्यासिक कृतियाँ हैं।

श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह हिन्दी के जन प्रिय उपन्यास कार हैं। उन्होंने अभिनय, खेल, साथी, मृत्यु किरण, आदि अनेक उपन्यासों की रचना की है। उनमें अशक्त अभिव्यञ्जना शक्ति है। अपनी तराशी हुयी शैली के माध्यम से उन्होंने जीवन के अनेक चित्र खींचे हैं। उनका 'आदमी और जिन्दगी' आधुनिक जीवन के अनेक उलझे हुए प्रश्नों को उठाकर उनका अपने ढंग से समाधान प्रस्तुत करता है। ओंकार शरद नयी पीढ़ी क मू ··य उपन्यासकार हैं। अंतिम वेला, नाता-रिशता, आंचल का असरा, खून खराबी और दादा उनकी औपन्यासिक कृतियाँ हैं। जिनमें नारी की करुणा, और समाज के गतिशील यथार्थ का पारदर्शी प्रतिविम्बन हुआ है। भाषा की सरलता, तंत्रविधान की गरिमा, पात्रों के द्विधा विभक्त जीवन का मार्मिक उद्घाटन उनकी विशेषता है। हिन्दी का 'शरद' अपने ढंग का अनोखा लेखक है।

इधरभारतीय इतिहास संक्रान्ति काल से गुजर रहा है। हमारे उपन्यास लेखकों ने द्वितीय महायुद्ध और उसका दुष्परिणाम, सन् ४२ का विद्रोह, बङ्गाल का अकाल, भारत विभाजन, शरणार्थी समस्या, साम्राज्यवादी पूँजीवादी समाज की विडम्बनाओं पर खूब लिखा है। आज का उपन्यास-साहित्य यथार्थ की कठोर भूमि पर लिखा जा रहा है। अमृतलाल नागर, यशपाल, अज्ञेय, कृष्ण चन्द्र, प्रताप नारायण श्रीवास्तव के उपन्यासों में जीवन को यथार्थवादी दृष्टिकोण से चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दू मुसलिम दंगे पर आधारित रामानन्द सागर ने 'और इन्सान मर गया' नामक एक नये ढंग के उपन्यास की रचना की। कुछ लेखकों ने जीवन के विभिन्न वर्गों का चित्र खींचने का भी प्रयत्न किया है। डा० रांगेय राघव ने अपने प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास 'घरौंदे' में हिन्दुस्तानी प्राध्यापकों, कालेज के विद्यार्थियों, एवं छात्राओं के कालेज जीवन का सुन्दर चित्रण किया है। इधर कुछ लोगों ने समस्या मूलक उपन्यास भी लिखे हैं। इस प्रकार के

उपन्यासों में श्री रामचन्द्र तिवारी का 'सागर सरिता और अकाल' एक महत्वपूर्ण रचना है। इसकी समस्या है "अधिक अन्न उपजाओ" जिसमें सिद्ध हस्त लेखक ने गाँवों की अशिक्षित जनता की बेबशी तथा प्राचीन ढंग से खेती करने के कारण उत्पन्न पैदावार की शोचनीय दशा का मार्मिक वर्णन किया है। साथ ही साथ शिक्षा प्रसार तथा वैज्ञानिक यंत्रों के द्वारा खेती करने के ढंग और उसकी उपयोगिता बताकर सुधार का एक कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शन किया है।

हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों की संख्या उँगलियों पर गिने जाने योग्य है। बाबू वृन्दावन लाल वर्मा ने भारतीय इतिहास के मध्य युगीन बुन्देल खण्ड की स्थिति लेकर 'गढ़ कुंडार' और 'विराटा की पद्मनी' आदि बड़े सुन्दर उपन्यास लिखे हैं। इसके अतिरिक्त उनका 'पूर्व की ओर' तथा 'मृगनयनी' भी इसी शृंखला की महत्व पूर्ण कड़ियाँ हैं। राहुल सांकृत्यायन तथा 'रांगेय राघव' ने प्राचीन संस्कृतियों के अज्ञात तथ्यों की खोज कर के उसी को आधार बनाकर अपने उपन्यासों की रचना की है। राहुल जी का 'सिंहसेनापति' तथा डा० राघव का 'मुरदों का टीला' इसी प्रकार का उपन्यास है। इनमें विद्वान लेखकों ने अपने पुरातत्व ज्ञान का पूरा लाभ उठाया है। आवश्यकतानुसार कल्पना की सहायता भी ली गयी है लेकिन उससे ऐतिहासिकता की हत्या नहीं हुयी है। अब इस क्षेत्र में किसी नये लेखक का प्रवेश नहीं दिखलायी पड़ रहा है। इधर जिन उपन्यासों की अधिक चर्चा रही है उनमें भैरव प्रसाद गुप्त का गंगा मैया धर्मवीर भारती कृत 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का गिरती दीवारें, अमृतराय का बीज, नागार्जुन का 'बलचनमा' तथा ओंकार शरद के दादा का नाम उल्लेखनीय है। इन सब उपन्यासों के कथावस्तु मध्यम और निम्न श्रेणियों से लिये गये हैं जिनमें टूटते हुये इन वर्गों का यथार्थवादी चित्रण हुआ है। डा० धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' एक अत्यन्त मनोरंजक उपन्यास है। उसमें उन्होंने रोमान्स को आदर्शोन्मुख करने की चेष्टा की है। इसमें आदर्श का अधिक निर्वाह करने के फेर में पड़कर उन्होंने अपने नायक को पुंसत्वहीन बना डाला है। उपन्यास का प्रचार अब इतना अधिक बढ़ रहा है कि प्रत्येक लेखक अपना हाथ इस दिशा में आजमाने का लोभ संवरण करता नहीं दीख पड़ रहा है। प्रसन्नता की बात है कि डा० हजारी प्रसाद ने भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नामक एक अत्यन्त सफल उपन्यास की

सृष्टि की है। इसके अतिरिक्त अन्य भाषाओं के प्रसिद्ध उपन्यासों का अनुवाद भी पर्याप्त संख्या में हो रहा है। बंकिमचन्द्र, रविठाकुर, शरत् बाबू, प्रभात मुखर्जी, परशुराम, ताराशंकर वंदोपाध्याय, कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी, अनन्त गोपाल शेवड़े, अनातोले फ्रान्स, लियन हार्ड फ्रैंक, रमण वसन्तलाल देसाई, अलेकजैन्डर कुप्रिन, मैक्सिम गोर्की, टालस्टाय, वेंदा वैसिल्युस्का, इग्नैजियोसिलोनी, डास्टाएवास्की आदि के प्रमुख उपन्यासों के सफल हिन्दी अनुवाद किये जा चुके हैं। हमारे साहित्य का यह अग अभी बिल्कुल नया है परन्तु इतने कम समय में ही इसने इतनी अधिक उन्नति कर ली है।

कहानी—

द्विवेदी युग में घटना प्रधान, कल्पनाओं पर आधारित कहानियाँ प्रर्याप्त संख्या में लिखी गयीं। उसके बाद मनोविज्ञान का प्रवेश इस क्षेत्र में भी हुआ। मुंशी प्रेमचन्द ने साहित्य के इस अंग का भी नेतृत्व किया। उनकी कहानियों में घटनाओं का स्वाभाविक विकास, सामाजिकता तथा मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण की त्रिवेणी दर्शनीय है। कुछ दिनों तक तो इसी प्रकार काम चलता रहा किन्तु बाद के कहानी लेखक पुराणकथाओं और रूपक कथाओं के सहारे किसी सत्य के उद्घाटन की चेष्टा करने लगे। प्रेमचन्द की कला उत्तरोत्तर विकसित होती गयी। उन्होंने अंग्रेजी और फ्रेंच से तंत्र विधान लिया और उर्दू की चुस्त शैली के सहारे मानव अंतर्द्वन्द का सफल चित्रण किया। उन्होंने विभिन्न प्रणालियों में कहानियाँ लिखीं। घटनाप्रधान, चरित्रप्रधान और भावप्रधान। समाज के व्यापक जीवन से कथावस्तु चुनकर उसमें रमणीयता भर देना उनकी विशेषता है। उनका सूक्ष्म निरीक्षण और वर्णन करने की क्षमता अद्वितीय है। ऐतिहासिक कथावस्तु का संगठन भी उन्होंने बड़ी सफलता से की है। मुंशी जी हिन्दी के अत्यन्त प्रौढ़ तथा संवेदनशील कहानीकार हैं। श्री जयशंकर प्रसाद की कहानियाँ सांस्कृतिक पृष्टभूमि से युक्त हैं। उनका कवि यहाँ भी उभर कर सामने आ गया है। उनकी अधिकांश कहानियाँ भावात्मक हैं जिनमें खण्ड काव्य का सा आनन्द आता है। उनमें चरित्र विकास की सांकेतिकता दर्शनीय होती है। उनकी काल्पनिक कहानियों में प्रकृति का बड़ा कवित्वपूर्ण वर्णन मिलता है। बाद को उन्होंने भी यथार्थवादी कहानियाँ लिखीं। श्री जैनेन्द्र कुमार मानव जीवन की असाधारण परिस्थितियों में चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

करते हैं। यहाँ भी उनका दार्शनिक प्रभाव दूर नहीं होता। हाँ! वे नाटकीय सौन्दर्य से परिपूर्ण अवश्य रहती हैं। सर्व श्री सुदर्शन, राजेश्वर प्रसाद सिंह और कौशिक ने प्रेमचन्द की परम्परा को ही आगे बढ़ाने का कार्य किया। वातावरण, भावना, चिरंतन और सामयिक सत्य सभी कुछ उनकी रचनाओं में रहता है।

भगवतीचरण वर्मा की कहानियों में कथानक नाम मात्र को रहता है। उनकी कहानियाँ अधिकतर प्रभाव वादी हैं। केवल अपनी कल्पना और शैली के ही सहारे वे कहानी कह डालते हैं। उनकी कहानियाँ मनोरंजक तो हैं ही किन्तु कभी-कभी अत्यन्त निर्दय व्यंग्य भी करती हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने प्रभावोत्पादक एवं कलात्मक कहानियाँ कहीं हैं। अज्ञेय अपनी कहानियों में मानव जीवन के रहस्य का उद्घाटन करते हैं। शब्द चित्र खींचनेमें वे अद्वितीय हैं। हिन्दी के अधिकांश लेखक रोमांटिक कहानियाँ ही लिखा करते थे परन्तु प्रेमचन्द ने 'कफ़न' के द्वारा एक नयी दिशा की ओर संकेत किया। अब मनोवैज्ञानिक तथा यथार्थवादी कहानियाँ भी लिखी जाने लगीं। टूटते हुए मध्यम वर्ग का वर्णन किया जाने लगा। स्त्री पुरुष के प्रेम चित्रण के अतिरिक्त आधुनिक जीवन की मानसिक एवं भौतिक विषमताओं का चित्रण भी किया जाने लगा। सत्यवती मल्लिक, कमला चौधरी शिवरानी देवी तथा हीरादेवी चतुर्वेदी ने मध्यवर्गीय नारी जीवन की अनेक समस्याओं को कहानियों में उठाया और उनके समाधान की ओर संकेत किया। श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी की चुनी हुई कहानियाँ 'उलझी लड़ियाँ' में संग्रहीत की गई हैं। श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' के अनेक कथा संग्रह निकल चुके हैं। उनमें मध्यवर्गीय परिवारों की टूटती हुई दशाओं का मार्मिक चित्रण मिलता है। 'हवा का रुख' में उनकी अधिकांश सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ संग्रहीत हैं।

कहानी साहित्य की आधुनिक गति विधि को समझने के लिये सर्व श्री इलाचन्द्र जोशी, पहाड़ी, उपेन्द्रनाथ अश्क, अज्ञेय, अमृतलाल नागर, यशपाल, कृष्णचन्द्र भैरव प्रसाद गुप्त, चतुरसेन शास्त्री, धर्मवीर भारती, जैनेन्द्रकुमार, रांगेय राघव, ओंकार शरद, तथा अमृत राय की रचनाओं का अध्ययन परमावश्यक है। जोशी जी की कहानियों में मानव मनोविज्ञान का विश्लेषणात्मक अध्ययन मिलता है। पहाड़ी जी की अधिकांश रचनाओं में सामाजिक यथार्थ का चित्रण मिलता है।

उनके नायकों में रूढ़ियों को तोड़ने की प्रबल प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। सच पूछा जाय तो वह प्राचीन और अर्वाचीन हिन्दी कहानी कला के बीच की कड़ी हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को अपनी कहानियों का विषय बनाया है। उनमें रोमान्स भी है, यथार्थ भी और प्राचीन सामाजिक आदर्शों को ठुकरा कर आगे बढ़ जाने का संकेत भी। अश्क जी ने कुछ बड़ी शिष्ट कहानियों के द्वारा हास्य की सामग्री दी है। उनका 'अड्डो चक्क भूतना' इसी प्रकार का है। पंजाबी होने के कारण वह पंजाबी शब्दों का भी कहीं-कहीं खुल कर प्रयोग करते हैं। अज्ञेय जी को क्रान्तिकारी जीवन का अच्छा अनुभव है। उनकी 'कोठरी की बात' में जिन क्रान्तिकारी कहानियों का संग्रह है उनका ऐतिहासिक और साहित्यिक मूल्य है। अमृत लाल नागर अपनी शैली के अनोखेपन के कारण एक भिन्न ही व्यक्तित्व के कहानी लेखक हैं। उन्होंने सामाजिक जीवन को यथार्थवादी दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। यशपाल की रचनाओं में घोर यथार्थवादी चित्रण मिलता है। इस दृष्टिकोण से जहाँ वह रोमाण्टिक कहानियाँ लिखने बैठते हैं वहाँ कहीं-कहीं अश्लीलता की सीमायें भी टूट जाती हैं। अपनी रचनाओं के द्वारा वह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति गहरा व्यंग्य करते हैं। उर्दू से प्रेमचन्द्र की तरह एक नया कहानीकार हमें प्राप्त हुआ है। वह है कृष्ण चन्द्र। उनकी कहानियों में जीवन की अनुभूतियाँ मूर्त सी हो उठी हैं। वर्तमान सामाजिक समस्यायें अपना समाधान चाहती हैं। उन्होंने इस पूंजीवादी व्यवस्था की शव परीक्षा की है। उन्होंने रोमाण्टिक वातावरण में कुछ ऐसी कहानियाँ कही हैं जो अत्यधिक प्रभावोत्पादक हैं। कृष्णचन्द्र में वर्णन करने की अपूर्व क्षमता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर कहानियाँ लिखते हैं। 'हम वहशी हैं' में पंजाब का लहू लुहान चित्र देखने को मिलता है। मानव को दानव के रूप में दिखलाकर उन्होंने हमारे प्राचीन संस्कारों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। उनकी कहानियों में प्रकृति का बड़ा कवित्व पूर्ण चित्रण मिलता है। उनकी शैली में बरसाती झरनों का वेग है। भैरव प्रसाद गुप्त की अधिकांश कहानियाँ सामाजिक यथार्थ का चित्र खींचती हैं। चतुरसेन शास्त्री ने मुगल कालीन इतिहास से कथानक लेकर बड़ी मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं। वह सम्राट और साम्राज्ञियों के जीवन के कोमल पक्षों का चित्र खींचते हैं। शैली में कवित्व का पूरा प्रभाव है। धर्मवीर भारती के कथानक उनके कैशोर प्रवृत्तियों के परिचायक हैं। उनकी भाषा बड़ी

अलंकार पूर्ण है जिसके मोह में पड़कर कहीं-कहीं पर उन्होंने कहानी के वास्तविक तत्वों की हत्या कर दी है। जैनेन्द्र जी को रचनाओं पर उनके आदर्शवादी दर्शन की छाप है। रांगेय राघव की कहानियों में उनका प्रगतिवादी दृष्टि कोण मिलता है। अमृत राय साम्यवादी जीवन दर्शन में विश्वास रखते हैं। अपनी कुछ कहानियों में उन्होंने मिटते हुये मध्य वर्ग और जनमते हुये मजदूर वर्ग के जीवन का चित्र खींचा है। इन लेखकों के कहानी संग्रहों के अतिरिक्त अनेक देशी विदेशी कथाकारों के संग्रहों का अनुवाद निकल चुका है। रवि बाबू, परशुराम, बनफूल, सदाशिव सुखठणकर, शरच्चन्द्र, प्रभात कुमार मुखोपाध्याय, शैलजानन्द मुखोपाध्याय प्रेमचन्दमित्र, प्रबोध कुमार सान्याल, नन्दगोपाल सेनगुप्त, बुद्धदेव वसु, राजेन्द्रसिंह वेदी, रजिया सज्जाद जहीर, मिन्टो, कुप्रिन, अर्न्स्ट टोलर, सिमोनोफ, कतापेय, तिङ लिङ्ग, गान्सिया देलेदा, मोपाँसा, ख्वाजा अहमद अब्बास, अण्णा भाऊ साठे तथा मुल्कराज आनन्द के कहानी संग्रह अब हिन्दी में भी प्राप्य हैं। 'विदेशों के महाकाव्य' की सारकथाओं को सरल भाषा एवं चुभती शैली में प्रस्तुत करके गोपेश जी ने हिन्दी का बड़ा भारी उपकार किया है। उसमें यूनानी, लैटिन, स्कैन्डनेवियन, जर्मन, इटैलियन, फारसी तथा अंग्रेजी साहित्य के प्रमुख महाकाव्य का परिचय एक स्थान पर मिल जाता है। जार्ज गिसिंग की प्रमुख कहानियों का अनुवाद उन्होंने 'पूँजीपति' नाम से किया है।

उपर्युक्त हिन्दी लेखकों के अतिरिक्त जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द, बेढब बनारसी, राधाकृष्ण दास ने हास्यरस की सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। उभरते हुये कहानी लेखकों में श्रीराम शर्मा 'राम', रावी, राजेन्द्र यादव, श्रीराम वर्मा, शिव प्रसाद सिंह, ज्ञान प्रकाश आदि लोगों का नाम उल्लेखनीय है। इनकी कहानियों में विकास की पूर्ण संभावनायें हैं। आजकल कहानी की अनेक पत्रिकायें निकल रही हैं, जिनमें कभी-कभी ऐसी प्रतिभायें भी दिखलायी पड़ जाती हैं जिनसे हिन्दी के कहानी साहित्य के उज्वल भविष्य की आशा की जा सकती है।

अनेकांकी एवं एकांकी नाटक—बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों में हिन्दी नाटकों का पर्याप्त विकास न हो सका। उस समय देश में पारसी रंग मंच का बोलबाला था इसलिए जिन लोगों ने नाटक पर लेखनी उठायी उन्होंने भी

रंगमंच का पर्याप्त ध्यान रखा। बेताब, आगा हश्र काश्मीरी, जौहर, शैदा तथा राधेश्याम कथावाचक ने उसी के लिये नाटक रचे हैं। उस समय नाटकों में रोमांचकारी एवं चमत्कारपूर्ण दृश्यों की योजना करके दर्शकों में आश्चर्य तथा कौतूहल कीभावना पैदा करने की चेष्टा की जाती थी। उनमें भद्दा तथा अपरिष्कृत हास्य तथा अद्भुत एवं भयानक रसों का समिश्रण रहता था। इनमें कलात्मकता तो नाम के लिये भी नहीं थी। इसके विरुद्ध एक ओर आन्दोलन भी चल रहा था। बंग भाषा में स्वर्गीय द्विजेन्द्र लाल राय तथा श्री गिरीश घोष साहित्यिक नाटकों की रचना कर रहे थे। उसमें रंगमंचीय आवश्यकता की पूर्ति के साथ ही साथ पर्याप्त साहित्यिकता भी थी। कुछ लोगों ने इनका हिन्दी में भी अनुवाद किया।

श्री जयशंकर प्रसाद के आविर्भाव से साहित्य के इस क्षेत्र में क्रान्ति हो गयी। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से भारतवर्ष के प्राचीन गौरव का गुणगान किया। उन्होंने अपने नाटकों के लिये प्राचीन भारतीय इतिहास से कथानक लिये। इसी के कारण उनमें थोड़ा दोष भी आ गया है। प्रसाद जी आदर्श, संघर्ष तथा चरित्रचित्रण की दृष्टि से बड़े सफल नाटककार सिद्ध हुये हैं। उनकी रचनाओं में आदर्शवादी, दार्शनिकता तथा कवित्व पूर्ण शैली द्रष्टव्य है। चन्द्रगुप्त, राज्य श्री, विशाख, अजात शत्रु, ध्रुव स्वामिनी, जनमेजय का नागयज्ञ, उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। उनके नाटकों में बध, युद्ध तथा आत्महत्या के दृश्य भी दिखलाये गये हैं। प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों के विरुद्ध यह बात है। यह सब होते हुये भी उनके नाटकों में परिष्कृत साहित्यिकता है। एक बात है, वह यह कि प्राचीन नाट्यशास्त्र के नियमों का पालन न करने से तथा भाषा की कठिनता के कारण उनका अभिनय नहीं किया जा सकता। उनके नाटकों में भारतीय रसवाद एवं पाश्चात्य शील वैचित्र्यवाद का अद्भुत सामंजस्य हुआ है। प्रसाद जी की परम्परा को आगे बढ़ाने में सर्व श्री हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट तथा गोविन्द वल्लभ पन्त का नाम उल्लेखनीय है। प्रसाद जी ने अपना क्षेत्र प्राचीन हिन्दू काल के भीतर चुना था प्रेमी जी ने मुस्लिम काल को अपना लिया। उनके कथोपकथन बड़े स्वभाविक बन पड़े हैं। उदयशंकर जी ने पौराणिक नाटक लिखे हैं। अम्ना, सागरविजय, मत्स्यगंधा, विश्वामित्र उनकी प्रमुख रचनायें हैं। इसके अतिरिक्त 'दादर का सिन्ध पतन' तथा विक्रमादित्य उनके ऐतिहासिक नाटक हैं। 'कमला' एक सामाजिक नाटक

भी है। गोविन्द वल्लभ पन्त ने 'वरमाला' और 'अंगूर की बेटी' की रचना की। 'अंगूर की बेटी' में शराब की बुराइयों को नाटकीय कौशल के साथ उन्होंने दिखलाया है।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जन युद्ध' पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने 'महात्मा ईशा' प्रेमचन्द ने संग्राम और प्रेम की वेदी, सुदर्शन ने 'अजंता' कौशिक ने 'भीष्म' चतुरसेन शास्त्री ने 'अमर राठौर' तथा उत्सर्ग, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द ने 'प्रताप प्रतिज्ञा' तथा जी० पी० श्रीवास्तव ने हास्यमूलक अनेक नाटक लिखे। सेठ गोविन्ददास ने भी पौराणिक, राजनीतिक तथा ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। उनमें कुलीनता, कर्ण, प्रकाश, कर्तव्य तथा हर्ष का प्रमुख स्थान है। इब्सन और शा का प्रभाव जब हिन्दी पर पड़ा तब यहाँ भी बुद्धिवाद के आधार पर धार्मिक सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के आडम्बरों तथा परम्परा पालन एवं रूढ़िवादिता का विरोध होने लगा। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अनेक समस्या प्रधान नाटक लिखे। राजयोग, सिन्दूर की होली, गरुड़ध्वज, आधीरात, मुक्ति का रहस्य, तथा संन्यासी उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी का 'प्रेम लोक' तथा सुमित्रानन्दन पन्त की 'जोत्स्ना' भी उत्कृष्ट रचनायें हैं। संस्कृत की तरह हिन्दी में भी इस समय गीति नाट्य लिखे गये। प्रसाद जी का करुणालय, भट्ट जी का विश्वामित्र तथा मत्स्यगंधा, और मैथिलीशरण गुप्त का अनघ इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

आगे चलकर अनेकांकियों का स्थान एकांकी नाटकों ने ले लिया। हिन्दी में यह कला अंग्रेजी से होकर आयी है। इसमें विषय चयन, पृष्ठभूमि, वातावरण का निर्माण, कथाविस्तार, मानव के किसी एक भाव का चित्रण, सामाजिक आचार विचार, चरित्र चित्रण, संवाद, कार्य का उत्कर्ष अपकर्ष तथा प्रभाव आदि की सृष्टि के लिये अनुभूति तथा तंत्र विधान की कुशलता का होना अत्यन्त आवश्यक है। डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी में एकांकियों के जनक के रूप में प्रख्यात हैं। उनकी रेशमी टाई, पृथ्वीराज की आँखें श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। 'बादल की मृत्यु' आपका सर्व प्रथम एकाङ्की है। उनकी रचना में पाश्चात्य शैली का बड़ी सफलता पूर्वक समावेश हुआ है। आपके अधिकांश एकाङ्की आदर्शवादी है। भाषा बड़ी मँजो हुई और कवित्वपूर्ण है। हरिकृष्ण प्रेमी के सात एकाङ्कियों का संग्रह 'मंदिर' नाम से प्रकाशित हुआ है। उनके कथानक मध्यकालीन भार-

तीय इतिहास के पृष्ठों से लिये जाते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में चरित्र वैशिष्ठ के लिये रस पद्धति का सर्वथा त्याग नहीं किया है। भाषा सरल एवं स्वाभाविक है। गणेश प्रसाद द्विवेदी के एकाङ्की संग्रह का नाम 'सुहाग बिन्दी' है। यद्यपि उन्होंने थोड़े से एकाङ्की लिखे हैं किन्तु उनमें उत्कृष्ठ एकांकी नाटकों के सभी गुण विद्यमान हैं। सरल और हृदय ग्राहिणी भाषा लिखने के लिये आप प्रख्यात हैं। सद्गुरु शरण अवस्थी ने पौराणिक कथानकों पर बड़े सुन्दर एकांकी लिखे हैं। 'दो एकाङ्की' और 'मुद्रिका' नाम से उनके दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी भाषा बड़ी मँजी हुई और विशुद्ध होती है। सेठ गोविन्द दास के एकांकियों का संग्रह 'सप्तरश्मि' नाम से निकला है। उन पर इब्सन का पर्याप्त प्रभाव है। भाषा बड़ी सरल है। 'उदय शंकर भट्ट' एक श्रेष्ठ एकाङ्की लेखक हैं। उनके नाटकों का संग्रह 'स्त्री का हृदय' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें उन्होंने आधुनिक जीवन के यथार्थ और मार्मिक चित्र खींचे हैं। भाषा चलती हुयी है। उसमें विदेशी भाषाओं के प्रचलित शब्द भी प्रयुक्त हुये हैं। श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने समाज की अनेक समस्याओं पर एकाङ्की लिखे हैं। उनका 'छठा बेटा' हिन्दी का प्रसिद्ध एकांकी संग्रह है। अभिनय तत्व उनकी रचनाओं को उत्कृष्ट एवं सफल रचनाओं की श्रेणी में खड़ा कर देता है। भाषा प्रवाह पूर्ण है। इन लेखकों के अतिरिक्त श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी तथा डा० लक्ष्मी नारायण लाल ने भी सुन्दर एकांकी लिखे हैं। श्रीमती हीरादेवी जी का 'रंगीन पर्दा' अनेक सामाजिक एवं पारिवारिक समस्याओं को उठाता है। डाक्टर लाल के 'पर्वत के पीछे' में ग्रामीण पृष्ठ भूमि में मानवता के अनेक कोमल पहलुओं का उद्घाटन हुआ है। श्री गोपेश एक सिद्धहस्त रेडियो रूपककार हैं। उनके चौदह पौराणिक रूपक 'अर्वाचीन और प्राचीन के परे' नामक ग्रन्थ में संग्रहीत हैं। वातावरण चित्रण, अभिनयात्मकता तथा अलंकृत संवादलेखन की दृष्टि से उनके रूपक बड़े ही सफल हुए हैं।

इस प्रकार नवयुग में नाट्य साहित्य का कलात्मक विकास तो हुआ किन्तु चल-चित्रों के प्रसार के कारण रंगमंच का विकास न हो सका। प्रसन्नता की बात है कि भारतीय चलचित्र के प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर पृथ्वी थियेटरस् के द्वारा हिन्दी रंगमंच को व्यवस्थित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

निबन्ध—नवयुग में हिन्दी निबन्ध के कलापक्ष का भी विकास हुआ है

और सिद्धान्त पक्ष का भी। पुस्तक रूप में निबन्ध हमारे सम्मुख कम आते हैं परन्तु पत्र पत्रिकाओं में बहुधा उच्च कोटि के निबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं। इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं पं माखन लाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, बेचन शर्मा उग्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, धीरेन्द्र वर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र, शान्ति प्रिय द्विवेदी, नन्द दुलारे बाजपेयी, डा० रघुवीर, राहुल जी, जैनेन्द्र, प्रभाकर माचवे, प्रकाश चन्द्र गुप्त, अमृत राय, रायकृष्ण दास, नामवर सिंह तथा विद्या निवास मिश्र।

पं० माखन लाल चतुर्वेदी, उग्र, तथा वियोगी हरि ने भावात्मक निबन्ध लिखे हैं। चतुर्वेदी जी के निबन्धों में काव्य के चरम उत्कर्ष का दर्शन होता है। उनके निबन्ध छन्द विहीन काव्य हैं। उग्र महोदय अपनी काव्यात्मक एवं प्रेरणा त्मक शैली के द्वारा अपने को अन्य निबन्ध लेखकों से अलग रखते हैं। उनकी भाषा चलती फिरती खड़ीबोली है। उग्र जी की शैली अपनी है, सोचने का ढंग अपना है। उनका व्यक्तित्व उनके निबन्धों में मूर्त हो उठा है। वियोगी हरि के निबन्ध आध्यात्मिक हैं। उनकी भाषा कोमल और सानुप्रास वाक्यों से निर्मित होती है। भावधारा पाठकों को रस के सागर में डुबो देती है। कहीं-कहीं पर गलिदाश्रुता के कारण उनकी रचनायें निबन्ध की सीमायें लाँघने लगती हैं फिर भी वह हमारे साहित्य के उच्चकोटि के निबन्ध लेखक हैं। कला त्मक क्षेत्र में सर्व श्री डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, रायकृष्ण दास तथा महादेवी वर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। डा० नगेन्द्र ने वाणी के मदिर में, तथा 'यौवन के द्वार पर' लिख कर अपने को एक उत्कृष्ट कलाकार सिद्ध कर दिया है। सिद्धान्तों की गंभीरता को बोध्य बनाने के लिये उन्होंने कहीं स्वप्न का वातावरण उपस्थित किया है, कहीं संलाप शैली से काम लिया है और कहीं-कहीं पर हास परिहास, तथा करतल ध्वनि के वातावरण की सृष्टि की है। रायकृष्ण दास के निबन्ध गद्यगीत की सीमाओं के निकट हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने निबन्धों में आचार्य और कलाकार दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। उनके अधिकांश निबन्ध साहित्यिक एवं सांस्कृतिक हैं। सिद्धान्तों का विवेचन करते समय उनकी भाषा तत्सम शब्दों के प्रयोगों से भरी रहती है; परन्तु कला-त्मक निबन्धों में वह अपनी स्वाभाविकता के निखार पर आ जाती है। गंभीर विषयों के प्रति पादन की शैली विवेचनात्मक है। 'अशोक के फूल' में उनकी

हुयी तुलसी और सूर की। तुलसी पर डा० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसी दास' बलदेव प्रसाद मिश्र का 'तुलसी दर्शन, सदगुरुशरण अवस्थी कृत-तुलसी के चार दल, ब्योहार राजेन्द्र सिंह का गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना, राम रतन भटनागर का 'तुलसी साहित्य की भूमिका' चन्द्रबली पाण्डेय कृत तुलसी दास तथा डा० श्री कृष्ण लाल का 'मानस दर्शन' आदि आलोचनात्मक कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। सूरदास पर भी डा० दीन दयालु गुप्त का 'अष्टछाप तथा बल्लभ सम्प्रदाय' ब्रजेश्वर वर्मा का सूरदास, मुंशी राम शर्मा कृत 'सूर सौरभ' जनार्दन मिश्र का सूरदास, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'सूर साहित्य' प्रभुदयाल मीतल कृत सूर निर्णय, नरोत्तम स्वामी की सूरसमीक्षा' नलिनी मोहन सान्याल प्रणीत 'महाकवि सूरदास डा० रामरतन भटनागर का 'सूर साहित्य की भूमिका' प्रभृति उच्च कोटि की आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। मीराँ पर भी पं० परशुराम चतुर्वेदी तथा डा० श्रीकृष्णलाल ने प्रमाणिक ग्रन्थ लिखे हैं। रीतिकालीन काव्य का भी वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। केशव पर पं० कृष्ण शङ्कर शुक्ल का केशव की काव्यकला, नगेन्द्र कृत रीतिकाव्य की भूमिका, देव और उनकी कविता, अखौरी गङ्गाप्रसाद की 'पद्माकर की काव्य साधना नामक पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। आधुनिक कवियों पर कुछ कवियों का स्वतन्त्र और कुछ का सम्मिलित अध्ययन हुआ है। गुप्त जी पर प्रो० सत्येन्द्र कृत 'गुप्त जी की कला' प्रसाद जी पर 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' डा० जगन्नाथ शर्मा द्वारा लिखा गया है। इसके अतिरिक्त प्रसाद जी पर रामनाथ सुमन का 'प्रसाद की काव्य साधना नन्द दुलारे बाजपेयी कृत जय-शङ्कर प्रसाद, गुलाब राय का 'प्रसाद जी की कला' रामलाल और विश्म्भर मानव का कामायनी अध्ययन नामक अनेक पुस्तकें लिखी गयी हैं। महादेवी पर मानव कृत 'महादेवी की रहस्य साधना' एक प्रामाणिक ग्रंथ हैं। निराला पर गङ्गा प्रसाद पाण्डेय प्रणीत 'महाप्राण निराला' भारतेन्दु पर ब्रजरत्न दास कृत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, वार्ष्णेय का भारतेन्दु की विचारधारा डा० रामविलास शर्मा का भारतेन्दु युग, महावीर प्रसाद द्विवेदी पर प्रेमनारायण टंडन कृत द्विवेदी मीमांशा' प्रेमचन्द पर मन्मथ नाथ गुप्त का 'कथाकार प्रेमचन्द' शिवरानी देवी प्रणीत 'प्रेमचन्द घर में' डा० रामविलास शर्मा का 'प्रेमचन्द' जनार्दन झा' द्विज कृत प्रेमचन्द्र की उपन्यास कला सत्येन्द्र प्रणीत प्रेमचन्द और उनकी कहानी

कला, आदि ग्रंथ उपर्युक्त लेखकों के जीवन और कृतित्व का अच्छा परिचय देते हैं।

समालोचना पर अनेक सैद्धान्तिक ग्रंथों का भी प्रणयन किया गया है। इस प्रकार की पुस्तकों में नलिनी मोहन सान्याल का 'समालोचना तत्व' सुधांशु का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद, गुलाब राय का सिद्धान्त और अध्ययन, गोविन्द दास का नाट्यकला मीमांशा, पुरुषोत्तम लाल का आदर्श और यथार्थ नगेन्द्र प्रणीत विचार और अनुभूति तथा विचार और विवेचन गंगा प्रसाद पाण्डेय की निबन्धिनी हजारीप्रसाद द्विवेदी का विचार और वितर्क, इलाचन्द्र जोशी का 'साहित्य सर्जना' विनोद शङ्कर व्यास का कहानी कला और उपन्यास कला, डा० रामकुमार वर्मा कृत साहित्य और समालोचना, प्रसाद जी का 'काव्य और कला' गङ्गा प्रसाद पाण्डेय का छायावाद-रहस्यवाद, अंचल का समाज और साहित्य शिवचन्द्र का प्रगतिवाद की रूपरेखा, धर्मवीर भारती का प्रगतिवाद, विजयशङ्कर मल्ल कृत 'हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद' शिवदान सिंह चौहान का प्रगतिवाद के नाम उल्लेखनीय हैं।

साहित्य के इतिहास पर भी आलोचनात्मक पुस्तकें निकली हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास का आलोचनात्मक अध्ययन में हिंदीके प्रारम्भिक दो कालों का विस्तार से आलोचनात्मक अध्ययन किया है। इधर प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० के लिये स्वीकृत तीन आलोचनात्मक प्रबन्धों ने भी हिन्दी साहित्य का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। वे हैं डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९००) डा० श्रीकृष्ण लाल प्रणीत आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९००-१९२५) तथा डा० भोलानाथ का हिन्दी साहित्य (१९२६-१९४७)। इनमें १८५० से १९४७ तक के हिन्दी साहित्य के विकास का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। कवियों का सम्मिलित रूप में भी अध्ययन हुआ है। शिलीमुख ने 'सुकवि समीक्षा' में कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, मीराँ, बिहारी, भूषण, भारतेन्दु, मैथिली शरण गुप्त तथा प्रसाद पर समीक्षात्मक प्रबन्ध लिखे हैं। इसी प्रकार गुलाब राय का काव्य विमर्श, शान्ति प्रिय द्विवेदी का हमारे साहित्य निर्माता चन्द्रबली पांडेय कृत हिन्दी काव्य चर्चा, तथा नन्ददुलारे बाजपेयी का हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी आदि महत्वपूर्ण रचनायें हैं।

इसके अतिरिक्त पत्रिकाओं में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, बाबू गुलाब राय पं० नलिनी विलोचन शर्मा तथा कुमार विमल सिंह के आलोचनात्मक प्रबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं। उपर्युक्त आलोचक शास्त्रीय पद्धति से समालोचनायें लिखते हैं। डा० राम विलास शर्मा, प्रकाश चन्द्र गुप्त, महादेव साहा, शिवदान सिंह चौहान तथा अमृत राय साम्यवादी दृष्टिकोण से साहित्य की आलोचना करते हैं। देश विदेश के विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभाग की ओर से सुयोग्य विद्वानों की देख रेख में शोध के कार्य हो रहे हैं। आलोचना दिन प्रतिदिन वैज्ञानिक होती जा रही है। केवल साहित्य पर ही नहीं भाषा पर भी पर्याप्त कार्य हो रहा है। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, हमारे देश के ही नहीं एशिया के सबसे बड़े भाषा वैज्ञानिक हैं। हिन्दी के अनेक सेवियों ने उनके चरणों में बैठकर हिन्दी भाषा के विकास का अध्ययन किया है। भाषा विज्ञान पर हिन्दी में इने गिने लेखक हैं डा० बाबू रांम सक्सेना, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० हरदेव बाहरी, डा० उदय नारायण तिवारी, तथा डा० विश्वनाथ प्रसाद प्रभृति विद्वानों की देख रेख में भाषा सम्बन्धी शोध के कार्य हो रहे हैं।

आलोचना की अनेक पत्रिकायें भी निकल रही हैं। विद्यार्थियों के लाभार्थ आगरा से बाबू गुलाब राय का साहित्य संदेश निकलता है। इसमें प्रति मास हिन्दी के सुयोग्य आलोचकों के समालोचनात्मक प्रबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं। दिल्ली के राजकमल प्रकाशन वाले 'आलोचना' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका निकल रहे हैं। इसमें देश विदेश की साहित्यिक विचारधाराओं पर गवेषणात्मक प्रबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं। इस तरह हमारे आलोचना साहित्य का भण्डार दिन प्रति दिन भरता जा रहा है। उसका भविष्य बड़ा आशा प्रद है, इसमें संदेह नहीं।

शब्दचित्र, रिर्पोताज तथा पत्र पत्रिकाएँ

हिन्दी गद्य में इस समय दो साहित्यिक रूपों का प्रयोग और किया गया। एक का नाम है शब्दचित्र और दूसरे का रिर्पोताज। एक में शब्दों के सहारे किसी विषय का दृश्य खींचने का प्रयत्न किया जाता है। यह कहानी और निबन्ध के बीच की वस्तु होती है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, महादेवी वर्मा

साहित्यिक संस्थाओं के नाम देखने को मिल जायेंगे। यह युग गोष्ठियों का युग है। खेद है कि जितनी गोष्ठियाँ आज कल बन रही हैं उसका शतांश भी साहित्यिक कार्य नहीं हो रहा है। वहाँ पर केवल चुनाव के खेल ही देखने को मिलते हैं। अधिकांश संस्थायें संघर्ष रत है।

उपसंहार—हमारा हिन्दी साहित्य कबीर, जायसी, सूर और तुलसी जैसे सन्तों का साहित्य है। उसे मीराँ ने दुलारा है। विद्यापति तथा रसखान ने उसमें माधुर्य भरा है। प्रसाद, महादेवी तथा पंत ने उसे सँवारा है। निराला ने उसी के माध्यम से अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करते रहने की शंख-ध्वनि की है। आचार्य शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसमें गंभीरता भरी है तथा प्रेमचन्द ने उसी के माध्यम से—"दरिन्दों से लड़ने के लिये हथियार उठाना पड़ेगा" आदि संदेश दे कर अनन्त की राह ली है। उनकी तपस्या तथा साधना का ही यह फल है कि आज हिन्दी, संसार की किसी भाषा से हीन नहीं समझी जाती। विश्व की एक अच्छी जनसंख्या उसके पठन पाठन में रत है। नवयुग के नये साहित्यकारों के दुर्बल कंधों पर उसकी गौरवमयी परम्परा का बोझ है। इसके लिये उन्हें शक्ति का संचय करना पड़ेगा। यह शक्ति तपस्या से आती है त्याग और साधना से आती है। किन्तु खेद है कि आज का हिन्दी साहित्यकार चुनाओं का खेल खेल रहा है। वह पद के पीछे दौड़ रहा है। साहित्य पर यह राजनीति का प्रभाव है। साहित्यकारों का तो एक ही वर्ग होता है। उसी के द्वारा वह मानवता की रक्षा करता है। अन्याय का विरोध करता है। सत्यं शिवं और सुन्दरम् के उपासकों का दो लक्ष्य हो ही नही सकता? उसे देश और जाति की सीमायें अपने में नहीं बाँध सकतीं। आजकल कुछ संकीर्ण विचारों के लोग कल्याणकारी विचारों का भी यह कह कर विरोध करने लगे हैं कि यह विदेशी विचार हैं। ज्ञान के अन्वेषकों पर तो मानव मात्र का अधिकार होता है, इसलिये प्रत्येक अच्छे विचारों का स्वागत करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो हमें इस शताब्दी के उच्चकोटि के विचारों से वंचित रह जाना पड़ेगा। मार्क्स, ऐंगिल्स, डार्विन, फ्रायड आइन्स्टाइन आदि ऐसे अनेक महर्षियों के विचारों का हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। इसे हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा। आज का युग राजनीतिक संघर्षों का युग है। विश्व की स्थिति डँवाँडोल है। इसका प्रभाव मानवता पर भी पड़ रहा

है। पारस्परिक स्नेह और विश्वास की भावना मिटती जा रही है। इस समय साहित्य को ही मानवता की रक्षा करनी होगी। हमारे साहित्य का मूल 'प्रेम' ही है। आज इसकी शाखायें फूट गयी हैं। उनमें पत्तियाँ लग गयी हैं। इससे हमें छाया मिल रही है। छाया को घनी करने के लिये हमें मूल को प्रेम से ही सींचना होगा तभी उसमें प्रेम के फल भी लग सकेंगे जिनको चख कर मानव अमरत्व को प्राप्त कर सकेगा।

—:o:—